

श्री--महर्षि--व्यास--प्रणीत

महाभारतम्।

(१३) अनुशासनपर्व ।

(भाषाभाष्य समेत ।)

सम्पादक और प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्यायमण्डल, औंध (जि० सातारा)

संवत् १९८८
शके १८५३
सन १९३१

पौरुष प्रयत्नसे उन्नति।

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥ १० ॥
कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्यसंयुताम्।
अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम् ॥ ११ ॥
तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना ॥ १२ ॥

म० भा० अनुशासनपर्व अ० ६

पुण्य कर्मसे सुख और पापकर्मसे दुःख होता है, किये हुये कर्म सर्वत्र ही फलित होते हैं और कर्म न करनेपर शुभ फल कहीं भी नहीं प्राप्त हो सकता। सब उद्योगी पुरुषही भाग्यके अनुसार प्रतिष्ठा पाते हैं और निरुद्योगी मनुष्य प्रतिष्ठासे भ्रष्ट होकर क्षतपर क्षार सींचनेके समान दुःख लाभ करता है। मनुष्य तपस्यारूपी कर्मके सहारे रूप, सौभाग्य और विविध रत्नोंको पाता है और अकृतात्मा पुरुष दैव वशसे उसको नहीं पा सकता।

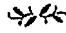
मुद्रक तथा प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्यायमंडल, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा.)



श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम्

महाभारतम् ।

अनुशासनपर्व ।



श्रीगोपालकृष्णाय नमः ।

श्रीवेदव्यासाय नमः ।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच- शमो बहुविधाकारः सूक्ष्म उक्तः पितामह ।
न च मे हृदये शान्तिरस्ति श्रुत्वेदमीदृशम् ॥ १ ॥
अस्मिन्नर्थे बहुविधा शान्तिरुक्ता पितामह ।
स्वकृते का नु शान्तिः स्याच्छमाद्बहुविधादपि ॥ २ ॥
शराचितशरीरं हि तीव्रव्रणमुदीक्ष्य च ।

अनुशासनपर्वमें १ अध्याय ।

नारायण, पुरुषोत्तम नर और सरस्वती देवीको प्रणाम करके जय शब्द उच्चारण करे । (१)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! शोक से पार होनेके उपाय स्वरूप सूक्ष्म शम अनेक तरहका रूप धरता है, इसे आपने कहा है, परन्तु शांतिका ऐसा प्रभाव सुनके भी स्वजनोंके वधरूपी शोकसे मेरा अन्तःकरण शान्त नहीं होता है । हे पितामह ! इस विषयमें आपने अनेक प्रकार शान्तिके विषय कहे हैं, अनेक प्रकार शम जाननेसे किये हुए पापोंकी शान्ति किस प्रकार हो ? हे वीर ! आपका शरीर बाणोंसे सब प्रकार परिपूरित और तीव्र घावोंसे युक्त देखकर

शर्म नोपलभे वीर दुष्कृतान्येव चिन्तयन् ॥ ३ ॥
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रस्रवन्तं यथाऽचलम् ।
त्वां दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्र सीदे वर्षास्विवाम्बुजम् ॥ ४ ॥
अतः कष्टतरं किं नु मत्कृते यत्पितामहः ।
इमामवस्थां गमितः प्रत्यमित्रै रणाजिरे ॥ ५ ॥
तथा चान्ये नृपतयः सहपुत्राः सबान्धवाः ।
मत्कृते निधनं प्राप्ताः किं नु कष्टतरं ततः ॥ ६ ॥
वयं हि धार्तराष्ट्राश्च कालमन्युवशं गताः ।
कृत्वेदं निन्दितं कर्म प्राप्स्यामः कां गतिं नृप ॥ ७ ॥
इदं तु धार्तराष्ट्रस्य श्रेयो मन्ये जनाधिप ।
इमामवस्थां संप्राप्तं यदसौ त्वां न पश्यति ॥ ८ ॥
सोऽहं तव ह्यन्तकरः सुहृद्वधकरस्तथा ।
न शान्तिमधिगच्छामि पश्यंस्त्वां दुःखितं क्षितौ ॥ ९ ॥
दुर्योधनो हि समरे सहसैन्यः सहानुजः ।
निहतः क्षत्रधर्मेऽस्मिन्दुरात्मा कुलपांसनः ॥ १० ॥
न स पश्यति दुष्टात्मा त्वामद्य पतितं क्षितौ ।

निज पापोंको सोचके मैं सुख लाभ करनेमें असमर्थ होरहा हूं । हे पुरुषप्रवर ! झरनेवाला पर्वतकी भांति आपके रुधिरसे परिपूरिताङ्गको देखकर मैं वर्षा-कालके बादलकी भांति अवसन्न होता हूं । (१-४)

हे पितामह ! इससे बढके और क्या कष्ट होगा, कि हमारे लिये शत्रुओंके विरुद्ध खडे होनेपर मेरी ओरके अर्जुन और शिखण्डी आदिसे आप इस अवस्थामें युक्त पडे और दूसरे राजा लोग भी पुत्र तथा बान्धवोंके सहित मेरे ही लिये मारे जावें, उससे बढके और दुःख क्या है ? हे राजन् ! हम लोग तथा धृतराष्ट्रके पुत्र कालक्रोधके वशमें होकर इस निन्दित कर्मके करनेसे कैसी गति पावेंगे । हे प्रजानाथ ! दुर्योधनके पक्षमें यह कल्याणकारी बोध होता है, कि वह आपकी ऐसी अवस्थामें पडे हुए नहीं देखता है । (५-८)

मैं आपका नाशक और सुहृदोंका वध करानेवाला होकर आपको पृथ्वीपर पडे और दुःखित देखकर किसी प्रकार भी शान्ति लाभ करनेमें समर्थ नहीं होता हूं । दुष्टात्मा कुलनाशक दुर्योधन युद्धमें सब सेना और सहोदर भाइयोंके

अतः श्रेयो मृतं मन्ये नेह जीवितमात्मनः ॥ ११ ॥
अहं हि समरे वीर गमितः शत्रुभिः क्षयम् ।
अभविष्यं यदि पुरा सह भ्रातृभिरच्युत ॥ १२ ॥
न त्वामेवं सुदुःखार्तमद्राक्षं सायकार्दितम् ।
नूनं हि पापकर्माणो धात्रा सृष्टाः स्म हे नृप ॥ १३ ॥
अन्यस्मिन्नपि लोके वै यथा मुच्येम किल्बिषात् ।
तथा प्रशाधि मां राजन्मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥१४॥

भीष्म उवाच- परतन्त्रं कथं हेतुमात्मानमनुपश्यसि ।
कर्मणां हि महाभाग सूक्ष्मं ह्येतदतीन्द्रियम् ॥ १५ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मृत्युगौतम्योः काललुब्धकपन्नगैः ॥ १६ ॥
गौतमी नाम कौन्तेय स्थविरा शमसंयुता ।
सर्पेण दष्टं स्वं पुत्रमपश्यद्गतचेतनम् ॥ १७ ॥
अथ तं स्नायुपाशेन बद्ध्वा सर्पममर्षितः ।

सहित, इस क्षत्रधर्ममें मरा है; वह दुष्टात्मा इस समय आपको पृथ्वीपर पडे हुए नहीं देखता है, इसलिये मैं मरना ही कल्याणकारी समझता हूं, जीवनको इस समय उत्तम नहीं समझता। हे वीर ! हे अच्युत ! पहले यदि मैं भाइयोंके सहित मारा जाता, तो आपको इस प्रकार बाणोंसे पीडित और दुःखसे आर्त्त न देखता। इसलिये, हे नरनाथ। मुझे निश्चय बोध होता है, कि विधाताने हम लोगोंको पापकर्म करनेके ही लिये उत्पन्न किया है। हे राजन् ! आप यदि मेरी प्रियकामना करते हो, तो उपदेश करिये कि जन्मान्तरमें किस प्रकार इस पापसे मुक्त हूंगा। (९-१४)

भीष्म बोले, हे महाभाग ! काल, प्रारब्ध और ईश्वरके आधीनमें रहनेवाले आत्माका तुम किस लिये पाप-पुण्यका कारण समझते हो ? आत्माका अकर्त्तृत्व सूक्ष्म है, इससे वह मनसे प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये अतीन्द्रिय है। प्राचीन लोग इस विषयमें काल, व्याध, सर्पके सहित मृत्यु और गौतमीके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासको कहा करते हैं। हे कुन्तीपुत्र ! गौतमी नामी एक शम गुणसे युक्त बूढी ब्राह्मणीने निज पुत्रको सांपके काटनेसे चेतनारहित देखा। अनन्तर अर्जुन नाम किसी व्याधने क्रोधके

लुब्धकोऽर्जुनको नाम गौतम्याः समुपानयत् ॥ १८ ॥
स चाब्रवीदयं ते स पुत्रहा पन्नगाधमः।
ब्रूहि क्षिप्रं महाभागे वध्यतां केन हेतुना ॥ १९ ॥
अग्नौ प्रक्षिप्यतामेष च्छिद्यतां खण्डशोऽपि वा।
न ह्ययं बालहा पापश्चिरं जीवितुमर्हति ॥ २० ॥
गौतम्युवाच- विसृजैनमबुद्धिस्त्वमवध्योऽर्जुनक त्वया।
को ह्यात्मानं गुरुं कुर्यात्प्राप्तव्यमविचिन्तयन् ॥ २१ ॥
प्लवन्ते धर्मलघवो लोकेऽम्भसि यथा प्लवाः।
मज्जन्ति पापगुरवः शस्त्रं स्कन्नमिवोदके ॥ २२ ॥
हत्वा चैनं नामृतः स्यादयं मे जीवत्यस्मिन्कोऽत्ययः स्यादयं ते।
अस्योत्सर्गे प्राणयुक्तस्य जन्तोर्मृत्योर्लोकं को नु गच्छेदनन्तम् ॥२३॥
लुब्धक उवाच- जानाम्यहं देवि गुणागुणज्ञे सर्वार्तियुक्ता गुरवो भवन्ति।
स्वस्थस्यैते तूपदेशा भवन्ति तस्मात्क्षुद्रं सर्पमेनं हनिष्ये ॥ २४ ॥
शमार्थिनः कालगतिं वदन्ति सद्यः शुचं त्वर्थविदस्त्यजन्ति।

वशमें होकर उस सांपको तांतके जालसे बांधके गौतमीके समीप लाकर कहा; हे महाभागे! यह अधम सर्प तुम्हारे पुत्रका नाशक है, इसलिये किस प्रकार इसका वध करूं, सो शीघ्र कहो। इसको आगमें डालूं अथवा टुकडे टुकडे करके काटूं? यह बालकका नाशक पापात्मा बहुत समय तक जीवित रहनेके योग्य नहीं है। (१९—२०)

गौतमी बोली, हे अर्ज्जुन! तुम इसे छोड दो तुम्हें बुद्धि नहीं है, तुम इसका वध न करना। कौन पुरुष प्राप्त होनेवाली लोकचिन्ता न करके अपनेको पापभारसे नरकमें डाला करता है। इस लोकमें धर्म्मसे जो लोग हलके हुए हैं, वेही जलके बीच नौकाकी भांति दुःखरूपी समुद्रसे पार होते हैं, और जो लोग पापके द्वारा भारी हुए हैं, वे जलके बीच गिरे हुए शस्त्रकी भांति डूब जाते हैं। इसे मारनेसे मेरा मरा हुआ पुत्र जीवित न होगा, और इस सर्पके जीते रहनेसे ही तुम्हारी कौनसी बुराई होगी? इस प्राणयुक्त जीवको मारके कौन पुरुष अनन्त नरकमें जायगा। (२१—२३)

व्याधा बोला, हे गुण और अगुणोंकी जाननेवाली देवी! मैं जानता हूं, बडे लोग सबकीही पीडासे पीडित हुआ करते हैं; परन्तु ये सब उपदेश भले चङ्गेके लिये हैं, दुःखितके वास्ते नहीं

श्रेयःक्षयं शोचति नित्यमोहात्तस्माच्छुचं मुञ्च हते भुजङ्गे ॥ २५ ॥
गौतम्युवाच– आर्तिर्नैवं विद्यतेऽस्मद्विधानां धर्मात्मानः सर्वदा सज्जना हि।
नित्यायस्तो बालकोऽप्यस्य तस्मादीशे नाहं पन्नगस्य प्रमाथे ॥ २६ ॥
न ब्राह्मणानां कोपोऽस्ति कुतः कोपाच्च यातनाम्।
मार्दवात्क्षम्यतां साधो मुच्यतामेष पन्नगः ॥ २७ ॥
लुब्धक उवाच– हत्वा लाभः श्रेय एवाव्ययः स्या–
ल्लभ्यो लाभ्यः स्याद्बलिभ्यः प्रशस्तः।
कालाल्लाभो यस्तु सत्यो भवेत श्रेयोलाभः कुत्सितेऽस्मिन्न ते स्यात् ॥२८॥
गौतम्युवाच– का नु प्राप्तिर्गृह्य शत्रुं निहत्य का कामाप्तिः प्राप्य शत्रुं न मुक्त्वा।
कस्मात्सौम्याऽहं न क्षमे नो भुजङ्गे मोक्षार्थं वा कस्य हेतोर्न कुर्याम् ॥२९॥

हैं, इसलिये इस क्षुद्र सर्पको मैं मारता हूं। श्रमयुक्त मनुष्य 'कालके सहारेही इस पुरुषका नाश हुआ है" ऐसा समझकर शोक नहीं करते और प्रतिकार करनेवाले पुरुष उस ही समय शत्रु को मारके शोक परित्याग किया करते हैं, दूसरे लोग नित्य मोह निबन्धसे कल्याणका नाश होता है, ऐसा जानके शोक प्रकाश करते हैं, इसलिये मेरे हाथसे इस सांपके मरनेसे तुम शोक परित्याग करो। (२४—२५)

गौतमी बोली, मेरे समान लोगोंको इस प्रकार पुत्रशोकजनित पीडा नहीं होती, क्यों कि सज्जन लोग सदा ही धर्मपरायण हुआ करते हैं; इस बालककी मृत्युका यही समय निर्दिष्ट था। इसलिये इस सांपके नाश करनेमें असमर्थ हूं। ब्राह्मणोंमें क्रोध न होना चाहिये क्यों कि कोपके कारण दुःख हुआ करता है। हे साधु! इसलिये तुम मृदुता अवलम्बन करके क्षमा करो और इस सर्पको छोड दो। (२६–२७)

व्याधा बोला, इसे मारनेसे परलोक की हितकर अविनश्वर गति प्राप्त होगी जैसे यजमान पशुओंको मारके अपने सङ्ग पशुओंको भी स्वर्गमें लेजाता है, वैसे ही शूर पुरुषोंको बलिदानसे बढाई मिलती है। इस निन्दित अपकारी शत्रुके मरनेसे जो लाभ होगा, वह क्या तुम्हारे सम्बन्धमें शाश्वत, सत्य और कल्याणकारी नहीं है। (२८)

गौतमी बोली, शत्रुको पराजित कर के मारनेसे क्या लाभ है? और शत्रुको अपने वशमें करके फिर उसे छोड देनेसे क्या इष्टसिद्धि नहीं होती? हे प्रिय दर्शन! इसलिये किस निमित्त इस सर्प के विषयमें क्षमा न करूंगी और किस कारणसे ही इसके छुडानेके निमित्त

लुब्धक उवाच-अस्मादेकाद्बहवो रक्षितव्या नैको बहुभ्यो गौतमि रक्षितव्यः।

कृतागसं धर्मविदस्त्यजन्ति सरीसृपं पापमिमं जहि त्वम् ॥ ३० ॥

गौतम्युवाच- नास्मिन् हते पन्नगे पुत्रको मे संप्राप्स्यते लुब्धक जीवितं वै।

गुणं चान्यं नास्य वधे प्रपश्ये तस्मात्सर्पं लुब्धक मुञ्च जीवम् ॥३१॥

लुब्धक उवाच- वृत्रं हत्वा देवराट् श्रेष्ठभाग्वै यज्ञं हत्वा भागमवाप चैव।

शूली देवो देववृत्तं चर त्वं क्षिप्रं सर्पं जहि मा भूत्ते विशङ्का ॥३२॥

भीष्म उवाच-असकृत्प्रोच्यमानाऽपि गौतमी भुजगं प्रति।

लुब्धकेन महाभागा पापे नैवाकरोन्मतिम् ॥ ३३ ॥

ईषदुच्छ्वसमानस्तु कृच्छ्रात्संस्तभ्य पन्नगः।

उत्ससर्ज गिरं मन्दां मानुषीं पाशपीडितः ॥ ३४ ॥

सर्प उवाच— को न्वर्जुनक दोषोऽत्र विद्यते मम बालिश।

अस्वतन्त्रं हि मां मृत्युर्विवशं यदचूचुदत् ॥ ३५ ॥

तस्यायं वचनाद्दष्टो न कोपेन न काम्यया।

यत्नवती न हूंगी ? (२९)

व्याध बोला, हे गौतमी ! इस एक जीवसे अनेक प्राणियोंकी रक्षा करनी उचित और अनेकको त्यागके एककी रक्षा करना योग्य नहीं है। धर्म जाननेवाले मनुष्य अपराधीको नष्ट किया करते हैं, इसलिये तुम इस पापी सांपका वध करो। (३०)

गौतमी बोली, हे व्याध ! इस सर्पके मारनेसे मेरा पुत्र जीवित न होगा और इसका वध करनेसे और कुछ पुण्य भी नहीं दीखता है, इसलिये इस सर्पको जीते ही छोड दो। (३१)

व्याध बोला, इन्द्रने वृत्रासुरको मारके श्रेष्ठ भाग लाभ किया है, महादेवने यज्ञ नष्ट करके यज्ञ-भाग पाया है, इसलिये देवताओंके व्यवहारका आचरण करना योग्य है; शीघ्र ही इस सर्पको मार डालो, इसमें कुछ भी शङ्का मत करो। (३२)

भीष्म बोले, व्याधने सांपको मारनेके लिये गौतमीको बार बार उत्तेजित किया, परन्तु उस महाभागाने पापकार्यमें मन नहीं लगाया। अनन्तर पाश पीडित सर्प लम्बी स्वांस छोडके अत्यन्त कष्टसे धीरज धरके मृदुस्वरसे मनुष्य वाक्य बोलने लगा। (३३-३४)

सर्प बोला, हे मूर्ख अर्जुन ! इस विषयमें मेरा क्या दोष है ? मैं पराधीन और परवश हूं, इसलिये मृत्युने ही मुझे प्रेरणा की है, मैंने मृत्यु की आज्ञानुसार इसे काटा है, कोप अथवा

तस्य तत्किल्बिषं लुब्ध विद्यते यदि किल्बिषम् ॥ ३६ ॥

लुब्धक उवाच— यद्यन्यवशगेनेदं कृतं ते पन्नगाशुभम् ।
कारणं वै त्वमप्यत्र तस्मात्त्वमपि किल्बिषी ॥ ३७ ॥
मृत्पात्रस्य क्रियायां हि दण्डचक्रादयो यथा ।
कारणत्वे प्रकल्प्यन्ते तथा त्वमपि पन्नग ॥ ३८ ॥
किल्बिषी चापि मे वध्यः किल्बिषी चासि पन्नग ।
आत्मानं कारणं ह्यत्र त्वमाख्यासि भुजंगम ॥ ३९ ॥

सर्प उवाच— सर्वे एते ह्यस्ववशा दण्डचक्रादयो यथा ।
तथाऽहमपि तस्मान्मे नैष दोषो मतस्तव ॥ ४० ॥
अथ वा मतमेतत्ते तेऽप्यन्योऽन्यप्रयोजकाः ।
कार्यकारणसंदेहो भवत्यन्योऽन्यचोदनात् ॥ ४१ ॥
एवं सति न दोषो मे नास्मि वध्यो न किल्बिषी ।
किल्बिषं समवाये स्यान्मन्यसे यदि किल्बिषम् ॥ ४२ ॥

कामानुसार दंशन नहीं किया है, इसमें यदि पाप हो, तो जिसने मुझे प्रेरणा किया है, वह पाप उसे ही लगेगा। (३५–३६)

व्याध बोला, हे भुजङ्ग! तुम यदि दूसरेके वशमें होकर यह अशुभ कर्म्म किया करते हो, तौभी तुम इस विषयमें कारण हो, इसलिये तुम भी पापभागी हो। हे सर्प! जैसे मट्टीके पात्र बनानेमें दण्ड, चक्र, जल और सूत कारण रूपसे कल्पित होते हैं, वैसे ही तुमभी इस विषयमें कारण होनेसे पापभागी हो। हे पन्नग! पाप करनेवाले मेरे वध्य हैं, तुम भी पापी मालूम होते हो और इस विषयमें अपनेको ही कारण कहते हो। (३७–३८)

सर्प बोला, दण्ड, चक्र प्रभृतिकी भांति सब ही अस्वतन्त्र हैं, इसलिये मैं भी अवश हूं, इससे मेरा यह दोष तुम्हारे समीप युक्ति-सम्मत नहीं हो सकता, अथवा यदि तुम्हें ऐसा ही सम्मत हो, तो दण्डचक्र प्रभृति परस्परकी प्रयोजक हो सकते हैं और परस्पर की प्रेरणावशसे कार्य्य कारणमें सन्देह हुआ करता है; यदि ऐसा ही माना जावे, तौभी मेरा दोष नहीं है, मैं वध करनेके योग्य अथवा पापी नहीं हूं, यदि तुम इसमें पाप होना समझते हो, तो समवायकोही पाप हो सकता है, अर्थात् यदि चेतनत्वनिबन्धनसे मेरा वध करना ही तुम्हें सम्मत है, तो एकमात्र वध-कार्यमें साक्षात् और

लुब्धक उवाच— कारणं यदि न स्याद्वै न कर्ता स्यास्त्वमप्युत ।
विनाशकारणं त्वं च तस्माद्वध्योऽसि मे मतः ॥ ४३ ॥
असत्यपि कृते कार्ये नेह पन्नग लिप्यते ।
तस्मान्नात्रैव हेतुः स्याद्वध्यः किं बहु मन्यसे ॥ ४४ ॥
सर्प उवाच— कार्याभावे क्रिया न स्यात्सत्यसत्यपि कारणे ।
तस्मात्समेऽस्मिन्हेतौ मे वाच्यो हेतुर्विशेषतः ॥४५॥
यद्यहं कारणत्वेन मतो लुब्धक तत्त्वतः ।
अन्यः प्रयोगे स्यादत्र किल्बिषी जन्तुनाशने ॥ ४६ ॥
लुब्धक उवाच— वध्यस्त्वं मम दुर्बुद्धे बालघाती नृशंसकृत् ।
भाषसे किं बहु पुनर्वध्यः सन्पन्नगाधम ॥ ४७ ॥

परंपरासम्बन्धसे अनेकोंकी प्रयोजकता है,इसलिये विभागके अनुसार सबको ही पाप लगेगा, केवल मैं ही पापी नहीं हूं। (४०–४२)

व्याध बोला,तुम यदि विनाश कार्य्य में अपनेको कारण अथवा कर्त्ता नहीं समझते हो, तोभी इस विनाशके विषयमें साक्षात् सम्बन्धसे तुम ही कारण हो, इसलिये मेरे विचारमें तुम वध करनेके योग्य हो। हे भुजङ्ग! पाप कार्य्य करके भी यदि कर्त्ता अपनेको उससे लिप्त न समझे, तब तो इस विषयमें कोई भी कारण नहीं होसकता, इसलिये उपस्थित विषयमें तुम ही कर्त्ता हो, इसीसे वध्य मालूम होते हो, क्यों तुम बडीबोल बोलते हो ? (४३-४४)

सर्प बोला, कर्त्ताके रहनेपर कुठारोद्यमन आदि कार्य्यसे छेदन क्रिया हुआ करती है, और कर्त्ताके न रहनेपर भी वृक्षोंकी डालियोंका आपसमें संघर्षण होनेसे कार्य्यवशसे उसहीसे अग्नि प्रगट होके वनको जला देती है; इसलिये कारणके रहने अथवा न रहने पर भी जैसे कार्य्यकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही इस तुल्य हेतुके स्थलमें मेरा कारणत्व विशेष रीतिसे विचारना चाहिये । हे व्याध! यदि मैं कारण अर्थात् प्रयोज्य कर्त्तृरूपसे यथार्थमें ही तुम्हारे समीप युक्तिसंमत होऊं, तो शाखाके प्रयोजक वायुकी भांति मेरा प्रयोजक दूसरा कोई कर्त्ता अवश्य है, इस जीवके नाश विषयमें वही पापी हो सकता है। (४५–४६)

व्याध बोला, रे नीचबुद्धि अधम सर्प! तू जानकर इस बालकका प्राणनाशरूपी अत्यन्त नृशंस कार्य्य करके वध्य हुआ है; वध्य होके भी बार बार बडी बात करता है। (४७)

सर्प उवाच— यथा हवींषि जुह्वाना मखे वै लुब्धकार्त्विजः।
न फलं प्राप्नुवन्त्यत्र फलयोगे तथा ह्यहम् ॥ ४८ ॥
भीष्म उवाच– तथा ब्रुवति तस्मिंस्तु पन्नगे मृत्युचोदिते।
आजगाम ततो मृत्युः पन्नगं चाब्रवीदिदम् ॥ ४९ ॥
मृत्युरुवाच— प्रचोदितोऽहं कालेन पन्नग त्वामचूचुदम्।
विनाशहेतुर्नास्य त्वमहं न प्राणिनः शिशोः ॥ ५० ॥
यथा वायुर्जलधरान्विकर्षति ततस्ततः।
तद्वज्जलदवत्सर्प कालस्याहं वशानुगः ॥ ५१ ॥
सात्त्विका राजसाश्चैव तामसा ये च केचन।
भावाः कालात्मकाः सर्वे प्रवर्तन्ते ह जन्तुषु ॥ ५२ ॥
जङ्गमाः स्थावराश्चैव दिवि वा यदि वा भुवि।
सर्वे कालात्मकाः सर्प कालात्मकमिदं जगत् ॥ ५३ ॥
प्रवृत्तयश्च लोकेऽस्मिंस्तथैव च निवृत्तयः।
तासां विकृतयो याश्च सर्वं कालात्मकं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
आदित्यश्चन्द्रमा विष्णुरापो वायुः शतक्रतुः।
अग्निः खं पृथिवी मित्रः पर्जन्यो वसवोऽदितिः ॥ ५५ ॥

सर्प बोला, हे व्याध! जैसे ऋत्विक् लोग यज्ञमें घृतकी आहुति देनेसे उसके फलभागी नहीं होते, इस विषयके फल सम्बन्धमें मैं भी वैसा ही हूं। (४८)

भीष्म बोले, मृत्यु-प्रेरित सर्पके ऐसा कहते रहने पर मृत्यु स्वयं उस स्थान-पर उपस्थित हुई और उस सर्पसे कहने लगी। (४९)

मृत्यु बोली, हे सर्प! मैंने कालके द्वारा प्रेरित होकर तुम्हें प्रेरणा की थी, इसलिये तुम इस बालकके विनाश विषयमें कारण नहीं हो, मैं भी इसके नाशका कारण नहीं हूं। हे सर्प! जैसे वायु बादलोंको इधर उधर कर देता है, वैसे ही मैं भी बादलकी भांति कालके वशमें हूं, जो सब सात्विक, राजसिक और तामसिक भाव हैं, वे सभी कालात्मक होकर प्राणिमात्रमें निवास करते हैं। हे भुजंग द्युलोक वा भूलोकमें जितने स्थावरजंगम जीव हैं, वे सभी कालात्मक हैं, इसलिये यह जगत् काल-स्वरूप कहा जाता है; इस लोकमें प्रवृत्ति निवृत्ति अथवा जो कुछ प्राणियोंकी विकृति होती है, वह सब कालात्मकरूपसे वर्णित हुआ करती है, हे पन्नग! सूर्य, चन्द्रमा, विष्णु, जल,

सरितः सागराश्चैव भावाभावौ च पन्नग ।
सर्वे कालेन सृज्यन्ते ह्रियन्ते च पुनः पुनः ॥ ५६ ॥
एवं ज्ञात्वा कथं मां त्वं सदोषं सर्प मन्यसे ।
अथ चैवं गते दोषे मयि त्वमपि दोषवान् ॥ ५७ ॥

सर्प उवाच- निर्दोषं दोषवन्तं वा न त्वं मृत्यो ब्रवीम्यहम् ।
त्वयाऽहं चोदित इति ब्रवीम्येतावदेव तु ॥ ५८ ॥
यदि काले तु दोषोऽस्ति यदि तत्रापि नेष्यते ।
दोषो नैव परीक्ष्यो मे न ह्यत्राधिकृता वयम् ॥ ५९ ॥
निर्मोक्षस्त्वस्य दोषस्य मया कार्यो यथा तथा ।
मृत्योरपि न दोषः स्यादिति मेऽत्र प्रयोजनम् ॥६०॥

भीष्म उवाच- सर्पोऽथार्जुनकं प्राह श्रुतं ते मृत्युभाषितम् ।
नानागसं मां पाशेन संतापयितुमर्हसि ॥ ६१ ॥

लुब्धक उवाच- मृत्योः श्रुतं मे वचनं तव चैव भुजंगम ।
नैव तावददोषत्वं भवति त्वयि पन्नग ॥ ६२ ॥
मृत्युस्त्वं चैव हेतुर्हि बालस्यास्य विनाशने ।

वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, मित्र, पर्जन्य, वसु, अदिति, नदी, समुद्र, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य, ये सब ही कालके सहारे बार बार उत्पन्न और संहृत होते हैं। हे सर्प ! ऐसा जानके भी तुम मुझे क्यों दोषी समझते हो ? यदि इस में मुझे दोष लगे, तो तुम भी दोषी हो। (५०—५७)

सर्प बोला, हे मृत्यु ! मैं तुम्हें सदोष वा निर्दोष नहीं कहता हूं, मैं केवल तुम्हारे द्वारा प्रेरित हुआ हूं, इतनाही कहता हूं। यदि कालको दोष लगता हो अथवा उसमें दोष लगना अभिलषित न हो; उस दोषकी परीक्षा करना मेरा कार्य नहीं है, क्यों कि उस विषयमें मैं अधिकारी नहीं हूं, इस दोषको निर्मोचन करना जैसे मेरा कर्त्तव्य है, वैसे ही इस विषयमें जिस प्रकार मृत्युका भी दोष न हो, वह भी मेरा प्रयोजन है। (५८—६०)

भीष्म बोले, अनन्तर सर्प अर्जुनसे बोला, हे व्याध ! तुमने मृत्युका वचन सुना, अब मैं निरपराधी हूं, मुझे पाश-बन्धनके द्वारा दुःखित करना तुम्हें उचित नहीं है। (६१)

व्याध बोला, हे भुजंग ! मैंने मृत्यु-का और तुम्हारा वचन सुना है, परंतु इससे तुम्हारी निर्दोषता सिद्ध नहीं

उभयं कारणं मन्ये न कारणमकारणम् ॥ ६३ ॥
धिङ्मृत्युं च दुरात्मानं क्रूरं दुःखकरं सताम् ।
त्वां चैवाहं वधिष्यामि पापं पापस्य कारणम् ॥ ६४ ॥
मृत्युरुवाच — विवशौ कालवशगावावां निर्दिष्टकारिणौ ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ यदि सम्यक्प्रपश्यसि ॥ ६५ ॥
लुब्धक उवाच- युवामुभौ कालवशौ यदि मे मृत्युपन्नगौ ।
हर्षक्रोधौ यथा स्यातामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ६६ ॥
मृत्युरुवाच — या काचिदेव चेष्टा स्यात्सर्वा कालप्रचोदिता ।
पूर्वमेवैतदुक्तं हि मया लुब्धक कालतः ॥ ६७ ॥
तस्मादुभौ कालवशावावां निर्दिष्टकारिणौ ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ त्वया लुब्धक कर्हिचित् ॥६८॥
भीष्म उवाच- अथोपगम्य कालस्तु तस्मिन् धर्मार्थसंशये ।
अब्रवीत्पन्नगं मृत्युं लुब्धं चार्जुनकं तथा ॥ ६९ ॥

होती है, मृत्यु और तुम इस बालकके विनाश विषयमें कारण हो, मैं तुम दोनोंको ही कारण समझता हूं, जो कारण नहीं है,उसे कारण नहीं कहता। साधुओंको दुःख देनेवाली क्रूर दुष्टात्मा मृत्युको धिक्कार है और पापके हेतु पापात्मा तुम्हें भी धिक्कार है; मैं तुम्हारा अवश्य वध करूंगा।(६२-६४)

मृत्यु बोली,हम निर्दिष्ट कर्म करनेवाले, परवश तथा कालके वशमें हैं, इसलिये यदि तुम पूरी रीतिसे विचार करोगे, तो हम लोगोंको दोषयुक्त न कह सकोगे । (६५)

व्याध बोला, हे मृत्यु ! हे सर्प ! यदि तुम दोनों ही कालके वशमें हो, तब हम लोगोंको परोपकारके विषयमें जिस प्रकार द्वेष उत्पन्न होता है, उसे स्पष्ट रूपसे प्रकट करो, मैं इसे जानने की इच्छा करता हूं । (६६)

मृत्यु बोली, इस जगत्के बीच प्राणियोंमें जो कुछ कार्य संघटित होते हैं, काल ही उन सबका प्रयोजक है । हे व्याध! कालकी प्रेरणानुसार जो सब कार्य हुआ करते हैं, उन्हें मैंने पहले ही कहा है, ईश्वरके वशमें रहनेवाला पुरुष सत् वा असत् कर्म करके स्तुतियुक्त अथवा निन्दनीय नहीं होता; इसलिये हम दोनों ही कालके वशमें होकर यथानिर्दिष्ट कार्य करते हैं । हे व्याध! इसलिये तुम हम लोगोंको किसी विषय में दोषी नहीं सिद्ध कर सकते। ६७-६८

भीष्म बोले, अनन्तर उस धर्मार्थ-

काल उवाच– न ह्यहं नाप्ययं मृत्युर्नायं लुब्धक पन्नगः।
किल्बिषी जन्तुमरणे न वयं हि प्रयोजकाः ॥ ७० ॥
अकरोद्यदयं कर्म तन्नोऽर्जुनक चोदकम्।
विनाशहेतुर्नान्योऽस्य वध्यतेऽयं स्वकर्मणा ॥ ७१ ॥
यदनेन कृतं कर्म तेनायं निधनं गतः।
विनाशहेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम् ॥ ७२ ॥
कर्मदायादवाँल्लोकः कर्मसम्बन्धलक्षणः।
कर्माणि चोदयन्तीह यथान्योऽन्यं तथा वयम् ॥ ७३॥
यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥
यथा छायातपौ नित्यं सुसंबद्धौ निरन्तरम्।
तथा कर्म च कर्ता च संबद्धावात्मकर्मभिः ॥ ७५ ॥
एवं नाहं न वै मृत्युर्न सर्पो न तथा भवान्।
न चेयं ब्राह्मणी वृद्धा शिशुरेवात्र कारणम् ॥ ७६ ॥

संशयके स्थलमें काल स्वयं उपस्थित होकर सर्प, मृत्यु और अर्जुन नामक व्याधसे यह वचन कहने लगा। (६९)

काल बोला, हे व्याध! मृत्यु, मैं और सर्प, हम तीनों ही जीवोंकी मृत्युके विषयमें निष्पाप हैं, क्यों कि हम लोग केवल प्रयोजकमात्र हैं, हे अर्जुन! इस बालकने जैसा कर्म किया था, वह कर्म ही हम लोगोंका प्रयोजक है, इसके विनाशका कारण दूसरा कोई भी नहीं है, यह बालक निज कर्मवशसे मरा है, इस पुरुषने जो कर्म किया था, उसहीके द्वारा मृत्युको प्राप्त हुआ; इसलिये कर्म ही इसके विनाशका कारण है, हम सब लोग कर्मके वशीभूत हैं, कर्मसेही लोगोंको उत्तम गति मिलती है अर्थात् कर्म पुत्रकी भांति लोगोंका उद्धार करता है, कर्मफलके मिलनेसे ही लोगोंका पुण्य पाप जाना जाता है; जैसे सब कर्म परस्परके प्रयोजक होते हैं, हम लोगभी वैसे ही हैं। (७०-७३)

जैसे कर्त्ता मट्टीके पिण्डसे जैसी इच्छा करता है, वैसाही पात्र बनाता है, मनुष्य भी उस ही प्रकार अपने किये हुए कर्मफलको पाता है। जैसे छाया और धूपका सदा सम्बन्ध है, वैसे ही कर्म और कर्त्ता सदा ही आत्मकर्मोंके द्वारा सम्बन्धविशिष्ट हैं। इसलिये मैं, मृत्यु,सर्प,तुम अथवा बूढी ब्राह्मणी,

तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु ब्राह्मणी गौतमी नृप।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान्मत्वाऽर्जुनकमब्रवीत् ॥ ७७ ॥

गौतम्युवाच— नैव कालो न भुजगो न मृत्युरिह कारणम्।
स्वकर्मभिरयं बालः कालेन निधनं गतः ॥ ७८ ॥
मया च तत्कृतं कर्म येनायं मे मृतः सुतः।
यातु कालस्तथा मृत्युर्मुञ्चार्जुनक पन्नगम् ॥ ७९ ॥

भीष्म उवाच— ततो यथागतं जग्मुर्मृत्युः कालोऽथ पन्नगः।
अभूद्विशोकोऽर्जुनको विशोका चैव गौतमी ॥ ८० ॥
एतच्छ्रुत्वा शमं गच्छ मा भूः शोकपरो नृप।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान् सर्वे गच्छन्ति वै नृप ॥ ८१ ॥
नैव त्वया कृतं कर्म नापि दुर्योधनेन वै।
कालेनैतत्कृतं विद्धि निहता येन पार्थिवाः ॥ ८२ ॥

वैशंपायन उवाच— इत्येतद्वचनं श्रुत्वा बभूव विगतज्वरः।
युधिष्ठिरो महातेजाः पप्रच्छेदं च धर्मवित् ॥ ८३ ॥ [८३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे गौतमीलुब्धकव्यालमृत्युकालसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

हम लोग कोई भी इस बालककी मृत्युके कारण नहीं हैं, बालक ही इस विषयमें कारण है। हे राजन्! कालके ऐसा कहते रहनेपर 'सब लोग अपने कर्मसे ही स्वर्ग नरक भोग करते हैं' ब्राह्मणी गौतमी ऐसा निश्चय करके अर्जुनसे कहने लगी। (७४–७७)

गौतमी बोली, काल, सर्प और मृत्यु, इनमेंसे कोई भी इस बालकके मरनेके विषयमें कारण नहीं है, इस बालकने निज कर्मोंके द्वाराही मृत्यु लाभ की है। मैंने भी पुत्रशोकप्रद कर्म किया था, जिससे कि मेरा यह पुत्र पञ्चत्वको प्राप्त हुआ है; इस समय काल और मृत्यु गमन करें, हे अर्जुन! तुम भी सर्पको छोड दो। (७८–७९)

भीष्म बोले, अनन्तर काल, मृत्यु और सर्पके चले जानेपर अर्जुनका शोक छूटा और गौतमी भी शोकरहित हुई। हे महाराज! इसे सुनके तुम शान्ति अवलम्बन करो, शोक मत करो। हे महाराज! सब कोई निजकर्म निबन्धन से स्वर्ग और नरकलोकमें गमन किया करते हैं। राजा लोग जिन कर्म्मोंके सहारे मारे गये, वे तुम्हारा अथवा दुर्योधनके कृत कर्म नहीं थे; जानना

युधिष्ठिर उवाच- पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
श्रुतं मे महदाख्यानमिदं मतिमतां वर ॥ १ ॥
भूयस्तु श्रोतुमिच्छामि धर्मार्थसहितं नृप ।
कथ्यमानं त्वया किंचित्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥
केन मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः ।
इत्येतत्सर्वमाचक्ष्व तत्त्वेनापि च पार्थिव ॥ ३ ॥
भीष्म उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा मृत्युर्गृहस्थेन धर्ममाश्रित्य निर्जितः ॥ ४ ॥
मनोः प्रजापते राजन्निक्ष्वाकुरभवत्सुतः ।
तस्य पुत्रशतं जज्ञे नृपतेः सूर्यवर्चसः ॥ ५ ॥
दशमस्तस्य पुत्रस्तु दशाश्वो नाम भारत ।
माहिष्मत्यामभूद्राजा धर्मात्मा सत्यविक्रमः ॥ ६ ॥
दशाश्वस्य सुतस्त्वासीद्राजा परमधार्मिकः ।
सत्ये तपसि दाने च यस्य नित्यं रतं मनः ॥ ७ ॥

चाहिये, कि वे कालके द्वारा विहित हुए थे। (८०—८२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाते· जस्वी धर्मज्ञ युधिष्ठिर भीष्मका ऐसा वचन सुनके शोकरहित हुए और उन से यह वक्ष्यमाण वचन कहने लगे। (८३)

अनुशासनपर्वमें १ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें २ अध्याय।

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे बुद्धिमा- नोंमें श्रेष्ठ, सब शास्त्रोंके जाननेवाले महाप्राज्ञ पितामह! मैंने यह महत् आख्यान सुना, अब फिर आप धर्मार्थ- युक्त जो इतिहास कहे, उसे मैं सुननेकी अभिलाष करता हूं,इस लिये आपको उसकी व्याख्या करनी उचित है। हे नरपाल! किस गृहस्थने धर्मके सहारे मृत्युको पराजित किया है, इस वृत्तान्त को आप यथार्थ रूपसे वर्णन करिये। (१—३)

भीष्म बोले, गृहस्थ मनुष्यने धर्मके सहारे मृत्युको पराजित किया है, इस विषयमें प्राचीन लोग इस पुराने इति- हासका प्रमाण दिया करते हैं। हे राजन्! प्रजापति मनुके इक्ष्वाकु नामक एक पुत्र था, उस सूर्य समान तेजस्वी राजाके एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। हे भारत! उसके दसवें पुत्रका नाम दशाश्व था, वह सत्यपराक्रमी धर्मात्मा माहिष्मती नगरीका राजा

मदिराश्व इति ख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपतिः ।
धनुर्वेदे च वेदे च निरतो योऽभवत्सदा ॥ ८ ॥
मदिराश्वस्य पुत्रस्तु द्युतिमान्नाम पार्थिवः ।
महाभागो महातेजा महासत्त्वो महाबलः ॥ ९ ॥
पुत्रो द्युतिमतस्त्वासीद्राजा परमधार्मिकः ।
सर्वलोकेषु विख्यातः सुवीरो नाम नामतः ॥ १० ॥
धर्मात्मा कोषवांश्चापि देवराज इवापरः ।
सुवीरस्य तु पुत्रोऽभूत्सर्वसंग्रामदुर्जयः ॥ ११ ॥
स दुर्जय इति ख्यातः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
दुर्जयस्येन्द्रवपुषः पुत्रोऽग्निसदृशद्युतिः ॥ १२ ॥
दुर्योधनो नाम महान् राजा राजर्षिसत्तमः ।
तस्येन्द्रसमवीर्यस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ॥ १३ ॥
विषये वासवस्तस्य सम्यगेव प्रवर्षति ।
रत्नैर्धनैश्च पशुभिः सस्यैश्चापि पृथग्विधैः ॥ १४ ॥
नगरं विषयश्चास्य प्रतिपूर्णस्तदाऽभवत् ।
न तस्य विषये चाभूत्कृपणो नापि दुर्गतः ॥ १५ ॥

हुआ था। दशाश्वका पुत्र परम धर्मात्मा मदिराश्व नामक राजा पृथ्वी मण्डल भरमें प्रसिद्ध हुआ था। सत्य, तपस्या और दान विषयमें उसका चित्त सदा रत रहता था और वह धनुर्वेद तथा वेदमें भी अनुरक्त था। मदिराश्व के पुत्रका नाम द्युतिमान था, वह महाबलिष्ठ, महातेजस्वी, महाभाग्यशाली और महासत्त्वशाली था। द्युतिमानका पुत्र परम धर्मके आचरणमें रत सुवीर नाम राजा सब लोकोंमें विख्यात हुआ, वह धर्मात्मा अधिक धन-संपत्तिशाली और दूसरे इन्द्रके समान कोषवान् था। सुवीरका पुत्र सर्वसंग्रामदुर्जय, सब शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ सुदुर्जय नामसे विख्यात था। (४-१२)

दुर्जयके इन्द्रके समान शरीरसे युक्त अग्निसदृश तेजस्वी महाराज दुर्योधन नामक पुत्र हुआ। उस इन्द्रके समान पराक्रमशाली, युद्धमें अपराङ्मुख राजाके राज्यमें देवराज पूरी रीतिसे जल की वर्षा करते थे। अनेक प्रकार के शस्य, पशु, धन और अनेक प्रकारके रत्नसे उस समय उसका राज्य तथा नगर परिपूर्ण था। (१३—१५)

व्याधितो वा कृशो वाऽपि तस्मिन्नाभून्नरः क्वचित् ।
सुदक्षिणो मधुरवागनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
धर्म्मात्मा चानृशंसश्च विक्रान्तोऽथाविकत्थनः ॥ १६ ॥
यज्वा च दान्तो मेधावी ब्रह्मण्यः सत्यसंगरः ।
न चावमन्ता दाता च वेदवेदाङ्गपारगः ॥ १७ ॥
तं नर्म्मदा देवनदी पुण्या शीतजला शिवा ।
चकमे पुरुषव्याघ्रं स्वेन भावेन भारत ॥ १८ ॥
तस्यां जज्ञे तदा नद्यां कन्या राजीवलोचना ।
नाम्ना सुदर्शना राजन् रूपेण च सुदर्शना ॥ १९ ॥
तादृग्रूपा न नारीषु भूतपूर्वा युधिष्ठिर ।
दुर्योधनसुता यादृगभवद्वरवर्णिनी ॥ २० ॥
तामग्निश्चकमे साक्षाद्राजकन्यां सुदर्शनाम् ।
भूत्वा च ब्राह्मणो राजन्वरयामास तं नृपम् ॥ २१ ॥
दरिद्रश्चासवर्णश्च ममायमिति पार्थिवः ।
न दित्सति सुतां तस्मै तां विप्राय सुदर्शनाम् ॥२२ ॥

उसके राज्यमें कोई कृपण वा दरिद्र नहीं था, और उसके राज्य शासनके समयमें कोई पुरुष रोगी अथवा कृश नहीं हुआ था। हे भारत! उस मृदुभाषी, असूयारहित, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, अनृशंस, पराक्रमी, अनात्मश्लाघापरायण, विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले, अन्तरिन्द्रियनिग्रहशील, मेधावी, ब्रह्मनिष्ठ, सत्यसङ्गर, अनवमन्ता, वदान्यवर, वेदवेदान्तके जाननेवाले उत्तम दक्षिणा देनेवाले पुरुषप्रवर पृथ्वीपालकी शीतल जलसे युक्त कल्याणदायिनी पुण्यतमा देवनदी नर्मदाने स्वाभाविक कामना की थी। (१५—१८)

हे महाराज! राजा दुर्योधनने उस नर्मदा नदीसे एक सुदर्शना नामकी राजीवलोचना कन्या उत्पन्न की, वह कन्या केवल नामसे ही नहीं, रूपसे भी सुदर्शना थी। हे युधिष्ठिर! दुर्योधनकी कन्या जैसी सुन्दरी थी, स्त्रियोंके बीच वैसी सुन्दरी स्त्री पहले कभी उत्पन्न नहीं हुई थी। हे राजन्! अग्निने स्वयं ब्राह्मणका वेष धरके उस राजकन्या सुदर्शनाकी कामनासे राजाके निकट उसे पानेके लिये प्रार्थना की थी। ब्राह्मण मेरा असवर्ण और दरिद्र है, ऐसा समझके राजाने उस विप्रको सुदर्शना कन्या दान करनेकी अभिलाष

ततोऽस्य वितते यज्ञे नष्टोऽभूद्धव्यवाहनः ।
ततः सुदुःखितो राजा वाक्यमाह द्विजांस्तदा ॥ २३ ॥
दुष्कृतं मम किं नु स्याद्भवतां वा द्विजर्षभाः ।
येन नाशं जगामाग्निः कृतं कुपुरुषेष्विव ॥ २४ ॥
न ह्यल्पं दुष्कृतं नोऽस्ति येनाग्निर्नाशमागतः ।
भवतां चाथ वा मह्यं तत्त्वेनैतद्विमृश्यताम् ॥ २५ ॥
तत्र राज्ञो वचः श्रुत्वा विप्रास्ते भरतर्षभ ।
नियता वाग्यताश्चैव पावकं शरणं ययुः ॥ २६ ॥
तान् दर्शयामास तदा भगवान् हव्यवाहनः ।
स्वं रूपं दीप्तिमत्कृत्वा शारदार्कसमद्युतिः ॥ २७ ॥
ततो महात्मा तानाह दहनो ब्राह्मणर्षभान् ।
वरयाम्यात्मनोऽर्थाय दुर्योधनसुतामिति ॥ २८ ॥
ततस्ते कल्यमुत्थाय तस्मै राज्ञे न्यवेदयन् ।
ब्राह्मणा विस्मिताः सर्वे यदुक्तं चित्रभानुना ॥ २९ ॥
ततः स राजा तच्छ्रुत्वा वचनं ब्रह्मवादिनाम् ।

नहीं की। अनन्तर उस भूपतिके त्रेताग्निसाध्य यज्ञ में हव्यवाहन अग्निदेव अन्तर्द्धान हुए, राजा उस समय अत्यन्त दुःखित होकर ब्राह्मणोंसे यह वचन बोला। (१९–२३)

हे द्विजश्रेष्ठगण ! मुझसे अथवा आप लोगोंसे ऐसा कौनसा पापकर्म हुआ है, जिससे कि कुपुरुषके उपकारकी भांति अग्निदेव अदृश्य हुए? हम लोगोंका अल्प पाप नहीं है; क्यों कि अग्नि विनष्ट हुई। यह हमारा अथवा आपका पाप है, उसे यथार्थ रीतिसे विचारिये, हे भरतप्रवर ! उस समय ये सब ब्राह्मण राजाका वचन सुनके नियमनिष्ठ और वाक्संयत होकर अग्निदेवके शरणागत हुए। शरत्कालके सूर्यके समान तेजस्वी भगवान हव्यवाहनने उस समय निज रूपको प्रकाशित करके ब्राह्मणोंको दर्शन दिया। अनन्तर महानुभाव अग्नि उन ब्राह्मणोंसे बोले, मैं अपने लिये दुर्योधनकी कन्याको चाहता हूं। इस वचनको सुनके ब्राह्मण लोग विस्मित हुए और अग्निने जो कुछ कहा था, भोरके समय उठके वह सब वृत्तान्त राजाके समीप वर्णन किया। (२४–२९)

उस बुद्धिमान् राजाने ब्रह्मवादियोंके मुखसे ऐसा वचन सुनके परम हर्षित

अवाप्य परमं हर्षं तथेति प्राह बुद्धिमान् ॥ ३० ॥
अयाचत च तं शुल्कं भगवन्तं विभावसुम् ।
नित्यं सान्निध्यमिह ते चित्रभानो भवेदिति ॥ ३१ ॥
तमाह भगवानग्निरेवमस्त्विति पार्थिवम् ।
ततः सान्निध्यमद्यापि माहिष्मत्यां विभावसोः ॥३२॥
दृष्टं हि सहदेवेन दिशं विजयता तदा ।
ततस्तां समलंकृत्य कन्यामाहतवाससम् ॥ ३३ ॥
ददौ दुर्योधनो राजा पावकाय महात्मने ।
प्रतिजग्राह चाग्निस्तु राजकन्यां सुदर्शनाम् ॥ ३४ ॥
विधिना वेददृष्टेन वसोर्धारामिवाध्वरे ।
तस्या रूपेण शीलेन कुलेन वपुषा श्रिया ॥ ३५ ॥
अभवत्प्रीतिमानग्निर्गर्भं चास्या मनो दधे ।
तस्याः समभवत्पुत्रो नाम्नाऽऽग्नेयः सुदर्शनः ॥ ३६ ॥
सुदर्शनस्तु रूपेण पूर्णेन्दुसदृशोपमः ।
शिशुरेवाध्यगात्सर्वं परं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३७ ॥
अथौघवान्नाम नृपो नृगस्यासीत्पितामहः ।
तस्यायौघवती कन्या पुत्रश्चौघरथोऽभवत ॥ ३८ ॥

होके कहा, कि ऐसा ही होगा और भगवान् अग्निके निकट शुल्कस्वरूप यह वर मांगा कि, हे विभावसु ! इस स्थान में आप सदा निवास करिये, भगवान अग्निदेव राजाका वचन सुनके बोले, कि "ऐसा ही होवे ।" तभीसे माहिष्मती नगरीमें अग्नि सदा विद्यमान है, जब सहदेवने दक्षिण दिशा जीतनेके लिये प्रस्थान किया था, तब उन्हें प्रत्यक्ष दीख पडा था । अनन्तर राजा दुर्योधनने उस कन्याको नवीन वस्त्र पहराके सब आभूषणोंसे भूषित करके महात्मा अग्निको प्रदान किया । अग्निने भी अध्वरमें वसुधाराकी भांति उस राजकन्या सुदर्शनाको प्रतिग्रह किया । उसके कुल-शील, शरीरकी सुघराई और श्री देखके अग्निदेव प्रसन्न होके उसे पुत्र प्रदान करनेमें मनोयोगी हुए । अग्निके द्वारा उस राजकन्याके गर्भसे सुदर्शन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ; सुदर्शन सुघराई और रूप गुणमें पूर्णचन्द्रके समान हुआ, उसने बालक अवस्थामें ही संपूर्ण सनातन वेद अध्ययन किया । (३०-३७)

तामोघवान् ददौ तस्मै स्वयमोघवतीं सुताम् ।
सुदर्शनाय विदुषे भार्यार्थे देवरूपिणीम् ॥ ३९ ॥
स गृहस्थाश्रमरतस्तया सह सुदर्शनः ।
कुरुक्षेत्रेऽवसद्राजन्नोघवत्या समन्वितः ॥ ४० ॥
गृहस्थश्चावजेष्यामि मृत्युमित्येव स प्रभो ।
प्रतिज्ञामकरोद्धीमान् दीप्ततेजा विशाम्पते ॥ ४१ ॥
तामथौघवतीं राजन् स पावकसुतोऽब्रवीत् ।
अतिथेः प्रतिकूलं ते न कर्तव्यं कथंचन ॥ ४२ ॥
येन येन च तुष्येत नित्यमेव त्वयाऽतिथिः ।
अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा ॥ ४३ ॥
एतद्व्रतं मम सदा हृदि संपरिवर्तते ।
गृहस्थानां च सुश्रोणि नातिथेर्विद्यते परम् ॥ ४४ ॥
प्रमाणं यदि वामोरु वचस्ते मम शोभने ।
इदं वचनमव्यग्रा हृदि त्वं धारयेः सदा ॥ ४५ ॥
निष्क्रान्ते मयि कल्याणि तथा संनिहितेऽनघे ।
नातिथिस्तेऽवमन्तव्यः प्रमाणं यद्यहं तव ॥ ४६ ॥

नृग राजाके पितामह ओघवान् नामके राजा थे, उनके ओघवती नाम की कन्या और ओघरथ नामका पुत्र था, ओघवानने स्वयं विद्वान् सुदर्शनके साथ अपनी देवरूपिणी कन्याका विवाह किया। हे महाराज ! सुदर्शनने उस ओघवतीके साथ गृहस्थाश्रममें रत होके कुरुक्षेत्रमें निवास किया था। हे नरनाथ ! महातेजस्वी, धीमान सुदर्शन गृहस्थ होके मृत्युको जय करूंगा ऐसी ही प्रतिज्ञा करके पत्नीसे बोले, कि तुम भी अतिथियोंके विषयमें किसी प्रकारसे प्रतिकूल आचरण न करना; प्रतिदिन अतिथि जिस प्रकार तुम्हारे द्वारा प्रसन्न हो, तुम आत्मप्रदान करके भी उस कार्यको सिद्ध करना, इस विषयमें कुछ भी विचार न करना। (३८-४३)

हे सुश्रोणि ! मेरे हृदयमें सदा यह व्रत विद्यमान है, कि गृहस्थ मनुष्योंके निमित्त अतिथिसे बढके और कुछ भी नहीं है। हे शोभने ! हे वामोरु ! यदि तुम मेरे वचनको मानो, तो सन्देह-रहित होके सदा इस ही वचनको हृदयमें धारण करो। हे कल्याणि ! हे पापरहिते ! मैं चाहे घरसे बाहर रहूं, अथवा घरमें ही रहूं, मेरा वचन यदि तुम्हें प्रमाण

तमब्रवीदोघवती तथा मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
न मे त्वद्वचनात्किंचिन्न कर्तव्यं कथंचन ॥ ४७ ॥
जिगीषमाणस्तु गृहे तदा मृत्युः सुदर्शनम् ।
पृष्ठतोऽन्वगमद्राजन्रन्ध्रान्वेषी तदा सदा ॥ ४८ ॥
इध्मार्थं तु गते तस्मिन्नग्निपुत्रे सुदर्शने ।
अतिथिर्ब्राह्मणः श्रीमांस्तामाहौघवतीं तदा ॥ ४९ ॥
आतिथ्यं कृतमिच्छामि त्वयाऽद्य वरवर्णिनि ।
प्रमाणं यदि धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसंमतः ॥ ५० ॥
इत्युक्ता तेन विप्रेण राजपुत्री यशस्विनी ।
विधिना प्रतिजग्राह वेदोक्तेन विशाम्पते ॥ ५१ ॥
आसनं चैव पाद्यं च तस्मै दत्त्वा द्विजातये ।
प्रोवाचौघवती विप्रं केनार्थः किं ददामि ते ॥ ५२ ॥
तामब्रवीत्ततो विप्रो राजपुत्रीं सुदर्शनाम् ।
त्वया ममार्थः कल्याणि निर्विशङ्कैतदाचर ॥ ५३ ॥
यदि प्रमाणं धर्मस्ते गृहस्थाश्रमसंमतः ।
प्रदानेनात्मनो राज्ञि कर्तुमर्हसि मे प्रियम् ॥ ५४ ॥

हो, तुम अतिथिकी अवमानना न करना। ओघवती उस समय हाथ जोडके पतिसे बोली, तुम्हारी आज्ञा हर प्रकारसे मुझे पालन करना उचित है। हे राजन्! उस समय मृत्यु उस गृहस्थ सुदर्शनके जिगीषापरवश और छिद्रान्वेषी होकर सदा उसके पीछे पीछे घूमने लगी। जब अग्निपुत्र सुदर्शनने काष्ठ लानेके निमित्त गमन किया, तब यमने ब्राह्मणका वेष धरके अतिथि होकर उस ओघवतीसे कहा, हे वरवर्णिनि! गृहस्थाश्रम-सम्मत धर्म यदि तुम्हें प्रमाण हो, तो मेरा तुम आतिथ्य करो, मेरी यही अभिलाषा है। (४४-५०)

हे नरनाथ! यशस्विनी राजपुत्री उस ब्राह्मणका ऐसा वचन सुनके वेद-विहित विधिके अनुसार उसका सत्कार करने लगी, तथा ब्राह्मणको आसन और पाद्य देकर बोली, हे विप्रवर! आपका कौनसा प्रयोजन है? तब ब्राह्मण उस सुन्दरी राजकन्यासे बोला, हे कल्याणि! मैं तुम्हें ही चाहता हूं, तुम निःशङ्क होकर ऐसा ही आचरण करो। हे राजकन्या! गृहस्थाश्रम-सम्मत धर्म यदि तुम्हें प्रमाण हो, तो

स तया छन्द्यमानोऽन्यैरीप्सितैर्नृपकन्यया ।
नान्यमात्मप्रदानात्स तस्या वव्रे वरं द्विजः ॥ ५५ ॥
सा तु राजसुता स्मृत्वा भर्तुर्वचनमादितः ।
तथेति लज्जमाना सा तमुवाच द्विजर्षभम् ॥ ५६ ॥
ततो विहस्य विप्रर्षिः सा चैवाथ विवेश ह ।
संस्मृत्य भर्तुर्वचनं गृहस्थाश्रमकाङ्क्षिणः ॥ ५७ ॥
अथेध्मानमुपादाय स पावकिरुपागमत् ।
मृत्युना रौद्रभावेन नित्यं बन्धुरिवान्वितः ॥ ५८ ॥
ततस्त्वाश्रममागम्य स पावकसुतस्तदा ।
तां व्याजहारौघवतीं क्वासि यातेति चासकृत् ॥५९ ॥
तस्मै प्रतिवचः सा तु भर्त्रे न प्रददौ तदा ।
कराभ्यां तेन विप्रेण स्पृष्टा भर्तृव्रता सती ॥ ६० ॥
उच्छिष्टास्मीति मन्वाना लज्जिता भर्तुरेव च ।
तूष्णींभूताऽभवत्साध्वी न चोवाचाथ किंचन ॥ ६१ ॥
अथ तां पुनरेवेदं प्रोवाच स सुदर्शनः ।
क्व सा साध्वी क्व सा याता गरीयः किमतो मम ॥ ६२ ॥

तुम आत्मप्रदान करके मेरा प्रियकार्य सिद्ध करो। राजपुत्रीने अन्य अन्य अभिलषित वस्तु देनेका ब्राह्मणको लोभ दिखाया, तो भी उसने उसके आत्मप्रदानके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु न मांगी। तब राजकन्याने पति-का वचन स्मरण करके लज्जापूर्वक ब्राह्मणसे कहा, कि "ऐसा ही होवे।" अनन्तर उस राजकन्याने गृहस्थाश्रमकी इच्छा करनेवाले पतिका वचन स्मरण करके हंसकर उस ब्राह्मणके साथ निर्जन गृहमें बैठी; अनन्तर अग्निपुत्र सुदर्शन काठ लेकर घरपर आके उपस्थित हुए। रौद्रभावयुक्त मृत्यु अदृश्य भावसे सदा उनके निकटवर्त्ती थी। (५१-५८)

अनन्तर अग्निपुत्र उस समय अपने आश्रममें आके उस ओघवतीको 'कहां गई' ऐसा कहके बार बार आह्वान करने लगे। पतिव्रता सती उस समय उस ब्राह्मणके दोनों हाथोंसे आलिङ्गित रहनेसे पतिको कुछभी उत्तर न दे सकी मैं पतिके समीप उच्छिष्ट हुई, ऐसा विचारती हुई लज्जित होकर वह साध्वी चुप होरही, तथा कुछ भी न बोली, अनन्तर सुदर्शनने फिर उसे पुकार कर

पतिव्रता सत्यशीला नित्यं चैवार्जवे रता ।
कथं न प्रत्युदेत्यद्य स्मयमाना यथा पुरा ॥ ६३ ॥
उटजस्थस्तु तं विप्रः प्रत्युवाच सुदर्शनम् ।
अतिथिं विद्धि संप्राप्तं ब्राह्मणं पावके च माम् ॥ ६४ ॥
अनया छन्द्यमानोऽहं भार्यया तव सत्तम ।
तैस्तैरतिथिसत्कारैर्ब्रह्मन्नेषा वृता मया ॥ ६५ ॥
अनेन विधिना सेयं मामर्चति शुभानना ।
अनुरूपं यदत्रान्यत्तद्भवान्कर्तुमर्हति ॥ ६६ ॥
कूटमुद्गरहस्तस्तु मृत्युस्तं वै समन्वगात् ।
हीनप्रतिज्ञमत्रैनं वधिष्यामीत्यचिन्तयन् ॥ ६७ ॥
सुदर्शनस्तु मनसा कर्मणा चक्षुषा गिरा ।
त्यक्तेर्ष्यस्त्यक्तमन्युश्च स्मयमानोऽब्रवीदिदम् ॥ ६८ ॥
सुरतं तेऽस्तु विप्राग्र्य प्रीतिर्हि परमा मम ।
गृहस्थस्य हि धर्मोऽग्र्यः संप्राप्तातिथिपूजनम् ॥६९ ॥

कहा, 'वह साध्वी कहां है ? वह कहां चली गई ?' इससे बढके और गुरुतर विषय दूसरा कौनसा होगा ? पतिव्रता, सत्यशीला, सदा सरल स्वभाववाली वह प्रियतमा किस निमित्त विस्मययुक्त होकर आज पहलेकी भांति प्रकाशित नहीं होती है। (५९—६३)

सुदर्शन ऐसा ही वचन कह रहे थे, उस समय कुटीमें स्थित ब्राह्मणने उन्हें उत्तर दिया, कि हे अग्निपुत्र ! तुम्हें विदित हो, कि मैं अतिथि उपस्थित हुआ हूं। हे सत्तम! मैं तुम्हारी भार्याके द्वारा अनेक प्रकारके सत्कारोंसे प्रलोभित होने पर भी केवल इसकी ही प्रार्थना की है, यह वही शुभानना विधिपूर्वक मेरा संमान करती है, इस विषयमें दूसरा जो कुछ कार्य तुम्हें उपयुक्त बोध हो, अर्थात् स्त्रीदूषणके अनुसार यदि दण्ड देना उचित हो, तो तुम उसका अनुष्ठान करो। "अतिथिव्रत परित्याग करके जो प्रतिज्ञासे भ्रष्ट होता है, उसका वध करूंगा", ऐसा विचार कर मृत्यु देव लोहदण्ड धारण करके उस पुरुषकी अनुगामी हुए हैं। (६४—६७)

सुदर्शन ऐसा वचन सुनके कर्म, मन, नेत्र और वचनसे ईर्षा तथा क्रोध परित्याग करके विस्मित होकर यह वचन बोले, हे विप्रवर ! आपका सुरत हो, मुझे उससे परम प्रसन्नता होगी;

अतिथिः पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति ।
नान्यस्तस्मात्परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिणः ॥ ७० ॥
प्राणा हि मम दाराश्च यच्चान्यद्विद्यते वसु ।
अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहितम् ॥ ७१ ॥
निःसंदिग्धं यथा वाक्यमेतन्मे समुदाहृतम् ।
तेनाहं विप्र सत्येन स्वयमात्मानमालभे ॥ ७२ ॥
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
बुद्धिरात्मा मनः कालो दिशश्चैव गुणा दश ॥ ७३ ॥
नित्यमेव हि पश्यन्ति देहिनां देहसंश्रिताः ।
सुकृतं दुष्कृतं चापि कर्म धर्मभृतां वर ॥ ७४ ॥
यथैषा नानृता वाणी मयाऽद्य समुदीरिता ।
तेन सत्येन मां देवाः पालयन्तु दहन्तु वा ॥ ७५ ॥
ततो नादः समभवद्दिक्षु सर्वासु भारत ।
असकृत्सत्यमित्येवं नैतन्मिथ्येति सर्वतः ॥ ७६ ॥
उटजात्तु ततस्तस्मान्निश्चक्राम स वै द्विजः ।
वपुषा द्यां च भूमिं च व्याप्य वायुरिवोद्यतः ॥ ७७ ॥

अतिथि-सत्कार ही गृहस्थका परम धर्म है। जिस गृहस्थके घरमें अतिथि आकर पूजित होके गमन करता है, उससे बढके दूसरा कोई भी श्रेष्ठ धर्म नहीं है, ऐसा पण्डित लोग कहा करते हैं। मेरा प्राण, पत्नी और दूसरा जो कुछ धन है, वह सब अतिथियोंको दान करूंगा, यही मेरा सङ्कल्पित व्रत है। हे विप्र! मैंने सन्देहरहित होकर जिस प्रकार यह वचन कहा है, वैसे ही सत्यके सहारे स्वयं आत्माको अवलम्बन करता हूं। (६८—७२)

हे धार्मिकप्रवर! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि ये पांच और बुद्धि, आत्मा, मन, काल तथा दिशा, ये दस सदा देहधारियोंके शरीरमें स्थित रहके सुकृत और दुष्कृत कर्मोंको अवलोकन करते हैं। आज मैंने जो यह वचन कहा है, उस सत्यके सहारे देवता लोग मुझे पालन करें, अथवा भस्म करें। हे भारत! अनन्तर "यही सत्य है, इसमें कुछ भी झूट नहीं है" ऐसा ही शब्द सब ओरसे प्रकट हुआ। अनन्तर उदयशील वायुकी भांति शरीरके सहारे वह ब्राह्मण उस कुटीसे बाहर निकला और उदात्तादि धर्म-

स्वरेण विप्रः शैक्षेण त्रीन् लोकाननुनादयन्।
उवाच चैनं धर्मज्ञं पूर्वमामन्त्र्य नामतः ॥ ७८ ॥
धर्मोऽहमस्मि भद्रं ते जिज्ञासार्थं तवानघ।
प्राप्तः सत्यं च ते ज्ञात्वा प्रीतिर्मे परमा त्वयि॥ ७९ ॥
विजितश्च त्वया मृत्युर्योऽयं त्वामनुगच्छति।
रन्ध्रान्वेषी तव सदा त्वया धृत्या वशीकृतः ॥८०॥
न चास्ति शक्तिस्त्रैलोक्ये कस्यचित्पुरुषोत्तम।
पतिव्रतामिमां साध्वीं तवोद्वीक्षितुमच्युत ॥ ८१ ॥
रक्षिता त्वद्गुणैरेषा पतिव्रतगुणैस्तथा।
अधृष्या यदियं ब्रूयात्तथा तन्नान्यथा भवेत् ॥ ८२ ॥
एषा हि तपसा स्वेन संयुक्ता ब्रह्मवादिनी।
पावनार्थं च लोकस्य सरिच्छ्रेष्ठा भविष्यति॥ ८३ ॥
अर्धेनौघवती नाम त्वमर्धेनानुयास्यति।
शरीरेण महाभागा योगो ह्यस्या वशे स्थितः ॥८४॥
अनया सह लोकांश्च गन्तासि तपसाऽर्जितान्।

विशिष्ट स्वरसे प्रथम उस धर्मज्ञ सुदर्शन का नाम लेके उन्हें आमन्त्रण करके यह वचन बोला, हे पापरहित! तुम्हारा मङ्गल हो, मैं धर्म हूं, मैं तुम्हारी परीक्षा करनेके लिये इस स्थानमें आया था। (७३-७९)

हे सत्यज्ञ! सत्य जाननेसे अब तुम्हारे उपर मेरी अत्यन्त प्रीति हुई। छिद्रान्वेषी मृत्यु जो कि सदा तुम्हारा पीछा कर रही है, तुमने उसे जय किया है और धैर्य गुणसे वशीभूत किया है। हे पुरुषोत्तम! तुम्हारे इस पतिव्रता साध्वीको स्पर्श करनेकी बात तो दूर है, इसकी ओर देखनेकी भी तीनों लोकोंके बीच किसीको सामर्थ्य नहीं है। यह तुम्हारे गुणसे तथा पतिव्रता गुण से रक्षित हुई है। यह अधृष्या साध्वी जो कहेगी, वह मिथ्या न होगा। यह ब्रह्मवादिनी निज तपस्यासे संयुक्त होकर लोकको पवित्र करनेके लिये श्रेष्ठ नदी होगी। (७९—८३)

तुम इस जन्ममें इस ही शरीरसे सब लोकोंमें गमन करोगे, और यह महाभागा अर्द्ध शरीरसे ओघवती नामकी नदी होगी और आधे शरीरसे तुम्हारा अनुगमन करेगी, योगबलसे यह दो शरीर धारण कर सकेगी, क्यों कि योग इसके वशमें है, तुमने तपोबल

यत्र नावृत्तिमभ्येति शाश्वतांस्तान्सनातनान् ॥ ८५ ॥
अनेन चैव देहेन लोकांस्त्वमभिपत्स्यसे ।
निर्जितश्च त्वया मृत्युरैश्वर्यं च तवोत्तमम् ॥ ८६ ॥
पञ्च भूतान्यतिक्रान्तः स्ववीर्याच्च मनोजवः ।
गृहस्थधर्मेणानेन कामक्रोधौ च ते जितौ ॥ ८७ ॥
स्नेहो रागश्च तन्द्री च मोहो द्रोहश्च केवलः ।
तव शुश्रूषया राजन् राजपुत्र्या विनिर्जिताः ॥ ८८ ॥
भीष्म उवाच—शुक्लानां तु सहस्रेण वाजिनां रथमुत्तमम् ।
युक्तं प्रगृह्य भगवान् वासवोऽभ्याजगाम तम् ॥ ८९ ॥
मृत्युरात्मा च लोकाश्च जिता भूतानि पञ्च च ।
बुद्धिः कालो मनो व्योम कामक्रोधौ तथैव च ॥ ९० ॥
तस्माद्गृहाश्रमस्थस्य नान्यद्दैवतमस्ति वै ।
ऋतेऽतिथिं नरव्याघ्र मनसैतद्विचारय ॥ ९१ ॥
अतिथिः पूजितो यद्धि ध्यायते मनसा शुभम् ।
न तत्क्रतुशतेनापि तुल्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ९२ ॥

से जिन लोगोंको प्राप्त किया है, इसके सहित उन्हीं लोकोंमें जाओगे; जहांपर जानेसे फिर मर्त्यलोकमें नहीं आना होता, तुम इस ही शरीरसे उस शाश्वत सनातन लोकमें गमन करोगे। मृत्यु तुमसे निर्जित हुई है, तुमने उत्तम ऐश्वर्य पाया है, तुमने निज वीर्यबलसे मनोजव होकर पञ्चभूतोंको अतिक्रम किया है। तुमने इस गृहस्थधर्मके सहारे काम और क्रोधको जीता है। हे ऋषि-राज! इस राजपुत्रीने तुम्हारी सेवाके सहारे स्नेह, राग, तन्द्रा, मोह और द्रोहको विशेष रूपसे जय किया है। (८४-८८)

भीष्म बोले, अनन्तर देवराज इन्द्र सफेद रंगवाले हजार घोडोंसे युक्त उत्तम रथ लेकर उस ब्राह्मणके निकट उपस्थित हुए। हे नरनाथ! उस ब्राह्मणने अतिथिके विषयमें भक्तिवशसे मृत्यु, आत्मा, सब लोक, पञ्चभूत, बुद्धि, काल, मन, व्योम, काम क्रोधको जय किया था, इसलिये गृह-स्थाश्रमी पुरुषके लिये अतिथिके समान दूसरा कोई भी देवता नहीं है, इसे मन-ही मन विचारो। अतिथि पूजित होनेसे मन ही मन जो शुभचिन्ता करता है, उसकी समानता सौ यज्ञके फल भी नहीं कर सकते, इसलिये पण्डित लोग

पात्रं त्वतिथिमासाद्य शीलाढ्यं यो न पूजयेत्।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ ९३ ॥
एतत्ते कथितं पुत्र मयाऽऽख्यानमनुत्तमम्।
यथा हि विजितो मृत्युर्गृहस्थेन पुराऽभवत् ॥ ९४ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यमिदमाख्यानमुत्तमम्।
बुभूषताऽभिमन्तव्यं सर्वदुश्चरितापहम् ॥ ९५ ॥
इदं यः कथयेद्विद्वानहन्यहनि भारत।
सुदर्शनस्य चरितं पुण्याँल्लोकानवाप्नुयात् ॥ ९६ ॥ [१७९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे सुदर्शनोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच—ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्राप्यं त्रिभिर्वर्णैर्नराधिप।
कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना ॥ १ ॥
विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ब्राह्मणत्वं नरर्षभ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥
तेन ह्यमितवीर्येण वसिष्ठस्य महात्मनः।

कहा करते हैं कि अतिथि सत्कारका फल उससे भी अधिक हुआ करता है। (८९-९२)

शीलवान् सत्पात्र अतिथिके उपस्थित होनेसे जो पुरुष उसका सत्कार नहीं करता, उसे वह अतिथि अपना पापका फल देकर उसके पुण्यफलको लेकर चल देता है। हे तात! पहले समयमें गृहस्थ पुरुषके द्वारा मृत्यु जिस प्रकार पराजित हुई थी, यह वही उत्तम आख्यान मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया है। यह उत्तम आख्यान धन, यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला है। एश्वर्यकी इच्छा करनेवाले मनुष्य इसे सब पापोंको नष्ट करनेवाला समझते हैं। हे भारत! जो विद्वान् पुरुष नित्य इस सुदर्शनचरितको कहता है, वह पुण्यलोक पाता है। (९३-९६)

अनुशासनपर्वमें २ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ३ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे नरनाथ! क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीनों वर्णोंको यदि ब्राह्मणत्व प्राप्त होना दुष्प्राप्य है, तो महानुभाव विश्वामित्रने क्षत्रिय होके किस प्रकार ब्राह्मणत्व लाभ किया था। इसे मैं यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं। हे पुरुषश्रेष्ठ धर्मात्मा पितामह! आप मेरे समीप इस विषयका

हतं पुत्रशतं सद्यस्तपसाऽपि पितामह ॥ ३ ॥
यातुधानाश्च बहवो राक्षसास्तिग्मतेजसः ।
मन्युनाऽऽविष्टदेहेन सृष्टाः कालान्तकोपमाः ॥ ४ ॥
महान्कुशिकवंशश्च ब्रह्मर्षिशतसंकुलः ।
स्थापितो नरलोकेऽस्मिन्विद्वद्ब्राह्मणसंस्तुतः ॥ ५ ॥
ऋचीकस्यात्मजश्चैव शुनःशेपो महातपाः ।
विमोक्षितो महासत्रात्पशुतामप्युपागतः ॥ ६ ॥
हरिश्चन्द्रः क्रतौ देवांस्तोषयित्वात्मतेजसा ।
पुत्रतामनुसंप्राप्तो विश्वामित्रस्य धीमतः ॥ ७ ॥
नाभिवादयते ज्येष्ठं देवरातं नराधिप ।
पुत्राः पञ्चाशदेवापि शप्ताः श्वपचतां गताः ॥ ८ ॥
त्रिशंकुर्बन्धुभिर्मुक्त ऐक्ष्वाकः प्रीतिपूर्वकम् ।
अवाक्शिरा दिवं नीतो दक्षिणामाश्रितो दिशम्॥९॥
विश्वामित्रस्य विपुला नदी देवर्षिसेविता ।
कौशिकी च शिवा पुण्या ब्रह्मर्षिसुरसेविता ॥ १० ॥

वर्णन करिये । हे पितामह ! उस अत्यन्त वीर्यशाली विश्वामित्रने तपस्या के प्रभावसे महात्मा वसिष्ठके एक सौ पुत्रोंका नाश किया था । उनके शरीरमें क्रोध उत्पन्न होनेपर उन्होंने कालान्तक-समान बहुतेरे महातेजस्वी यातुधान राक्षसोंको उत्पन्न किया था । (१-४)

एक सौ ब्रह्मर्षियोंसे युक्त, विद्यावान, अत्यन्त महान् कुशिक वंश इस मनुष्य-लोकमें ब्राह्मणोंके द्वारा स्तुतियुक्त होकर स्थापित हुआ है; ऋचीकके पुत्र महातपस्वी शुनःशेप पशुत्वको प्राप्त होकर महायज्ञसे विमोक्षित हुए; हरिश्चन्द्रने निज तेजके सहारे यज्ञमें देवताओंको सन्तुष्ट करके बुद्धिमान् विश्वामित्रका पुत्रत्व लाभ किया । देवताओंने विश्वामित्रको देवरात नामक जो पुत्र प्रदान किया था, उसके ज्येष्ठ तथा राजा होनेपर भी उनके अन्य पुत्रोंने उसे प्रणाम नहीं किया, इसीसे उन्होंने उन पचास पुत्रोंको शाप दिया, वे सब चाण्डाल होगये । (५-८)

इक्ष्वाकुका पुत्र त्रिशंकु वसिष्ठके शापसे चाण्डाल होगया, इसीसे उसके बान्धवोंने उसे परित्याग किया । अनन्तर उनके दक्षिण दिशाको अवलम्बन करके अवाक्शिरा होनेपर विश्वामित्रने उसे स्वर्गमें भेजा । विश्वामित्रकी

तपोविघ्नकरी चैव पञ्चचूडा सुसंमता।
रम्भा नामाप्सराः शापाद्यस्य शैलत्वमागता ॥११॥
तथैवास्य भयाद्बद्ध्वा वसिष्ठः सलिले पुरा।
आत्मानं मज्जयन्श्रीमान् विपाशः पुनरुत्थितः ॥१२॥
तदा प्रभृति पुण्या हि विपाशाऽभून्महानदी।
विख्याता कर्मणा तेन वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
वाग्भिश्च भगवान्येन देवसेनाग्रगः प्रभुः।
स्तुतः प्रीतमनाश्चासीच्छापाच्चैनममुञ्चत ॥ १४ ॥
ध्रुवस्यौत्तानपादस्य ब्रह्मर्षीणां तथैव च।
मध्ये ज्वलति यो नित्यमुदीचीमाश्रितो दिशम् ॥१५॥
तस्यैतानि च कर्माणि तथाऽन्यानि च कौरव।
क्षत्रियस्येत्यतो जातमिदं कौतूहलं मम ॥ १६ ॥

कौशिकी नामकी देवर्षियोंसे सेवित एक बड़ी नदी थी, उस कल्याणी पुण्यसलिलवाली श्रेष्ठ नदीकी देवता और ब्रह्मर्षि लोग सेवा करते थे। पञ्चवलयवती, उत्तम और प्रसिद्ध रम्भा नामकी अप्सरा उसकी तपस्यामें विघ्न करनेसे शापवशसे शिला होगई थी। इस ही ऋषिके भयसे पहले समयमें वसिष्ठ मुनि पत्थरखण्डके सहित जलमें डूबे थे और विपाश होकर फिर जलसे ऊपर उठे थे, तभीसे उस पुण्य सलिल-वाली महानदी महात्मा वसिष्ठके उस ही कर्मसे विपाशा नामसे विख्यात हुई है। (९—१३)

जब विश्वामित्र त्रिशंकुके यज्ञ करनेमें प्रवृत्त हुए, तब वसिष्ठ मुनिके पुत्रोंने उन्हें यह कहके शाप दिया, कि "जब तुम चाण्डालके पुरोहित हुए हो, तो स्वयं चाण्डाल होजाओगे।" इस ही शापके सत्य होनेके निमित्त किसी आपत्कालमें विश्वामित्रने चौर्यवृत्तिसे कुत्तेका निकृष्ट मांस चुराकर उसे पकाना आरम्भ किया था, इतने ही समयमें इन्द्रने बाजपक्षीका रूप धरके उस मांसको हरण किया। उस समय विश्वामित्रने वचनसे भगवान् इन्द्रकी स्तुति की, इन्द्रने प्रसन्न होकर उन्हें शापसे मुक्त कर दिया। उत्तानपाद राजाके पुत्र ध्रुव और ब्रह्मर्षियोंके बीच जो उदीची दिशाको अवलम्बन करके सदा नक्षत्र रूपसे प्रकाशित होरहे हैं, हे कौरव! उस विश्वामित्रके ये सब तथा अन्यान्य कर्मोंको सुनके, कि क्षत्रियके द्वारा यह सब घटना हुई थी, इसमें

किमेतदिति तत्त्वेन प्रब्रूहि भरतर्षभ ।
देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत् ॥ १७ ॥
एतत्तत्त्वेन मे तात सर्वमाख्यातुमर्हसि ।
मतङ्गस्य यथातत्त्वं तथैवैतद्वदस्व मे ॥ १८ ॥
स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं नालभद्भरतर्षभ ।
चण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान् ॥१९॥ [१९८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि
आनुशासनिके पर्वणि विश्वामित्रोपाख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच—श्रूयतां पार्थ तत्त्वेन विश्वामित्रो यथा पुरा ।
ब्राह्मणत्वं गतस्तात ब्रह्मर्षित्वं तथैव च । ॥ १ ॥
भरतस्यान्वये चैवाजमीढो नाम पार्थिवः ।
बभूव भरतश्रेष्ठ यज्वा धर्मभृतां वरः ॥ २ ॥
तस्य पुत्रो महानासीज्जह्नुर्नाम नरेश्वरः ।
दुहितृत्वमनुप्राप्ता गङ्गा यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥
तस्यात्मजस्तुल्यगुणः सिन्धुद्वीपो महायशाः ।

मुझे अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न हुआ है।(१४—१६)

हे भरतश्रेष्ठ ! यह घटना किस प्रकार हुई थी, आप उसे वर्णन करिये। विश्वामित्र विना दूसरा शरीर धारण किये ही किस प्रकार ब्राह्मण हुए। हे तात ! हमारे समीप इन समस्त वृत्तान्तोंको वर्णन करनेके योग्य आप ही हैं, जैसा मतङ्गका वृत्तान्त है, वैसे ही इसे भी आप मेरे निकट वर्णन करिये। हे भरतप्रवर ! मतङ्गने शूद्रके सहारे ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न होके कठिन तपस्या करनेपर भी ब्राह्मणत्व लाभ नहीं किया, वह युक्तिसङ्गत है, परन्तु विश्वामित्रने किस प्रकार ब्राह्मणत्व लाभ किया। (१७-१९)

अनुशासनपर्वमें ३ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ४ अध्याय।

भीष्म बोले, हे तात पृथापुत्र ! पहले समयमें विश्वामित्रने जिस प्रकार ब्राह्मणत्व और ब्रह्मर्षित्व प्राप्त किया था। उसे यथार्थ रीतिसे कहता हूं, सुनो। हे भरतप्रवर ! भरतवंशमें आजमीढ नामक यज्ञ करनेवाला, धार्मिकोंमें श्रेष्ठ एक राजा था। गङ्गा जिसकी पुत्री कहाती हैं वही जन्हु उसके मुख्य पुत्र थे; उनके महायशस्वी सिन्धुद्वीप, गुणोंमें उन्हींके सदृश पुत्र हुआ,सिन्धु-

सिन्धुद्वीपाच राजर्षिर्बलाकाश्वो महाबलः ॥ ४ ॥
वल्लभस्तस्य तनयः साक्षाद्धर्म इवापरः।
कुशिकस्तस्य तनयः सहस्राक्षसमद्युतिः ॥ ५ ॥
कुशिकस्यात्मजः श्रीमान् गाधिर्नाम जनेश्वरः।
अपुत्रः प्रसवेनार्थी वनवासमुपावसत् ॥ ६ ॥
कन्या जज्ञे सुतास्तस्य वने निवसतः सतः।
नाम्ना सत्यवती नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ ७ ॥
तां वव्रे भार्गवः श्रीमांश्च्यवनस्यात्मसंभवः।
ऋचीक इति विख्यातो विपुले तपसि स्थितः ॥ ८ ॥
स तां न प्रददौ तस्मै ऋचीकाय महात्मने।
दरिद्र इति मत्वा वै गाधिः शत्रुनिबर्हणः ॥ ९ ॥
प्रत्याख्याय पुनर्यान्तमब्रवीद्राजसत्तमः।
शुल्कं प्रदीयतां मह्यं ततो वत्स्यसि मे सुताम् ॥१०॥
ऋचीक उवाच—किं प्रयच्छामि राजेन्द्र तुभ्यं शुल्कमहं नृप।
दुहितुर्ब्रूह्यसंसक्तो मा भूत्तत्र विचारणा ॥ ११ ॥
गाधिरुवाच—चन्द्ररश्मिप्रकाशानां हयानां वातरंहसाम्।

द्वीपसे महाबली बलाकाश्व राजर्षि उत्पन्न हुआ। साक्षात् धर्मसमान उसके वल्लभ नाम पुत्र हुआ। इन्द्रके समान तेजस्वी उसका पुत्र कुशिक हुआ; कुशिकका पुत्र श्रीमान् गाधि नामक राजा था, वह अपुत्र होनेसे वनवासी हुआ था। (१-६)

जब वह वनमें निवास कर रहा था, तब उसके एक कन्या उत्पन्न हुई। उसका सत्यवती नाम रखा, पृथ्वी-मण्डलमें वैसी रूपवती और कोई स्त्री नहीं थी। महातपस्वी भृगुवंशी च्यवन मुनिके पुत्र जो कि ऋचीक नामसे विख्यात हैं, उन्होंने राजासे उस कन्याके निमित्त प्रार्थना की, शत्रुनाशन गाधिराज पहले महानुभाव ऋचीकको दरिद्र समझके अपनी कन्या देनेमें सम्मत नहीं हुए। अनन्तर जब ऋचीक मुनि वहांसे लौटकर चलने लगे, तब नृपसत्तम गाधिराजने उनसे कहा, कि तुम मुझे शुल्क प्रदान करो, तो मेरी कन्याका पाणिग्रहण कर सकोगे। (७-१०)

ऋचीक मुनि बोले, मैं तुम्हारी कन्याका क्या शुल्क प्रदान करूं, उसे तुम निःसन्देह मुझसे कहो। (११)

महाराज गाधि बोले, हे भार्गव!

एकतः श्यामकर्णानां सहस्रं देहि भार्गव ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच—ततः स भृगुशार्दूलश्च्यवनस्यात्मजः प्रभुः।
अब्रवीद्वरुणं देवमादित्यं पतिमम्भसाम् ॥ १३ ॥
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्।
सहस्रं वातवेगानां भिक्षे त्वां देवसत्तम ॥ १४ ॥
तथेति वरुणो देव आदित्यो भृगुसत्तमम्।
उवाच यत्र ते च्छन्दस्तत्रोत्थास्यन्ति वाजिनः ॥१५॥
ध्यातमात्रमृचीकेन हयानां चन्द्रवर्चसाम्।
गङ्गाजलात्समुत्तस्थौ सहस्रं विपुलौजसाम् ॥ १६ ॥
अदूरे कान्यकुब्जस्य गङ्गायास्तीरमुत्तमम्।
अश्वतीर्थं तदद्यापि मानवैः परिचक्ष्यते ॥ १७ ॥
ततो वै गाधये तात सहस्रं वाजिनां शुभम्।
ऋचीकः प्रददौ प्रीतः शुल्कार्थं तपतां वरः ॥ १८ ॥
ततः स विस्मितो राजा गाधिः शापभयेन च।
ददौ तां समलंकृत्य कन्यां भृगुसुताय वै ॥ १९ ॥

चन्द्रमाकी किरण समान प्रकाशमान, वायुके सदृश वेगशाली और जिनके एक कान श्यामवर्ण हैं, वैसे एक हजार घोडे मुझे दो। (१२)

भीष्म बोले, अनन्तर उस भृगुवंशीय च्यवन मुनिके पुत्र ऋचीकने अदिति-पुत्र जलाधिपति वरुणदेवसे कहा कि, हे देवसत्तम! एकवर्ण श्यामकर्ण और चन्द्रकिरण समान सफेद, वायुसमान वेगशाली एक हजार घोडे पानेके लिये मैं आपके समीप भिक्षा मांगता हूं। अदितिपुत्र वरुणदेवने भृगुसत्तम ऋचीक मुनिसे कहा "बहुत अच्छा" तुम्हें जिस स्थानपर उन घोडोंके निमित्त अभिलाषा होगी, उस ही स्थानमें ऐसे लक्षणोंसे युक्त एक हजार घोडे प्रकट होजांयगे। अनन्तर ऋचीक मुनिके ध्यान करते ही महातेजस्वी चन्द्रमा समान सफेद एक हजार श्यामकर्ण घोडे गङ्गाजलसे प्रकट हुए; कान्यकुब्ज देशके समीप जिस स्थानमें ये घोडे प्रकट हुए थे, अबतक भी मनुष्य उसे अश्वतीर्थ कहा करते हैं। (१३-१७)

हे तात! अनन्तर तपस्विश्रेष्ठ ऋचीक मुनिने प्रसन्न होकर शुल्कके निमित्त महाराज गाधिको वेही एक हजार उत्तम श्यामकर्ण घोडे प्रदान किये, गाधिराज उसे देखकर विस्मित

जग्राह विधिवत्पाणिं तस्या ब्रह्मर्षिसत्तमः ।
सा च तं पतिमासाद्य परं हर्षमवाप ह ॥ २० ॥
स तुतोष च ब्रह्मर्षिस्तस्या वृत्तेन भारत ।
छन्दयामास चैवैनां वरेण वरवर्णिनीम् ॥ २१ ॥
मात्रे तत्सर्वमाचख्यौ सा कन्या राजसत्तम ।
अथ तामब्रवीन्माता सुतां किञ्चिदवाङ्मुखीम् ॥२२॥
ममापि पुत्रि भर्ता ते प्रसादं कर्त्तुमर्हति ।
अपत्यस्य प्रदानेन समर्थश्च महातपाः ॥ २३ ॥
ततः सा त्वरितं गत्वा तत्सर्वं प्रत्यवेदयत् ।
मातुश्चिकीर्षितं राजन् ऋचीकस्तामथाब्रवीत् ॥ २४ ॥
गुणवन्तमपत्यं सा अचिराज्जनयिष्यति ।
मम प्रसादात्कल्याणि मा भूत्ते प्रणयोऽन्यथा ॥२५॥
तव चैव गुणश्लाघी पुत्र उत्पत्स्यते महान् ।
अस्मद्वंशकरः श्रीमान्सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २६ ॥
ऋतुस्नाता च साश्वत्थं त्वं च वृक्षमुदुम्बरम् ।

हुए और शापभयसे डरके अपनी कन्याको सब आभूषणोंसे भूषित करके ऋचीक मुनिको प्रदान किया। ब्रह्मर्षि-सत्तम ऋचीक मुनिने विधिपूर्वक उस कन्याका पाणिग्रहण किया, वह भी उन्हें पतिरूपसे पाके परम हर्षित हुई। हे भारत। ब्रह्मर्षि ऋचीक उसके चरित्र से हर्षित हुए और उससे कहा, कि तुम्हें पुत्र दान करूंगा, इस प्रकार वर देके उस वरवर्णिनीको प्रलोभित किया। हे भारत! कन्याने वह सब वृत्तान्त अपनी मातासे कह दिया। (१८-२२)

अनन्तर माताने उस अधोवदनवाली अपनी पुत्रीसे कहा, हे पुत्री! तुम्हारा पति मुझपर भी कृपा कर सकता है, वह महातपस्वी पुत्र देनेमें समर्थ है। हे राजन्! इतनी बात सुनके उसने शीघ्र ही पतिके निकट जाके माताका सब अभिप्राय कह सुनाया। तब ऋचीक मुनिने उससे कहा, हे कल्याणि! मेरे प्रसादसे तुम्हारी माताके शीघ्रही गुणवान पुत्र जन्मेगा। तुम्हारे भी गुणवान और यशस्वी हमारे वंशकी वृद्धि करनेवाला श्रीमान् महान् पुत्र उत्पन्न होगा; यह मैं तुमसे सत्य ही कहता हूं। हे कल्याणि! तुम और तुम्हारी माता जब ऋतुमती होकर स्नान करने पर अश्वत्थ और उदुम्बर

परिष्वजेथाः कल्याणि तत एवमवाप्स्यथः ॥ २७ ॥
चरुद्वयमिदं चैव मन्त्रपूतं शुचिस्मिते ।
त्वं च सा चोपभुञ्जीतं ततः पुत्रावावाप्स्यथः॥ २८ ॥
ततः सत्यवती हृष्टा मातरं प्रत्यभाषत ।
यदृचीकेन कथितं तच्चाचख्यौ चरुद्वयम् ॥ २९ ॥
तामुवाच ततो माता सुतां सत्यवतीं तदा ।
पुत्रि पूर्वोपपन्नायाः कुरुष्व वचनं मम ॥ ३० ॥
भर्त्रा य एष दत्तस्ते चरुर्मन्त्रपुरस्कृतः ।
एनं प्रयच्छ मह्यं त्वं मदीयं त्वं गृहाण च ॥ ३१ ॥
व्यत्यासं वृक्षयोश्चापि करवाव शुचिस्मिते ।
यदि प्रमाणं वचनं मम मातुरनिन्दिते ॥ ३२ ॥
स्वमपत्यं विशिष्टं हि सर्व इच्छत्यनाविलम् ।
व्यक्तं भगवता चात्र कृतमेवं भविष्यति ॥ ३३ ॥
ततो मे त्वचरौ भावः पादपे च सुमध्यमे ।
कथं विशिष्टो भ्राता मे भवेदित्येव चिन्तय ॥ ३४ ॥

वृक्षको आलिङ्गन करोगे, तब मेरे वचनके अनुसार तुम दोनोंको पुत्र लाभ होगा। (२२-२७)

हे शुचिस्मिते! वह और तुम इस मन्त्रयुक्त दो चरु भोजन करना, तब तुम दोनोंको ऐसे ही गुणोंसे युक्त दो पुत्र होंगे। अनन्तर सत्यवती अत्यन्त हर्षित होके माताके निकट गई, और ऋचीक मुनिने जो कुछ कहा था, वह सब वृत्तान्त तथा चरुके विषयको वर्णन किया। तब उसकी माता निज पुत्री सत्यवतीसे बोली, हे पुत्री! मैं तुम्हारे पतिसे भी तुम्हारे समीप माननीय हूं इसलिये तुम मेरा वचन प्रतिपालन करो, तुम्हारे पतिने तुम्हें जो मन्त्रयुक्त चरु दिया है, वह मुझे दो और जो चरु मुझे दिया है, उसे तुम लो। (२८-३१)

हे शुचिस्मिते! हे अनन्दिते! मैं तुम्हारी माता हूं, यदि मेरा वचन तुम्हें प्रमाण हो, तो हम दोनों उन दो वृक्षों-को बदलके आलिङ्गन करें। सब कोई अपने लिये उत्तम और निर्मल पुत्रकी कामना करते हैं, भगवान् ऋचीकने भी अवश्य इस ही प्रकार किया होगा यह शेषमें मालूम होजायगा। हे सुमध्यमे! इस ही निमित्त तुम्हारे वृक्ष और चरुमें मेरी अभिरुचि हुई है। जिस प्रकार तुम्हारा भाई श्रेष्ठ हो, तुम

तथा च कृतवत्यौ ते माता सत्यवती च सा ।
अथ गर्भावनुप्राप्ते उभे ते वै युधिष्ठिर ॥ ३५ ॥
दृष्ट्वा गर्भमनुप्राप्तां भार्यां स च महानृषिः ।
उवाच तां सत्यवतीं दुर्मना भृगुसत्तमः ॥ ३६ ॥
व्यत्यासेनोपयुक्तस्ते चरुर्व्यक्तं भविष्यति ।
व्यत्यासः पादपे चापि सुव्यक्तं ते कृतः शुभे ॥३७॥
मया हि विश्वं यद्‌ ब्रह्म त्वच्चरौ संनिवेशितम् ।
क्षत्रवीर्यं च सकलं चरौ तस्या निवेशितम् ॥ ३८ ॥
त्रैलोक्यविख्यातगुणं त्वं विप्रं जनयिष्यसि ।
सा च क्षत्रं विशिष्टं वै तत एतत्कृतं मया ॥ ३९ ॥
व्यत्यासस्तु कृतो यस्मात्त्वया मात्रा च ते शुभे ।
तस्मात्सा ब्राह्मणं श्रेष्ठं माता ते जनयिष्यति ॥ ४० ॥
क्षत्रियं तूग्रकर्माणं त्वं भद्रे जनयिष्यसि ।
न हि ते तत्कृतं साधु मातृस्नेहेन भाविनि ॥ ४१ ॥
सा श्रुत्वा शोकसंतप्ता पपात वरवर्णिनी ।

वैसीही चिन्ता करो । (३२-३४)

हे युधिष्ठिर ! सत्यवती और उसकी माताने ऊपर कहे हुए वचनसे उस ही प्रकार आचरण किया। अनन्तर वे दोनों गर्भवती हुई, भृगुसत्तम ऋचीक मुनिने अपनी भार्या सत्यवतीको गर्भवती देखकर दुःखित होकर कहा, हे कल्याणि ! चरु अदल बदल करना तुम्हारा उपयुक्त कार्य नहीं हुआ है, यह पीछे मालूम होगा और तुमने जो वृक्षमें उलट फेर किया है, वह स्पष्ट ही मालूम होरहा है। मैंने तुम्हारे चरुमें विश्वब्रह्मतेज परिपूरित किया था और तुम्हारी माताके चरुमें सम्पूर्ण क्षत्रिय तेज भरा हुआ था । (३५-३८)

तुम्हारे तीनों लोकोंके बीच निज गुणोंसे विख्यात ब्राह्मण पुत्र हो और तुम्हारी माताके क्षत्रिय पुत्र होवे, इस ही लिये मैंने ऐसा किया था। हे शुभे! तुम दोनोंने जब उसमें हेर फेर किया है, तब तुम्हारी माताके एक उत्तम ब्राह्मण पुत्र उत्पन्न होगा और तुम्हारे प्रचण्ड कर्म करनेवाला एक क्षत्रिय पुत्र होगा। हे भद्रे ! हे भाविनि ! तुमने मातृस्नेहके वशमें होकर इस प्रकार वृक्ष और चरुको बदलके उत्तम कार्य नहीं किया। (३९—४१)

हे महाराज ! वह वरवर्णिनि सत्य-

भूमौ सत्यवती राजंश्छिन्नेव रुचिरा लता ॥ ४२ ॥
प्रतिलभ्य च सा संज्ञां शिरसा प्रणिपत्य च ।
उवाच भार्या भर्त्तारं गाधेयी भार्गवर्षभम् ॥ ४३ ॥
प्रसादयन्त्यां भार्यायां मयि ब्रह्मविदां वर ।
प्रसादं कुरु विप्रर्षे न मे स्यात्क्षत्रियः सुतः ॥ ४४ ॥
कामं ममोग्रकर्मा वै पौत्रो भवितुमर्हति ।
न तु मे स्यात्सुतो ब्रह्मन्नेष मे दीयतां वरः ॥ ४५ ॥
एवमस्त्विति होवाच स्वां भार्यां सुमहातपाः ।
ततः सा जनयामास जमदग्निं सुतं शुभम् ॥ ४६ ॥
विश्वामित्रं चाजनयद्गाधिभार्या यशस्विनी ।
ऋषेः प्रसादाद्राजेन्द्र ब्रह्मर्षेर्ब्रह्मवादिनम् ॥ ४७ ॥
ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वामित्रो महातपाः ।
क्षत्रियः सोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः ॥ ४८ ॥
तस्य पुत्रा महात्मानो ब्रह्मवंशविवर्धनाः ।
तपस्विनो ब्रह्मविदो गोत्रकर्त्तार एव च ॥ ४९ ॥
मधुच्छन्दश्च भगवान् देवरातश्च वीर्यवान् ।

वती ऐसा वचन सुनके शोकित तथा दुःखित होकर टूटी हुई मनोहारिणी लताकी भांति पृथ्वीपर गिर पड़ी । कुछ समयके अनन्तर गाधिराजपुत्री सावधान होके हाथ जोड़के सिर झुकाकर भार्गवश्रेष्ठ पतिको प्रणाम करके कहने लगी । हे वेदज्ञवर विप्रर्षि ! मैं तुम्हारी भार्या हूं, इससे प्रसन्न होके आप मुझपर कृपा करिये, जिससे कि मेरे क्षत्रिय पुत्र न हो । यदि आपकी इच्छा हो, तो मेरा पौत्र उग्र कर्म करनेवाला क्षत्रिय होसकेगा, परन्तु जिसमें मेरा पुत्र क्षत्रिय न हो, वही करिये । हे ब्रह्मन् ! आप मुझे यही वर दीजिये, महातपस्वी ऋचीकमुनि अपनी भार्यासे बोले, 'ऐसा ही होगा ।' हे राजेन्द्र ! अनन्तर सत्यवतीके शुभलक्षणसे युक्त जमदग्नि नाम पुत्र उत्पन्न हुआ और यशस्विनी गाधिराजकी भार्या ऋषिके प्रसादसे महर्षि विश्वामित्रकी जननी हुई । महातपस्वी विश्वामित्रने क्षत्रिय होके भी ब्राह्मणत्व लाभ किया और नीचे लिखे ब्राह्मण वंशके कर्त्ता हुए। (४२-४८)

उनके महानुभाव सब पुत्र ब्राह्मण वंशकी वृद्धि करनेवाले, तपस्वी, ब्रह्म-

अक्षीणश्च शकुन्तश्च बभ्रुः कालपथस्तथा ॥ ५० ॥
याज्ञवल्क्यश्च विख्यातस्तथा स्थूणो महाव्रतः।
उलूको यमदूतश्च तथर्षिः सैन्धवायनः ॥ ५१ ॥
वल्गुजङ्घश्च भगवान् गालवश्च महानृषिः।
ऋषिर्वज्रस्तथा ख्यातः सालङ्कायन एव च ॥ ५२ ॥
लीलाढ्यो नारदश्चैव तथा कूर्चामुखः स्मृतः।
वादुलिर्मुसलश्चैव वक्षोग्रीवस्तथैव च ॥ ५३ ॥
आङ्घ्रिको नैकदृक्चैव शिलायूपः शितः शुचिः।
चक्रको मारुतंतव्यो वातघ्नोऽथाश्वलायनः ॥ ५४ ॥
श्यामायनोऽथ गार्ग्यश्च जाबालिः सुश्रुतस्तथा।
कारीषिरथ संश्रुत्यः परपौरवतन्तवः ॥ ५५ ॥
महानृषिश्च कपिलस्तथर्षिस्ताडकायनः।
तथैव चोपगहनस्तथर्षिश्चासुरायणः ॥ ५६ ॥
मार्दमर्षिर्हिरण्याक्षो जंगारिर्बाभ्रवायणिः।
भूतिर्विभूतिः सूतश्च सुरकृत्तु तथैव च ॥ ५७ ॥
अरालिर्नाचिकश्चैव चाम्पेयोज्जयनौ तथा।
नवतन्तुर्बकनखः सेयनो यतिरेव च ॥ ५८ ॥
अम्भोरुहश्चारुमत्स्यः शिरीषी चाथ गार्दभिः।
ऊर्जयोनिरुदापेक्षी नारदी च महानृषिः ॥ ५९ ॥

वित् और गोत्रकर्ता हुए थे; उनके ये नाम हैं,—भगवान् मधुच्छन्द, वीर्यवान् देवरात, अक्षीण, शकुन्त, बभ्रु, कालपथ, विख्यात याज्ञवल्क्य, महाव्रत स्थूण, यमदूत उलूक, ऋषि सैन्धवायन, भगवान् वल्गुजङ्घ, महर्षि गालव, ऋषि विख्यात वज्र, सालंकायन, लीलाढय, नारद, कूर्चामुख, वादुलि, मुसल, वक्षोग्रीव, नैकदृक् आंघ्रिक, शित, शुचि, शिलायूप, चक्रक, मारुतन्तव्य, वातघ्न, आश्वलायन, श्यामायन, गार्ग्य, जाबालि, सुश्रुत, कारीषि, संश्रुत्य, परपौरवतन्तव, महर्षि कपिल, ताडकायन ऋषि, उपगहन, आसुरायणि ऋषि, मार्दमऋषि, हिरण्याक्ष, जंगारि, बाभ्रवायणि, भूति, विभूति, सूत, सुरकृत्, अरालि, नाचिक, चाम्पेय, उज्जयन, नवतन्तु, बकनख, सेयन, यति, अम्भोरुह, चारुमत्स्य, शिरीषी, गार्दभि, ऊर्जयोनि, उदापेक्षी और महर्षि

विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः।
तथैव क्षत्रियो राजन्विश्वामित्रो महातपाः ॥ ६० ॥
ऋचीकेनाहितं ब्रह्म परमेतद्युधिष्ठिर।
एतत्ते सर्वमाख्यातं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ ६१ ॥
विश्वामित्रस्य वै जन्म सोमसूर्याग्नितेजसः।
यत्र यत्र च संदेहो भूयस्ते राजसत्तम।
तत्र तत्र च मां ब्रूहि च्छेतास्मि तव संशयात् ॥६२॥ [२६०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे विश्वामित्रोपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—आनृशंस्यस्य धर्मज्ञ गुणान् भक्तजनस्य च।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वासवस्य च संवादं शुकस्य च महात्मनः ॥ २ ॥
विषये काशिराजस्य ग्रामान्निष्क्रम्य लुब्धकः।
सविषं काण्डमादाय मृगयामास वै मृगम् ॥ ३ ॥

नारदी, ये सब विश्वामित्रके पुत्र ब्रह्मवादी मुनि थे। (४९-६०)

हे महाराज युधिष्ठिर! महातपस्वी विश्वामित्रके क्षत्रिय होनेपर भी ऋचीक मुनिके द्वारा जो पहले ब्रह्मतेज प्रवेशित किया गया था, उस ही निमित्त उन्होंने क्षत्रियवीर्यसे उत्पन्न होके भी ब्राह्मणत्व लाभ किया था। हे भरतश्रेष्ठ! यह मैंने तुम्हारे समीप चन्द्रमा, सूर्य तथा अग्निके समान तेजस्वी विश्वामित्रकी उत्पत्तिका वृत्तान्त यथार्थ रूपसे वर्णन किया। हे नृपसत्तम! फिर जिन विषयोंमें तुम्हें सन्देह हो, वह मुझसे कहो, मैं तुम्हारा सब सन्देह मिटा दूंगा। (६०-६२)

अनुशासनपर्वमें ४ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ५ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे धर्मज्ञ पितामह! मैं आनृशंस्य धर्म और भक्तोंके गुणको सुननेकी इच्छा करता हूं, आप मेरे समीप इसे ही वर्णन करिये। (१)

भीष्म बोले, प्राचीन लोग इस विषयमें महानुभाव शुक और इन्द्रके संवादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। काशिराजके राज्यमें कोई व्याध गांवसे निकलकर विषमें बुझे हुए बाण ग्रहण करके हरिनोंकी खोजमें घूम रहा था। मृगया

तत्र चामिषलुब्धेन लुब्धकेन महावने ।
अविदूरे मृगान्दृष्ट्वा बाणः प्रतिसमाहितः ॥ ४ ॥
तेन दुर्वारितास्त्रेण निमित्तचपलेषुणा ।
महान्वनतरुस्तत्र विद्धो मृगजिघांसया ॥ ५ ॥
स तीक्ष्णविषदिग्धेन शरेणातिबलात्क्षतः ।
उत्सृज्य फलपत्राणि पादपः शोषमागतः ॥ ६ ॥
तस्मिन् वृक्षे तथाभूते कोटरेषु चिरोषितः ।
न जहाति शुको वासं तस्य भक्त्या वनस्पतेः ॥ ७ ॥
निष्प्रचारो निराहारो ग्लानः शिथिलवागपि ।
कृतज्ञः सह वृक्षेण धर्मात्मा सोऽप्यशुष्यत ॥ ८ ॥
तमुदारं महासत्त्वमतिमानुषचेष्टितम् ।
समदुःखसुखं दृष्ट्वा विस्मितः पाकशासनः ॥ ९ ॥
ततश्चिन्तामुपगतः शक्रः कथमयं द्विजः ।
तिर्यग्योनावसंभाव्यमानृशंस्यमवस्थितः ॥ १० ॥
अथवा नात्र चिन्त्यं हि अभवद्वासवस्य तु ।
प्राणिनामपि सर्वेषां सर्वं सर्वत्र दृश्यते ॥ ११ ॥

के समय महावनमें उस मांसलोभी व्याधने थोडी दूरपर हरिणोंका झुण्ड देखकर बाण साधा। दुर्वारितास्त्र व्याधने मृग मारनेके लिये बाण चलाया, वह बाण निशानेसे विचलकर वनमें एक बृहत् वृक्षमें विद्ध हुआ। वह वृक्ष विषमें बुझे हुए तीक्ष्ण बाणसे बलपूर्वक वेधित होनेसे फल और पत्तोंको त्यागके सूखने लगा। (२-६)

उस वृक्षकी ऐसी अवस्था होनेपर भी उसके कोटरमें बहुत समयसे निवास करनेवाला एक शुकपक्षी भक्तिवशसे वहांसे पृथक् न हुआ। धर्मात्मा कृतज्ञ शुक निष्प्रचार, निराहार, ग्लानियुक्त और शिथिल वचन होकर वृक्षके सहित सूखने लगा। इन्द्र उस अतिमानुषी बुद्धिवाले उदार और सुखदुःखको समान माननेवाले महाप्राणी शुकको देखकर विस्मित हुए। (७-९)

उन्होंने सोचा, कि इस पक्षीने किस प्रकार तिर्यग् योनिमें असम्भाव्य पराये दुःखसे दुःखितभाव अवलम्बन किया है? अथवा इन्द्रको इस विषयमें कुछ आश्चर्य नहीं मालूम हुआ, क्यों कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब प्राणी तथा सब जातिमें ही दया और निष्ठुरता

ततो ब्राह्मणवेषेण मानुषं रूपमास्थितः ।
अवतीर्य महीं शक्रस्तं पक्षिणमुवाच ह ॥ १२ ॥
शुक भोः पक्षिणां श्रेष्ठ दाक्षेयी सुप्रजा त्वया ।
पृच्छे त्वां शुकमेनं त्वं कस्मान्न त्यजसि द्रुमम् ॥ १३ ॥
अथ पृष्टः शुकः प्राह मूर्ध्ना समभिवाद्य तम् ।
स्वागतं देवराज त्वं विज्ञातस्तपसा मया ॥ १४ ॥
ततो दशशताक्षेण साधु साध्विति भाषितम् ।
अहो विज्ञानमित्येवं मनसा पूजितस्ततः ॥ १५ ॥
तमेवं शुभकर्माणं शुकं परमधार्मिकम् ।
विजानन्नपि तां प्रीतिं पप्रच्छ बलसूदनः ॥ १६ ॥
निष्पत्रमफलं शुष्कमशरण्यं पतत्त्रिणाम् ।
किमर्थं सेवसे वृक्षं यदा महदिदं वनम् ॥ १७ ॥
अन्येऽपि बहवो वृक्षाः पत्रसंछन्नकोटराः ।
शुभाः पर्याप्तसंचारा विद्यन्तेऽस्मिन्महावने ॥ १८ ॥
गतायुषमसामर्थ्यं क्षीणसारं हतश्रियम् ।

प्रभृति दीख पडती हैं । अनन्तर इन्द्र ब्राह्मणवेषसे मनुष्य रूप धारण कर पृथ्वीपर उतरके उस शुक पक्षीसे बोले, हे विहङ्गवर शुक ! दक्षदौहित्री शुकी तुम्हारे द्वारा उत्तम प्रजायुक्त हुई है, मैं तुमसे पूछता हूं, कि तुम किस लिये इस वृक्षको परित्याग नहीं करते ? (१०—१३)

अनन्तर शुक पूछनेपर सिर झुकाके उन्हें प्रणाम करके बोला, देवराज ! आपने सुखसे आगमन किया है न ? मैंने ज्ञानदृष्टिके सहारे आपको पहचाना है । अनन्तर इन्द्रने 'साधु साधु' ऐसा वचन कहा और क्या ही आश्चर्ययुक्त विज्ञान है ? ऐसा विचारके मनही मन उसकी प्रशंसा करने लगे । बलसूदन इन्द्रने उस शुभ कर्म करनेवाले परम धार्मिक शुकको ऐसा जानके भी वृक्षके विषयमें उसकी सुहृदताका विषय पूछा। यह वृक्ष पत्तारहित, फलहीन, सूखा और पक्षियोंका अनाश्रय है, इसलिये इस महावनके बीच दूसरे, सजीव वृक्षोंके विद्यमान रहते किस निमित्त तुम इस सूखे वृक्षमें वास करते हो ? इस महावनमें दूसरे बहुतेरे वृक्ष हैं, उनका कोटर पत्रोंसे परिपूर्ण है, देखनेमें सुन्दर हैं, तुम उन वृक्षोंपर सहजहीमें उडके जासकते हो । हे धीर !

विमृश्य प्रज्ञया धीर जहीमं स्थविरं द्रुमम् ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच— तदुपश्रुत्य धर्मात्मा शुकः शक्रेण भाषितम्।

सुदीर्घमतिनिःश्वस्य दीनो वाक्यमुवाच ह ॥ २० ॥

अनतिक्रमणीयानि दैवतानि शचीपते।

यत्राभवत्तव प्रश्नस्तन्निबोध सुराधिप ॥ २१ ॥

अस्मिन्नहं द्रुमे जातः साधुभिश्च गुणैर्युतः।

बालभावेन संगुप्तः शत्रुभिश्च न धर्षितः ॥ २२ ॥

किमनुक्रोश्य वैफल्यमुत्पादयसि मेऽनघ।

आनृशंस्याभियुक्तस्य भक्तस्यानन्यगस्य च ॥ २३ ॥

अनुक्रोशो हि साधूनां महद्धर्मस्य लक्षणम्।

अनुक्रोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति ॥ २४ ॥

त्वमेव दैवतैः सर्वैः पृच्छयसे धर्मसंशयात्।

अतस्त्वं देव देवानामाधिपत्ये प्रतिष्ठितः ॥ २५ ॥

नार्हसे मां सहस्राक्ष द्रुमं त्याजयितुं चिरात्।

समर्थमुपजीव्येमं त्यजेयं कथमद्य वै ॥ २६ ॥

इसलिये तुम बुद्धिके सहारे विचार करके इस निर्जीव, सामर्थ्यरहित, सारहीन, श्रीरहित सूखे वृक्षको परित्याग करो। (१४—१९)

भीष्म बोले, धर्मात्मा शुक इन्द्रका वचन सुनके लम्बी सांस छोडते हुए दुःखित होके कहने लगा। हे शचीपति सुरराज! दैव वचन अनतिक्रमणीय है, जिस विषयमें आपने प्रश्न किया है, उसका उत्तर सुनिये। मैंने इस वृक्षपर जन्म लिया है, बाल्य अवस्थासे प्रतिपालित और सद्गुणयुक्त हुआ हूं, शत्रुओंसे कभी आक्रान्त नहीं हुआ। हे पापरहित! मैं पराये दुःखसे दुःखित, आभियुक्त, भक्त और अनन्य गतिसे युक्त हूं, आप क्यों करुणा करके मुझमें जन्मका शोक उत्पन्न करते हैं? दया ही साधुओंके महत् धर्मका लक्षण है, वही उन्हें सदा प्रसन्न किया करती है। (२०-२४)

देवता लोग सन्देहयुक्त होनेसे आपसे ही उस विषयमें प्रश्न करते हैं। हे देव! इस ही निमित्त आप देवताओंके आधिपत्य पर प्रतिष्ठित हुए हैं। हे सहस्रलोचन! मुझे सदाके लिये इस वृक्षको त्यागना उचित नहीं है। जब यह वृक्ष समर्थ था, तब इसे उपजीव्य करके इस समय किस प्रकार इसे

तस्य वाक्येन सौम्येन हर्षितः पाकशासनः ।
शुकं प्रोवाच धर्मात्मा आनृशंस्येन तोषितः ॥ २७ ॥
वरं वृष्णीष्वेति तदा स च वव्रे वरं शुकः ।
आनृशंस्यपरो नित्यं तस्य वृक्षस्य सम्भवम् ॥ २८ ॥
विदित्वा च दृढां भक्तिं तां शुके शीलसम्पदम् ।
प्रीतः क्षिप्रमथो वृक्षममृतेनावसिक्तवान् ॥ २९ ॥
ततः फलानि पत्राणि शाखाश्चापि मनोहराः ।
शुकस्य दृढभक्तित्वाच्छ्रीमत्तां प्राप स द्रुमः ॥ ३० ॥
शुकश्च कर्मणा तेन आनृशंस्यकृतेन वै ।
आयुषोऽन्ते महाराज प्राप शक्रसलोकताम् ॥ ३१ ॥
एवमेव मनुष्येन्द्र भक्तिमन्तं समाश्रितः ।
सर्वार्थसिद्धिं लभते शुकं प्राप्य यथा द्रुमः ॥ ३२ ॥ [२९२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे शुकवासवसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत् ॥ १ ॥

परित्याग करूं । धर्मात्मा इन्द्र शुकका प्रिय वचन सुनके हर्षित होकर उससे बोले, मैं तुम्हारी अनृशंसतासे अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ हूं, तुम वर मांगो । सदा परदुःखसे दुःखित शुकने उस समय उस वृक्षके हरे होनेके लिये वर मांगा। (२५—२८)

देवराज उस शुककी उस वृक्षपर दृढभक्ति और शील सम्पत्ति मालूम करके प्रसन्न हुए और शीघ्र ही अमृत छिडकके उस वृक्षको हरा कर दिया। अनन्तर वह वृक्ष शुकके दृढ भक्ति निबन्धनसे फल, पत्र और मनोहर शाखासे युक्त होकर श्रीमान् हुआ हे महाराज ! शुकने भी उस अनृशंस कर्मके सहारे आयु शेष होनेपर इन्द्रके समान लोक प्राप्त किया । हे मनुजेन्द्र! जैसे वृक्षने शुकको आश्रय देकर सिद्धि लाभ की, वैसे ही जो लोग भक्तिमान पुरुषको आश्रय देते हैं, वे सब प्रयोजनोंमें सिद्धि लाभ करते हैं। (२९-३२)

अनुशासनपर्वमें ५ अध्याय समाप्त ।

अनुशासनपर्वमें ६ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे सर्वशास्त्रविशारद महाप्राज्ञ पितामह ! दैव (भाग्य)और पुरुषकार (उद्योग) इन दोनोंमेंसे

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वसिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर ॥ २ ॥
दैवमानुषयोः किंस्वित्कर्मणोः श्रेष्ठमित्युत।
पुरा वसिष्ठो भगवान् पितामहमपृच्छत ॥ ३ ॥
ततः पद्मोद्भवो राजन् देवदेवः पितामहः।
उवाच मधुरं वाक्यमर्थवद्धेतुभूषितम् ॥ ४ ॥
ब्रह्मोवाच— नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन विना फलम्।
बीजाद्बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम् ॥ ५ ॥
यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम् ॥ ६ ॥
यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥ ७ ॥
क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।

कौन श्रेष्ठ कहा जायगा? भाग्य सब विषयोंका मूल होनेपर भी विना पुरुषार्थके कोई कार्य सिद्ध नहीं होता; इसलिये भोग और मोक्षकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको अवश्य ही पुरुषार्थ करना उचित है। इसमें यदि दोनों विषय ही श्रेष्ठ हुए, तब इन दोनोंके बीच अधिक श्रेष्ठ कौन होगा? (१)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! प्राचीन लोग इस विषयमें ब्रह्मा और वसिष्ठ मुनिके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। पहिले समयमें भगवान् वसिष्ठ मुनिने सोचा, कि दैव अर्थात् पूर्वकर्म और मानुष अर्थात् वर्त्तमान कर्म, इन दोनोंमेंसे श्रेष्ठ कौन है? अनन्तर उन्होंने यह विषय पितामहसे पूछा था। हे महाराज! अनन्तर कमलसे उत्पन्न भये देवोंके देव पितामह ब्रह्मा अर्थ तथा युक्तियुक्त मधुर वचन कहने लगे। (२-४)

ब्रह्मा बोले, विना बीजके कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती और विना बीजके फलकी भी उत्पत्ति नहीं होती; बीजसे ही बीज उत्पन्न हुआ करता है; इसलिये यह निश्चित है, कि बीजसे ही फल होता है। कृषक खेतमें जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल पाता है, वैसे ही सुकृत रूपी बीजको बोके लोग उस ही भांति फल पाते हैं। जैसे विना क्षेत्रके उक्त बीज निष्फल होते हैं, वैसे ही पुरुषार्थके विना भाग्यकी कदापि सिद्धि नहीं होती; इसलिये पण्डित

क्षेत्रबीजसमायोगात्ततः सस्यं समृद्ध्यते ॥ ८ ॥
कर्मणः फलनिर्वृत्तिं स्वयमश्नाति कारकः।
प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्यापकृतस्य च ॥ ९ ॥
शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥ १० ॥
कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्यसंयुताम्।
अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम् ॥ ११ ॥
तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना ॥ १२ ॥
तथा स्वर्गश्च भोगश्च निष्ठा या च मनीषिता।
सर्वं पुरुषकारेण कृतेनेहोपलभ्यते ॥ १३ ॥
ज्योतींषि त्रिदशा नागा यक्षाश्चन्द्रार्कमारुताः।
सर्वे पुरुषकारेण मानुष्याद्देवतां गताः ॥ १४ ॥
अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः ॥ १५ ॥
शौचेन लभते विप्रः क्षत्रियो विक्रमेण तु।

लोग पुरुषार्थको क्षेत्र और भाग्यको बीज रूपसे उदाहरण दिया करते हैं, क्षेत्र और बीजके सम्बन्ध निबन्धनसे शस्योंकी वृद्धि हुआ करती है। (५-८)

यह लोकमें प्रत्यक्ष दीख पडता है, कि कर्त्ता स्वयं अपने सुकृत वा दुष्कृत कर्मोंका फल भोगता है। पुण्यकर्मसे सुख और पापकर्मसे दुःख होता है। किये हुए कर्म सर्वत्र ही फलित होते हैं और अकृत कर्मोंका फल कहीं भी नहीं दीख पडता। सब कृती पुरुष ही भाग्यके अनुसार प्रतिष्ठा पाते हैं और अकृती मनुष्य भ्रष्ट होकर क्षतमें क्षार सेचन लाभ किया करता है, मनुष्य तपस्यारूपी कर्मके सहारे रूप, सौभाग्य और विविध रत्नोंको पाता है, अकृतात्मा पुरुष दैववशसे उसे नहीं पा सकता। इसके अतिरिक्त समस्त भोग, स्वर्ग और मनोकामना युक्त जो कुछ निष्ठा हैं, उन सबको विहित कर्म करनेवाला पुरुष प्रयत्नके सहारे पाता है। (९-१३)

पुरुषार्थसे ही नक्षत्रों, देवताओं, नागों, यक्षों, चन्द्रमा, सूर्य और मरुद्गणोंने मनुष्यत्व उल्लंघन करके देवत्व लाभ किया है। अर्थ, मित्र और कुल परम्परासे प्रचलित ऐश्वर्य तथा श्री·

वैश्यः पुरुषकारेण शूद्रः शुश्रूषया श्रियम् ॥ १६ ॥
नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निष्क्रियम्।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम् ॥ १७ ॥
येन लोकास्त्रयः सृष्टा दैत्याः सर्वाश्च देवताः।
स एष भगवान्विष्णुः समुद्रे तप्यते तपः ॥ १८ ॥
स्वं चेत्कर्मफलं न स्यात्सर्वमेवाफलं भवेत्।
लोको दैवं समालक्ष्य उदासीनो भवेन्नतु ॥ १९ ॥
अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते।
वृथा श्राम्यति संप्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना ॥ २० ॥
न तथा मानुषे लोके भयमस्ति शुभाशुभे।
यथा त्रिदशलोके हि भयमन्येन जायते ॥ २१ ॥
कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते।
न दैवमकृते किञ्चित्कस्यचिद्दातुमर्हति ॥ २२ ॥
यथा स्थानान्यनित्यानि दृश्यन्ते दैवतेष्वपि।

सम्पत्ति अकृतकर्मा मनुष्योंको प्राप्त होनी अत्यन्त दुर्लभ है। ब्राह्मण पवित्रतासे श्री लाभ करता है, क्षत्रिय पराक्रमसे सम्पत्तिवान होता है, वैश्य पुरुषार्थके सहारे धनी होता और शूद्र सेवासे ही श्रीसम्पन्न हुआ करता है। सब अर्थ अदाताकी सेवा नहीं करते और कादर, क्रियारहित, निषिद्ध कर्म करनेवाले, निर्बल और जो पुरुष तपस्वी नहीं हैं, वेभी अर्थवान नहीं होते। (१४-१७)

जिसने तीनों लोकोंकी सृष्टि की है और देवता तथा दैत्य जिससे उत्पन्न हुए हैं, वह यही भगवान विष्णु समुद्र-गर्भमें तपस्या करता है। यदि अपने किये हुए कर्मोंका फल न रहे, तो सब लाभ ही निष्फल होजावें, भाग्यको लक्ष्य करके उदासीन होना न चाहिये। विना पुरुषार्थ किये जो पुरुष भाग्यका अनुवर्त्तन करता है, स्त्रीके निकट क्लीब पतिकी भांति वह पुरुष भी वृथा परिश्रम किया करता है। पापकर्मसे देवलोकमें जैसा भय उत्पन्न होता है, मनुष्य लोकमें शुभाशुभ कर्मोंसे वैसा भय नहीं होता। उत्तम रीतिसे पुरुषका विहित प्रयत्न भाग्यके ही अनुसार किया करता है; विना कर्म किये दैव किसीको भी कुछ देनेमें समर्थ नहीं होता, अकस्मात् निधि प्राप्त होनेपर भी उसमें किञ्चित् कर्मकी सहायता है। (१८-२२)

कथं कर्म विना दैवं स्थास्यति स्थापयिष्यतः ॥ २३ ॥
न दैवतानि लोकेऽस्मिन् व्यापारं यान्ति कस्यचित् ।
व्यासङ्गं जनयन्त्युग्रमात्माभिभवशङ्कया ॥ २४ ॥
ऋषीणां देवतानां च सदा भवति विग्रहः ।
कस्य वाचा ह्यदैवं स्याद्यतो दैवं प्रवर्त्तते ॥ २५ ॥
कथं तस्य समुत्पत्तिर्यतो दैवं प्रवर्त्तते ।
एवं त्रिदशलोकेऽपि प्राप्यन्ते बहवो गुणाः ॥ २६ ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च ॥२७॥
कृतं चाप्यकृतं किंचित्कृते कर्मणि सिद्ध्यति ।

जब कि देव लोकमें इन्द्रादि स्थान भी अनित्य दीख पडते हैं, तब विना पुण्य कर्मके देवता लोग ही किस प्रकार स्थित रहेंगे और कैसे अन्य प्राणियोंको स्थापित करेंगे। देवता लोग इस लोकमें किसी पुरुषके पुण्यकर्मका अनुमोदन नहीं करते, धर्ममें विघ्न करनेवाले उग्र-कर्म आत्माभिभवकी शंकासे विशेष आसङ्ग उत्पन्न करते हैं। ऋषिवृन्द और देवताओंकी सदा ही शत्रुता उत्पन्न हुआ करती है अर्थात् ऋषियोंकी तपस्याके समय देवता लोग विघ्न आचरण करते हैं और यह प्रसिद्ध है, कि च्यवन आदि ऋषियोंने इन्द्रादि देवताओंको पराजित किया था। इसलिये यदि देवर्षियोंका भी इस प्रकार कर्म-परत्व हुआ है, तौभी यह नहीं कहा जासकता कि "भाग्य नहीं है," क्यों कि भाग्य ही पुरुषको कर्ममें प्रवृत्त कराया करता है। (२३-२५)

जब दैव ही कर्मका प्रवर्त्तक हुआ, तब भाग्यके विना किस प्रकार कर्मकी उत्पत्ति हो सकती है। पुण्यवान पुरुष निज धर्ममें प्रवृत्त होता है, धर्मसे पुण्य बढता है, नहीं तो सभी धर्ममें प्रवृत्त न होते। जैसे इस लोकमें अत्यन्त धनवान पुरुष वाणिज्यका फैलाव करके अतुल अर्थ उपार्जन करता है, वैसे ही पुण्यवान पुरुष स्वर्ग लोकमें पुण्यके सहारे बहुतसा भोग उपभोग किया करता है। जीव आप ही अपना बन्धु और आप ही अपना शत्रु है, आप ही अपने कृत और अकृत कर्मफलका साक्षी है। (२६-२७)

कर्म करनेसे ही पाप पुण्य प्रकाशित होता है; सुकृत अथवा दुष्कृत कर्म यथार्थरूपसे फलदायक नहीं होते, उसका कारण यह है, कि पुण्यके द्वारा

सुकृतं दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ॥ २८ ॥
देवानां शरणं पुण्यं सर्वं पुण्यैरवाप्यते ।
पुण्यशीलं नरं प्राप्य किं दैवं प्रकरिष्यति ॥ २९ ॥
पुरा ययातिर्विभ्रष्टश्च्यावितः पतितः क्षितौ ।
पुनरारोपितः स्वर्गं दौहित्रैः पुण्यकर्मभिः ॥ ३० ॥
पुरूरवाश्च राजर्षिर्द्विजैरभिहितः पुरा ।
ऐल इत्यभिविख्यातः स्वर्गं प्राप्तो महीपतिः ॥ ३१ ॥
अश्वमेधादिभिर्यज्ञैः सत्कृतः कोसलाधिपः ।
महर्षिशापात्सौदासः पुरुषादत्वमागतः ॥ ३२ ॥
अश्वत्थामा च रामश्च मुनिपुत्रौ धनुर्धरौ ।
न गच्छतः स्वर्गलोकं सुकृतेनेह कर्मणा ॥ ३३ ॥
वसुर्यज्ञशतैरिष्ट्वा द्वितीय इव वासवः ।
मिथ्याभिधानेनैकेन रसातलतलं गतः ॥ ३४ ॥
बलिर्वैरोचनिर्बद्धो धर्मपाशेन दैवतैः ।
विष्णोः पुरुषकारेण पातालसदनः कृतः ॥ ३५ ॥

पाप और पापसे पुण्य नष्ट होके दोनोंके फल स्वर्ग और नरकका भोग नहीं प्राप्त होता। पुण्य ही देवताओंका गृह-स्वरूप है, पुण्यसे सब कुछ प्राप्त हो सकता है, पुण्यवान् मनुष्यके निकट दैव क्या कर सकता है; पुण्यकी अधिकता होनेसे दैव कर्म भी नष्ट हुआ करता है। (२८-२९)

पहले समयमें राजा ययाति स्वर्गसे भ्रष्ट होके पृथ्वीपर गिरे और पुण्य कर्म करनेवाले दौहित्रोंके द्वारा फिर स्वर्ग लोकमें चले गये, राजऋषि पुरूरवा जो इलाका पुत्र कहके विख्यात है, वह राजा पहले समयमें ब्राह्मणोंसे अभिहित होकर स्वर्गमें गया। अयोध्याके राजा सौदास अश्वमेध आदि यज्ञोंके द्वारा सत्कृत होके भी महर्षिके शापवशसे मनुष्यभक्षी राक्षस हुए थे। अश्वत्थामा और परशुराम दोनों ही मुनिपुत्र और महाधनुर्द्धर होके भी इस लोकमें अपने किये हुए कर्मोंके द्वारा स्वर्ग लोकमें न जासके। दूसरे इन्द्रके समान वसुने सौ यज्ञ पूरा करके भी एक ही बार मिथ्या वचन कहनेसे रसातलमें गमन किया है। (३०-३४)

विरोचनका पुत्र राजा बलि देवताओंके धर्मपाशमें बद्ध होकर विष्णुके पुरुषार्थसे पातालमें निवास करता है।

शक्रस्योद्गम्य चरणं प्रस्थितो जनमेजयः ।
द्विजस्त्रीणां वधं कृत्वा किं दैवेन न वारितः ॥ ३६ ॥
अज्ञानाद् ब्राह्मणं हत्वा स्पृष्टो बालवधेन च ।
वैशम्पायनविप्रर्षिः किं दैवेन न वारितः ॥ ३७ ॥
गोप्रदानेन मिथ्या च ब्राह्मणेभ्यो महामखे ।
पुरा नृगश्च राजर्षिः कृकलासत्वमागतः ॥ ३८ ॥
धुन्धुमारश्च राजर्षिः सत्रेष्वेव जरां गतः ।
प्रीतिदायं परित्यज्य सुष्वाप स गिरिव्रजे ॥ ३९ ॥
पाण्डवानां हृतं राज्यं धार्त्तराष्ट्रैर्महाबलैः ।
पुनः प्रत्याहृतं चैव न दैवाद्भुजसंश्रयात् ॥ ४० ॥
तपोनियमसंयुक्ता मुनयः संशितव्रताः ।
किं ते दैवबलाच्छापमुत्सृजन्ते न कर्मणा ॥ ४१ ॥
पापमुत्सृजते लोके सर्वं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
लोभमोहसमापन्नं न दैवं त्रायते नरम् ॥ ४२ ॥

और तेजस्वी पुरुषोंका पाप भी दोषका कारण नहीं होता । हे जनमेजय! देवराजके द्विज-स्त्री-दूषणको जानके प्रस्थान करनेके समय ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंका वध करते हुए क्या दैवके द्वारा निवारित नहीं हुए थे। ब्रह्मर्षि वैशम्पायन अज्ञानवशसे ब्रह्महत्या करके भी बालकके वध निबन्धनसे क्या दैवके द्वारा निवारित नहीं हुए थे। और पुण्य भी किसी किसी पुरुषके परित्राणका हेतु नहीं होता, पहले समयमें राजऋषि नृग महायज्ञमें ब्राह्मणोंको गोदान करके भी गिरगिट योनिको प्राप्त हुए थे। (३५-३८)

धुन्धुमार राजऋषि यज्ञ करते ही करते जराग्रस्त हुए, वह देवताओंके दिये हुए वरको परित्याग करके गिरिव्रजमें निद्रित हुए थे, यज्ञका फल नहीं पाया। महाबली पराक्रमी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन आदिने पाण्डवोंका राज्य हर लिया था, परन्तु पाण्डवोंने अपने भुजबलसे उस हृत राज्यको फिर ले लिया; उसमें दैव कुछ भी कारण नहीं है। तप नियमसे युक्त, संशितव्रती मुनि लोग क्या दैवबलसे ही शाप दिया करते हैं? क्या कर्मवशसे वे लोग अभिशाप नहीं देते? लोकमें अत्यन्त दुर्लभ सहस्र वस्तु पापी पुरुषोंको प्राप्त होके फिर उसे परित्याग किया करती हैं; लोभ मोहसे युक्त मनुष्योंका दैव

यथाग्निः पवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोऽपि महान्भवेत् ।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥ ४३ ॥
यथा तैलक्षयाद्दीपः प्रह्रासमुपगच्छति ।
तथा कर्मक्षयाद्दैवं प्रह्रासमुपगच्छति ॥ ४४ ॥

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम् । सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणं पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः ॥ ४५ ॥ व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते भवति मनुजलोकाद्देवलोको विशिष्टः । बहुतरसुसमृद्ध्या मानुषाणां गृहाणि पितृवनभवनाभं दृश्यते चामराणाम् ॥ ४६ ॥ न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वम् । गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवं नयति पुरुषकारः

कभी परित्राण नहीं कर सकता जैसे बहुत थोडी अग्नि वायुके द्वारा बढके महान् होती है, वैसे ही कर्मसे संयुक्त दैव उत्तम रीतिसे वर्द्धित हुआ करता है। (३९-४३)

जैसे तेलके नष्ट होनेसे दीपकका नाश होता है,वैसे ही कर्म नष्ट होनेसे भाग्य भी नष्ट होजाता है। इस लोकमें कर्महीन मनुष्य बहुतसा धन, उपभोग-विषय और स्त्रियोंको पाके भी उपभोग करनेमें समर्थ नहीं होते, और सदा उद्योगी मनुष्य भाग्यके सहारे रक्ष्यमाण पृथ्वीमें पडी हुई निधि भी पाते हैं। श्रद्धाप्रिय देवता लोग व्ययशाली साधु पुरुषोंके सदाचारके निमित्त संश्रय करते हैं, अर्थात् अपना भोग ग्रहण करनेके लिये उसे ही उपजीव्य किया करते हैं। मनुष्यलोकसे देवलोकको उत्तम देख-कर साधु लोग श्रेष्ठ फल पानेके लिये सर्वस्व व्यय करके भी यज्ञ करनेमें प्रवृत्त होते हैं; और मनुष्योंका गृह अनेक प्रकारकी समृद्धियोंसे परिपूरित होनेपर भी यदि उसमें यज्ञ आदि कर्म न हों, तो देवता लोग उस स्थानको श्मशानके समान देखते हैं। (४४-४६)

जीवलोकमें कर्महीन मनुष्यको तृप्ति-लाभ नहीं होती और केवल दैव कुमार्गी मनुष्योंको निवारित करके नहीं रख सकता; इसलिये दैवकी कुछ भी प्रभुता नहीं है। परन्तु जैसे शिष्य गुरुका अनुसरण करता है, वैसे ही दैवकर्म पुरुषार्थ जिन जिन विषयोंमें उत्तम रीतिसे अनुष्ठित होता है, उन्हीं विष-योंमें भाग्यकी उत्पत्ति हुआ करती है। जब यत्नके सहारे पुरुषकी कार्यसिद्धि होती है, तब लोग कहते हैं, कि

संचितस्तत्र तत्र ॥ ४७ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं मया वै मुनिसत्तम ।
फलं पुरुषकारस्य सदा संदृश्य तत्त्वतः ॥ ४८ ॥
अभ्युत्थानेन दैवस्य समारब्धेन कर्मणा ।
विधिना कर्मणा चैव स्वर्गमार्गमवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥ [३४१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे दैवपुरुषकारनिर्देशे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच– कर्मणां च समस्तानां शुभानां भरतर्षभ ।
फलानि महतां श्रेष्ठ प्रब्रूहि परिपृच्छतः ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां पृच्छसि भारत ।
रहस्यं यदृषीणां तु तच्छृणुष्व युधिष्ठिर
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावे चिरेप्सिता ॥ २ ॥
येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ३ ॥
यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम् ।

"दैवकी अनुकूलतासे यह कार्य सिद्ध हुआ है।" हे मुनिसत्तम ! मैंने यथार्थ रूपसे योगयुक्त दृष्टिके द्वारा अनुभव करके तुम्हारे समीप यह सब पुरुषार्थका फल वर्णन किया है। भाग्यके उदय होने तथा पूरी रीतिसे कर्म आरम्भ करने अर्थात् शास्त्रविहित कर्मसे लोकमें स्वर्ग-पथ प्राप्त हुआ करता है। (४७–४९)

अनुशासनपर्वमें ६ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ७ अध्याय।

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ पितामह ! मैं आपसे प्रश्न करता हूं आप शुभ कर्मोंका फल मेरे समीप वर्णन करिये। (१)

भीष्म बोले, हे भरतकुलधुरन्धर युधिष्ठिर ! बहुत अच्छा, तुमने मुझसे जो पूछा है, मैं तुम्हारे समीप वही विषय कहता हूं। मरनेके अनन्तर दूसरा शरीर मिलनेपर जिस कर्मसे जो चिरेप्सित फल प्राप्त होता है, ऋषियोंके उस रहस्य विषयको सुनो। जो पुरुष जिस जिस शरीरसे जो जो कर्म करता है, वह उस ही शरीरसे उन कर्मोंका फल भोग किया करता है। अर्थात् मनके द्वारा किये हुए कर्मोंके फल स्वप्नकालमें मनके ही सहारे भोगे जाते हैं और शरीरके द्वारा जो कर्म किये जाते हैं, वे जाग्रत् अवस्थामें शरी-

तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ॥४॥
न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह ।
ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च ॥ ५ ॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ ६ ॥
यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ७ ॥
स्थण्डिलेषु शयानानां गृहाणि शयनानि च ।
चीरवल्कलसंवीते वासांस्याभरणानि च ॥ ८ ॥
वाहनानि च यानानि योगात्मनि तपोधने ।
अग्नीनुपशयानस्य राज्ञः पौरुषमेव च ॥ ९ ॥
रसानां प्रतिसंहारे सौभाग्यमनुगच्छति ।
आमिषप्रतिसंहारे पशून्पुत्रांश्च विन्दति ॥ १० ॥
अवाक्शिरास्तु यो लम्बेदुदवासं च यो वसेत् ।

रसे ही भोगे जाते हैं। (२-३)

मनुष्य, बालक, युवा अथवा आपद वा निरापद अवस्थामें जो शुभाशुभ कर्म करता है, जन्म जन्म उस ही अवस्थामें उन कर्मोंका फल भोग किया करता है। इस जन्ममें पञ्च इन्द्रियोंके द्वारा नित्यके किये हुए कर्म कभी निष्फल नहीं होते; वे पांचों इन्द्रियें और छठवां आत्मा सदा उस कर्म करनेवालेके साक्षी हुआ करते हैं। अभ्यागत पुरुषके विषयमें कोमल दृष्टि करे, सत्य और प्रिय वचन कहे, उसका अनुगमन करे और उसकी उपासना करनी चाहिये, यही पञ्च दक्षिणायुक्त यज्ञ है। जो लोग अनचीन्हे तथा मार्गके थके हुए पथिकको उत्तम अन्न-दान करते हैं उन्हें अपरिमित पुण्यफल मिलता है। (४-७)

वानप्रस्थ व्रताचारी कुशापर शयन करनेवाले मनुष्योंको गृह तथा शय्या आदि प्राप्त होती है और चीरवल्कल-धारी योगयुक्त तपस्वियोंको वस्त्र, आभूषण, वाहन, यान आदि फल-स्वरूपसे प्राप्त हुआ करते हैं, अग्निके समीप शयन करनेवाले लोगोंको राजा-का पौरुष प्राप्त होता है; रसोंको प्रतिसंहार करनेसे सौभाग्य हुआ करता है। मांसको प्रतिसंहार करनेसे पशु और पुत्र प्राप्त होते हैं, जो अवाक्शिरा होकर लटकते रहते हैं और जो लोग

सततं चैकशायी यः स लभेतेप्सितां गतिम् ॥ ११ ॥
पाद्यमासनमेवाथ दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ।
दद्यादतिथिपूजार्थं स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ १२ ॥
वीरासनं वीरशय्यां वीरस्थानमुपागतः ।
अक्षयास्तस्य वै लोकाः सर्वकामगमास्तथा ॥ १३ ॥
धनं लभेत दानेन मौनेनाज्ञां विशाम्पते ।
उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥ १४ ॥
रूपमैश्वर्यमारोग्यमहिंसाफलमश्नुते ।
फलमूलाशिनो राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनां भवेत् ॥ १५ ॥
प्रायोपवेशिनो राजन्सर्वत्र सुखमुच्यते ।
गवाढ्यः शाकदीक्षायां स्वर्गगामी तृणाशनः ॥ १६ ॥
स्त्रियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत् ।
स्वर्गं सत्येन लभते दीक्षया कुलमुत्तमम् ॥ १७ ॥

जलमें निवास करते हैं, तथा जो पुरुष सदा अकेले ही शयन करते अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत अवलम्बन किया करते हैं, वे लोग अभिलषित गति पाते हैं। (८–११)

जो लोग अतिथिपूजाके लिये पाद्य, अर्घ, आसन, दीपक, अन्न, अवलम्ब-स्थान दान करते हैं, वे पञ्चदक्षिणा यज्ञके फलभागी होते हैं, जो लोग रणभूमिमें वीरासन और वीरशय्यापर शयन करते हैं, उनके सर्वकामप्रद लोक अक्षय होते हैं। हे महाराज! दान करनेसे धन लाभ होता है; मौन रहनेसे अविच्छिन्न आज्ञा प्राप्त हुआ करती है, तपस्यासे उपभोग और ब्रह्मचर्यके द्वारा दीर्घजीवन लाभ होता है; अहिंसासे ऐश्वर्य और आरोग्य भोग प्राप्त होता है; फलमूल भोजन करनेवालोंको राज्य और पत्ता खानेवालोंको स्वर्ग मिलता है। हे महाराज! योगयुक्त होके बैठनेवालोंके लिये सर्वत्र सुख वर्णित हुआ करता है। जो लोग केवल शाक भोजन करके नियम अवलम्बन करते हैं, वे लोग गोसमूहसे पूजित होते हैं। तृणभोजी मनुष्य स्वर्गगामी हुआ करते हैं। (१२–१६)

स्त्रीसहवास परित्याग करके जो लोग नियमपूर्वक तीन बार स्नान करते तथा वायु पीके रहते हैं, वे सत्यसंकल्पत्व लाभ करते हैं। सत्यके द्वारा स्वर्ग मिलता है, और यज्ञके सहारे उत्तम कुलमें जन्म हुआ करता है। जो

सलिलाशी भवेद्यस्तु सदाग्निः संस्कृतो द्विजः।
मन्त्रं साधयतो राज्यं नाकपृष्ठमनाशके ॥ १८ ॥
उपवासं च दीक्षायामभिषेकं च पार्थिव।
कृत्वा द्वादश वर्षाणि वीरस्थानाद्विशिष्यते ॥ १९ ॥
अधीत्य सर्ववेदान्वै सद्यो दुःखाद्विमुच्यते।
मानसं हि चरन् धर्मं स्वर्गलोकमुपाश्नुते ॥ २० ॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥ २१ ॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥ २२ ॥
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वकालं नातिवर्त्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ २३ ॥
जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका न तु जीर्यते ॥ २४ ॥

संस्कारयुक्त ब्राह्मण जलशायी होते हैं उनके अविच्छिन्न अग्निहोत्र सम्पन्न हुआ करते हैं। जो लोग गायत्री आदि मन्त्रोंको सिद्ध करते हैं उन्हें राज्य मिलता है। अनशन व्रत अवलम्बन करनेसे स्वर्गलोकमें वास होता है। हे राजन्! बारह वर्षके यज्ञमें उपवास व्रतके लिये ब्राह्मणको दूध आदि पीना व्रत है, और क्षत्रियको यवागूका आहार ही व्रत है, वैश्यको आमिक्षा आहार ही व्रत और अभिषेक अर्थात् बारह वर्षकाल तीर्थोंमें भ्रमण व्रत करनेसे वीर स्थान स्वर्गसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। (१७-१९)

मनुष्य सब वेदोंको पढनेसे सदाके लिये दुःखोंसे छूट जाता है; मानसिक धर्माचरण करनेसे स्वर्ग लोक मिलता है। नीचबुद्धि पुरुषोंसे जो दुस्त्याज्य है, पुरुषके बूढे होनेपर भी जो जीर्ण नहीं होता तथा जो प्राणान्तिक रोग स्वरूप है, उस तृष्णाको जो लोग त्यागते हैं, वे सुखी हुआ करते हैं। जैसे सहस्र गौओंके बीच बछडा अपनी माताको खोज लेता है, वैसे ही पहलेके किये हुए कर्म कर्त्ताका अनुगमन किया करते हैं। जैसे अप्रेरित फल और फूल अपने समयको अतिक्रम नहीं करते, पहलेके किये हुए कर्म भी वैसे ही हैं। (२०-२३)

बूढे पुरुषोंके केश झड जाते, दांत

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः ।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ।
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम् ॥२५॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २६ ॥
वैशम्पायन उवाच— भीष्मस्यैतद्वचः श्रुत्वा विस्मिताः कुरुपुङ्गवाः ।
आसन् प्रहृष्टमनसः प्रीतिमन्तोऽभवंस्तदा ॥ २७ ॥
यन्मन्त्रे भवति वृथोपयुज्यमाने यत्सोमे भवति वृथाभिषूयमाणे ।
यच्चाग्नौ भवति वृथाभिहूयमाने तत्सर्वं भवति वृथाभिधीयमाने ॥२८॥
इत्येतदृषिणा प्रोक्तमुक्तवानस्मि यद्विभो ।
शुभाशुभफलप्राप्तौ किमतः श्रोतुमिच्छसि ॥ २९ ॥ [३७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे कर्मफलिकोपाख्याने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

गिर जाते, दोनों नेत्र और दोनों कान जीर्ण होजाते हैं, परन्तु एकमात्र तृष्णा कभी जीर्ण नहीं होती। जिन कर्मोंसे पिताको प्रसन्न किया जाता है, उसहीके द्वारा प्रजापति प्रसन्न होते हैं, और जिसके द्वारा माताको प्रसन्न किया जाता है, उसहीके सहारे पृथ्वी पूजित होती है। जिन कर्मोंसे गुरुको प्रीति-युक्त किया जाता है, उससे ब्रह्म पूजित होता है; पिता, माता और गुरु, ये तीनों ही जिससे आदरयुक्त होते हैं, उसके सब धर्म ही आदृत होते हैं, और ये तीनों जिससे अनादृत होते हैं, उसकी समस्त क्रिया ही निष्फल होती है। (२४–२६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कुरुप्रवीर पुरुष भीष्मके ऐसे वचनको सुनके विस्मित हुए और उस समय वे लोग प्रसन्नचित्त तथा प्रीतियुक्त हुए थे। जैसे जिगीषा आदिके निमित्त मन्त्रका उच्चारण निष्फल होता है, जैसे विना दक्षिणाके सोमयाग निष्फल होजाता है, जैसे विना मन्त्रके होमसे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता अर्थात् इन तीनोंसे जो पाप हुआ करता है, मिथ्या बोलने-वालेको वह सब पाप प्राप्त होता है। हे महाराज! शुभाशुभ फलकी प्राप्तिके निमित्त यह मैंने ऋषियोंके कहे हुए समस्त विषय वर्णन किया अब कौनसा विषय सुननेकी इच्छा करते हो? २७-२९

अनुशासनपर्वमें ७ अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच- के पूज्याः के नमस्कार्याः कान्नमस्यासि भारत।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व येभ्यः स्पृहयसे नृप ॥ १ ॥
उत्तमापद्गतस्यापि यत्र ते वर्तते मनः।
मनुष्यलोके सर्वस्मिन् यदमुत्रेह चाप्युत ॥ २ ॥
भीष्म उवाच—स्पृहयामि द्विजातिभ्यो येषां ब्रह्म परं धनम्।
येषां स्वप्रत्ययः स्वर्गस्तपः स्वाध्यायसाधनम् ॥ ३ ॥
येषां बालाश्च वृद्धाश्च पितृपैतामहीं धुरम्।
उद्वहन्ति न सीदन्ति तेभ्यो वै स्पृहयाम्यहम् ॥ ४ ॥
विद्यास्वभिविनीतानां दान्तानां मृदुभाषिणाम्।
श्रुतवृत्तोपपन्नानां सदाक्षरविदां सताम् ॥ ५ ॥
संसत्सु वदतां तात हंसानामिव संघशः।
मङ्गल्यरूपा रुचिरा दिव्यजीमूतनिःस्वनाः ॥ ६ ॥
सम्यगुच्चरिता वाचः श्रूयन्ते हि युधिष्ठिर।
शुश्रूषमाणे नृपतौ प्रेत्य चेह सुखावहाः ॥ ७ ॥

अनुशासनपर्वमें ८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! पूज्य कौन है? किसे नमस्कार करना चाहिये; आप किन लोगोंको नमस्कार करते हैं। यह सब तथा आप जिन लोगोंकी स्पृहा करते हैं, वह सब वृत्तान्त मेरे समीप वर्णन करिये; अत्यन्त आपदा-युक्त होनेपर भी आपका मन जिसमें अनुरक्त रहता है, मनुष्य लोक तथा परलोकमें जो कुछ हितकर हो, उसे ही वर्णन करिये। (१-२)

भीष्म बोले, जिन लोगोंका, आत्म-प्रत्यय ही स्वर्ग, स्वाध्यायसाधन ही तपस्या और ब्रह्म ही परम धन है, मैं उन ब्राह्मणोंकी ही सदा स्पृहा किया करता हूं; जिनके बालक और बूढे पितर, पितामहके भारको उठाया करते हैं और अवसन्न नहीं होते, मैं उन्हीं लोगोंकी स्पृहा किया करता हूं। हे तात युधि-ष्ठिर! विद्याविनयसे सम्पन्न, दान्त, कोमल वचन कहनेवाले, शास्त्र-ज्ञान और सच्चरित्रसे युक्त ब्रह्मवित् साधु पुरुषोंकी सभाके बीच हंसके जल परित्याग करके दूध पीनेकी भांति आत्मानात्म विचार करके वचन बोलते रहनेपर उनके मङ्गलमय मनोहर बादलके दिव्य शब्दसमान पूरी रीतिसे कहे हुए सब वचन सुनाई देते हैं, सेवायुक्त राजाके समीप कहे हुए वे सब वचन इस लोक और परलोकमें सुख-

ये चापि तेषां श्रोतारः सदा सदसि संमताः ।
विज्ञानगुणसंपन्नास्तेभ्यश्च स्पृहयाम्यहम् ॥ ८ ॥
सुसंस्कृतानि प्रयताः शुचीनि गुणवन्ति च ।
ददत्यन्नानि तृप्त्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥
ये चापि सततं राजंस्तेभ्यश्च स्पृहयाम्यहम् ।
शक्यं ह्येवाहवे योद्धुं न दातुमनसूयितम् ॥ १० ॥
शूरा वीराश्च शतशः सन्ति लोके युधिष्ठिर ।
येषां संख्यायमानानां दानशूरो विशिष्यते ॥ ११ ॥
धन्यः स्यां यद्यहं भूयः सौम्य ब्राह्मणकोऽपि वा ।
कुले जातो धर्मगतिस्तपोविद्यापरायणः ॥ १२ ॥
न मे त्वत्तः प्रियतरो लोकेऽस्मिन् पाण्डुनन्दन ।
त्वत्तश्चापि प्रियतरा ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ १३ ॥
यथा मम प्रियतमास्त्वत्तो विप्राः कुरूत्तम ।
तेन सत्येन गच्छेयं लोकान्यत्र स शान्तनुः ॥ १४ ॥
न मे पिता प्रियतरो ब्राह्मणेभ्यस्तथाभवत् ।

दायक हुआ करते हैं। (३-७)

विज्ञानगुणसे युक्त सभाके बीच सम्मानभाजन जो सब मनुष्य सदा साधुओंके कहे हुए वचनोंको सुनते हैं, मैं उन लोगोंकी भी बडाई किया करता हूं। हे युधिष्ठिर ! जो लोग श्रद्धापूर्वक उन ब्राह्मणोंको तृप्त करनेके निमित्त उत्तम, पवित्र और सुगन्धयुक्त अन्न दान करते हैं, मैं उन लोगोंकी स्पृहा किया करता हूं। रणभूमिमें संग्राम करनेमें अनायास ही सामर्थ्य होती है, परन्तु असूयारहित भावसे दान करना सहज नहीं है। हे युधिष्ठिर ! इस लोकमें सैकडों शूरवीर पुरुष हैं, जिनकी गिनती करनेके समय दानवीर ही सबसे श्रेष्ठ होता है, हे प्रियदर्शन ! तप और विद्यामें रत, धर्मकी गति, सत्कुलमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंका तो कहना ही क्या है, मैं जन्मान्तरमें कुत्सित ब्राह्मणकुलमें जन्म पानेसे भी धन्य हूंगा, हे भरतश्रेष्ठ पाण्डुपुत्र ! इस लोकमें तुमसे बढके मेरे दूसरा कोई भी प्रिय नहीं है, परन्तु ब्राह्मण लोग तुमसे भी मेरे अधिक प्रिय हैं। (८—१३)

हे कुरुसत्तम ! जब ब्राह्मण लोग तुमसे भी मेरे अधिक प्रिय हैं तो इस ही सत्यके प्रभाव से मैं उन लोकोंमें

न मे पितुः पिता वापि ये चान्येऽपि सुहृज्जनाः ॥१५॥
न हि मे वृजिनं किञ्चिद्विद्यते ब्राह्मणेष्विह ।
अणु वा यदि वा स्थूलं विद्यते साधुकर्मसु ॥ १६ ॥
कर्मणा मनसा वापि वाचा वापि परन्तप ।
यन्मे कृतं ब्राह्मणेभ्यस्तेनाद्य न तपाम्यहम् ॥ १७ ॥
ब्रह्मण्य इति मामाहुस्तया वाचाऽस्मि तोषितः ।
एतदेव पवित्रेभ्यः सर्वेभ्यः परमं स्मृतम् ॥ १८ ॥
पश्यामि लोकानमलाञ्छुचीन् ब्राह्मणयायिनः ।
तेषु मे तात गन्तव्यमह्नाय च चिराय च ॥ १९ ॥
यथा भर्त्राश्रयो धर्मः स्त्रीणां लोके युधिष्ठिर ।
स देवः सा गतिर्नान्या क्षत्रियस्य तथा द्विजाः ॥ २० ॥
क्षत्रियः शतवर्षी च दशवर्षी द्विजोत्तमः ।
पितापुत्रौ च विज्ञेयौ तयोर्हि ब्राह्मणो गुरुः ॥ २१ ॥

गमन करूंगा, जहांपर मेरे पिता शान्तनु विराज मान हैं। ब्राह्मणोंसे बढके पिता, पितामह और दूसरे सुहृद लोग भी मेरे अधिक प्रिय नहीं हैं। इस लोकमें ब्राह्मणोंके निकट मुझे किसी फल पानेकी आशा नहीं है, पूज्य समझके ही देवताओंकी भांति मैं उनकी पूजा किया करता हूं; साधुकार्यमें मैं तनिक तथा अधिक परिमाणसे फलकी आशा नहीं करता। (१४—१६)

हे शत्रुतापन! कर्म, मन और वचन से मैंने ब्राह्मणोंकी जो कुछ आराधना की है, इस समय शरशय्यामें पडे रहनेपर भी मैं उस ही ब्राह्मणपूजाके प्रभावसे दुःखित नहीं हुआ। प्राचीन लोगोंने मुझे ब्राह्मण जातिका हित करनेमें तत्पर कहा है, मैं उसही वचनसे सन्तुष्ट हुआ हूं, यह समस्त पवित्रतासे भी परम पवित्रता कहके वर्णित हुआ है। हे तात! मैं सब लोकोंको ही पवित्र और निर्मल देखता हूं, मैं ब्राह्मणोंका दास हूं, इसलिये शीघ्र ही सदाके लिये उन पवित्र लोकोंमें गमन करूंगा। (१७-१९)

हे युधिष्ठिर! जैसे इस लोकमें पति ही स्त्रियोंके लिये धर्म और देवता है, वैसे ही ब्राह्मण ही क्षत्रियोंके देवता और ब्राह्मण ही क्षत्रियोंकी गति है; इसके अतिरिक्त क्षत्रियोंके लिये दूसरी कोई गति नहीं है। सौ वर्षकी अवस्थावाला क्षत्रिय और दश वर्षकी अवस्थावाला उत्तम ब्राह्मण पिता पुत्र रूपसे

नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्।
पृथिवी ब्राह्मणालाभे क्षत्रियं कुरुते पतिम् ॥ २२ ॥
पुत्रवच्च ततो रक्ष्या उपास्या गुरुवच्च ते।
अग्निवच्चोपचर्या वै ब्राह्मणाः कुरुसत्तम ॥ २३ ॥
ऋजून्सतः सत्यशीलान्सर्वभूतहिते रतान्।
आशीविषानिव क्रुद्धान् द्विजान्परिचरेत्सदा ॥ २४ ॥
तेजसस्तपसश्चैव नित्यं बिभ्येद्युधिष्ठिर।
उभे चैते परित्याज्ये तेजश्चैव तपस्तथा ॥ २५ ॥
व्यवसायस्तयोः शीघ्रमुभयोरेव विद्यते।
हन्युः क्रुद्धा महाराज ब्राह्मणा ये तपस्विनः ॥ २६ ॥
भूयः स्यादुभयं दत्तं ब्राह्मणाद्यदकोपनात्।
कुर्यादुभयतः शेषं दत्तशेषं न शेषयेत् ॥ २७ ॥
दण्डपाणिर्यथा गोषु पालो नित्यं हि रक्षयेत्।
ब्राह्मणा ब्रह्म च तथा क्षत्रियः परिपालयेत् ॥ २८ ॥

मालूम होते हैं, इन दोनोंके बीच ब्राह्मण ही गुरु है। जैसे स्त्री पतिके अभावमें देवरको पतितुल्य मानती है वैसे ही पृथ्वी ब्राह्मणके अभावमें क्षत्रियको अपना स्वामी समझती है। हे कुरुसत्तम! इसलिये क्षत्रियोंको चाहिये कि पुत्रकी भांति ब्राह्मणोंकी रक्षा करें, ब्राह्मण गुरु-समान पूजनीय और अग्निकी भांति उपचारके योग्य हैं, इसलिये सरल, साधु, सत्यशील, सब प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले, क्रुद्ध विषीले सर्पके समान ब्राह्मणोंकी सदा सेवा करनी योग्य है। (२०—२४)

हे युधिष्ठिर! तेज और तपस्यासे सदा भय करना उचित है, तपोबल और तेजोबल दोनों ही परित्याज्य हैं। क्षत्रियोंके तेज और ब्राह्मणोंकी तपस्या इन दोनोंके फल अत्यन्त तीव्र हैं। हे महाराज! परन्तु तेजस्वी क्षत्रियकी अपेक्षा तपस्वी ब्राह्मण क्रुद्ध होने पर शीघ्रही मनुष्योंका नाश करते हैं। अक्रोधी ब्राह्मणके निकट प्रयोग किया हुआ तेज और तप, ये दोनों ही अधिक होने पर भी खण्डित होते हैं, और दोनों ही यदि शेष करें, तो क्षमावानके द्वारा खण्डित तेजका जो कुछ अंश शेष रहेगा, वह निःशेष न करनेपर भी अवश्य ही निःशेष होगा। जैसे गोपाल सदा हाथमें दण्ड लेकर गौवोंको पालन करता है, वैसेही क्षत्रिय राजा ब्राह्मण

पितेव पुत्रान् रक्षेथा ब्राह्मणान् धर्मचेतसः।
गृहे चैषामवेक्षेथाः किंस्विदस्तीति जीवनम् ॥ २९ ॥ [३९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच-ब्राह्मणानां तु ये लोकाः प्रतिश्रुत्य पितामह।
न प्रयच्छन्ति मोहात्ते के भवन्ति महाद्युते ॥ १ ॥
एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि धर्मं धर्मभृतां वर।
प्रतिश्रुत्य दुरात्मानो न प्रयच्छन्ति ये नराः ॥ २ ॥
भीष्म उवाच-यो न दद्यात्प्रतिश्रुत्य स्वल्पं वा यदि वा बहु।
आशास्तस्य हताः सर्वाः क्लीवस्येव प्रजाफलम् ॥ ३ ॥
यां रात्रिं जायते जीवो यां रात्रिं च विनश्यति।
एतस्मिन्नन्तरे यद्यत्सुकृतं तस्य भारत ॥ ४ ॥
यच्च तस्य हुतं किंचिद्दत्तं वा भरतर्षभ।
तपस्तप्तमथो वापि सर्वं तस्योपहन्यते ॥ ५ ॥
अथैतद्वचनं प्राहुर्धर्मशास्त्रविदो जनाः।

और वेदोंकी सब प्रकारसे रक्षा करे। जैसे पिता पुत्रोंको पालन करता है, वैसे ही धर्मनिष्ठ ब्राह्मणोंकी रक्षा करे और उन उन लोगोंके गृह तथा जीविका निर्वाहके योग्य कोई वस्तु है वा नहीं, उसे जान लिया करे, यदि कोई वस्तु न हो, तो उसे दान करे। (२५-२९)

अनुशासनपर्वमें ८ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ९ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे महातेजस्वी धार्मिक-श्रेष्ठ पितामह! जो सब दुराचारी मनुष्य ब्राह्मणोंको दान देनेका सङ्कल्प करके फिर मोहके वशमें होकर नहीं देते हैं, भविष्यमें उनकी कैसी दशा होती है, आप यथार्थ रीतिसे यह धर्म मेरे समीप वर्णन करिये। (१-२)

भीष्म बोले, जो पुरुष थोडी अथवा अधिक वस्तु दान करनेका सङ्कल्प करके फिर उसे दान नहीं करता, उसकी सब आशा इस प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे नपुंसक पुरुषके पुत्रकी लालसा नष्ट होती है। हे भारत! जीव जिस समय जन्मता और जिस समय नष्ट होता है; उस जन्म और मृत्युके मध्यकाल अर्थात् जीवनके समयमें उसका जो कुछ सुकृत होता है, तथा वह जो कुछ होम, दान और तपस्या करता है, उस पुरुषके वे सभी कर्म

निशम्य भरतश्रेष्ठ बुद्धया परमयुक्तया ॥ ६ ॥
अपि चोदाहरन्तीमं धर्मशास्त्रविदो जनाः।
अश्वानां श्यामकर्णानां सहस्रेण स मुच्यते ॥ ७ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शृगालस्य च संवादं वानरस्य च भारत ॥ ८ ॥
तौ सखायौ पुरा ह्यास्तां मानुषत्वे परन्तप।
अन्यां योनिं समापन्नौ शार्गालीं वानरीं तथा ॥ ९ ॥
ततः परासून्खादन्तं शृगालं वानरोऽब्रवीत्।
श्मशानमध्ये संप्रेक्ष्य पूर्वजातिमनुस्मरन् ॥ १० ॥
किं त्वया पापकं पूर्वं कृतं कर्म सुदारुणम्।
यस्त्वं श्मशाने मृतकान्पूतिकानत्सि कुत्सितान् ॥११॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच शृगालो वानरं तदा।
ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुत्य न मया तदुपाहृतम् ॥ १२ ॥
तत्कृते पापकीं योनिमापन्नोऽस्मि प्लवंगम।
तस्मादेवंविधं भक्ष्यं भक्षयामि बुभुक्षितः ॥ १३ ॥

निष्फल हुआ करते हैं। हे भरतश्रेष्ठ! धर्मशास्त्र जाननेवाले पुरुष परम युक्तिवती बुद्धिसे विचार करके उक्त वचन कहा करते हैं और वे लोग यह भी कहते हैं, कि एक हजार श्यामकर्ण घोडे दान करनेसे इसका प्रायश्चित्त होता है, इस अशक्य कार्यका अनुष्ठान असाध्य है, इसीसे पाप नष्ट नहीं होता। (३-७)

हे भरतनन्दन! प्राचीन लोग इस विषयमें सियार और बन्दरके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहते हैं, हे शत्रुतापन! पहले मनुष्य जन्ममें वे दो भाई थे। इस समय दूसरे जन्ममें एक सियार योनि और दूसरा बन्दर योनिमें उत्पन्न हुआ था। अनन्तर बन्दरने सियारको श्मशानके बीच मरे मनुष्योंका मांस भक्षण करते हुए देखकर पूर्वजाति स्मरण करके कहा, कि तुमने पहले जन्ममें ऐसा कौनसा दारुण पापकर्म किया था; जिसके फलसे इस श्मशानमें निन्दनीय मृतक शरीरको भक्षण करते हो। सियार उस समय ऐसा वचन सुनके बन्दरसे बोला, मैंने ब्राह्मणोंको देनेको कहके उन्हें दान नहीं किया था। हे शाखाविहारी! इस ही निमित्त मैं पापयोनिको प्राप्त हुआ हूं और उसही कारणसे भूखा होकर इस

भीष्म उवाच- शृगालो वानरं प्राह पुनरेव नरोत्तम।
किं त्वया पातकं कर्म कृतं येनासि वानरः ॥ १४ ॥

वानर उवाच— सदा चाहं फलाहारो ब्राह्मणानां प्लवंगमः।
तस्मान्न ब्राह्मणस्वं तु हर्तव्यं विदुषा सदा।
समं विवादो मोक्तव्यो दातव्यं च प्रतिश्रुतम् ॥१५॥

भीष्म उवाच-इत्येतद् ब्रुवतो राजन्ब्राह्मणस्य मया श्रुतम्।
कथां कथयतः पुण्यां धर्मज्ञस्य पुरातनीम् ॥ १६ ॥
श्रुतश्चापि मया भूयः कृष्णस्यापि विशाम्पते।
कथां कथयतः पूर्वं ब्राह्मणं प्रति पाण्डव ॥ १७ ॥
न हर्तव्यं विप्रधनं क्षन्तव्यं तेषु नित्यशः।
बालाश्च नावमन्तव्या दरिद्राः कृपणा अपि ॥ १८ ॥
एवमेव च मां नित्यं ब्राह्मणाः संदिशन्ति वै।
प्रतिश्रुत्य भवेद्देयं नाशा कार्या द्विजोत्तमे ॥ १९ ॥

प्रकार निन्दित भक्ष्य भक्षण करता हूं। (८—१३)

भीष्म बोले, हे नरोत्तम! सियारने फिर बन्दरसे कहा, तुमने क्या पापकर्म किया था, जिसके फलसे बन्दर हुए हो। (१४)

बन्दर बोला, मैं सदा ब्राह्मणोंका फल खाया करता था, इस ही कारण बन्दर योनिमें उत्पन्न हुआ हूं, इसलिये विद्वान् पुरुषोंको उचित है, कि ब्राह्मणोंकी वस्तुको हरण न करे। ब्राह्मणोंके सङ्ग विवाद करना योग्य नहीं है और उन्हें देनेको कहके अवश्य दान देना उचित है। (१५)

भीष्म बोले, हे महाराज! पहले जब मेरे गुरु यह ब्राह्मणकी कथा कह रहे थे, तब उनके मुखसे मैंने इस विषयको सुना था। हे नरनाथ! जब धर्मज्ञ व्यासदेव पवित्र और प्राचीन इतिहास कह रहे थे, तब उनके मुखसे भी मैंने यह कथा सुनी थी। हे पाण्डव! फिर ब्राह्मणोंके विषयमें श्रीकृष्णके मुखसे भी मैंने यह कथा सुनी है, ब्राह्मणोंका धन हरना उचित नहीं है; सदा उन लोगोंके विषयमें क्षमा करनी चाहिये। चाहे ब्राह्मण बालक हो, दरिद्र हो अथवा कृपण ही होवे, उसकी कदापि अवमानना न करनी चाहिये ब्राह्मण लोग मुझे सदा ऐसा ही उपदेश दिया करते हैं, ब्राह्मणोंके समीप देनेका सङ्कल्प करके उन्हें दान देना ही उचित है, ब्राह्मणोंकी आशाको निष्फल करना

ब्राह्मणो ह्याशया पूर्वं कृतया पृथिवीपते ।
सुसमिद्धो यथा दीप्तः पावकस्तद्विधः स्मृतः ॥ २० ॥
यं निरीक्षेत संक्रुद्ध आशया पूर्वजातया ।
प्रदहेच्च हि तं राजन्कक्षमक्षय्यभुग्यथा ॥ २१ ॥
स एव हि यदा तुष्टो वचसा प्रतिनन्दति ।
भवत्यगदसंकाशो विषये तस्य भारत ॥ २२ ॥
पुत्रान्पौत्रान्पशूंश्चैव बान्धवान्सचिवांस्तथा ।
पुरं जनपदं चैव शान्तिरिष्टेन पोषयेत् ॥ २३ ॥
एतद्धि परमं तेजो ब्राह्मणस्येह दृश्यते ।
सहस्रकिरणस्येव सवितुर्धरणीतले ॥ २४ ॥
तस्माद्दातव्यमेवेह प्रतिश्रुत्य युधिष्ठिर ।
यदीच्छेच्छोभनां जातिं प्राप्तुं भरतसत्तम ॥ २५ ॥
ब्राह्मणस्य हि दत्तेन ध्रुवं स्वर्गो ह्यनुत्तमः ।
शक्यः प्राप्तुं विशेषेण दानं हि महती क्रिया ॥ २६ ॥
इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ।

योग्य नहीं है। (१६—१९)

हे पृथ्वीपाल! ब्राह्मण लोग पहलेकी की हुई आशासे जलती हुई अग्निकी भांति समृद्ध हुआ करते हैं। हे महाराज! वे पहलेकी आशासे संयुक्त होके क्रोधपूर्वक जिसकी ओर देखते हैं, उसे इस प्रकार भस्म किया करते हैं, जैसे अग्नि तृण काठ प्रभृतिको जला देती है। और जब वेही प्रसन्न होकर प्रशान्त वचनसे जिसे अभिनन्दित करते हैं, उसका राज्य चिकित्सकके समान होता है, उसके निकट कोई आपदा नहीं रहती, पुत्र, पौत्र, बन्धु, बान्धव, मन्त्री; पुर और प्रजा, सबको ही वह पुरुष शक्तिके अनुसार उत्तम रीतिसे पालन करता है; पृथ्वीपर सहस्र किरणवाले सूर्यके तेज समान ब्राह्मणोंका यह परम तेज दीख पडता है। हे भरतसत्तम युधिष्ठिर! यदि कोई उत्तम जाति प्राप्त होनेकी इच्छा करे, तो उसे योग्य है, कि ब्राह्मणोंके निकट देनेका सङ्कल्प करके दान करे। (२०–२५)

ब्राह्मणोंको दान देनेसे अत्यन्त उत्तम अक्षय स्वर्ग प्राप्त करनेमें समर्थ होता है, इसलिये दानके समान महत् कार्य और कुछ भी नहीं है। इस लोकमें दान करनेसे देवता और पितर लोग जीवन धारण किया करते हैं, इसलिये

तस्माद्दानानि देयानि ब्राह्मणेभ्यो विजानता ॥ २७ ॥
महद्धि भरतश्रेष्ठ ब्राह्मणस्तीर्थमुच्यते ।
वेलायां न तु कस्यां चिद्गच्छेद्विप्रो ह्यपूजितः ॥ २८ ॥ [४२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे शृगालवानरसंवादे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच- मित्रसौहार्दयोगेन उपदेशं करोति यः ।
जात्याऽधरस्य राजर्षे दोषस्तस्य भवेन्न वा ॥ १ ॥
एतदिच्छामि तत्त्वेन व्याख्यातुं वै पितामह ।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य यत्र मुह्यन्ति मानवाः ॥ २ ॥
भीष्म उवाच- अत्र ते वर्तयिष्यामि शृणु राजन् यथाक्रमम् ।
ऋषीणां वदतां पूर्वं श्रुतमासीद्यथा पुरा ॥ ३ ॥
उपदेशो न कर्तव्यो जातिहीनस्य कस्यचित् ।
उपदेशे महान् दोष उपाध्यायस्य भाष्यते ॥ ४ ॥
निदर्शनमिदं राजन् शृणु मे भरतर्षभ ।

ज्ञानवान् मनुष्य ब्राह्मणोंको देने योग्य वस्तु दान करे; क्यों कि ब्राह्मण ही दानका पात्र है, हे भरतश्रेष्ठ ! ब्राह्मण ही महत् तीर्थरूपसे वर्णित होते हैं; इस लिये किसी समयमें ही ब्राह्मण अपूजित होकर गमन न करें। (२६-२८)

अनुशासनपर्वमें ९ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें १० अध्याय।

महाराज युधिष्ठिर बोले, हे राजऋषि ! उपकारकी इच्छा करके जो लोग उपकार करते हैं, वैसी मित्रता और उपकारकी इच्छा न करके जो पुरुष उपकर्त्ता बनते हैं, वैसी मित्रता-सम्बन्धके वशमें होकर यदि कोई पुरुष नीचजातिको उपदेश करे, तो उसे कुछ दोष होता है; वा नहीं ? हे पितामह ! जिससे मनुष्य लोग मोहित होते हैं, वह धर्मकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है; इसलिये ऊपर कहे हुए विषयमें यथार्थ रूपसे मैं सुननेकी इच्छा करता हूं। (१-२)

भीष्म बोले, हे महाराज ! पहले ऋषियोंने इस विषयको वर्णन किया था, मैंने जिस प्रकार सुना है, उसको तुम्हारे समीप कहता हूं, सुनो। किसी नीच जातिको उपदेश करना उचित नहीं है, क्यों कि ऐसा शास्त्रमें वर्णित है, कि वैसे मनुष्यको उपदेश करनेसे उपदेश करनेवालेको महान् दोष होता है। हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! पहले समयमें दुःखस्थ नीचके विषयमें उक्त

दुरुक्तवचने राजन् यथापूर्वं युधिष्ठिर ॥ ५ ॥
ब्रह्माश्रमपदे वृत्तं पार्श्वे हिमवतः शुभे ।
तत्राश्रमपदं पुण्यं नानावृक्षगणायुतम् ॥ ६ ॥
नानागुल्मलताकीर्णं मृगद्विजनिषेवितम् ।
सिद्धचारणसंयुक्तं रम्यं पुष्पितकाननम् ॥ ७ ॥
व्रतिभिर्बहुभिः कीर्णं तापसैरुपसेवितम् ।
ब्राह्मणैश्च महाभागैः सूर्यज्वलनसन्निभैः ॥ ८ ॥
नियमव्रतसंपन्नैः समाकीर्णं तपस्विभिः ।
दीक्षितैर्भरतश्रेष्ठ यताहारैः कृतात्मभिः ॥ ९ ॥
तपोऽध्ययनघोषैश्च नादितं भरतर्षभ ।
वालखिल्यैश्च बहुभिर्यतिभिश्च निषेवितम् ॥ १० ॥
तत्र कश्चित्समुत्साहं कृत्वा शूद्रो दयान्वितः ।
आगतो ह्याश्रमपदं पूजितश्च तपस्विभिः ॥ ११ ॥
तांस्तु दृष्ट्वा मुनिगणान्देवकल्पान्महौजसः ।
विविधां वहतो दीक्षां संप्राहृष्यत भारत ॥ १२ ॥

वचनका यह प्रमाण है, मैं कहता हूं, तुम सुनो। हिमालयके पवित्र स्थानमें ब्रह्माश्रमके निकट एक पवित्र आश्रम है, वह अनेक प्रकारके वृक्ष, गुल्म और लतासे परिपूरित, हरिण और पक्षियोंसे सेवित, सिद्धचारणोंसे युक्त और फूले हुए वनसे शोभित रहनेसे अत्यन्त रमणीय था; वह स्थान बहुतेरे ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ पुरुषोंसे परिपूर्ण था, सूर्य तथा अग्निके समान तेजस्वी ब्राह्मण लोग वहां सदा निवास करते हैं। (३-८)

हे भरतश्रेष्ठ! वह आश्रम नियमव्रतसंयुक्त, दीक्षित, मिताहारी, शुद्धचित्तवाले तपस्वियोंसे परिपूरित था। हे भरतप्रवर! वह तपस्या और अध्ययनके शब्दसे निनादित तथा बहुतेरे वालखिल्य वा संन्यासियोंसे निषेवित था। पहले समयमें प्राणियोंके अभय निबन्धनसे दयायुक्त होकर कोई शूद्र संन्यास धर्म अवलम्बन करके भली भांति उत्साहपूर्वक उस आश्रममें उपस्थित हुआ। शूद्र संन्यासीको आश्रममें आया हुआ देखके तपस्वियोंने उसका बहुत आदर किया। (९-११)

हे भारत! वह उन मुनियोंको देवताओंके समान महातेजस्वी और अनेक प्रकारके नियमोंसे युक्त देखके

अथास्य बुद्धिरभवत्तपस्ये भरतर्षभ।
ततोऽब्रवीत्कुलपतिं पादौ संगृह्य भारत ॥ १३ ॥
भवत्प्रसादादिच्छामि धर्मं वक्तुं द्विजर्षभ।
तन्मां त्वं भगवन्वक्तुं प्रव्राजयितुमर्हसि ॥ १४ ॥
वर्णावरोऽहं भगवन् शूद्रो जात्याऽस्मि सत्तम।
शुश्रूषां कर्तुमिच्छामि प्रपन्नाय प्रसीद मे ॥ १५ ॥
कुलपतिरुवाच– न शक्यमिह शूद्रेण लिङ्गमाश्रित्य वर्तितुम्।
आस्यतां यदि ते बुद्धिः शुश्रूषानिरतो भव ॥ १६ ॥
शुश्रूषया परांल्लोकानवाप्स्यसि न संशयः ॥ १७ ॥
भीष्म उवाच— एवमुक्तस्तु मुनिना स शूद्रो चिन्तयन्नृप।
कथमत्र मया कार्यं श्रद्धा धर्मपरा च मे ॥ १८ ॥
विज्ञातमेवं भवतु करिष्ये प्रियमात्मनः।
गत्वाऽऽश्रमपदाद् दूरमुटजं कृतवांस्तु सः ॥ १९ ॥
तत्र वेदीं च भूमिं च देवतायतनानि च।
निवेश्य भरतश्रेष्ठ नियमस्थोऽभवन्मुनिः ॥ २० ॥

अत्यन्त हर्षित हुआ। हे भरतश्रेष्ठ! अनन्तर उसके मनमें यह विचार हुआ कि "मैं तपस्या करूं"। हे भारत! तब वह कुलपतिके दोनों चरणोंको पकडके बोला, हे द्विजवर! मैं आपकी कृपासे धर्म जाननेकी अभिलाष करता हूं, हे भगवन्! इसलिये आप मुझसे धर्म कहने और सर्वसंग परित्याग करानेके उपयुक्त हैं। हे सत्तम! मैं नीचवर्ण शूद्र जाति हूं, इससे आपकी सेवा करनेकी इच्छा करता हूं, आप मुझ दीनके ऊपर प्रसन्न होइये। (१३-१५)

कुलपति बोले, संन्यासी चिन्ह धारण करके शूद्र इस स्थानमें निवास करनेमें समर्थ नहीं होता, यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो इस आश्रममें वास करो और सेवा करनेमें तत्पर रहो, सेवाके सहारे निःसन्देह उत्तम लोकोंको पाओगे। (१६-१७)

भीष्म बोले, हे महाराज! जब मुनिने उस शूद्रसे ऐसा कहा, तब उसने सोचा, कि "मैं इस स्थानमें क्या करूंगा? मुझे धर्मनिष्ठामें श्रद्धा है, मैं अपना प्रियकार्य करूंगा, इस ही प्रकार मालूम होवे" अनन्तर उसने उस आश्रमसे दूर जाके एक कुटी बनाई और वहां पूजाके निमित्त वेदी, शयन करनेका स्थान तथा देवताओंका स्थान

अभिषेकांश्च नियमान् देवतायतनेषु च ।
बलिं च कृत्वा हुत्वा च देवतां चाप्यपूजयत् ॥ २१ ॥
संकल्पनियमोपेतः फलाहारो जितेन्द्रियः ।
नित्यं संनिहिताभिस्तु ओषधीभिः फलैस्तथा ॥ २२॥
अतिथीन्पूजयामास यथावत्समुपागतान् ।
एवं हि सुमहान्कालो व्यत्यक्रामत तस्य वै ॥ २३ ॥
अथास्य मुनिरागच्छत्संगत्या वै तमाश्रमम् ।
संपूज्य स्वागतेनर्षिं विधिवत्समतोषयत् ॥ २४ ॥
अनुकूलाः कथाः कृत्वा यथागतमपृच्छत ।
ऋषिः परमतेजस्वी धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ २५ ॥
एवं सुबहुशस्तस्य शूद्रस्य भरतर्षभ ।
सोऽगच्छदाश्रममृषिः शूद्रं द्रष्टुं नरर्षभ ॥ २६ ॥
अथ तं तापसं शूद्रः सोऽब्रवीद्भरतर्षभ ।
पितृकार्यं करिष्यामि तत्र मेऽनुग्रहं कुरु ॥ २७ ॥
बाढमित्येव तं विप्र उवाच भरतर्षभ ।
शुचिर्भूत्वा स शूद्रस्तु तस्यर्षेः पाद्यमानयत् ॥ २८ ॥

बनाया । हे भरतश्रेष्ठ ! उसने उस ही कुटीमें प्रवेश करके नियमनिष्ठ होकर मौनव्रत अवलम्बन किया । वह शूद्र संन्यासी त्रिकाल स्नान करके देवस्थान में नियमपूर्वक बलि और होम करके उनकी पूजा करता था, संकल्पित, नियमनिष्ठ और जितेन्द्रिय होके फल भोजन करता तथा औषधि और फलसे सदा निकटवर्ती अतिथियोंकी यथावत् पूजा करता था । इस ही प्रकार उसका बहुत समय व्यतीत हुआ । (१८-२३)

अनन्तर कोई मुनि उस शूद्र संन्यासीको देखनेके लिये उसके आश्रममें उपस्थित हुए । उसने उस ऋषिसे स्वागत प्रश्न करके भली भांति विधिपूर्वक पूजा करके उन्हें सन्तुष्ट किया । परम तेजस्वी संशितव्रती धर्मात्मा ऋषि उसके सङ्ग अनुकूल वचन कहके जिस निमित्त आये थे, वह उसके समीप वर्णन किया, हे भरतश्रेष्ठ नरनाथ ! इस ही प्रकार वह ऋषि उस शूद्र संन्यासीको देखनेके लिये बार बार उसके आश्रम पर आते थे । हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर शूद्र उस तपस्वीसे बोला, मैं पितृकार्य करूंगा, आप उस विषयमें मेरे ऊपर कृपा करिये । (२४—२७)

अथ दर्भांश्च वन्यांश्च ओषधीर्भरतर्षभ ।
पवित्रमासनं चैव वृसीं च समुपानयत् ॥ २९ ॥
अथ दक्षिणमावृत्य वृसीं चरमशीर्षिकाम् ।
कृतामन्यायतो दृष्ट्वा तं शूद्रमृषिरब्रवीत् ॥ ३० ॥
कुरुष्वैतां पूर्वशीर्षां भवांश्चोदङ्मुखः शुचिः ।
स च तत्कृतवान् शूद्रः सर्वं यदृषिरब्रवीत् ॥ ३१ ॥
यथोपदिष्टं मेधावी दर्भार्घादि यथातथम् ।
हव्यकव्यविधिं कृत्स्नमुक्तं तेन तपस्विना ॥ ३२ ॥
ऋषिणा पितृकार्ये च स च धर्मपथे स्थितः ।
पितृकार्ये कृते चापि विसृष्टः स जगाम ह ॥ ३३ ॥
अथ दीर्घस्य कालस्य स तप्यन् शूद्रतापसः ।
वने पञ्चत्वमगमत्सुकृतेन च तेन वै ॥ ३४ ॥
अजायत महाराजवंशे स च महाद्युतिः ।
तथैव स ऋषिस्तात कालधर्ममवाप ह ॥ ३५ ॥
पुरोहितकुले विप्र आजातो भरतर्षभ ।

हे भारत! ब्राह्मणने उसका वचन स्वीकार किया, तब शूद्र पवित्र होकर ऋषिके निमित्त पाद्य ले आया। हे भरतश्रेष्ठ! अनन्तर दर्भ और वनकी औषधि, पवित्र आसन तथा व्रती पुरुषोंके लिये आसन लाया। अनन्तर दक्षिण दिशाको आवरण करके अन्यायपूर्वक व्रतीका आसन पश्चिमाग्र रूपसे रखा गया था, उसे देख कर ऋषिने उस शूद्रसे कहा, "इस आसनको पूर्वशीर्ष करो और तुम पवित्र तथा उदङ्मुख होकर बैठो।" जब ऋषिने ऐसा कहा तब शूद्रने वैसाही किया। धर्ममार्गमें गमन करनेवाला मेधावी शूद्र दर्भ, अर्घ, हव्यकव्यआदिसे जिस प्रकार पितर कार्य करना योग्य था, वह सब उस तपस्वी ऋषिके वचनके अनुसार पूरा किया, जब उसका पितृकार्य पूरा हुआ, तब ब्राह्मणने उसके समीपसे विदा होकर प्रस्थान किया। (२८-३३)

अनन्तर वह शूद्र तपस्वी बहुत समयतक तपस्याचरण करके उनके बीच पञ्चत्वको प्राप्त हुआ। हे तात! महातेजस्वी शूद्र उस पूर्वजन्मके पुण्यसञ्चयसे महाराजवंशमें उत्पन्न हुआ और वह विप्रर्षि उस ही समयमें मरके पुरोहित कुलमें उत्पन्न हुए। हे भरत-

एवं तौ तत्र संभूतावुभौ शूद्रमुनी तदा ॥ ३६ ॥
क्रमेण वर्धितौ चापि विद्यासु कुशलावुभौ ।
अथर्ववेदे वेदे च बभूवर्षिः सुनिष्ठितः ।
कल्पप्रयोगे चोत्पन्ने ज्योतिषे च परं गतः ॥ ३७ ॥
सांख्ये चैव परा प्रीतिस्तस्य चैवं व्यवर्धत ।
पितर्युपरते चापि कृतशौचस्तु पार्थिवः ॥ ३८ ॥
अभिषिक्तः प्रकृतिभी राजपुत्रः स पार्थिवः ।
अभिषिक्तेन स ऋषिरभिषिक्तः पुरोहितः ॥ ३९ ॥
स तं पुरोधाय सुखमवसद्भरतर्षभ ।
राज्यं शशास धर्मेण प्रजाश्च परिपालयन् ॥ ४० ॥
पुण्याहवाचने नित्यं धर्मकार्येषु चासकृत् ।
उत्स्मयन्प्राहसच्चापि दृष्ट्वा राजा पुरोहितम् ॥ ४१ ॥
एवं स बहुशो राजन्पुरोधसमुपाहसत ।
लक्षयित्वा पुरोधास्तु बहुशस्तं नराधिपम् ॥ ४२ ॥
उत्स्मयन्तं च सततं दृष्ट्वाऽसौ मन्युमाविशत् ।
अथ शून्ये पुरोधास्तु सह राज्ञा समागतः ॥ ४३ ॥
कथाभिरनुकूलाभी राजानं चाभ्यरोचयत् ।

श्रेष्ठ ! इस ही प्रकार वह शूद्र और मुनि उस स्थानमें उत्पन्न होके दोनों ही धीरे धीरे वर्द्धित होकर विद्याविषयमें दक्ष होगये। ऋषि अथर्ववेद तथा ऋक्, यजु और साम, इन तीनों वेदोंमें सुशिक्षित हुए, तथा सूत्रोक्त यज्ञ प्रयोग और ज्योतिषशास्त्रके भी पारदर्शी हुए, सांख्य शास्त्रमें भी उनकी परम प्रीति विशेषरूपसे वृद्धिको प्राप्त हुई। इधर पिताके परलोकमें गमन करनेपर राजपुत्र भी पवित्र चरित्रवाली प्रजासमूहसे अभिषिक्त होकर पृथ्वीपति हुआ। उसने अभिषिक्त होकर उस ऋषिको अपना पुरोहित बनाया। (३४-३९)

हे भरतश्रेष्ठ ! राजा उसे पुरोहित बनाके परम सुखसे वास करने लगा, वह धर्मपूर्वक प्रजापालन करते हुए राज्य शासन करता था, वह राजा सदा धर्मकर्ममें पुण्याहवाचनके समय पुरोहितको देखकर उपहास करके हंसता था। पुरोहित बार बार उस राजाको उपहास करते हुए देखकर क्रुद्ध हुआ। अनन्तर पुरोहितने एक

ततोऽब्रवीन्नरेन्द्रं स पुरोधा भरतर्षभ　॥ ४४ ॥
वरमिच्छाम्यहं त्वेकं त्वया दत्तं महाद्युते　॥ ४५ ॥
राजोवाच— वराणां ते शतं दद्यां किं बतैकं द्विजोत्तम ।
स्नेहाच्च बहुमानाच्च नास्त्यदेयं हि मे तव　॥ ४६ ॥
पुरोहित उवाच- एकं वै वरमिच्छामि यदि तुष्टोऽसि पार्थिव ।
प्रतिजानीहि तावत्त्वं सत्यं यद्वद नानृतम्　॥ ४७ ॥
भीष्म उवाच- बाढमित्येव तं राजा प्रत्युवाच युधिष्ठिर ।
यदि ज्ञास्यामि वक्ष्यामि अजानन्न तु संवदे ॥ ४८ ॥
पुरोहित उवाच- पुण्याहवाचने नित्यं धर्मकृत्येषु चासकृत् ।
शान्तिहोमेषु च सदा किं त्वं हससि वीक्ष्य माम् ॥४९॥
सव्रीडं वै भवति हि मनो मे हसता त्वया ।
कामया शापितो राजन्नान्यथा वक्तुमर्हसि　॥ ५० ॥
सुव्यक्तं कारणं ह्यत्र न ते हास्यमकारणम् ।
कौतूहलं मे सुभृशं तत्त्वेन कथयस्व मे　॥ ५१ ॥

समय एकान्त स्थानमें राजाके सङ्ग मिलके अनुकूल वचनसे उसे प्रसन्न किया। हे भरतर्षभ! फिर उस पुरोहितने राजासे कहा, हे महातेजस्वी! मेरी यह इच्छा है, कि आप मुझे एक वरदान करिये। राजा बोला, हे द्विजश्रेष्ठ! मैं आपको एक सौ वर प्रदान करूं, अथवा एक ही वर क्यों? प्रीति और बहुमान इनसे आपको देनेके लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है। (४०-४६)

पुरोहित बोला, हे महाराज! यदि आप प्रसन्न हुए हों, तो मैं एक वर मांगता हूं, आप प्रतिज्ञा करके सत्य वचन कहना, मिथ्या न बोलना। (४७)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! राजाने उससे कहा 'ऐसा ही होगा' परन्तु यदि मुझे मालूम होगा, तो मैं कहूंगा और यदि न मालूम होगा, तो न कह सकूंगा। (४८)

पुरोहित बोला, प्रतिदिन धर्मकार्यके उपलक्षमें पुण्याहवचनके समय और शान्ति तथा होमके समयमें आप मेरी ओर देखके किस निमित्त हंसते हैं। आपके हंसनेसे मेरा मन अत्यन्त लज्जित होता है। हे महाराज! मैं इसका कारण जाननेके लिये अपना अङ्ग स्पर्श कराके आपसे शपथ कराता हूं, कि आप मिथ्या न कहें। आपकी हंसी अकारण न होती होगी, इसमें अवश्य ही कुछ स्पष्ट कारण है; इसलिये इस

राजोवाच— एवमुक्ते त्वया विप्र यद्वाच्यं भवेदपि ।
अवश्यमेव वक्तव्यं शृणुष्वैकमना द्विज ॥ ५२ ॥
पूर्वदेहे यथा वृत्तं तन्निबोध द्विजोत्तम ।
जातिं स्मराम्यहं ब्रह्मन्नवधानेन मे शृणु ॥ ५३ ॥
शूद्रोऽहमभवं पूर्वं तापसो भृशसंयुतः ।
ऋषिरुग्रतपास्त्वं च तदाऽभूर्द्विजसत्तम ॥ ५४ ॥
प्रीयता हि तदा ब्रह्मन्ममानुग्रहबुद्धिना ।
पितृकार्ये त्वया पूर्वमुपदेशः कृतोऽनघ ॥ ५५ ॥
बृस्यां दर्भेषु हव्ये च कव्ये च मुनिसत्तम ।
एतेन कर्मदोषेण पुरोधास्त्वमजायथाः ॥ ५६ ॥
अहं राजा च विप्रेन्द्र पश्य कालस्य पर्ययम् ।
मत्कृतस्योपदेशस्य त्वयाऽवाप्तमिदं फलम् ॥ ५७ ॥
एतस्मात्कारणाद्ब्रह्मन्प्रहसे त्वां द्विजोत्तम ।
न त्वां परिभवन्ब्रह्मन्प्रहसामि गुरुर्भवान् ॥ ५८ ॥

विषयमें मुझे अत्यन्त ही कौतूहल हुआ है; आप यथार्थ रीतिसे इस विषयको मेरे समीप वर्णन करिये। (४९-५१)

राजा बोला, हे विप्र ! आपने जब इस प्रकार कहा है, तब मेरे पक्षमें यह विषय न कहने योग्य होनेपर भी मैं अवश्य कहूंगा, आप चित्त एकाग्र कर के सुनिये। हे द्विजश्रेष्ठ ! पूर्वजन्ममें जो कुछ हुआ था,उसे कहता हूं,सुनो। हे द्विजसत्तम ! पूर्वजन्ममें मैं अत्यन्त तपस्यायुक्त शूद्र था, उस समयमें आप भी उग्र तपस्यावाले ऋषि थे। हे पाप-रहित ब्रह्मन् ! उस समय आपने प्रसन्न होकर पितृकार्यके निमित्त मुझे उपदेश दिया था। (५२-५५)

हे मुनिसत्तम ! पहले मेरे उस पितृ-कार्यके विषयमें व्रतीके आसन, दर्भ और हव्य-कव्य आदि सब वस्तुओंका आपने जिस प्रकार मुझे उपदेश दिया था, मैंने उसहीके अनुसार सब कार्य किया था, इस ही कर्मदोषसे आप मेरे पुरोहित कुलमें उत्पन्न हुए हैं और मैं राजा हुआ हूं। हे विप्रवर ! इससे कालकी उलटी गति देखिये, मैं शूद्र होके भी जातिस्मर हुआ हूं और आप मुनि होनेपर भी पुरोहित हुए हैं; आपने जो मुझे उपदेश दिया था, उसका यही फल प्राप्त हुआ है। (५६-५७)

हे द्विजश्रेष्ठ ! इस ही कारणसे मैं आपको देखकर हंसता हूं, आपकी

विपर्ययेण मे मन्युस्तेन संतप्यते मनः ।
जातिं स्मराम्यहं तुभ्यमतस्त्वां प्रहसामि वै ॥ ५९ ॥
एवं तवोग्रं हि तप उपदेशेन नाशितम् ।
पुरोहितत्वमुत्सृज्य यतस्व त्वं पुनर्भवे ॥ ६० ॥
इतस्त्वमधमामन्यां मा योनिं प्राप्स्यसे द्विज ।
गृह्यतां द्रविणं विप्र पूतात्मा भव सत्तम ॥ ६१ ॥
भीष्म उवाच— ततो विसृष्टो राज्ञा तु विप्रो दानान्यनेकशः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं भूमिं ग्रामांश्च सर्वशः ॥ ६२ ॥
कृच्छ्राणि चीर्त्वा च ततो यथोक्तानि द्विजोत्तमैः ।
तीर्थानि चापि गत्वा वै दानानि विविधानि च ॥ ६३ ॥
दत्त्वा गाश्चैव विप्रेभ्यः पूतात्माभवदात्मवान् ।
तमेव चाश्रमं गत्वा चचार विपुलं तपः ॥ ६४ ॥
ततः सिद्धिं परां प्राप्तो ब्राह्मणो राजसत्तम ।
संमतश्चाभवत्तेषामाश्रमे तन्निवासिनाम् ॥ ६५ ॥
एवं प्राप्तो महत्कृच्छ्रमृषिः सन्नृपसत्तम ।

उपहास करनेके लिये मैं नहीं हंसता; क्यों कि आप मेरे गुरु हैं। इस उलटी गतिको देखकर मुझे जो दीनता हुई है, उसहीसे मेरा अन्तःकरण दुःखित होता है, मैं जातिको स्मरण करता हूं, इस ही लिये आपको देखकर हंसता हूं। इस ही प्रकार उपदेश करनेसे आपकी दारुण तपस्या नष्ट हुई है, इसलिये आप पुरोहितका कार्य परित्याग करके अगाडीके वास्ते प्रयत्न करिये। हे द्विज ! जिससे कि आप इससे भी बढके दूसरी कोई अधम योनि न पावें। हे सत्तम ! आप इस विपुल वित्तको ग्रहण करके पुण्यात्मा होइये। (५८–६१)

भीष्म बोले, अनन्तर वह विप्र राजाके समीपसे विदा मांगके ब्राह्मणोंको बहुतसा धन, भूमि और ग्राम दान किया। ब्राह्मणोंके कहे हुए कृच्छ्र व्रतका अनुष्ठान करके तीर्थोंमें गमन करके ब्राह्मणोंको गोदान तथा अनेक भांतिकी वस्तु दान देकर पवित्र चित्त होकर आत्मवान हुआ और उस ही आश्रममें जाकर, वृहत् तपस्याचरण करने लगा। हे राजसत्तम ! अनन्तर उस ब्राह्मणने उन आश्रमवासी ऋषियोंमें सम्मत होकर परम सिद्धि पाई। हे नृपसत्तम ! इस ही प्रकार वह ऋषि

ब्राह्मणेन न वक्तव्यं तस्माद्वर्णावरे जने ॥ ६६ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
एतेषु कथयन्राजन्ब्राह्मणो न प्रदुष्यति ॥ ६७ ॥
तस्मात्सद्भिर्न वक्तव्यं कस्यचित्किंचिदग्रतः ।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य दुर्ज्ञेया ह्यकृतात्मभिः ॥ ६८ ॥
तस्मान्मौनेन मुनयो दीक्षां कुर्वन्ति चादृताः ।
दुरुक्तस्य भयाद्राजन्नाभाषन्ते च किंचन ॥ ६९ ॥
धार्मिका गुणसंपन्नाः सत्यार्जवसमन्विताः ।
दुरुक्तवाचाभिहितैः प्राप्नुवन्तीह दुष्कृतम् ॥ ७० ॥
उपदेशो न कर्तव्यः कदाचिदपि कस्यचित् ।
उपदेशाद्धि तत्पापं ब्राह्मणः समवाप्नुयात् ॥ ७१ ॥
विमृश्य तस्मात्प्राज्ञेन वक्तव्यं धर्ममिच्छता ।
सत्यानृतेन हि कृत उपदेशो हिनस्ति हि ॥ ७२ ॥
वक्तव्यमिह पृष्टेन विनिश्चित्य विनिश्चयम् ।
स चोपदेशः कर्तव्यो येन धर्ममवाप्नुयात् ॥ ७३ ॥

परम कृच्छ्रको प्राप्त हुआ था, इसलिये ब्राह्मणोंको उचित है, कि किसी नीच वर्णके पुरुषको उपदेश न दें। (६२-६६)

हे महाराज ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये तीनों वर्ण द्विजाति हैं, इन्हें उपदेश करनेसे ब्राह्मण कदापि दूषित नहीं होता है; परन्तु किसीके निकट कुछ भी न कहना साधुओंका मुख्य कर्त्तव्य कार्य है, क्यों कि धर्मकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है; इसहीसे वह अकृतात्म पुरुषोंको नहीं मालूम होती, इसही कारणसे मुनि लोग आदरयुक्त होके भी मौनव्रत अवलम्बन करते हैं; यदि कुछ वचन कहनेसे दोषी होना पडे, इस ही भयसे वे लोग कुछ भी नहीं कहते। धार्मिक, गुण तथा सत्य और सरलता-युक्त मनुष्य भी न कहने योग्य वचन कहनेसे पापभागी होते हैं। (६७-७०)

इसलिये कदापि किसीके विषयमें उपदेश करना उचित नहीं है, ब्राह्मण लोग जिसे उपदेश करते हैं, उसके पापके फलभागी होते हैं, इसलिये धर्मकी इच्छा करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको उचित है, कि विचारके वचन कहे। वाणिज्य और धनके लाभसे जो उपदेश किया जाता है, वह उपदेश करनेवालेको अवश्य ही नष्ट करता है। पूछने पर विशेष निश्चय करके बोलना

एतत्ते सर्वमाख्यातमुपदेशकृते मया।
महान् क्लेशो हि भवति तस्मान्नोपदिशेदिह ॥ ७४ ॥ [५०१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे शूद्रमुनिसंवादे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच– कीदृशे पुरुषे तात स्त्रीषु वा भरतर्षभ।
श्रीः पद्मा वसते नित्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं यथाश्रुतम्।
रुक्मिणी देवकीपुत्रसन्निधौ पर्यपृच्छत ॥ २ ॥

नारायणस्याङ्कगतां ज्वलन्तीं दृष्ट्वा श्रियं पद्मसमानवर्णाम्।
कौतूहलाद्विस्मितचारुनेत्रा पप्रच्छ माता मकरध्वजस्य ॥ ३ ॥
कानीह भूतान्युपसेवसे त्वं संतिष्ठसे कानि च सेवसे त्वम्।
तानि त्रिलोकेश्वरभूतकान्ते तत्त्वेन मे ब्रूहि महर्षिकल्पे ॥ ४ ॥
एवं तदा श्रीरभिभाष्यमाणा देव्या समक्षं गरुडध्वजस्य।
उवाच वाक्यं मधुराभिधानं मनोहरं चन्द्रमुखी प्रसन्ना ॥ ५ ॥

उचित है। जिससे धर्म प्राप्त हो, वैसा ही उपदेश करना चाहिये। यह मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार सब वृत्तान्त कहा और उपदेश भी किया, अधम पुरुषको उपदेश देनेसे अत्यन्त क्लेश प्राप्त होता है, इसलिये इस लोकमें वैसे पुरुषोंको उपदेश करना उचित नहीं है। (७१-७४)

अनुशासनपर्वमें १० अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ११ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! कैसे पुरुष अथवा कैसी स्त्रीमें कमला लक्ष्मी सदा निवास करती है? आप मुझसे यही कहिये। (१)

भीष्म बोले, इस विषयमें जैसी घटना हुई थी और मैंने जिस प्रकार सुना है, तथा श्रीकृष्णके निकट रुक्मिणीने लक्ष्मीसे जो प्रश्न किया था, उसे तुम्हारे समीप कहता हूं, सुनो। प्रद्युम्न की माता रुक्मिणी नारायणके अङ्कवासिनी कमलवर्ण, प्रकाशमान लक्ष्मी को उत्तम प्रकार नेत्रसे देखकर कौतूहलवशसे प्रश्न किया। हे महर्षिकल्पे! त्रिलोकेश्वर भूत कान्ते! इस लोकमें तुम कैसे मनुष्यके निकट हाथी घोडेके रूप से तथा धीरज, सुन्दरताई वा पराक्रम आदि रूपसे निवास करती हो और कैसे लोगोंके समीप नहीं जाती? इस विषयको मेरे समीप यथार्थ रीतिसे वर्णन करो। जब गरुडध्वजके सम्मुखमें

श्रीरुवाच- वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने ।
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे ॥ ६ ॥
नाकर्मशीले पुरुषे वसामि न नास्तिके सांकरिके कृतघ्ने ।
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे न चापि चौरे न गुरुष्वसूये ॥ ७ ॥
ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र ।
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु नरेषु संगुप्तमनोरथेषु ॥ ८ ॥
यश्चात्मनि प्रार्थयते न किंचिद्यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा ।
तेष्वल्पसंतोषपरेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि सम्यक् ॥ ९ ॥
स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते ।
कृतात्मनि क्षान्तिपरे समर्थे क्षान्तासु दान्तासु यथाऽबलासु ॥ १० ॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु वसामि देवद्विजपूजिकासु ।
प्रकीर्णभाण्डामनपेक्ष्य कारिणीं सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम् ॥ ११ ॥

रुक्मिणी देवीने लक्ष्मीसे ऐसा प्रश्न किया, तब वह चन्द्रमुखी प्रसन्न होकर उत्तम और मधुरवचन कहने लगी । (२—५)

लक्ष्मी बोली, हे सुभगे ! मैं प्रतिभावान, निरालसी, कार्यदक्ष, क्रोधरहित, देवताओंकी आराधनामें निष्ठावान, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय और उद्योगी, पराक्रमी पुरुषके निकट सदा निवास किया करती हूं, और जो पुरुष कार्य करनेमें समर्थ नहीं है, जो नास्तिक, वर्णसङ्कर करनेवाले, कृतघ्न, भिन्न चरित्री निष्ठुर वचन बोलनेवाले, चोर और गुरुजनोंकी असूया करनेवाले हैं; उनके निकट कदापि निवास नहीं करती । (६-७)

और जो लोग अल्पपराक्रमी, अल्प बलवाले, अल्प बुद्धि तथा अल्प मानयुक्त हैं, जो किसी विशिष्ट पुरुषके निकट क्लेश पाते और क्रोध करते हैं, वैसे गुप्त मनोरथी अर्थात् जो एक विषयकी चिन्ता करते हुए दूसरे विषय में जा पडते हैं, वैसे मनुष्योंके समीप मैं कभी स्थित नहीं होती । इसके अतिरिक्त जो पुरुष अपनी किसी प्रकार की उन्नतिकी इच्छा नहीं करते, जिनकी अन्तरात्मा स्वभावहीसे उपहत हुई है, उन अल्प सन्तोषवाले मनुष्योंके निकट मैं पूरीरीतिसे निवास नहीं करती । स्वधर्ममें निष्ठावान्, धर्मज्ञ, वृद्धोंकी सेवामें रत रहनेवाली, दान्त, कृतात्मा, क्षमाशील, सत्यस्वभाव, सरल, देवता ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाली स्त्रियोंमें मैं निवास करती हूं । (८-१०)

जिसके गृहकी सामग्रियें इधर उधर

परस्य वेश्माभिरतामलज्जामेवंविधां तां परिवर्जयामि ।
पापामचोक्षामवलेहिनीं च व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च ॥ १२ ॥
निद्राभिभूतां सततं शयानामेवंविधां तां परिवर्जयामि ।
सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु ॥१३॥
वसामि नारीषु पतिव्रतासु कल्याणशीलासु विभूषितासु ।
यानेषु कन्यासु विभूषणेषु यज्ञेषु मेघेषु च वृष्टिमत्सु ॥ १४ ॥
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु नक्षत्रवीथीषु च शारदीषु ।
गजेषु गोष्ठेषु तथाऽऽसनेषु सरःसु फुल्लोत्पलपङ्कजेषु ॥ १५ ॥
नदीषु हंसस्वननादितासु क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु ।
विकीर्णकूलद्रुमराजितासु तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु ॥ १६ ॥
वसामि नित्यं सुबहूदकासु सिंहैर्गजैश्चाकुलितोदकासु ।
मत्ते गजे गोवृषभे नरेन्द्रे सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यम् ॥ १७ ॥
यस्मिन् जनो हव्यभुजं जुहोति गोब्राह्मणं चार्चति देवताश्च ।
काले च पुष्पैर्बलयः क्रियन्ते तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम् ॥१८॥

बिखरी रहती हैं जो स्त्री विना विचारे कार्य करती है, सदा पतिके विषयमें प्रतिकूलवादिनी हुआ करती है, जो पराये गृहमें वास करनेमें अनुरक्त और दयारहित, अपवित्र, अवलेहिनी अर्थात् सदा क्रुद्ध, भीरु और कलहप्रिय तथा लज्जाहीन होती है, मैं वैसी स्त्रीको परित्याग किया करती हूं। और पतिव्रता, कल्याणशीला, विभूषित, सत्यवादिनी, प्रियदर्शना, सौभाग्ययुक्त और गुणमयी स्त्रीके निकट मैं सदा निवास करती हूं। निद्राभिभूत, सदा शयन करनेवाली स्त्रीको मैं परित्याग किया करती हूं। सब प्रकारकी सवारियें, कन्यासमूह, विभूषण, यज्ञस्थान, वृष्टियुक्त मेघमण्डल, फूले हुए कमलदलों, शरत्कालके नक्षत्रों, गजयूथ, गोसमूह, आसन और प्रकाशमान उत्पल और कमलयुक्त तालावों, अधिक कहांतक कहूं, समस्त रमणीय वस्तुओंमें ही मैं निवास किया करती हूं। (११—१५)

हंस और सारस आदिके शब्दसे निनादित, वृक्षोंसे शोभित, तपस्वी, सिद्ध और ब्राह्मणोंसे निषेवित, अधिक जलयुक्त सिंह तथा हाथियोंसे परिपूरित नादियोंमें मैं सदा निवास करती हूं। मतवाले हाथियों, गऊ, वृषभ, राजसिंहासन, सत्पुरुषों और जिस स्थानमें मनुष्य अग्निमें होम करते हैं; अथवा गऊ ब्राह्मण वा देवताओंकी पुष्पोंसे पूजा

स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ॥ १९ ॥
नारायणे त्वेकमना वसामि सर्वेण भावेन शरीरभूता।
तस्मिन् हि धर्मः सुमहान्निविष्टो ब्रह्मण्यता चात्र तथा प्रियत्वम् ॥२०॥
नाहं शरीरेण वसामि देवि नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम्।
भावेन यस्मिन्निवसामि पुंसि स वर्धते धर्मयशोऽर्थकामैः ॥२१॥ [५२२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे श्रीरुक्मिणीसंवादे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच— स्त्रीपुंसयोः संप्रयोगे स्पर्शः कस्याधिको भवेत्।
एतस्मिन् संशये राजन् यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भङ्गास्वनेन शक्रस्य यथा वैरमभूत्पुरा ॥ २ ॥
पुरा भङ्गास्वनो नाम राजर्षिरतिधार्मिकः।
अपुत्रः पुरुषव्याघ्र पुत्रार्थं यज्ञमाहरत् ॥ ३ ॥

करते हैं, उस स्थानमें मैं सदा निवास करती हूं। (१६—१८)

सदा स्वाध्यायमें रत रहनेवाले ब्राह्मणों, सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले क्षत्रिय, कृषिकार्यमें अनुरक्त वैश्यों और प्रतिदिन सेवाकार्यमें रत शूद्रोंके निकट मैं निवास किया करती हूं। मैं नारायणके निकट एकाग्रचित्त और मूर्त्तिमती होकर आदरके सहित सदा निवास किया करती हूं, उन्हींमें उत्तम महान् धर्म, ब्रह्मण्यता और प्रियत्व सदा प्रतिष्ठित है। हे देवि! मैं नारायणके अतिरिक्त दूसरे स्थानमें मूर्त्तिमयी होकर निवास नहीं करती, इस समय यह नहीं कह सकती, कि मैं जिस पुरुषके निकट आदरके सहित निवास करती हूं वह धर्म, अर्थ और कामसे वर्धित होता है। (१९-२१)

अनुशासनपर्वमें ११ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें १२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे राजन्! स्त्रीपुरुषोंके परस्पर संयोगमें वैषयिक सुख किसे अधिक होता है, इस संशयके विषयको आप यथावत् कहनेमें समर्थ हैं। (१)

भीष्म बोले, पहले समयमें भङ्गास्वन राजाके सहित इन्द्रकी जो शत्रुता हुई थी, प्राचीन लोग इस विषयमें उस ही पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। हे पुरुषप्रवर! पहले समयमें भङ्गा-

अग्निष्टुतं स राजर्षिरिन्द्राद्विष्टं महाबलः।
प्रायश्चित्तेषु मर्त्यानां पुत्रकामेषु चेष्यते ॥ ४ ॥
इन्द्रो ज्ञात्वा तु तं यज्ञं महाभागः सुरेश्वरः।
अन्तरं तस्य राजर्षेरन्विच्छन्नियतात्मनः ॥ ५ ॥
न चैवास्यान्तरं राजन् स ददर्श महात्मनः।
कस्यचित्त्वथ कालस्य मृगयां गतवान्नृपः ॥ ६ ॥
इदमन्तरमित्येव शक्रो नृपममोहयत्।
एकाश्वेन च राजर्षिर्भ्रान्त इन्द्रेण मोहितः ॥ ७ ॥
न दिशोऽविन्दत नृपः क्षुत्पिपासार्दितस्तदा।
इतश्चेतश्च वै राजन् श्रमतृष्णान्वितो नृपः ॥ ८ ॥
सरोऽपश्यत्सुरुचिरं पूर्णं परमवारिणा।
सोऽवगाह्य सरस्तात पाययामास वाजिनम् ॥ ९ ॥
अथ पीतोदकं सोऽश्वं वृक्षे बद्ध्वा नृपोत्तमः।
अवगाह्य ततः स्नातस्तत्र स्त्रीत्वमवाप्तवान् ॥ १० ॥

स्वन नामक अत्यन्त धार्मिक एक राजर्षि था वह पुत्ररहित था, इसलिये पुत्रके निमित्त यज्ञ किया था। उस महाबलवान् राजऋषिने इन्द्रके द्वेषी अग्निष्टुत यज्ञ करना आरम्भ किया अर्थात् इस यज्ञमें इन्द्रकी प्रधानता न रहनेसे उनका इस यज्ञमें द्वेष था। त्रिगुणित अग्निष्टोम यज्ञमें अग्निदेव ही केवल स्तुत होकर पुत्र प्रदान करते हैं, इस ही निमित्त इसका नाम वेदमें अग्निष्टुत कहके प्रसिद्ध है। मनुष्योंको पुत्रकी कामनासे प्रायश्चित करनेके समय अग्निष्टुत ही इष्ट हुआ करता है। (२-४)

हे राजन्! महाभाग सुरेश्वर इन्द्र उस यज्ञको होता हुआ जानके सावधान चित्तसे उस राजर्षिका छिद्र अन्वेषण करनेमें प्रवृत्त हुए; परन्तु किसी प्रकार भी उस महात्माका कोई छिद्र न देख सके। कुछ समयके अनन्तर राजा मृगया खेलने गया, तब इन्द्रने वही उत्तम समय समझके उसे मोहित करना आरम्भ किया। राजा इन्द्रके द्वारा मोहित होकर अकेले ही घोडेके सहारे भ्रमण करते हुए भूख प्याससे पीडित होकर दिशाको न जान सका। महाराजने परिश्रमसे प्यासा होकर इधर उधर भ्रमण करके निर्मल जलसे पूरित एक मनोहर तालाव देखा। उसने उस ही तालावपर जाके पहले घोडेको जल

आत्मानं स्त्रीकृतं दृष्ट्वा व्रीडितो नृपसत्तमः।
चिन्तानुगतसर्वात्मा व्याकुलेन्द्रियचेतनः ॥ ११ ॥
आरोहिष्ये कथं त्वश्वं कथं यास्यामि वै पुरम्।
इष्टेनाग्निष्टुता चापि पुत्राणां शतमौरसम् ॥ १२ ॥
जातं महाबलानां मे तान्प्रवक्ष्यामि किं त्वहम्।
दारेषु चात्मकीयेषु पौरजानपदेषु च ॥ १३ ॥
मृदुत्वं च तनुत्वं च विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्मतत्त्वार्थदर्शिभिः ॥१४॥
व्यायामे कर्कशत्वं च वीर्यं च पुरुषे गुणाः।
पौरुषं विप्रनष्टं वै स्त्रीत्वं केनापि मेऽभवत् ॥ १५ ॥
स्त्रीभावात्पुनरश्वं तं कथमारोढुमुत्सहे।
महता त्वथ यत्नेन आरुह्याश्वं नराधिपः ॥ १६ ॥
पुनरायात्पुरं तात स्त्रीकृतो नृपसत्तमः।
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च पौरजानपदाश्च ते ॥ १७ ॥
किं त्विदं त्विति विज्ञाय विस्मयं परमं गताः।

पिलाया और पानी पिलाके घोडेको एक वृक्षमें बांधकर जलमें स्वयं स्नान किया, स्नान करते ही स्त्री होगया। (५–१०)

राजा अपनेको स्त्रीरूपधारी देखके राजाकी इन्द्रियें और मन उस समय अत्यन्त व्याकुल हुआ। चिन्ता करने लगा, "मैं किस प्रकार घोडेपर चढूं, कैसे नगरमें जाऊं, अग्निष्टुत यज्ञके सहारे मेरे महाबलवान एक सौ औरस पुत्र उत्पन्न हुए हैं, मैं उनसे क्या कहूंगा और स्त्रियां, पुरवासी तथा जनपदवासियोंसे ही क्या कहूंगा?" उस समय वह इन्हीं सब विषयोंको विचारने लगा। "धर्मतत्वार्थदर्शी ऋषि लोग कहते हैं, कि मृदुत्व, तनुत्व तथा विक्लवत्व, ये तीन स्त्रियोंके गुण हैं और व्यायाम, कठोरताई और वीर्य ये तीन पुरुषोंके गुण हैं; इस समय मेरा सब पौरुष विनष्ट हुआ, न जाने किस कारणसे स्त्रीत्व उत्पन्न हुआ? स्त्रीत्वके कारण अब फिर घोडेपर चढनेका मैं किस प्रकार उत्साह करूं।" यह सब विचारके राजा अत्यन्त यत्नपूर्वक घोडेपर चढके फिर स्त्रीरूपसे नगरमें आया। उसके पुत्र, स्त्रियें, पुरवासी तथा जनपद वासियोंने यह क्या हुआ? ऐसा ही सोचकर विस्मययुक्त हुए। (११-१८)

अथोवाच स राजर्षिः स्त्रीभूतो वदतां वरः ॥ १८ ॥
मृगयामस्मि निर्यातो बलैः परिवृतो दृढम् ।
उद्भ्रान्तः प्राविशं घोरामटवीं दैवचोदितः ॥ १९ ॥
अटव्यां च सुघोरायां तृष्णार्तो नष्टचेतनः ।
सरः सुरुचिरप्रख्यमपश्यं पक्षिभिर्वृतम् ॥ २० ॥
तत्रावगाढः स्त्रीभूतो दैवेनाहं कृतः पुरा ।
नामगोत्राणि चाभाष्य दाराणां मन्त्रिणां तथा ॥२१॥
आह पुत्रांस्ततः सोऽथ स्त्रीभूतः पार्थिवोत्तमः ।
संप्रीत्या भुज्यतां राज्यं वनं यास्यामि पुत्रकाः ॥२२॥
एवमुक्त्वा पुत्रशतं वनमेव जगाम ह ।
गत्वा चैवाश्रमं सा तु तापसं प्रत्यपद्यत ॥ २३ ॥
तापसेनास्य पुत्राणामाश्रमेष्वभवच्छतम् ।
अथ साऽऽदाय तान्सर्वान् पूर्वपुत्रानभाषत ॥ २४ ॥
पुरुषत्वे सुता यूयं स्त्रीत्वे चेमे शतं सुताः ।
एकत्र भुज्यतां राज्यं भ्रातृभावेन पुत्रकाः ॥ २५ ॥

अनन्तर उस स्त्रीरूपी वक्तृप्रवर राजर्षि ने कहा, मैं सेनाके सहित मृगयाके लिये गया था, दैववशसे मार्ग भूलकर एक घोर वनमें प्रविष्ट हुआ, उस भयङ्कर वनके बीच मैं प्याससे आर्त्त हुआ था, अनन्तर वहांपर पक्षियोंसे परिपूरित एक मनोहर तालाव दीख पडा; उसमें स्नान करते ही दैववशसे मेरा ऐसा रूप होगया है। वह राजा पत्नी और मन्त्रियोंको अपना नाम गोत्र सुनाकर अन्तमें कुमार बालकोंसे बोला हे पुत्र-गण! मैंने राजा होके स्त्रीत्व लाभ किया है, इसलिये वनमें गमन करता हूं, अब तुम लोग परस्पर प्रीतिपूर्वक राज्यभोग करो। (१८—२२)

उसने अपने एक सौ पुत्रोंसे ऐसा कहके वनमें गमन किया; वनमें जाके वह एक तपस्वीके आश्रममें पहुंचके उसके समीप निवास करने लगा। उस आश्रममें तपस्वीके द्वारा उसके गर्भसे एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए। अनन्तर उसने उन पुत्रोंको सङ्ग लेके पहलेके पुत्रोंके निकट आके कहा। तुम लोग मेरी पुरुष अवस्थाके पुत्र हो और मेरे स्त्रीत्व प्राप्त होनेपर ये सौ पुत्र उत्पन्न हुए हैं। हे पुत्रगण! इसलिये तुम लोग इनके सङ्ग मिलके राज्य भोग करो। (२३-२५)

सहिता भ्रातरस्तेऽथ राज्यं बुभुजिरे तदा।
तान् दृष्ट्वा भ्रातृभावेन भुञ्जानान् राज्यमुत्तमम् ॥ २६ ॥
चिन्तयामास देवेन्द्रो मन्युनाथ परिप्लुतः।
उपकारोऽस्य राजर्षेः कृतो नापकृतं मया ॥ २७ ॥
ततो ब्राह्मणरूपेण देवराजः शतक्रतुः।
भेदयामास तान् गत्वा नगरं वै नृपात्मजान् ॥ २८ ॥
भ्रातॄणां नास्ति सौभ्रात्रं येऽप्येकस्य पितुः सुताः।
राज्यहेतोर्विवदिताः कश्यपस्य सुरासुराः ॥ २९ ॥
यूयं भङ्गास्वनापत्यास्तापसस्येतरे सुताः।
कश्यपस्य सुराश्चैव असुराश्च सुतास्तथा ॥ ३० ॥
युष्माकं पैतृकं राज्यं भुज्यते तापसात्मजैः।
इन्द्रेण भेदितास्ते तु युद्धेऽन्योन्यमपातयन् ॥ ३१ ॥
तच्छ्रुत्वा तापसी चापि संतप्ता प्ररुरोद ह।
ब्राह्मणच्छद्मनाभ्येत्य तामिन्द्रोऽथान्वपृच्छत ॥ ३२ ॥
केन दुःखेन संतप्ता रोदिषि त्वं वरानने।

अनन्तर वे सब भाई मिलके उस समय राज्य भोग करने लगे। देवराजने उन लोगोंको भ्रातृभावसे उत्तम प्रकार राज्यभोग करते हुए देखकर क्रुद्ध होके मनमें सोचा, कि मैंने तो इस राजऋषिका उपकार ही किया है, इसका अपकार तो कुछ भी न हुआ। अनन्तर शतक्रतु इन्द्र ब्राह्मणका रूप धरके उस नगरमें जाकर राजपुत्रोंको भेदित करनेमें प्रवृत्त हुए। उन्होंने कहा, जो लोग एक पिताके पुत्र हैं, वैसे भाइयोंमें भी सौभ्रात्र नहीं रहता, कश्यपके पुत्र देवता और असुर लोग परस्पर विवाद किया करते हैं। (२६-२९)

तुम लोग भङ्गास्वन राजाके पुत्र हो, और ये लोग तपस्वीके पुत्र हैं; जब कि देवता और असुर दोनों कश्यपके पुत्र होनेपर भी राज्यके निमित्त विवाद किया करते हैं, तब तपस्वीके पुत्र जो तुम्हारे पैतृक राज्यको भोग करते हैं, यह अत्यन्त ही आश्चर्य है। राजपुत्र लोग इन्द्रके द्वारा भेदित होनेपर युद्धमें परस्पर एक दूसरेका नाश करते हुए सब नष्ट होगये। तपस्विनी यह वृत्तान्त सुनकर अत्यन्त दुःखित होके रोदन करने लगी। इन्द्र ब्राह्मणवेष धरके उस तापसीके निकट आकर बोले, हे

ब्राह्मणं तं ततो दृष्ट्वा सा स्त्री करुणमब्रवीत् ॥ ३३ ॥
पुत्राणां द्वे शते ब्रह्मन् कालेन विनिपातिते ।
अहं राजाऽभवं विप्र तत्र पूर्वं शतं मम ॥ ३४ ॥
समुत्पन्नं स्वरूपाणां पुत्राणां ब्राह्मणोत्तम ।
कदाचिन्मृगयां यात उद्भ्रान्तो गहने वने ॥ ३५ ॥
अवगाढश्च सरसि स्त्रीभूतो ब्राह्मणोत्तम ।
पुत्रान् राज्ये प्रतिष्ठाप्य वनमस्मि ततो गतः ॥ ३६ ॥
स्त्रियाश्च मे पुत्रशतं तापसेन महात्मना ।
आश्रमे जनितं ब्रह्मन्नीतं तन्नगरं मया ॥ ३७ ॥
तेषां च वैरमुत्पन्नं कालयोगेन वै द्विज ।
एतच्छोचाम्यहं ब्रह्मन् दैवेन समभिप्लुता ॥ ३८ ॥
इन्द्रस्तां दुःखितां दृष्ट्वा अब्रवीत्परुषं वचः ।
पुरा सुदुःसहं भद्रे मम दुःखं त्वया कृतम् ॥ ३९ ॥
इन्द्रद्विष्टेन यजता मामनाहूय धिष्ठितम् ।
इन्द्रोऽहमस्मि दुर्बुद्धे वैरं ते पातितं मया ॥ ४० ॥

वरानने ! तुम किस दुःखसे सन्तापित होकर रोदन कर रही हो ? उस अबलाने उस समय ब्राह्मणको देखकर महाकरुणायुक्त स्वरसे कहा, हे ब्रह्मन् ! मेरे दो सौ पुत्र कालवशसे नष्ट होगये हैं। (३०-३४)

हे विप्रवर ! पहले मैं राजा था, उस समय मेरे समान रूपवान एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे, अनन्तर किसी समय मैं मृगयाके निमित्त गृहसे निकलके घने वनमें मार्ग भूल गया, हे द्विजोत्तम ! उस वनके बीच एक तालावमें स्नान करनेसे मैं स्त्री होगया। अनन्तर पुत्रोंको राज्य देकर जब मैं स्त्री होकर वनके बीच इस आश्रममें आई, तब महानुभाव तपस्वीके द्वारा मेरे एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए, मैं उन्हें नगरमें लेगई थी। हे द्विजवर ! कालक्रमसे मेरे उन सब पुत्रोंमें वैर उत्पन्न हुआ; मैं दैवके द्वारा पुत्ररहित होकर इस समय शोक कर रही हूं। (३४-३८)

इन्द्रने उसे दुःखित देखकर कठोर वचन कहा, हे भद्रे ! पहले मेरे अधिष्ठित रहनेपर भी मुझे आह्वान न करके इन्द्रद्विष्ट अग्निष्टोम यज्ञ करके तुमने मेरे चित्तमें अत्यन्त दुःख उत्पन्न किया था। हे दुर्बुद्धे ! मैं वही इन्द्र हूं; मैंही तुम्हारे विषयमें वैरका पलटा ले रहा

इन्द्रं दृष्ट्वा तु राजर्षिः पादयोः शिरसा गतः ।
प्रसीद त्रिदशश्रेष्ठ पुत्रकामेन स क्रतुः ॥ ४१ ॥
इष्टस्त्रिदशशार्दूल तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ।
प्रणिपातेन तस्येन्द्रः परितुष्टो वरं ददौ ॥ ४२ ॥
पुत्रास्ते कतमे राजन् जीवन्त्वेतत्प्रचक्ष्व मे ।
स्त्रीभूतस्य हि ये जाताः पुरुषस्याथ येऽभवन् ॥ ४३ ॥
तापसी तु ततः शक्रमुवाच प्रयताञ्जलिः ।
स्त्रीभूतस्य हि ये पुत्रास्ते मे जीवन्तु वासव ॥ ४४ ॥
इन्द्रस्तु विस्मितो दृष्ट्वा स्त्रियं पप्रच्छ तां पुनः ।
पुरुषोत्पादिता ये ते कथं द्वेष्याः सुतास्तव ॥ ४५ ॥
स्त्रीभूतस्य हि ये जाताः स्नेहस्तेभ्योऽधिकः कथम् ।
कारणं श्रोतुमिच्छामि तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ ४६ ॥
स्त्र्युवाच — स्त्रियास्त्वभ्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै ।
तस्मात्ते शक्र जीवन्तु ये जाताः स्त्रीकृतस्य वै ॥ ४७ ॥
भीष्म उवाच — एवमुक्तस्ततस्त्विन्द्रः प्रीतो वाक्यमुवाच ह ।

हूं । उस समय राजऋषि इन्द्रको देख उनके दोनों चरणोंपर अपना सिर रखके बोले, हे देवश्रेष्ठ ! आप प्रसन्न होइये, मैंने पुत्रकी इच्छासे यज्ञ किया था, उस विषयमें मुझपर क्षमा करनी उचित है। इन्द्र उसकी विनतीसे सन्तुष्ट होके वरदान करनेके लिये उद्यत होके बोले, हे राजन् ! तुम्हारे स्त्रीशरीरसे जो सब पुत्र उत्पन्न हुए थे, अथवा पुरुषदेहसे जिन पुत्रोंने जन्म ग्रहण किया था उनके बीच कौनसे पुत्र जीवित होवें वह तुम मुझसे कहो। (४१-४३)

अनन्तर तापसी सावधान होकर हाथ जोडके इन्द्रसे बोली, हे इन्द्र ! मेरे स्त्री होनेपर जो एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए हैं, वेही जीवित होवें । तब इन्द्रने विस्मित होके उस स्त्रीसे पूछा, कि पुरुष शरीरके उत्पन्न हुए पुत्र तुम्हें अप्रिय क्यों हुए ? और स्त्री होनेपर जो सब पुत्र जन्मे हैं, उनके ऊपर तुम्हारा अधिक स्नेह क्यों है ? मैं उसका कारण सुननेकी इच्छा करता हूं, इसलिये इस विषयको तुम्हें मेरे समीप वर्णन करना उचित है । (४४-४६)

स्त्री बोली, हे देवराज ! स्त्रीका स्नेह अधिक होता है, पुरुषका वैसा नहीं होता, इसही लिये मेरी स्त्री अवस्थामें जो सब पुत्र उत्पन्न हुए हैं वेही

सर्वे एवेह जीवन्तु पुत्रास्ते सत्यवादिनि ॥ ४८ ॥
वरं च वृणु राजेन्द्र यं त्वमिच्छसि सुव्रत ।
पुरुषत्वमथ स्त्रीत्वं मत्तो यदभिकाङ्क्षसे ॥ ४९ ॥
स्त्र्युवाच— स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र पुंस्त्वं नेच्छामि वासव ।
एवमुक्तस्तु देवेन्द्रस्तां स्त्रियं प्रत्युवाच ह ॥ ५० ॥
पुरुषत्वं कथं त्यक्त्वा स्त्रीत्वं चोदयसे विभो ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच स्त्रीभूतो राजसत्तमः ॥ ५१ ॥
स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा ।
एतस्मात्कारणाच्छक्र स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम् ॥ ५२ ॥
रमिताभ्यधिकं स्त्रीत्वे सत्यं वै देवसत्तम ।
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप ॥ ५३ ॥
एवमस्त्विति चोक्त्वा तामापृच्छ्य त्रिदिवं गतः ।
एवं स्त्रिया महाराज अधिका प्रीतिरुच्यते ॥ ५४ ॥ [५७६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे भंगास्वनोपाख्याने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

जीवित होवें । (४७)

भीष्म बोले, इन्द्र उस तापसीका वचन सुनके प्रीतिपूर्वक बोले, हे सत्यवादिनी ! तुम्हारे सब पुत्र ही जीवित होवें । हे उत्तम व्रत करनेवाले राजेन्द्र ! पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व इन दोनोंमेंसे जो इच्छा हो, वह वर मांग लो । (४८—४९)

स्त्री बोली, हे इन्द्र ! मैं स्त्रीत्वको ही अभिलाष करती हूं, पुरुषत्वकी इच्छा नहीं करती । देवराजने ऐसा वचन सुनके फिर उससे कहा, हे महाराज! तुमने पुरुषत्वको परित्याग करके किस लिये स्त्रीत्वकी इच्छा की ? स्त्रीरूपधारी राजाने देवराजका ऐसा वचन सुनके उत्तर दिया, हे देवेन्द्र ! पुरुषके संयोगसे स्त्रीको ही अधिक प्रसन्नता हुआ करती है, यह सत्य है, कि स्त्रीशरीरमें ही रतिका अधिक सुख मिलता है, मैं स्त्रीभावमें ही सन्तुष्ट हूं । हे देवराज ! आपकी जहां इच्छा हो, वहां जाइये इन्द्र बोले, 'ऐसा ही हो' यह वचन कहके उस तापसीको आमन्त्रण करके देवलोकमें चले गये । हे महाराज ! इसी प्रकार स्त्रीका पुरुषमें अधिक वैषयिक सुख वर्णित हुआ है । (५०—५४)

अनुशासनपर्वमें १२ अध्याय समाप्त ।

युधिष्ठिर उवाच- किं कर्तव्यं मनुष्येण लोकयात्राहितार्थिना ।
कथं वै लोकयात्रां तु किंशीलश्च समाचरेत् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम् ।
मनसा त्रिविधं चैव दश कर्मपथांस्त्यजेत् ॥ २ ॥
प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च ।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥
असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥ ४ ॥
अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत् ॥ ५ ॥
तस्माद्वाक्कायमनसा नाचरेदशुभं नरः ।
शुभाशुभान्याचरन् हि तस्य तस्याश्नुते फलम् ॥ ६ ॥ [५८२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे लोकयात्राकथने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच- त्वयाऽऽपगेय नामानि श्रुतानीह जगत्पतेः ।

अनुशासनपर्वमें १३ अध्याय ।

महाराज युधिष्ठिर बोले, लोकयात्राके हितार्थी अर्थात् ऐहिक शिष्ट व्यवहार और पारलौकिक कल्याणकी इच्छा करनेवाले हितैषी मनुष्यको इस विषयमें क्या करना चाहिये और कैसे स्वभावसे युक्त होके लोकयात्रा निबाहे ? (१)

भीष्म बोले, शरीरसे तीन, वचनसे चार और मानससे तीन इन दश प्रकारके कर्मोंको परित्याग करे । प्राणिहिंसा, चोरी और परस्त्रीहरण ये तीनों शारीरिक पाप परित्यागके योग्य हैं । हे राजेन्द्र ! ग्राम्यवार्तादि, निष्ठुर वचन कहना, राजद्वारमें पराये दोष प्रकट करना, असत्प्रलाप वा मिथ्या अर्थात् दूसरेको पीडित करनेवाला मिथ्या वचन, इन चार प्रकारके पापोंकी जल्पना और चिन्ता न करे अर्थात् 'ऐसा कहूंगा' यह मनमें भी न सोचे । परधनकी चिन्ता, दूसरेकी बुराईकी चिन्ता करना और वाद विषयमें नास्तिकता, ये तीनों पाप कर्मोंको मनसे परित्याग करना चाहिये । परस्व विषयकी चिन्ता न करनी, सब जीवोंमें सुहृद्भाव और कर्मफलका अस्तित्व स्वीकार मन ही मन इन त्रिविध विषयोंका आचरण करे । इसलिये मनुष्य वचन, शरीर और मनके द्वारा अशुभ

पितामहेशाय विभो नामान्याचक्ष्व शंभवे ॥ १ ॥
बभ्रवे विश्वरूपाय महाभाग्यं च तत्त्वतः ।
सुरासुरगुरौ देवे शंकरेऽव्यक्तयोनये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच– अशक्तोऽहं गुणान्वक्तुं महादेवस्य धीमतः ।
यो हि सर्वगतो देवो न च सर्वत्र दृश्यते ॥ ३ ॥
ब्रह्मविष्णुसुरेशानां स्रष्टा च प्रभुरेव च ।
ब्रह्मादयः पिशाचान्ता यं हि देवा उपासते ॥ ४ ॥
प्रकृतीनां परत्वेन पुरुषस्य च यः परः ।
चिन्त्यते यो योगविद्भिर्ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
अक्षरं परमं ब्रह्म असच्च सदसच्च यः ॥ ५ ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षोभयित्वा स्वतेजसा ।
ब्रह्माणमसृजत्तस्माद्देवदेवः प्रजापतिः ॥ ६ ॥
को हि शक्तो गुणान्वक्तुं देवदेवस्य धीमतः ।

आचरण न करे, शुभ वा अशुभ कर्म करनेसे उसका फल भोगना पडता है। (२–६).

अनुशासनपर्वमें १३ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें १४ अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे गङ्गानन्दन पितामह! आपने जगत्पति महेश्वरके नामोंको सुना है, इसलिये इस समय उस ही जगन्नियन्ता अन्तर्यामी विशाल विश्वरूप महाभाग सुरासुरगुरु, जगत्की उत्पत्ति और लयके कारण, स्वयम्भू देवके नामोंको यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये। (१—२)

भीष्म बोले, जो देव सर्व उपादान निबन्धनसे सर्वगत होके भी सर्वत्र नहीं दीख पडता, उस धीमान् महादेवके गुणोंको वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूं। जो विराट सूत्रात्मा वा प्राज्ञका उपादान तथा निमित्त कारण है, ब्रह्मा आदि देवता और पिशाच प्रभृति जिसकी उपासना करते हैं, पञ्चतन्मात्र, अहङ्कार, महत्, अव्यक्त, विश्वकारण प्रकृतिके परम हेतु भोक्ता पुरुषसे भी परतर रूपसे योगवित् तत्वदर्शी ऋषि लोग जिसका ध्यान किया करते हैं। जो अपरिणामी परब्रह्म, अव्याकृत कारण, रज्जुसर्पवत् भासमान होके भी अनिर्वचनीय है, जिसने अपने तेजः-प्रभावसे माया और उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्यको प्राणिकर्मानुरोधसे साम्यावस्थामें स्थापित करते हुए निज सत्तामें स्फूर्ति प्रदान करके ब्रह्माको उत्पन्न

गर्भजन्मजरायुक्तो मर्त्यो मृत्युसमन्वितः ॥ ७ ॥
को हि शक्तो भवं ज्ञातुं मद्विधः परमेश्वरम्।
ऋते नारायणात्पुत्र शङ्खचक्रगदाधरात् ॥ ८ ॥
एष विद्वान् गुणश्रेष्ठो विष्णुः परमदुर्जयः।
दिव्यचक्षुर्महातेजा वीक्ष्यते योगचक्षुषा ॥ ९ ॥
रुद्रभक्त्या तु कृष्णेन जगद्व्याप्तं महात्मना।
तं प्रसाद्य तदा देवं बदर्यां किल भारत ॥ १० ॥
अर्थात्प्रियतरत्वं च सर्वलोकेषु वै तदा।
प्राप्तवानेव राजेन्द्र सुवर्णाक्षान्महेश्वरात् ॥ ११ ॥
पूर्णं वर्षसहस्रं तु तप्तवानेष माधवः।
प्रसाद्य वरदं देवं चराचरगुरुं शिवम् ॥ १२ ॥
युगे युगे तु कृष्णेन तोषितो वै महेश्वरः।
भक्त्या परमया चैव प्रीतश्चैव महात्मनः ॥ १३ ॥
ऐश्वर्यं यादृशं तस्य जगद्योनेर्महात्मनः।
तदयं दृष्टवान् साक्षात्पुत्रार्थे हरिरच्युतः ॥ १४ ॥
यस्मात्परतरं चैव नान्यं पश्यामि भारत।

किया है। जब कि उस देवोंके देवसे प्रजापति उत्पन्न हुए हैं, तब गर्भ जन्म जरायुक्त मृत्युसम्पन्न कौन मनुष्य उस धीमान् महादेवके गुणोंको वर्णन करनेमें समर्थ होगा ? (३—७)

हे तात ! शङ्खचक्र गदाधारी नारायणके अतिरिक्त मेरे समान कोई मनुष्य उस परमेश्वरको नहीं जान सकता। ये गुणोंमें श्रेष्ठ, परमदुर्जय, दिव्यदृष्टि महातेजस्वी विद्वान् विष्णु योगनेत्रके सहारे उसे देख सकते हैं। रुद्रभक्तिके हेतु महात्मा कृष्णके द्वारा समस्त जगत् व्याप्त होरहा है। हे भारत ! बदरिकाश्रममें इन्होंने उस ही देवको प्रसन्न करके दिव्यदृष्टि महेश्वरके प्रभावसे उस समय सब लोकोंके बीच भोग्य वस्तुओंसे भी प्रियतरत्व प्राप्त किया है। (८—११)

इस ही कृष्णने पूरी रीतिसे एक हजार वर्षतक तपस्या की थी, चराचर गुरु वरददेव शिवको प्रसन्न करके कृष्णने युगयुगमें महेश्वरको सन्तोषयुक्त किया है और इस महात्माकी परम भक्तिसे महादेव प्रसन्न हुए हैं। जगद्योनि महादेवका जैसा ऐश्वर्य है, उसका इस अच्युत हरिने पुत्रके निमित्त साक्षात्

व्याख्यातुं देवदेवस्य शक्तो नामान्यशेषतः ॥ १५ ॥
एष शक्तो महाबाहुर्वक्तुं भगवतो गुणान्।
विभूतिं चैव कात्स्न्र्येन सत्यां माहेश्वरीं नृप ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्त्वा तदा भीष्मो वासुदेवं महायशाः।
भवमाहात्म्यसंयुक्तमिदमाह पितामहः ॥ १७ ॥
भीष्म उवाच- सुरासुरगुरो देव विष्णो त्वं वक्तुमर्हसि।
शिवाय विष्णुरूपाय यन्मां पृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥
नाम्नां सहस्रं देवस्य तण्डिना ब्रह्मयोनिना।
निवेदितं ब्रह्मलोके ब्रह्मणो यत्पुराऽभवत् ॥ १९ ॥
द्वैपायनप्रभृतयस्तथा चेमे तपोधनाः।
ऋषयः सुव्रता दान्ताः शृण्वन्तु गदतस्तव ॥ २० ॥
ध्रुवाय नन्दिने होत्रे गोप्त्रे विश्वसृजेऽग्नये।
महाभाग्यं विभोर्ब्रूहि मुण्डिनेऽथ कपर्दिने ॥ २१ ॥
वासुदेव उवाच- न गतिः कर्मणां शक्या वेत्तुमीशस्य तत्त्वतः।
हिरण्यगर्भप्रमुखा देवाः सेन्द्रा महर्षयः ॥ २२ ॥

दर्शन किया है। हे भारत! उससे परे मैं और किसीको भी नहीं देखता; ये महाबाहु कृष्ण ही उस महादेवके नामोंको अशेषरूपसे कह सकते हैं, येही उस भगवान्‌के गुणोंको वर्णन करनेमें समर्थ हैं, हे महाराज! येही महेश्वरकी सत्यविभूतिको विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके उपयुक्त हैं। (१२—१६)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महायशस्वी भीष्म पितामह उस समय भवमाहात्म्य विषयमें ऐसा कहके वासुदेवसे कहने लगे। (१७)

भीष्म बोले, हे सुरासुरगुरु विष्णु देव! विश्वरूप शिवके उद्देश्यसे युधिष्ठिरने मुझसे जो प्रश्न किया है, तुम उस विषयको वर्णन करनेमें समर्थ हो। शिवके एक हजार नाम जो कि पहले ब्रह्मलोकमें ब्रह्माके समीप ब्रह्मयोनि तण्डीके द्वारा वर्णित हुए थे, द्वैपायन आदि उत्तम व्रत करनेवाले दान्त तपस्वी ऋषि लोग तुम्हारे मुखसे उन नामोंको सुनें, कूटस्थ आनन्दमय कर्त्तृ-स्वरूप कर्मफल दान करके रक्षा करने-वाले विश्वस्रष्टा गार्हपत्य अग्निस्वरूप मुण्डी अर्थात् यथार्थमें निश्चूड कपर्दी उपाधिवशसे चूडाविशिष्ट विश्वेश्वरका ऐश्वर्य वर्णन करिये। (१८—२१)

श्रीकृष्णचन्द्र बोले, हिरण्यगर्भ आदि

न विदुर्यस्य भवनमादित्याः सूक्ष्मदर्शिनः ।
स कथं नरमात्रेण शक्यो ज्ञातुं सतां गतिः ॥ २३ ॥
तस्याहमसुरघ्नस्य कांश्चिद्भगवतो गुणान् ।
भवतां कीर्तयिष्यामि व्रतेशाय यथातथम् ॥ २४ ॥
वैशम्पायन उवाच— एवमुक्त्वा तु भगवान् गुणांस्तस्य महात्मनः ।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा कथयामास धीमतः ॥ २५ ॥
वासुदेव उवाच— शुश्रूषध्वं ब्राह्मणेन्द्रास्त्वं च तात युधिष्ठिर ।
त्वं चापगेय नामानि शृणुष्वेह कपर्दिने ॥ २६ ॥
यदवाप्तं च मे पूर्वं साम्बहेतोः सुदुष्करम् ।
यथावद्भगवान् दृष्टो मया पूर्वं समाधिना ॥ २७ ॥
शम्बरे निहते पूर्वं रौक्मिणेयेन धीमता ।
अतीते द्वादशे वर्षे जाम्बवत्यब्रवीद्धि माम् ॥ २८ ॥
प्रद्युम्नचारुदेष्णादीन् रुक्मिण्या वीक्ष्य पुत्रकान् ।
पुत्रार्थिनी मामुपेत्य वाक्यमाह युधिष्ठिर ॥ २९ ॥
शूरं बलवतां श्रेष्ठं कान्तरूपमकल्मषम् ।

तथा इन्द्रके सहित समस्त देवता लोग और महर्षिवृन्द ईश्वरके कर्मोंकी गतिको यथार्थ रूपसे जाननेमें समर्थ नहीं हैं। सूक्ष्मदर्शी इन्द्रादि देववृन्द जिसका हृदयाकाशाख्य स्थानको नहीं जान सकते, वह साध्योंकी गतिस्वरूप ईश्वर मनुष्योंको किस प्रकार मालूम होगा। इसलिये मैं आपके निकट उस व्रतपूर्वक किये हुए यज्ञोंके फल देनेवाले असुर-नाशक भगवानके कुछ गुणोंको यथार्थ रीतिसे वर्णन करूंगा। (२२—२४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, भगवान् कृष्ण इस ही प्रकार उस धीमान् महात्माके गुणोंका वर्णन कर जल स्पर्श करके पवित्र होकर कहने लगे। (२५)

श्रीकृष्ण बोले, हे द्विजेन्द्रगण! हे तात धर्मराज! हे गाङ्गेय! आप भी इस समय कपर्दीके नामोंको सुनिये। पहले मैंने साम्बके निमित्त जिन सब अत्यन्त दुष्कर नामोंको प्राप्त किया था, उसे ही वर्णन करूंगा। पहले मैंने समाधिके द्वारा उस भगवान्का दर्शन किया था। बुद्धिमान् रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्नके हाथसे शम्बरासुरके मारे जाने पर बारह वर्षके अनन्तर जाम्बवतीने मुझसे कुछ कहनेकी इच्छा की। हे धर्मराज! वह रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न और चारुदेष्ण आदिको देखकर पुत्रकी

आत्मतुल्यं मम सुतं प्रयच्छाच्युत मा चिरम् ॥३०॥
न हि तेऽप्राप्यमस्तीह त्रिषु लोकेषु किंचन ।
लोकान् सृजेस्त्वमपरानिच्छन्यदुकुलोद्वह ॥ ३१ ॥
त्वया द्वादश वर्षाणि व्रतीभूतेन शुष्यता ।
आराध्य पशुभर्तारं रुक्मिण्यां जनिताः सुताः ॥ ३२ ॥
चारुदेष्णः सुचारुश्च चारुवेशो यशोधरः ।
चारुश्रवाश्चारुयशाः प्रद्युम्नः शंभुरेव च ॥ ३३ ॥
यथा ते जनिताः पुत्रा रुक्मिण्यां चारुविक्रमाः ।
तथा ममापि तनयं प्रयच्छ मधुसूदन ॥ ३४ ॥
इत्येवं चोदितो देव्या तामवोचं सुमध्यमाम् ।
अनुजानीहि मां राज्ञि करिष्ये वचनं तव ॥ ३५ ॥
सा च मामब्रवीद्गच्छ शिवाय विजयाय च ।
ब्रह्मा शिवः काश्यपश्च नद्यो देवा मनोऽनुगाः ॥ ३६॥
क्षेत्रौषध्यो यज्ञवाहाश्छन्दांस्यृषिगणाध्वराः ।
समुद्रा दक्षिणास्तोभा ऋक्षाणि पितरो ग्रहाः ॥ ३७ ॥

कामना करके मेरे निकट आके बोली, हे अच्युत ! तुम थोडे ही समयके बीच शीघ्र ही मुझे शूर, बलवान् कान्तरूप और अकल्मष अपने समान पुत्र प्रदान करो । (२६-३०)

हे यदुकुलधुरन्धर ! तीनों लोकोंके बीच तुम्हें कुछ भी अप्राप्य नहीं है, इच्छा करनेसे तुम दूसरे लोकोंकी सृष्टि कर सकते हो । तुमने बारह वर्षका व्रत करके शरीर सुखाकर महादेवकी आराधना करके रुक्मिणीमें जिन पुत्रोंको उत्पन्न किया है अर्थात् चारुदेष्ण, सुचारु, चारुवेश, यशोधर, चारुश्रवा, चारुयशा, प्रद्युम्न और शम्भु, ये सब सुन्दर तथा पराक्रमी पुत्र जैसे रुक्मिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं; हे मधुसूदन! वैसे ही मुझे भी एक पुत्र प्रदान करो । (३१-३४)

जाम्बवतीका ऐसा वचन सुनके मैंने उस सुन्दरीसे कहा, हे रानी ! तुम अनुमति दो, मैं तुम्हारे वचनको प्रतिपालन करूंगा, उसने मुझसे कहा, तुम विजय और मङ्गलके निमित्त प्रस्थान करो । हे यादव ! ब्रह्मा, शिव, काश्यप, नदियें, मनके अनुगामी सब देवता, अग्नि, यज्ञिय ओषधि, छन्दःसमूह ऋषिवृन्द, सब पर्वत, समुद्र, दक्षिणा, सामपूरण स्तोमवाक्य, तारासमूह, पितर,

देवपत्न्यो देवकन्या देवमातर एव च।
मन्वन्तराणि गावश्च चन्द्रमाः सविता हरिः ॥ ३८ ॥
सावित्री ब्रह्मविद्या च ऋतवो वत्सरास्तथा।
क्षणा लवा मुहूर्ताश्च निमेषा युगपर्ययाः ॥ ३९ ॥
रक्षन्तु सर्वत्र गतं त्वां यादवसुखाय च।
अरिष्टं गच्छ पन्थानमप्रमत्तो भवानघ ॥ ४० ॥
एवं कृतस्वस्त्ययनस्तयाऽहं ततोऽभ्यनुज्ञाय नरेन्द्रपुत्रीम्।
पितुः समीपं नरसत्तमस्य मातुश्च राज्ञश्च तथाऽऽहुकस्य ॥४१॥
गत्वा समावेद्य यदब्रवीन्मां विद्याधरेन्द्रस्य सुता भृशार्ता।
तानभ्यनुज्ञाय तदाऽतिदुःखाद्गदं तथैवातिबलं च रामम् ॥
अथोचतुः प्रीतियुतौ तदानीं तपःसमृद्धिर्भवतोऽस्त्वविघ्नम् ॥४२॥
प्राप्यानुज्ञां गुरुजनादहं तार्क्ष्यमचिन्तयम्।
सोऽवहद्धिमवन्तं मां प्राप्य चैनं व्यसर्जयम् ॥ ४३ ॥
तत्राहमद्भुतान् भावानपश्यं गिरिसत्तमे।
क्षेत्रं च तपसां श्रेष्ठं पश्याम्यद्भुतमुत्तमम् ॥ ४४ ॥

ग्रह, देवपत्नी, देवकन्या और देवमातृवृन्द, मन्वन्तर, गऊ, चन्द्रमा, सूर्य, हरि, सावित्री वा ब्रह्मविद्या, ऋतु, वर्ष, क्षण,लव,मुहूर्त्त, निमेष और युगपर्याय, ये सब जहां तुम जाओ, उस ही स्थानमें तुम्हारी रक्षा करें और तुम्हारी रक्षाके कारण होवें। (३५-४०)

हे पापरहित! तुम अप्रमत्त होके निर्विघ्न मार्गमें गमन करो। जब उसने मेरा ऐसा स्वस्त्ययन किया; तब मैंने ऋक्षराजपुत्रीकी अनुमति लेकर फिर पुरुषसत्तम पिता तथा माता और राजा आहुकके निकट जाके जाम्बवतीने अत्यन्त दुःखित होके मुझसे जो कुछ कहा था, उसे निवेदन करके अतिकष्टसे उनकी आज्ञासे गद और महाबलवान बलदेवके निकट सब वृत्तान्त वर्णन करके उनकी अनुमति मांगी। उस समय उन्होंने प्रसन्न होके कहा, तुम्हारे तपकी निर्विघ्न वृद्धि होवे, अनन्तर मैंने गुरुजनोंकी आज्ञा पाके गरुडको स्मरण किया। गरुडपर चढके मैं हिमालय पहाडपर गया और वहां पहुंचके मैंने उसे बिदा किया। (४०-४३)

अनन्तर उस पर्वतपर आश्चर्यमय विषयोंको देखने लगा। वैयाघ्रपद्यगोत्र महानुभाव उपमन्युका दिव्य आश्रम जो तपस्वियोंका क्षेत्र कहके

दिव्यं वैयाघ्रपद्यस्य उपमन्योर्महात्मनः ।
पूजितं देवगन्धर्वैर्ब्राह्मया लक्ष्म्या समावृतम् ॥ ४५ ॥
धवककुभकदम्बनारिकेलैः कुरबककेतकजम्बुपाटलाभिः ।
वटवरुणकवत्सनाभबिल्वैः सरलकपित्थप्रियालसालतालैः ॥४६॥
बदरीकुन्दपुन्नागैरशोकाम्रातिमुक्तकैः ।
मधूकैः कोविदारैश्च चम्पकैः पनसैस्तथा ॥ ४७ ॥
वन्यैर्बहुविधैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युतम् ।
पुष्पगुल्मलताकीर्णं कदलीषण्डशोभितम् ॥ ४८ ॥
नानाशकुनिसंभोज्यैः फलैर्वृक्षैरलंकृतम् ।
यथास्थानविनिक्षिप्तैर्भूषितं भस्मराशिभिः ॥ ४९ ॥
रुरुवानरशार्दूलसिंहद्वीपिसमाकुलम् ।
कुरङ्गबर्हिणाकीर्णं मार्जारभुजगावृतम् ।
पूगैश्च मृगजातीनां महिषर्क्षनिषेवितम् ॥ ५० ॥
सकृत्प्रभिन्नैश्च गजैर्विभूषितं प्रहृष्टनानाविधपक्षिसेवितम् ।
सुपुष्पितैरम्बुधरप्रकाशैर्महीरुहाणां च वनैर्विचित्रैः ॥ ५१ ॥
नानापुष्परजोमिश्रो गजदानाधिवासितः ।
दिव्यस्त्रीगीतबहुलो मारुतोऽभिमुखो ववौ ॥ ५२ ॥

विख्यात था, मैंने उस अद्भुत और उत्तम स्थानको देखा। वह आश्रम देवताओं और गन्धर्वोंसे पूजित तथा ब्राह्मी लक्ष्मीसे समावृत था; धव, ककुभ, कदम्ब, नारियल, कुरबक, केतकी, जामुन, पाटल, वट, वरुण, वत्सनाभ, बेल, सरल, कपित्थ, प्रियाल, साल, ताल, बदरी, कुन्द, पुन्नाग, अशोक, आम्र, अतिमुक्त, मधूक, कोविदार, चम्पक, पनस और दूसरे अनेक प्रकारके फल और फूलोंसे युक्त वृक्षोंसे घिरा हुआ था। वह आश्रम पुष्प, गुल्म और लताओंसे परिपूरित, केलेके खम्भसे शोभित, विविध पक्षियोंके भोज्य फल और वृक्षोंसे अलंकृत, यथायोग्य स्थानमें रखी हुई भस्मसे ढकी हुई अग्निसे विभूषित, रुरु, बन्दर, शार्दूल, सिंह, हरिन, बर्हिण, मार्जार, भुजगवृन्द और तेंदुओंसे परिपूर्ण, अनेक प्रकारके मृगसमूह, भैंसे और वृक्षोंसे निषेवित, सकृत्प्रभिन्न हाथियोंसे विभूषित अनेक प्रकारके प्रहृष्ट पक्षियोंसे सेवित और बादलके समान उत्तम फूले हुए वृक्षोंसे विचित्र बोध होता था। (४४–५१)

धारानिनादैर्विहगप्रणादैः शुभैस्तथा बृंहितैः कुञ्जराणाम् ।
गीतैस्तथा किंनराणामुदारैः शुभैः स्वनैः सामगानां च वीर ॥५३॥

अचिन्त्यं मनसाऽप्यन्यैः सरोभिः समलंकृतम् ।
विशालैश्चाग्निशरणैर्भूषितं कुसुमावृतैः ॥ ५४ ॥

विभूषितं पुण्यपवित्रतोयया सदा च जुष्टं नृपजह्नुकन्यया ।
विभूषितं धर्मभृतां वरिष्ठैर्महात्मभिर्वह्निसमानकल्पैः ॥ ५५ ॥

वाय्वाहारैरम्बुपैर्जप्यनित्यैः संप्रक्षालैर्योगिभिर्ध्याननित्यैः ।
धूमप्राशैरूष्मपैः क्षीरपैश्च संजुष्टं च ब्राह्मणेन्द्रैः समन्तात् ॥ ५६ ॥

गोचारिणोऽथाश्मकुट्टा दन्तोलूखलिकास्तथा ।
मरीचिपाः फेनपाश्च तथैव मृगचारिणः ॥ ५७ ॥

अश्वत्थफलभक्षाश्च तथा ह्युदकशायिनः ।
चीरचर्माम्बरधरास्तथा वल्कलधारिणः ॥ ५८ ॥

सुदुःखान्नियमांस्तांस्तान्वहतः सुतपोधनान् ।
पश्यन् मुनीन्बहुविधान् प्रवेष्टुमुपचक्रमे ॥ ५९ ॥

वहांपर विविध पुष्पोंकी सुगन्धियुक्त, गजमदसे सुवासित, दिव्य स्त्रियोंके संगीत समान, सुखस्पर्शयुक्त वायु बह रही थी। हे वीर! वह स्थान जलधारानिनाद, पक्षियोंकी बोली, हाथियोंके मनोहर चिग्घाड, किन्नरोंके उदार गीत और सामगान करनेवाले ब्राह्मणोंकी पवित्र ध्वनिसे अलंकृत था; दूसरे पुरुषोंको मनसे भी अचिन्तनीय, तडागोंसे अलंकृत और विशाल तथा कुसुमावृत अग्निगृहोंके द्वारा उत्तम शोभासे युक्त था। (५२-५४)

हे महाराज! वह आश्रम पवित्र जलवाहिनी जन्हुनन्दिनीसे सदा सेवित और विभूषित तथा अग्निके समान तेजस्वी महात्माओंसे अलंकृत था। वायु तथा जल पीनेवाले, जपमें रत, मैत्री प्रभृति निश्चय करके शोधन करनेवाले ध्याननिष्ठ योगी जन और धूमप्राश ऊष्मप और क्षीरप ब्राह्मणेन्द्रोंके द्वारा सब भांतिसे सेवित था। गोचारी अर्थात् जो लोग गऊके समान मुखसे आहार किया करते हैं; अश्मकुट्ट, दन्तोलूखलिक, मरीचिप अर्थात् चन्द्र-किरण पान करके जीवन धारण करनेवाले, फेनप, मृगचारी अश्वत्थफलभोजी, जलमें शयन करनेवाले, चीर और चर्माम्बरधारी तथा वल्कलधारी और अत्यन्त कष्टसे जो लोग उन सब नियमोंमें तत्पर रहते हैं, वैसे अनेक

सुपूजितं देवगणैर्महात्मभिः शिवादिभिर्भारतपुण्यकर्मभिः।
रराज तच्चाश्रममण्डलं सदा दिवीव राजन् शशिमण्डलं यथा ॥ ६० ॥

क्रीडन्ति सर्पैर्नकुला मृगैर्व्याघ्राश्च मित्रवत्।
प्रभावाद्दीप्ततपसां सन्निकर्षान्महात्मनाम् ॥ ६१ ॥
तत्राश्रमपदे श्रेष्ठे सर्वभूतमनोरमे।
सेविते द्विजशार्दूलैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ६२ ॥
नानानियमविख्यातैर्ऋषिभिः सुमहात्मभिः।
प्रविशन्नेव चापश्यं जटाचीरधरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥
तेजसा तपसा चैव दीप्यमानं यथाऽनलम्।
शिष्यैरनुगतं शान्तं युवानं ब्राह्मणर्षभम् ॥ ६४ ॥
शिरसा वन्दमानं मामुपमन्युरभाषत ॥ ६५ ॥
स्वागतं पुण्डरीकाक्ष सफलानि तपांसि नः।
यः पूज्यः पूजयसि मां द्रष्टव्यो द्रष्टुमिच्छसि ॥ ६६ ॥
तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मृगपक्षिष्वथाग्निषु।
धर्मे च शिष्यवर्गे च समपृच्छमनामयम् ॥ ६७ ॥

प्रकारके तपस्वी मुनियोंका दर्शन करके मैंने उस स्थानमें प्रवेश करनेकी इच्छा की। (५५—५९)

हे भारत! हे राजन्! आकाशमण्डलमें चन्द्रमण्डलकी भांति वह आश्रममण्डल पुण्यकर्म करनेवाले महानुभाव भव आदि देवताओंसे सदा उत्तम रीतिसे पूजित होकर विराजमान था। महातपस्वी महात्माओंके सहवास और प्रभावसे वहांपर नेवले विषधर सांपोंके साथ और बाघ मृगयूथोंके सङ्ग मित्रकी भांति क्रीडा करते थे। वेदवेदान्त जाननेवाले, विविध नियमोंसे विख्यात द्विजवर्य महानुभाव महर्षियोंसे सेवित उस सर्वभूतमनोरम, श्रेष्ठ आश्रमस्थलमें प्रवेश करते ही मैंने जटाचीरधारी तेज और तपस्याके द्वारा अग्निके समान प्रकाशमान, शिष्योंसे अनुगत, शान्त, यौवनसम्पन्न, निग्रहानुग्रहमें समर्थ, द्विजवर उपमन्युका दर्शन किया। जब मैंने सिर नीचा करके उनकी वन्दना की, तब वह मुझसे बोले, हे पुण्डरीकाक्ष! तुमने सुखसे आगमन किया है न? हम लोगोंकी तपस्या सफल हुई, क्यों कि तुम पूज्य होके भी हमारी पूजा करते हो और हमारे दर्शनीय होनेपर भी हम लोगोंके दर्शनकी इच्छा करते हो। मैंने हाथ जोडके उनसे मृग,

ततो मां भगवानाह साम्ना परमवल्गुना।
लप्स्यसे तनयं कृष्ण आत्मतुल्यमसंशयम् ॥ ६८ ॥
तपः सुमहदास्थाय तोषयेशानमीश्वरम्।
इह देवः सपत्नीकः समाक्रीडत्यधोक्षज ॥ ६९ ॥
इहैनं दैवतश्रेष्ठं देवाः सर्षिगणाः पुरा।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ॥ ७० ॥
तोषयित्वा शुभान्कामान् प्राप्तवन्तो जनार्दन।
तेजसां तपसां चैव निधिः स भगवानिह ॥ ७१ ॥
शुभाशुभान्वितान्भावान्विसृजन् संक्षिपन्नपि।
आस्ते देव्या सदाचिन्त्यो यं प्रार्थयसि शत्रुहन् ॥ ७२ ॥
हिरण्यकशिपुर्योऽभूद्दानवो मेरुकम्पनः।
तेन सर्वामरैश्वर्यं शर्वात्प्राप्तं समार्बुदम् ॥ ७३ ॥
तस्यैव पुत्रप्रवरो मन्दारो नाम विश्रुतः।
महादेववराच्छक्रं वर्षार्बुदमयोधयत ॥ ७४ ॥
विष्णोश्चक्रं च तद्घोरं वज्रमाखण्डलस्य च।

पक्षी, अग्नि, धर्म, और शिष्योंके विषयमें अनामय प्रश्न किया। (६०-६७)

अनन्तर भगवान उपमन्यु मुझसे परम मनोहर शान्त वचनसे बोले, हे कृष्ण! तुम अपने समान पुत्र निःसन्देह प्राप्त करोगे। तुम उत्तम महत् तपस्या अवलम्बन करके सर्व-नियन्ता महादेवको सन्तुष्ट करो। हे अधोक्षज! वह देव सपत्नीक होके इस ही स्थानमें विराजमान हैं। हे जनार्दन! पहिले समयमें ऋषियोंके सहित देवताओंने इस ही स्थानमें तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रिय-निग्रहके द्वारा उस महादेवको सन्तुष्ट करके शुभवासनाओंको प्राप्त किया था। हे शत्रुनाशन! तुम जिसकी प्रार्थना करते हो, वह तपोनिधि और तेजके आधार अचिन्तनीय भगवान इस ही स्थानमें शुभाशुभ और संहार करते हुए अभिप्रायको उत्पन्न करनेवाली देवीके सहित विराजमान हैं। (६८-७२)

सुमेरु पर्वतको कंपानेवाला जो हिरण्यकशिपु नामक दानव था, उसने महादेवकी कृपासे अर्बुद वर्ष पर्यन्त सब देवताओंका ऐश्वर्य पाया था। उसहीका मुख्य पुत्र मन्दर नामसे विख्यात है, उसने महादेवके वरप्रभावसे अर्बुद वर्षतक इन्द्रके सङ्ग युद्ध किया

शीर्णं पुराऽभवत्तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ७५ ॥
यत्तद्भगवता पूर्वं दत्तं चक्रं तवानघ।
जलान्तरचरं हत्वा दैत्यं च बलगर्वितम् ॥ ७६ ॥
उत्पादितं वृषाङ्केन दीप्तज्वलनसन्निभम्।
दत्तं भगवता तुभ्यं दुर्धर्षं तेजसाऽद्भुतम् ॥ ७७ ॥
न शक्यं द्रष्टुमन्येन वर्जयित्वा पिनाकिनम्।
सुदर्शनं भवत्येवं भवेनोक्तं तदा तु तत् ॥ ७८ ॥
सुदर्शनं तदा तस्य लोके नाम प्रतिष्ठितम्।
तज्जीर्णमभवत्तात ग्रहस्याङ्गेषु केशव ॥ ७९ ॥
ग्रहस्यातिबलस्याङ्गे वरदत्तस्य धीमतः।
न शस्त्राणि वहन्त्यङ्गे चक्रवज्रशतान्यपि ॥ ८० ॥
अर्द्यमानाश्च विबुधा ग्रहेण सुबलीयसा।
शिवदत्तवरान् जघ्नुरसुरेन्द्रान् सुरा भृशम् ॥ ८१ ॥

था। हे तात केशव! विष्णुका वह घोरचक्र और इन्द्रका भयङ्कर वज्र पहिले समयमें उस मन्दरके अङ्गमें लगनेसे विफल हुआ था। (७३-७५)

हे पापरहित! पहिले समयमें भगवानने जलान्तरचर बलगर्वित दैत्यको मारके तुम्हें जो चक्र दिया था, तथा उस दैत्यको मारनेके लिये वृषभध्वजने जो अग्निके समान प्रकाशमान चक्र उत्पन्न किया था, भगवानने जो तुम्हें अद्भुत तेजसे युक्त दुर्द्धर्ष चक्र प्रदान किया था, पिनाकीके अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुष उसका दर्शन नहीं कर सकता। इस ही निमित्त महादेवने उस समय कहा था, कि यह सुदर्शन होवे; तभीसे लोकके बीच वह सुदर्शन नामसे प्रतिष्ठित होरहा है। हे तात केशव! वह चक्र मन्दरके अङ्गमें लगके जीर्ण तृणके समान व्यर्थ हुआ था। (७६-७९)

महादेवने उस मन्दर असुरको यह वर दिया था, कि तुम सब शस्त्रोंसे अवध्य होगे, इस ही वरके प्रभावसे वह धीमान् प्रबल बलशाली असुर निज अङ्गपर चक्र और सैकडों वज्र आदि शस्त्रोंकी चोट सहजमें ही सह सकता था। जब बलवान मन्दरने देवताओंको अत्यन्त पीडित किया, तब देवताओंने महादेवके दिये हुए वरके प्रभावसे गर्वित दानवोंके दलको नष्ट किया था, देवताओंके बुद्धिकौशलसे वे लोग आपसमें कलह करके विनष्ट हुए। (८०-८१)

तुष्टो विद्युत्प्रभस्यापि त्रिलोकेश्वरतां ददौ ।
शतं वर्षसहस्राणां सर्वलोकेश्वरोऽभवत ॥ ८२ ॥
ममैवानुचरो नित्यं भवितासीति चाब्रवीत् ।
तथा पुत्रसहस्राणामयुतं च ददौ प्रभुः ॥ ८३ ॥
कुशद्वीपं च स ददौ राज्येन भगवानजः ।
तथा शतमुखो नाम धात्रा सृष्टो महासुरः ॥ ८४ ॥
येन वर्षशतं साग्रमात्ममांसैर्हुतोऽनलः ।
तं प्राह भगवांस्तुष्टः किं करोमीति शंकरः ॥ ८५ ॥
तं वै शतमुखः प्राह योगो भवतु मेऽद्भुतः ।
बलं च दैवतश्रेष्ठ शाश्वतं संप्रयच्छ मे ॥ ८६ ॥
तथेति भगवानाह तस्य तद्वचनं प्रभुः ।
स्वायंभुवः क्रतुश्चापि पुत्रार्थमभवत्पुरा ॥ ८७ ॥
आविश्य योगेनात्मानं त्रीणि वर्षशतान्यपि ।
तस्य चोपददौ पुत्रान्सहस्रं क्रतुसंमितान् ॥ ८८ ॥
योगेश्वरं देवगीतं वेत्थ कृष्ण न संशयः ।

महादेवने विद्युत्प्रभ दानवके ऊपर प्रसन्न होके उसे तीनों लोकोंका ऐश्वर्य दान किया था, वह सौ हजार वर्षतक सब लोकोंका ईश्वर हुआ था। भगवानने उसे कहा था, कि तू सदा मेरा ही अनुचर होगा और उसे सहस्र अयुत पुत्र प्रदान किया था। जन्मरहित भगवानने उसे राज्यके सहित कुशद्वीप दान किया। (८२-८४)

अनन्तर शतमुख नामक जो महासुर ब्रह्माके द्वारा उत्पन्न हुआ था और जिसने एक सौ वर्ष तक निज मांससे अग्निको तृप्त किया था, भगवान शङ्कर उसपर प्रसन्न होके बोले, मैं तुम्हारे लिये क्या करूं ? शतमुखने उनसे कहा, हे देवोंके देव ! आपकी कृपासे मुझे चन्द्रमा, सूर्य, पर्जन्य पृथ्वी आदिकी सृष्टिकी सामर्थ्यशाली अद्भुत योग होवे और आप मुझे ब्रह्मविद्यासे उत्पन्न शाश्वत बल प्रदान करिये। निग्रहानुग्रहमें समर्थ भगवानने उसका वह वचन सुनके कहा, 'ऐसा ही होगा।' (८४—८७)

स्वायम्भुवक्रतु भी पुत्रके निमित्त योगके सहारे तीन सौ वर्षतक हिरण्यगर्भमें आविष्ट हुए थे। भगवानने उसे क्रतुपरिमित सहस्र पुत्र प्रदान किया। हे कृष्ण ! वेदमें वर्णित योगेश्वरको तुम

याज्ञवल्क्य इति ख्यात ऋषिः परमधार्मिकः ॥८९॥
आराध्य स महादेवं प्राप्तवानतुलं यशः।
वेदव्यासश्च योगात्मा पराशरसुतो मुनिः ॥९०॥
सोऽपि शंकरमाराध्य प्राप्तवानतुलं यशः।
वालखिल्या मघवता ह्यवज्ञाताः पुरा किल ॥९१॥
तैः क्रुद्धैर्भगवान् रुद्रस्तपसा तोषितो ह्यभूत्।
तांश्चापि दैवतश्रेष्ठः प्राह प्रीतो जगत्पतिः ॥९२॥
सुपर्णं सोमहर्तारं तपसोत्पादयिष्यथ।
महादेवस्य रोषाच्च आपो नष्टाः पुराऽभवन् ॥९३॥
ताश्च सप्तकपालेन देवैरन्याः प्रवर्तिताः।
ततः पानीयमभवत्प्रसन्ने त्र्यम्बके भुवि ॥९४॥
अत्रेर्भार्याऽपि भर्तारं संत्यज्य ब्रह्मवादिनी।
नाहं तस्य मुनेर्भूयो वशगा स्यां कथंचन ॥९५॥
इत्युक्त्वा सा महादेवमगच्छच्छरणं किल।
निराहारा भयादत्रेस्त्रीणि वर्षशतान्यपि ॥९६॥
अशेत मुसलेष्वेव प्रसादार्थं भवस्य सा।

निःसन्देह जानते हो। परम धार्मिक ऋषि जो याज्ञवल्क्य नामसे विख्यात हैं; वह महादेवकी आराधना करके अतुल यशस्वी हुए हैं। (८७-९०)

पराशरपुत्र महामुनि योगिवर वेदव्यासने भी शङ्करकी आराधना करके अशेष यशलाभ किया है। पहले समय में वालखिल्य मुनियोंने देवराजके द्वारा अवज्ञात होनेसे क्रुद्ध होकर तपस्याके सहारे महादेवको सन्तुष्ट किया। जगत्पति महादेव प्रसन्न होके उनसे बोले, तुम लोग तपस्याके द्वारा सोम हरनेवाले गरुडको उत्पन्न करोगे। (९०-९३)

पहले समयमें महादेवके क्रोधवशसे समस्त जल नष्ट हुआ था। महेश्वरने सप्त कपाल अर्थात् त्र्यम्बक दैवत मन्त्रके सहारे जलको फिर उत्पन्न किया। अनन्तर महादेवके प्रसन्न होनेपर पृथ्वीमण्डलपर समस्त जल पीने योग्य हुआ था। (९३-९४)

अत्रिमुनिकी ब्रह्मवादिनी भार्याने पतिको परित्याग करके प्रतिज्ञा की, कि मैं अब फिर कभी किसी प्रकारसे भी उस मुनिकी वशवर्त्ती न हूंगी; ऐसा कहके वह महेश्वरकी शरणागत हुई थी। उसने अत्रिके भयसे निराहारी

तामब्रवीद्‌ध्सन्देवो भविता वै सुतस्तव ॥ ९७ ॥
विना भर्त्रा च रुद्रेण भविष्यति न संशयः ।
वंशे तवैव नाम्ना तु ख्यातिं यास्यति चेप्सिताम् ॥ ९८ ॥
विकर्णश्च महादेवं तथा भक्तसुखावहम् ।
प्रसाद्य भगवान्सिद्धिं प्राप्तवान्मधुसूदन ॥ ९९ ॥
शाकल्यः संशितात्मा वै नव वर्षशतान्यपि ।
आराधयामास भवं मनोयज्ञेन केशव ॥ १०० ॥
तं चाह भगवांस्तुष्टो ग्रन्थकारो भविष्यसि ।
वत्साक्षया च ते कीर्तिस्त्रैलोक्ये वै भविष्यति ॥ १०१ ॥
अक्षयं च कुलं तेऽस्तु महर्षिभिरलंकृतम् ।
भविष्यति द्विजश्रेष्ठः सूत्रकर्ता सुतस्तव ॥ १०२ ॥
सावर्णिश्चापि विख्यात ऋषिरासीत्कृते युगे ।
इह तेन तपस्तप्तं षष्टिवर्षशतान्यथ ॥ १०३ ॥
तमाह भगवान् रुद्रः साक्षात्तुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
ग्रन्थकृल्लोकविख्यातो भवितास्यजरामरः ॥ १०४ ॥
शक्रेण तु पुरा देवो वाराणस्यां जनार्दन ।

होके तीन सौ वर्षतक महादेवकी कृपाके निमित्त मुसल अर्थात् लौह हलके अग्रभागमें शयन किया। महेश्वरने हंसके उससे कहा, कि रुद्रमन्त्रके प्रभावसे विना पतिके ही तुम्हारे निःसन्देह पुत्र होगा, और वंशके बीच वह तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगा। (९५-९८)

हे मधुसूदन! भगवान भक्तिमान विकर्णने महादेवको प्रसन्न करके सिद्धि लाभ की थी। हे केशव! संशितचित्त शाकल्यने नव सौ वर्षतक मनोयज्ञसे महादेवकी आराधना की थी। भगवान प्रसन्न होके उससे बोले, हे तात! तुम ग्रंथकर्ता होगे। और तीनों लोकोंके बीच तुम्हारी अक्षय कीर्ति होगी, महर्षि कुलके द्वारा अलंकृत तुम्हारा वंश अक्षय होगा और तुम्हारा पुत्र द्विजश्रेष्ठ तथा सूत्रकर्ता होगा। (९९-१०२)

सत्ययुगमें सावर्णि नाम एक विख्यात ऋषि थे, उन्होंने इस स्थानमें छः हजार वर्षतक तपस्या की थी; भगवान रुद्रदेव स्वयं उनसे बोले, हे अनघ! मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं, तुम अजर और अमर होके लोकमें प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता होगे। (१०३-१०४)

हे जनार्दन! पहले समयमें दिग्वासा

आराधितोऽभूद्रक्तेन दिग्वासा भस्मगुण्ठितः ॥ १०५ ॥
आराध्य स महादेवं देवराज्यमवाप्तवान् ।
नारदेन तु भक्त्याऽसौ भव आराधितः पुरा ॥१०६॥
तस्य तुष्टो महादेवो जगौ देवगुरुर्गुरुः ।
तेजसा तपसा कीर्त्या त्वत्समो न भविष्यति ॥ १०७॥
गीतेन वादितव्येन नित्यं मामनुयास्यसि ।
मयापि च तथा दृष्टो देवदेवः पुरा विभो ॥ १०८ ॥
साक्षात्पशुपतिस्तात तच्चापि शृणु माधव ।
यदर्थं च मया देवः प्रयतेन तथा विभो ॥ १०९ ॥
प्रबोधितो महातेजास्तं चापि शृणु विस्तरम् ।
यदवाप्तं च मे पूर्वं देवदेवान्महेश्वरात् ॥ ११० ॥
तत्सर्वं निखिलेनाद्य कथयिष्यामि तेऽनघ ।
पुरा कृतयुगे तात ऋषिरासीन्महायशाः ॥ १११ ॥
व्याघ्रपाद इति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः ।
तस्याहमभवं पुत्रो धौम्यश्चापि ममानुजः ॥ ११२ ॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य धौम्येन सह माधव ।
आगच्छमाश्रमं क्रीडन्मुनीनां भावितात्मनाम् ॥११३॥

भस्मगुण्ठीत भगवान काशीधाममें भक्तवर इन्द्रके द्वारा पूजित हुए थे, उन्होंने महादेवकी आराधना करके देवराज्य पाया। (१०५-१०६)

पहले समयमें नारद मुनिने भक्ति भावसे महादेवकी आराधना की थी, देवगुरु महादेव प्रसन्न होके उनसे बोले; तेज, तपस्या और कीर्त्तिके द्वारा तुम्हारे समान कोई भी न होगा, गीत और बाजेके द्वारा तुम सदा मेरे अनुगत रहोगे। हे तात! हे विभु माधव! मैंने जिस प्रकार पहले समयमें देवोंके देव पशुपतिका साक्षात् दर्शन किया था, उसे भी तुम विस्तारके सहित सुनो। हे अनघ! पहले देवोंके देव महादेवसे मैंने सावधान होके जिस प्रकार उन्हें प्रबोधित किया था, इस समय उसे पूरी रीतिसे कहता हूं। हे तात! पहले सत्ययुगमें वेदवेदाङ्ग जाननेवाले महायशस्वी व्याघ्रपाद नामसे विख्यात एक ऋषि थे, मैं उनका पुत्र था और धौम्य मेरा भाई था। हे माधव! किसी समय मैं धौम्यके सङ्ग खेलते हुए आत्मज्ञ मुनियोंके आश्रममें उपस्थित

तत्रापि च मया दृष्टा दुह्यमाना पयस्विनी ।
लक्षितं च मया क्षीरं स्वादुतो ह्यमृतोपमम् ॥ ११४ ॥
ततोऽहमब्रुवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तथा ।
क्षीरोदनसमायुक्तं भोजनं हि प्रयच्छ मे ॥ ११५ ॥
अभावाच्चैव दुग्धस्य दुःखिता जननी तदा ।
ततः पिष्टं समालोड्य तोयेन सह माधव ॥ ११६ ॥
आवयोः क्षीरमित्येव पानार्थं समुपानयत् ।
अथ गव्यं पयस्तात कदाचित्प्राशितं मया ॥ ११७ ॥
पित्राऽहं यज्ञकाले हि नीतो ज्ञातिकुलं महत् ।
तत्र सा क्षरते देवी दिव्या गौः सुरनन्दिनी ॥११८॥
तस्याहं तत्पयः पीत्वा रसेन ह्यमृतोपमम् ।
ज्ञात्वा क्षीरगुणांश्चैव उपलभ्य हि संभवम् ॥ ११९ ॥
स च पिष्टरसस्तात न मे प्रीतिमुपावहत् ।
ततोऽहमब्रुवं बाल्याज्जननीमात्मनस्तदा ॥ १२० ॥
नेदं क्षीरोदनं मातर्यत्त्वं मे दत्तवत्यसि ।
ततो मामब्रवीन्माता दुःखशोकसमन्विता ॥ १२१ ॥
पुत्रस्नेहात्परिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय माधव ।

हुआ । वहांपर मैंने किसी दूध देनेवाली गऊका दूध दुहना देखा वह दूध अमृतके समान स्वादयुक्त मालूम हुआ । (१०६—११४)

अनन्तर बाल्यकालकी सुलभ चपलतासे मैंने अपनी मातासे कहा, हे माता ! मुझे क्षीरयुक्त भोजन प्रदान करो । उस समय मेरी माताने दूधके अभावसे दुःखित होकर चावल पीसकर उसका पिष्ट बनाया और जलमें घोलके हमें पीनेको दिया । हे तात माधव ! मैंने पहले एक बार गऊका दूध पीया था, यज्ञके समय पिता मुझे एक महत् ज्ञातिकुलमें लेगये थे, वहां दिव्य गऊ सुरनन्दिनीका दूध झरता था, मैंने उसका वही अमृत समान दूध पीके दूधका गुण और जिस प्रकार उसकी उत्पत्ति होती है, उसे जानता था, इसलिये वह पिष्टरस मुझे रुचिकर न हुआ । (११५—१२०)

हे तात ! अनन्तर मैंने बाल-स्वभावके वशमें होकर उस समय अपनी मातासे कहा, हे माता ! तुमने मुझे जो दिया है, वह दूध नहीं है । हे

कुतः क्षीरोदनं वत्स मुनीनां भावितात्मनाम् ॥१२२॥
वने निवसतां नित्यं कन्दमूलफलाशिनाम् ।
आस्थितानां नदीं दिव्यां वालखिल्यैर्निषेविताम् ॥१२३॥
कुतः क्षीरं वनस्थानां मुनीनां गिरिवासिनाम् ।
पावनानां वनाशानां वनाश्रमनिवासिनाम् ॥ १२४ ॥
ग्राम्याहारनिवृत्तानामारण्यफलभोजिनाम् ।
नास्ति पुत्र पयोऽरण्ये सुरभीगोत्रवर्जिते ॥ १२५ ॥
नदीगह्वरशैलेषु तीर्थेषु विविधेषु च ।
तपसा जप्यनित्यानां शिवो नः परमा गतिः ॥१२६ ॥
अप्रसाद्य विरूपाक्षं वरदं स्थाणुमव्ययम् ।
कुतः क्षीरोदनं वत्स सुखानि वसनानि च ॥ १२७ ॥
तं प्रपद्य सदा वत्स सर्वभावेन शंकरम् ।
तत्प्रसादाच्च कामेभ्यः फलं प्राप्स्यसि पुत्रक ॥१२८ ॥
जनन्यास्तद्वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन् ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा इदमम्बामचोदयम् ॥ १२९ ॥

माधव ! अनन्तर दुःख शोकसे युक्त माताने पुत्रस्नेहवश मुझे गोदीमें मस्तक सूंघकर बोली, हे पुत्र ! सदा वनवासी कन्दमूलफल भोजन करनेवाले आत्मज्ञ ऋषियोंके आश्रममें क्षीरोदन कहां है ? जो लोग वालखिल्यगणसे निषेवित दिव्य नदीको अवलम्बन किये हुए हैं, उन वनवासी और पर्वतनिवासी मुनियोंके निकट दूध कहांसे आवेगा ? (१२०—१२४)

हे पुत्र ! आश्रमनिवासी, वायु और जल पीनेवाले तथा ग्राम्य आहारसे विरत, जङ्गलके फल खानेवाले ऋषियोंके सुरभीगोत्रसे रहित वनमें दूध नहीं है। नदी गुफा पर्वत और विविध तीर्थोंमें हम लोग तपस्याके द्वारा जपमें रत हुआ करते हैं, इसलिये देवोंके देव महेश्वर ही हम लोगोंकी परम गति हैं। हे पुत्र ! अव्यय, स्थाणु, वरद विरूपाक्षको विना प्रसन्न किये क्षीरोदन और सुखसाधन वस्त्र आदि कहांसे प्राप्त होंगे ? हे पुत्र ! इसलिये तुम्हें सब भांतिसे चित्त लगाके उस ही महादेवके शरणागत होना उचित है, उनकी कृपासे तुम सब वाञ्छनीय फल पाओगे। (१२४—१२८)

हे शत्रुनाशन! माताका ऐसा वचन सुनके उस समय हाथ जोडके विनय-

कोऽयमम्ब महादेवः स कथं च प्रसीदति ।
कुत्र वा वसते देवो द्रष्टव्यो वा कथंचन ॥ १३० ॥
तुष्यते वा कथं शर्वो रूपं तस्य च कीदृशम् ।
कथं ज्ञेयः प्रसन्नो वा दर्शयेज्जननी मम ॥ १३१ ॥
एवमुक्ता तदा कृष्ण माता मे सुतवत्सला ।
मूर्धन्याघ्राय गोविन्द सबाष्पाकुललोचना ॥ १३२ ॥
प्रमार्जन्ती च गात्राणि मम वै मधुसूदन ।
दैन्यमालम्ब्य जननी इदमाह सुरोत्तम ॥ १३३ ॥
अम्बोवाच— दुर्विज्ञेयो महादेवो दुराधारो दुरन्तकः ।
दुराबाधश्च दुर्ग्राह्यो दुर्दृश्यो ह्यकृतात्मभिः ॥ १३४ ॥
यस्य रूपाण्यनेकानि प्रवदन्ति मनीषिणः ।
स्थानानि च विचित्राणि प्रसादाश्चाप्यनेकशः ॥१३५॥
को हि तत्त्वेन तद्वेद ईशस्य चरितं शुभम् ।
कृतवान्यानि रूपाणि देवदेवः पुरा किल ।

पूर्वक मैंने उससे यह वचन कहा, हे माता ! वह महादेव कौन हैं ? और वह किस प्रकार प्रसन्न होते हैं ? वह देव किस स्थानमें निवास करता है और किस प्रकारसे उसका दर्शन किया जाता है, किस भांति वह महेश्वर सन्तुष्ट होता है; उसका कैसा रूप है ? किस प्रकार लोग उसे प्रसन्न हुआ जान सकते हैं ? हे माता ! तुम मेरे निकट यह सब वृत्तान्त वर्णन करो । (१२९-१३१)

हे कृष्ण ! उस समय जब मैंने पुत्र-वत्सला मातासे ऐसा वचन कहा, तब वह मेरा मस्तक सूंघकर आंसू भरे हुए नेत्रसे युक्त होकर शरीरपर हाथ फेरकर दीनता अवलम्बन करके बोली । (१३२-१३३)

माता बोली, महादेव दुर्विज्ञेय (शास्त्रसे जानना अशक्य है) दुराधार (शास्त्रसे ज्ञान होने पर भी मनमें धारण करना अयोग्य) है। दुरवधि (ध्रियमाण होनेपर भी लय विक्षेपके द्वारा सङ्कट-युक्त है,) क्यों कि वह दुरन्तक है, (अर्थात् उसमें सब बन्ध दूषित हुआ करते हैं,) विघ्नाभावमें भी वह दुर्ग्राह्य है। वह सहजमें नहीं जाना जाता और पुण्यहीन मनुष्योंको दुर्दृश्य है (वैराग्यसे भी वह किसीके दृष्टिगोचर नहीं होता) मनीषी लोग उसके अनेक प्रकारके रूप, विचित्र स्थान और अनेक भांतिकी

क्रीडते च तथा शर्वः प्रसीदति यथा च वै ॥ १३६ ॥
हृदिस्थः सर्वभूतानां विश्वरूपो महेश्वरः ।
भक्तानामनुकम्पार्थं दर्शनं च यथाश्रुतम् ॥ १३७ ॥
मुनीनां ब्रुवतां दिव्यमीशानचरितं शुभम् ।
कृतवान्यानि रूपाणि कथितानि दिवौकसैः ॥ १३८ ॥
अनुग्रहार्थं विप्राणां शृणु वत्स समासतः ।
तानि ते कीर्तयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १३९ ॥
अम्बोवाच— ब्रह्मविष्णुसुरेन्द्राणां रुद्रादित्याश्विनामपि ।
विश्वेषामपि देवानां वपुर्धारयते भवः ॥ १४० ॥
नराणां देवनारीणां तथा प्रेतपिशाचयोः ।
किरातशबराणां च जलजानामनेकशः ॥ १४१ ॥
करोति भगवान् रूपमाटव्यशबराण्यपि ।
कूर्मो मत्स्यस्तथा शङ्खः प्रवालाङ्कुरभूषणः ॥ १४२ ॥
यक्षराक्षससर्पाणां दैत्यदानवयोरपि ।
वपुर्धारयते देवो भूयश्च बिलवासिनाम् ॥ १४३ ॥

प्रसन्नताके विषय कहा करते हैं, उस ईश्वरके शुभचरितोंको कौन जाननेमें समर्थ होता है ? (१३४-१३६)

पहले समयमें देवोंके देव महेश्वरने जिन रूपोंको धारण किया था, तथा वह जिस प्रकार क्रीडा करते, जैसे प्रसन्न होते, विश्वरूप महेश्वर सब प्राणियोंके हृदयस्थ होनेपर भी भक्तोंपर कृपा करके जिस प्रकार रूप धारण करते हैं, जिस भांति उनका दर्शन किया जा सकता है, महादेवके पवित्र चरित्र कहनेवाले मुनियोंके मुखसे उनके शुभ चरित्रोंको मैंने जिस प्रकार सुना है, हे तात ! ब्राह्मणोंपर अनुग्रह करनेके निमित्त उन्होंने जो सब रूप धारण किये थे, देवताओंसे कहे हुए उन सब विषयोंको संक्षेपमें सुनो । तुमने मुझसे जो प्रश्न किया है, वह सब वृत्तान्त मैं तुमसे कहती हूं। (१३६-१३९)

माता बोली, भगवान महेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेन्द्र, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार और विश्वदेवगणके रूपको धारण करते हैं। पुरुष, स्त्री, प्रेत, पिशाच, किरात, शबर और विविध जलचर तथा वनचर जीवोंका रूप धारण किया करते हैं। वह कूर्म, शङ्ख और प्रवालांकुर-भूषण वसन्तकाल स्वरूप होते हैं। वह देव यक्ष, राक्षस,

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	" ॥-)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	॥॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व ।					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)

कुल मूल्य ५२।) कुल डा. व्य. ९।≡)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क १८ ॥ ॐ ॥ [अनुशासनपर्व २]

महाभारत।

भाषा--भाष्य--समेत

संपादक - श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

महाभारत।

प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रसिद्ध होता है।

१२ अंकोंका अर्थात् १२०० पृष्ठोंका मूल्य म० आ० से ६) रु० और वी. पी. से ७) रु० है।

मंत्री- स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी. पी. से ७) विदेशके लिये ८)

व्याघ्रसिंहमृगाणां च तरक्ष्वृक्षपतत्त्रिणाम् ।
उलूकश्वशृगालानां रूपाणि कुरुतेऽपि च ॥ १४४ ॥
हंसकाकमयूराणां कृकलासकसारसाम् ।
रूपाणि च बलाकानां गृध्रचक्राङ्गयोरपि ॥ १४५ ॥
करोति वा सरूपाणि धारयत्यपि पर्वतम् ।
गोरूपं च महादेवो हस्त्यश्वोष्ट्रखराकृतिः ॥ १४६ ॥
छागशार्दूलरूपश्च अनेकमृगरूपधृक् ।
अण्डजानां च दिव्यानां वपुर्धारयते भवः ॥ १४७ ॥
दण्डी छत्री च कुण्डी च द्विजानां वारणस्तथा ।
षण्मुखो वै बहुमुखस्त्रिनेत्रो बहुशीर्षकः ॥ १४८ ॥
अनेककटिपादश्च अनेकोदरवक्त्रधृत् ।
अनेकपाणिपार्श्वश्च अनेकगणसंवृतः ॥ १४९ ॥
ऋषिगन्धर्वरूपश्च सिद्धचारणरूपधृत् ।
भस्मपाण्डुरगात्रश्च चन्द्रार्धकृतभूषणः ॥ १५० ॥
अनेकरावसंघुष्टश्चानेकस्तुतिसंस्कृतः ।

सर्प, दैत्य, दानव और बिलवासिगणके रूपको धारण करते हैं । बाघ, सिंह, हरिन, तेंदुआ, भालू, पक्षी, उल्लू और सियारोंके रूपको अवलम्बन करते हैं; वह हंस, कौआ, मोर, कृकलास, सारस, बक, गिद्ध, चक्रवाक, स्वर्णचातक तथा पर्वत आदिके रूपको भी धारण किया करते हैं । महादेव गऊ, हाथी, घोडे, और खरकी आकृति भी अवलम्बन करते हैं । (१४०—१४६)

वह बकरे और शार्दूलके रूपको धारण करते तथा अनेक प्रकारके मृगोंका रूप अवलम्बन किया करते हैं। महेश्वर दिव्य अण्डजोंकी आकृति धारण करते हैं, तथा वह दण्ड, छत्र और कुण्डल धारण करके द्विजोंको अवलम्बन किया करते हैं । वह षण्मुख और अनेक मुखवाले, त्रिलोचन और बहुशीर्षक हैं । वह अनेक कटि, अनेक चरण, अनेक उदर और शरीर धारण करते हैं। वह अनेक हाथ, अनेक पार्श्व और अनेकों गणोंसे युक्त रहते हैं । वह ऋषिरूप, गन्धर्वरूप और सिद्धचारणोंका रूप धारण किया करते हैं। उनका शरीर भस्मके द्वारा पाण्डुर वर्ण और अर्द्धचन्द्रसे विभूषित है; वह विविध शब्दोंसे घोषित और अनेक स्तोत्रोंसे संस्कारयुक्त है । (१४७-१५१)

सर्वभूतान्तकः सर्वः सर्वलोकप्रतिष्ठितः ॥ १५१ ॥
सर्वलोकान्तरात्मा च सर्वगः सर्वव्याप्यपि ।
सर्वत्र भगवान् ज्ञेयो हृदिस्थः सर्वदेहिनाम् ॥ १५२ ॥
यो हि यं कामयेत्कामं यस्मिन्नर्थेऽर्च्यते पुनः ।
तत्सर्वं वेत्ति देवेशस्तं प्रपद्य यदीच्छसि ॥ १५३ ॥
नन्दते कुप्यते चापि तथा हुंकारयत्यपि ।
चक्री शूली गदापाणिर्मुसली खड्गपट्टिशी ॥ १५४ ॥
भूधरो नागमौञ्जी च नागकुण्डलकुण्डली ।
नागयज्ञोपवीती च नागचर्मोत्तरच्छदः ॥ १५५ ॥
हसते गायते चैव नृत्यते च मनोहरम् ।
वादयत्यपि वाद्यानि विचित्राणि गणैर्युतः ॥ १५६ ॥
वल्गते जृम्भते चैव रुदते रोदयत्यपि ।
उन्मत्तमत्तरूपं च भाषते चापि सुस्वरः ॥ १५७ ॥
अतीव हसते रौद्रस्त्रासयन्नयनैर्जनम् ।
जागर्ति चैव स्वपिति जृम्भते च यथासुखम् ॥१५८॥

वह सब भूतोंके नाशक होके सब लोकोंमें प्रतिष्ठित हैं; सर्व स्वरूप, सब प्राणियोंकी अन्तरात्मा, सर्वग और सर्वभाषी वह भगवान सर्वत्र विद्यमान है, और देहधारियोंके हृदयमें निवास करता है। जो लोग जिस विषयकी अभिलाषा करके जिस निमित्त उसकी पूजा किया करते हैं, वह देवेश महेश्वर उन सब विषयोंको जानता है; इसलिये यदि इच्छा हो, तो तुम उसकी शरणमें जाओ। वह आनन्दित होता, कुपित होता और हुङ्कार प्रकाश किया करता है। वह चक्र, शूल, गदा, मुसल, खड्ग और पट्टिश धारण किया करता है; वह पर्वत होके नागकी बनी हुई मौञ्जी-मेखला धारण करता है; वह सांपोंका जनेऊ पहरता और गजाम्बर धारण किया करता है। वह हंसता, गाता, मनोहर रीतिसे नाचता और भूतोंमें घिरकर विचित्र बाजा बजाया करता है। (१५१—१५६)

वह बात करता, जमुहाई लेता, रोता और रुलाता है। वह उन्मत्तरूप वा मत्त स्वरूप और उत्तम स्वरसे वार्त्तालाप किया करता है। वह रौद्र रूपसे तीनों नेत्रोंके द्वारा लोगोंको त्रासित करके अत्यन्त भयङ्कर हास किया करता है; वह जागता, सोता और

जपते जप्यते चैव तपते तप्यते पुनः ।
दवाति प्रतिगृह्णाति युञ्जते ध्यायतेऽपि च ॥ १५९ ॥
वेदीमध्ये तथा यूपे गोष्ठमध्ये हुताशने ।
दृश्यतेऽदृश्यते चापि बालो वृद्धो युवा तथा ॥ १६० ॥
क्रीडते ऋषिकन्याभिर्ऋषिपत्नीभिरेव च ।
ऊर्ध्वकेशो महाशेफो नग्नो विकृतलोचनः ॥ १६१ ॥
गौरः श्यामस्तथा कृष्णः पाण्डुरो धूमलोहितः ।
विकृताक्षो विशालाक्षो दिग्वासाः सर्ववासकः ॥१६२॥
अरूपस्याद्यरूपस्य अतिरूपाद्यरूपिणः ।
अनाद्यं तमजस्यान्तं वेत्स्यते कोऽस्य तत्त्वतः ॥१६३॥
हृदि प्राणो मनो जीवो योगात्मा योगसंज्ञितः ।
ध्यानं तत्परमात्मा च भावग्राह्यो महेश्वरः ॥ १६४ ॥
वादको गायनश्चैव सहस्रशतलोचनः ।
एकवक्त्रो द्विवक्त्रश्च त्रिवक्त्रोऽनेकवक्त्रकः ॥ १६५ ॥

सुखपूर्वक जमुहाई लेता है । वह जप करता है, और सब लोग उसका जप किया करते हैं; वह तप करता है, और उसके निमित्त लोग तपस्या किया करते हैं । वह दान करता और प्रतिग्रह ग्रहण किया करता है, योग करता और ध्यान करता है । वेदी, यूप, गोसमूहके बीच और अग्निमें कभी दीख पड़ता तथा कभी अदृश्य होता है । वही बालक, वृद्ध और युवा है, वही ऋषि-कन्या तथा ऋषिपत्नियोंके सङ्ग क्रीडा करता है । वह उर्ध्वकेश, महालिङ्ग, नग्न और विकृतनेत्र है । (१५७-१६१)

वह गौर, श्याम, कृष्ण, पाण्डुर, धूम्र और लालवर्णसे युक्त है; वह विकृताक्ष, विशालाक्ष, दिगम्बर और सर्वाम्बर अर्थात् सबका आच्छादक है; उस रूपरहित अर्थात् आद्यरूपी, निष्कल मायावी, अतिरूप, नाशकार्यके कारण, आद्यरूप, हिरण्यगर्भ, अनादि, अनन्त, जन्मरहित महेश्वरका अन्त यथार्थ रीतिसे कौन जान सकता है ? जो हृदयके बीच प्राण, मन और जीवस्वरूप अर्थात् अन्नमय, मनोमय और विज्ञान-मय कोषरूपसे वर्णित होता है, जो योगात्मा तथा आनन्दमय है, वही योगसंज्ञित योगी कहा जाता है, वह परम शुद्ध योगस्वरूप परमात्मा महेश्वर सूक्ष्म मनोवृत्तिके द्वारा भी मालूम होने योग्य नहीं है । (१६२—१६४)

तद्भक्तस्तद्गतो नित्यं तन्निष्ठस्तत्परायणः।
भज पुत्र महादेवं ततः प्राप्स्यसि चेप्सितम् ॥ १६६ ॥
जनन्यास्तद्वचः श्रुत्वा तदाप्रभृति शत्रुहन्।
मम भक्तिर्महादेवे नैष्ठिकी समपद्यत ॥ १६७ ॥
ततोऽहं तप आस्थाय तोषयामास शंकरम्।
एकं वर्षसहस्रं तु वामाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः ॥ १६८ ॥
एकं वर्षशतं चैव फलाहारस्ततोऽभवम्।
द्वितीयं शीर्णपर्णाशी तृतीयं चाम्बुभोजनः ॥ १६९ ॥
शतानि सप्त चैवाहं वायुभक्षस्तदाभवम्।
एकं वर्षसहस्रं तु दिव्यमाराधितो मया ॥ १७० ॥
ततस्तुष्टो महादेवः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः।
एकभक्त इति ज्ञात्वा जिज्ञासां कुरुते तदा ॥ १७१ ॥
शक्ररूपं स कृत्वा तु सर्वैर्देवगणैर्वृतः।
सहस्राक्षस्तदा भूत्वा वज्रपाणिर्महायशाः ॥ १७२ ॥

वही वादक, गीत गानेवाला, सहस्र-शतलोचन, एकवक्त्र, आनण्दभुक्, द्विजिह्व, लिङ्गदेह और जीवस्वरूप है, त्रिवक्त्र स्थूल शरीरके सहित पूर्वोक्त दोनों शरीर स्वरूप और अनेकवक्त्र अर्थात् विराट होता है। हे पुत्र! तुम उसहीका भक्त होके उसीमें चित्त लगाओ, उसीमें निष्ठा करो और उसही में रत होके महादेवकी ही आराधना करो; तब तुम अभिलषित विषयोंको प्राप्त करोगे। (१६५–१६६)

हे शत्रुनाशन! माताका ऐसा वचन सुनके उस ही समय महादेवके विषयमें मेरी नैष्ठिकी भक्ति उत्पन्न हुई। अनन्तर मैंने तपस्या करके महादेवको सन्तुष्ट किया; बायें अंगुठेके सहारे स्थित होकर एक हजार वर्ष विताये, एक सौ वर्ष-तक फल भोजन करके रहा; दूसरी बार एक सौ वर्षतक सूखे पत्तोंको खाके रहा, फिर एक सौ वर्षतक जल पीके समय विताया; अनन्तर सात सौ वर्ष-तक वायु पीके रहा; इस ही प्रकार देव परिमाणसे एक सहस्र वर्षतक महेश्वर मेरे द्वारा पूजित हुए। (१६७–१७०)

अनन्तर सब लोकोंके ईश्वर प्रभु महादेव प्रसन्न हुए। उस समय उन्होंने मुझे अपना मुख्य भक्त समझके जान-नेकी इच्छा की। उन्होंने इन्द्रका रूप धरके सब देवताओंके सहित महायशस्वी वज्रधारी सहस्राक्षके वेषसे सुधाकी

सुधावदातं रक्ताक्षं स्तब्धकर्णं मदोत्कटम् ।
आवेष्टितकरं घोरं चतुर्दंष्ट्रं महागजम् ॥ १७३ ॥
समास्थितः स भगवान् दीप्यमानः स्वतेजसा ।
आजगाम किरीटी तु हारकेयूरभूषितः ॥ १७४ ॥
पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
सेव्यमानोऽप्सरोभिश्च दिव्यगन्धर्वनादितैः ॥ १७५ ॥
ततो मामाह देवेन्द्रस्तुष्टस्तेऽहं द्विजोत्तम ।
वरं वृणीष्व मत्तस्त्वं यत्ते मनसि वर्तते ॥ १७६ ॥
शक्रस्य तु वचः श्रुत्वा नाहं प्रीतमनाऽभवम् ।
अब्रुवं च तदा हृष्टो देवराजमिदं वचः ॥ १७७ ॥
नाहं त्वत्तो वरं काङ्क्षे नान्यस्मादपि दैवतात् ।
महादेवादृते सौम्य सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १७८ ॥
सत्यं सत्यं हि नः शक्र वाक्यमेतत्सुनिश्चितम् ।
न यन्महेश्वरं मुक्त्वा कथान्या मम रोचते ॥ १७९ ॥
पशुपतिवचनाद्भवामि सद्यः कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः ।
अपशुपतिवरप्रसादजा मे त्रिभुवनराज्यविभूतिरप्यनिष्टा ॥१८०॥

भांति अवदात, लालनेत्र, स्तब्धकर्ण, मदोत्कट, विशालभुज, घोररूपी चार दांतवाले महामातङ्गपर चढके अपने तेजसे प्रकाशमान होकर हार, किरीट और कुण्डल विभूषित शरीरसे आगमन किया। उनके सिरपर पाण्डुर आतपत्र शोभित था, वह दिव्य गन्धर्वोंकी सङ्गीतध्वनि और अप्सराओं द्वारा सेव्यमान थे। (१७१-१७५)

अनन्तर देवराजरूपी भगवानने कहा, हे द्विजोत्तम ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं, तुम्हारे मनमें जो कुछ अभिलाष हो, वह वर मुझसे मांगो। इन्द्रका वचन सुनके मैं प्रसन्नचित्त नहीं हुआ। हे कृष्ण ! उस समय मैंने देवराजसे यह वचन कहा, मैं तुमसे तथा महादेवके अतिरिक्त दूसरे किसी देवतासे भी वरकी अभिलाष नहीं करता, यह मैं तुम्हारे समीप सत्य ही कहता हूं। हे शक्र ! मेरा यह भली भांति निश्चित वचन अत्यन्त सत्य है; क्यों कि महेश्वरके अतिरिक्त मेरी दूसरे किसीके वचनमें भी रुचि नहीं होती है। (१७६-१७९)

पशुपतिके वचनके अनुसार मैं उस ही समय कृमि अथवा अनेक शाखायुक्त

जन्म श्वपाकमध्येऽपि मेऽस्तु हरचरणवन्दनरतस्य ।
मा वानीश्वरभक्तो भवानि भवनेऽपि शक्रस्य ॥ १८१ ॥
वाय्वम्बुभुजोऽपि सतो नरस्य दुःखक्षयः कुतस्तस्य ।
भवति हि सुरासुरगुरौ यस्य न विश्वेश्वरे भक्तिः ॥ १८२ ॥
अलमन्याभिस्तेषां कथाभिरप्यन्यधर्मयुक्ताभिः ।
येषां न क्षणमपि रुचितो हरचरणस्मरणाविच्छेदः ॥ १८३ ॥
हरचरणनिरतमतिना भवितव्यमनार्जवं युगं प्राप्य ।
संसारभयं न भवति हरभक्तिरसायनं पीत्वा ॥ १८४ ॥
दिवसं दिवसार्धं वा मुहूर्तं वा क्षणं लवम् ।
न ह्यलब्धप्रसादस्य भक्तिर्भवति शंकरे ॥ १८५ ॥
अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शंकराज्ञया ।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये ॥ १८६ ॥
श्वापि महेश्वरवचनाद्भवामि स हि नः परः कामः ।
त्रिदशगणराज्यमपि खलु नेच्छाम्यमहेश्वराज्ञप्तम् ॥ १८७ ॥

वृक्ष हूंगा और महादेवके अतिरिक्त मैं दूसरेके घर वा कृपासे तीनों लोकके राज्य तथा ऐश्वर्यकी भी इच्छा नहीं करता। शिवचरणमें रत होकर मेरा चाण्डालकुलमें जन्म हो, तौभी उत्तम है और अनीश्वरभक्त होके इन्द्रभवनमें भी मेरा जन्म न होवे। सुरासुरगुरु विश्वेश्वरमें जिसकी भक्ति नहीं है, उस पुरुषके वायु भक्षण वा प्राशन करके निवास करनेपर भी किस प्रकार उसका दुःख नष्ट होगा? हरके चरणके स्मरण विच्छेदमें जिसकी अल्प समय भी रुचि न हो, उसे दूसरेके वचन तथा अन्य धर्मयुक्त वाक्यसे क्या प्रयोजन है? अनार्जव कलियुग उपस्थित होनेपर मनुष्योंको शिवचरणमें सदा रत होना उचित है, हरभक्ति रसायनको पीनेसे मनुष्यको संसारका भय नहीं होता। (१८०—१८४)

दिन, दिनका अर्द्ध भाग, मुहूर्त, क्षण और लवमात्र समयमें भी जो शंकरके प्रसाद पानेमें समर्थ नहीं है, उसकी उनमें भक्ति नहीं होती। महादेवकी आज्ञानुसार चाहे कीट वा पतङ्ग योनिमें भले ही उत्पन्न होऊं। हे देवराज! परन्तु तुम्हारे दिये हुए तीनों लोकोंकी भी मैं कामना नहीं करता; महेश्वरके वचनसे चाहे कुत्ता भलेही बनूं। क्योंकि वेही मेरे परम प्रार्थनीय हैं; और उनकी आज्ञा न

न नाकपृष्ठं न च देवराज्यं न ब्रह्मलोकं न च निष्कलत्वम्।
न सर्वकामानखिलान् वृणोमि हरस्य दासत्वमहं वृणोमि ॥१८८॥
यावच्छशाङ्कधवलामलबद्धमौलिर्न प्रीयते पशुपतिर्भगवान्ममेशः।
तावज्जरामरणजन्मशताभिघातैर्दुःखानि देहविहितानि समुद्वहामि ॥१८९॥
दिवसकरशशाङ्कवह्निदीप्तं त्रिभुवनसारमसारमाद्यमेकम्।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं जगति पुमानिह को लभेत शान्तिम् ॥१९०॥
यदि नाम जन्म भूयो भवति मदीयैः पुनर्दोषैः।
तस्मिंस्तस्मिन् जन्मनि भवे भवेन्मेऽक्षया भक्तिः ॥१९१॥
शक्र उवाच– कः पुनर्भवने हेतुरीशे कारणकारणे।
येन शर्वादृतेऽन्यस्मात्प्रसादं नाभिकाङ्क्षसि ॥ १९२ ॥
उपमन्युरुवाच– सदसद्व्यक्तमव्यक्तं यमाहुर्ब्रह्मवादिनः।

पानेसे देवताओंके राज्यकी भी इच्छा नहीं करता। मैं स्वर्गलोकको अभिलाष नहीं करता, देवराज्यकी इच्छा नहीं करता, ब्रह्मलोककी वाञ्छा नहीं है, निष्कलत्वकी स्पृहा नहीं करता और समस्त काम्य विषयोंकी भी कामना नहीं करता; केवल हरके दासत्वप्राप्तिकी इच्छा करता हूं। (१८७—१८८)

जबतक शशाङ्कधवल, अमल, बद्ध मौलि भगवान महेश पशुपति प्रसन्न नहीं होते, तब तक जरा, मरण और सैकडों जन्मोंके अभिघातके देह विहित क्लेशोंको ढोता रहूंगा। सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके द्वारा प्रकाशमान त्रिभुवन-सारभूत और जिससे बढके सारभूत और कुछ भी नहीं है, उस एकमात्र आदि पुरुष, अजर, अमर रुद्रदेवको विना प्रसन्न किये इस जगत्में कौन पुरुष शान्ति लाभ करनेमें समर्थ होगा? मेरे दोषसे यदि मेरा पुनर्वार जन्म हो, तो उन जन्मोंमें भी महादेवके विषयमें मेरी अक्षय भक्ति उत्पन्न होवे। (१८९—१९१)

इन्द्र बोले, जब तुम महेश्वरके अतिरिक्त दूसरे किसी देवताके प्रसन्नताकी इच्छा नहीं करते हो, तब उस कारणके भी कारण ईश्वरकी सत्ताके विषयमें कौनसी युक्ति है। जो प्रलयकालमें समस्त जगत्का नाश करता है, तापकी शान्तिके निमित्त अग्निके निकट गमन करनेकी भांति उसके निकट वरकी इच्छा करनी तुम्हारा मूढताका कार्य होरहा है। (१९२)

उपमन्यु बोले ब्रह्मवादी लोग जिसे सत्प्रवाह वा अनादि; असत् शून्य, व्यक्त परमाणु और अव्यक्त प्रकृति

नित्यमेकमनेकं च वरं तस्माद् वृणीमहे ॥ १९३ ॥
अनादिमध्यपर्यन्तं ज्ञानैश्वर्यमचिन्तितम् ।
आत्मानं परमं यस्माद्वरं तस्माद् वृणीमहे ॥ १९४ ॥
ऐश्वर्यं सकलं यस्मादनुत्पादितमव्ययम् ।
अबीजाद्वीजसंभूतं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥ १९५ ॥
तमसः परमं ज्योतिस्तपस्तद् वृत्तिनां परम् ।
यं ज्ञात्वा नानुशोचन्ति वरं तस्माद् वृणीमहे ॥१९६॥
भूतभावन भावज्ञं सर्वभूताभिभावनम् ।
सर्वगं सर्वदं देवं पूजयामि पुरन्दर ॥ १९७ ॥
हेतुवादैर्विनिर्मुक्तं सांख्ययोगार्थदं परम् ।
यमुपासन्ति तत्त्वज्ञा वरं तस्माद् वृणीमहे ॥ १९८ ॥
मघवन्मघवात्मानं यं वदन्ति सुरेश्वरम् ।
सर्वभूतगुरुं देवं वरं तस्माद् वृणीमहे ॥ १९९ ॥
यत्पूर्वमसृजद्देवं ब्रह्माणं लोकभावनम् ।

कहते हैं, जो नित्य, असंहत कार्य कारणात्मक है, उस परम शिवाख्य परमेश्वरसे मैं वर पानेकी इच्छा करता हूं। जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो ज्ञान, ऐश्वर्यमय और अचिन्तित परमात्मा है, उसहीसे मैं वर पानेकी इच्छा करता हूं। जिससे सब ऐश्वर्य उत्पन्न हुए हैं, जो अव्यय है, जिसका बीज नहीं है, इसके अतिरिक्त जिससे सब बीज उत्पन्न हुए हैं, मैं उसहीसे वर पानेकी इच्छा करता हूं। जो अन्धकारको दूर करनेवाला परम ज्योति और अपनेमें निष्ठावान लोगोंके निमित्त परम तपस्वरूप है, जिसे जाननेसे पण्डित लोग शोक नहीं करते, उसहीसे मैं वर पानेकी इच्छा करता हूं। (१९३-१९६)

हे पुरन्दर! जो आकाश आदि भूतों और जीवोंको उत्पन्न करता है और जो सबके अभिप्रायको जानता है, तथा जो सब प्राणियोंका नाश करनेमें समर्थ है, मैं उस ही सर्वगत, सर्वद देवकी पूजा करता हूं। तत्त्वज्ञ लोग हेतुवादोंसे विनिर्मुक्त जिस उपास्यकी उपासना किया करते हैं उसके निकट मैं वर पानेकी इच्छा करता हूं। हे देवराज! पण्डित लोग जिसे मघवात्मा सुरेश्वर कहते हैं, उस गुरुदेवके निकट मैं वर पानेकी इच्छा करता हूं। जिसने बीजभूत अव्याकृत आकाशमें ब्रह्माण्ड

अण्डमाकाशमापूर्य वरं तस्माद् वृणीमहे ॥ २०० ॥
अग्निरापोऽनिलः पृथ्वी खं बुद्धिश्च मनो महान् ।
स्रष्टा चैषां भवेद्योऽन्यो ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥ २०१ ॥
मनो मतिरहङ्कारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
ब्रूहि चैषां भवेच्छक्र कोऽन्योऽस्ति परमं शिवात् ॥२०२॥
स्रष्टारं भुवनस्येह वदन्तीह पितामहम् ।
आराध्य स तु देवेशमश्नुते महतीं श्रियम् ॥ २०३ ॥
भगवत्युत्तमैश्वर्यं ब्रह्मविष्णुपुरोगमम् ।
विद्यते वै महादेवाद् ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥ २०४ ॥
दैत्यदानवमुख्यानामाधिपत्यारिमर्दनात् ।
कोऽन्यः शक्नोति देवेशाद्दितेः संपादितुं सुतान् ॥२०५॥
दिक्कालसूर्यतेजांसि ग्रहवाय्विन्दुतारकाः ।
विद्धि त्वेते महादेवाद् ब्रूहि कः परमेश्वरात् ॥ २०६॥

रूपसे पूरण करके पहले लोकभावन प्रजापतिको उत्पन्न किया है । अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, अहङ्कार, मन और महत्तत्त्व, इन सबको परमेश्वरके अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष उत्पन्न कर सकता है ? (१९७-२०१)

हे देवराज ! मन शब्द वाच्य अव्यक्त और मति शब्दसे अभिधेय महत्तत्त्व तथा अहङ्कार तत्त्व, पञ्चतन्मात्र और इन्द्रियें, इन सबके परम अवलम्ब शिवके अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष हो सकता है, उसे तुमही वर्णन करो । इस लोकमें सब कोई पितामहको जगत्-स्रष्टा कहा करते हैं, परन्तु वह प्रजापति देवेश्वर महेश्वरकी आराधना करके महती समृद्धि भोग किया करता है, एक एक गुणके प्रधान उपाधिक ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रदेवके सृष्टिकर्त्ता तुरीय मूर्त्तिवाले भगवानके निकटसे जो उत्तम ऐश्वर्य विद्यमान हैं, वह भी उन्हें महादेवके द्वारा प्राप्त हुए हैं, इसलिये कहो तो सही, परमेश्वरसे श्रेष्ठ और दूसरा कौन ईश्वर है ? दैत्यदानवोंके बीच जिन्होंने प्रधानता लाभ की है, उन्हें आधिपत्य प्रदान और शत्रुओंको मर्दन करके दितिनन्दन हिरण्यकशिपु प्रभृतिको ऐश्वर्ययुक्त करनेमें देवेश्वर महादेवके अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष समर्थ होसकता है । (२०२-२०५)

दिशा, काल, सूर्य, तेज, ग्रह, वायु, चन्द्रमा और नक्षत्रों तथा दैत्योंको जो परपीडा और दूसरेको निग्रह करनेकी

अथोत्पत्तिविनाशौ वा यज्ञस्य त्रिपुरस्य वा ।
दैत्यदानवमुख्यानामाधिपत्यारिमर्दनः ॥ २०७ ॥
किं चात्र बहुभिः सूक्तैर्हेतुवादैः पुरन्दर ।
सहस्रनयनं दृष्ट्वा त्वामेव सुरसत्तम ॥ २०८ ॥
पूजितं सिद्धगन्धर्वैर्देवैश्चर्षिभिस्तदा ।
देवदेवप्रसादेन तत्सर्वं कुशिकोत्तम ॥ २०९ ॥
अव्यक्तमुक्तकेशाय सर्वगस्येदमात्मकम् ।
चेतनाचेतनाद्येषु शक्र विद्धि महेश्वरात् ॥ २१० ॥
भुवाद्येषु महान्तेषु लोकालोकान्तरेषु च ।
द्वीपस्थानेषु मेरोश्च विभवेष्वन्तरेषु च ॥ २११ ॥
भगवन् मघवन् देवं वदन्ते तत्त्वदर्शिनः ।
यदि देवाः सुराः शक्र पश्यन्त्यन्यां भवाकृतिम् ॥२१२॥
किं न गच्छन्ति शरणं मर्दिताश्चासुरैः सुराः ।

सामर्थ्य है, वह सब ही ईश्वरके वशमें जानना योग्य है; इसलिये परमेश्वर महादेवसे श्रेष्ठ दूसरा कौन प्रभु है ? यज्ञ और त्रिपुरासुरकी उत्पत्ति तथा विनाशके विषयमें तथा दैत्य-दानवोंके बीच मुख्य मुख्य पुरुषोंके आधिपत्य प्रदान करनेमें शत्रुओंको मर्दनेवाले परमेश्वरके सिवा दूसरा और कौन समर्थ होसकता है ? हे सुरसत्तम पुरन्दर ! अब मैं महेश्वरकी कृपासे तुम्हें ही देवताओंमें पूजित देखता हूं । (२०६-२०८)

हे कौशिक ! महादेवकी कृपासे सिद्ध, गन्धर्व, देवता और ऋषि लोग जब सहस्राक्षकी पूजा किया करते हैं, तब इस विषयमें अधिक हेतुवादका क्या प्रयोजन है ? यह सब कार्य महादेवके ही कृपासे होरहा है । हे देवराज ! अचेतन समस्त पदार्थोंमें सर्वव्यापक ईश्वरका व्याप्य इदमात्मक सब वस्तुओंमें दिखाई देता है । जो कोई जीव जो कुछ भोग्यवस्तु भोग करता है, वह सब वस्तु महेश्वरसे ही प्राप्त हुई जानो। हे भगवन् इन्द्र ! भूर्भुवः स्वः महः प्रभृति सब लोकोंमें, लोकालोक पर्वतके भीतर, दिव्य स्थानोंमें सुमेरुके बीच, द्वीपस्थानों और चन्द्र सूर्य आदिसे युक्त ब्रह्माण्डकी अन्तरालमें तत्वदर्शी पुरुष उस देवोंके देवकी वन्दना किया करते हैं । (२०९-२१२)

हे शक्र ! देवता और सुर लोग यदि महादेवके समान दूसरी आकृति

अभिघातेषु देवानां सयक्षोरगरक्षसाम् ॥ २१३ ॥
परस्परविनाशेषु स्वस्थानैश्वर्यदो भवः ।
अन्धकस्याथ शुक्रस्य दुन्दुभेर्माहिषस्य च ॥ २१४ ॥
यक्षेन्द्रबलरक्षःसु निवातकवचेषु च ।
वरदानावघाताय ब्रूहि कोऽन्यो महेश्वरात् ॥ २१५ ॥
सुरासुरगुरोर्वक्त्रे कस्य रेतः पुरा हुतम् ।
कस्य वान्यस्य रेतस्तधेन हैमो गिरिः कृतः ॥ २१६ ॥
दिग्वासाः कीर्त्यते कोऽन्यो लोके कश्चोर्ध्वरेतसः ।
कस्य चार्धे स्थिता कान्ता अनङ्गः केन निर्जितः ॥२१७ ॥
ब्रूहीन्द्र परमं स्थानं कस्य देवैः प्रशस्यते ।
श्मशाने कस्य क्रीडार्थं नृत्ये वा कोऽभिभाष्यते ॥२१८ ॥
यस्यैश्वर्यं समानं च भूतैः को वापि क्रीडते ।
कस्य तुल्यबला देवगणाश्चैश्वर्यदर्पिताः ॥ २१९ ॥
घुष्यते ह्यचलं स्थानं कस्य त्रैलोक्यपूजितम् ।

अवलोकन करते, तो वे लोग तथा असुरकुलके द्वारा अर्दित सुर लोग क्या उसके शरणापन्न न होते ? यक्ष, राक्षस, सर्प और देवताओंके परस्पर विनाशरूप अभिघातके समय महादेव ही यथायोग्य स्वस्थानस्वरूप ऐश्वर्य प्रदान किया करते हैं । भला कहो तो सही; अन्धक, शुक्र, दुन्दुभी, महिष, यक्ष, इन्द्र, बल, राक्षस और निवात-कवचोंको वरदान तथा उनके नाश करनेके विषयमें महेश्वरके सिवाय दूसरा कौन समर्थ होसकता है ? किस पुरुषके मुखमें पहले समय सुरासुरगुरुके रेत हुत हुए थे ? दूसरे किस पुरुषका इस प्रकार रेत है, जिसके द्वारा हिमगिरि निर्मित हुआ है । इसके सिवाय किसको दिगंबर कहते हैं और इसके सिवाय ऊर्ध्वरेता कौन है ? किसके अर्द्धाङ्गमें कान्ता निवास करती है ? किस पुरुषके द्वारा अनङ्ग निर्जित हुआ था ? (२१२-२१७)

हे देवराज ! कहो तो सही; किसके परम स्थानकी देवता लोग प्रशंसा किया करते हैं ? श्मशानके बीच क्रीडाके निमित्त नृत्य विषयमें कौन अभिलषित होता है ? किसका ऐश्वर्य समान भावसे रहता है ? कौन पुरुष भूतगणके सङ्ग क्रीडा करता है ? देवता लोग किसके बलसे बलवान होके ऐश्वर्यका अभिमान किया करते हैं ? किसके

वर्षते तपते कोऽन्यो ज्वलते तेजसा च कः ॥ २२० ॥
कस्मादोषधिसंपत्तिः को वा धारयते वसु ।
प्रकामं क्रीडते को वा त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ २२१ ॥
ज्ञानसिद्धिक्रियायोगैः सेव्यमानश्च योगिभिः ।
ऋषिगन्धर्वसिद्धैश्च विहितं कारणं परम् ॥ २२२ ॥
कर्मयज्ञक्रियायोगैः सेव्यमानः सुरासुरैः ।
नित्यं कर्मफलैर्हीनं तमहं कारणं वदे ॥ २२३ ॥
स्थूलं सूक्ष्ममनौपम्यमग्राह्यं गुणगोचरम् ।
गुणहीनं गुणाध्यक्षं परं माहेश्वरं पदम् ॥ २२४ ॥
विश्वेशं कारणगुरुं लोकालोकान्तकारणम् ।
भूताभूतभविष्यच्च जनकं सर्वकारणम् ॥ २२५ ॥
अक्षराक्षरमव्यक्तं विद्याविद्ये कृताकृते ।
धर्माधर्मौ यतः शक्र तमहं कारणं ब्रुवे ॥ २२६ ॥
प्रत्यक्षमिह देवेन्द्र पश्य लिङ्गं भगाङ्कितम् ।
देवदेवेन रुद्रेण सृष्टिसंहारहेतुना ॥ २२७ ॥

अचल स्थानकी त्रैलोक्यपूजित कहके लोग घोषणा करते हैं? उसके अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष जल वर्षाता है? कौन तेजसे प्रज्वलित होता है? किसके द्वारा ओषधिसम्पत्ति हुआ करती है? कौन वसुको धारण करता है? स्थावर-जङ्गमात्मक तीनों लोकोंके बीच कौन पुरुष यथेष्ट क्रीडा करता है? हे देवराज! ऋषि, गन्धर्व, सिद्ध और योगी लोग ज्ञानसिद्धि और क्रियायोगके सहारे जिसकी सेवा किया करते हैं, उसे ही कारण जानो। (२१८—२२२)

सुरासुरोंसे जो पुरुष कर्म योग्य क्रियायोगके निमित्त सेव्यमान होता है, उस कर्मफलरहितको ही मैं कारण कहा करता हूं। स्थूल, सूक्ष्म, अनुपम, अज्ञेय, गुणगोचर, गुणहीन, और गुणाध्यक्ष महेश्वर पद ही परमपद है। जो स्थिति और उत्पत्तिका कारण है, जो सब लोकोंका कारण है, जो वर्त्तमान, भूत और भविष्यको जाननेवाला तथा सबका कारण है; जो अक्षय, अक्षर और अव्यक्त है, जिससे विद्या, अविद्या, कृताकृत, धर्म, अधर्म प्रवर्त्तित होते हैं, हे देवराज! मैं उसको ही कारण कहा करता हूं। हे देवराज! सृष्टि और संहारके हेतु, देवोंके देव रुद्रके द्वारा भगाङ्कित लिङ्ग इस समय प्रत्यक्ष अव-

मात्रा पूर्वं ममाख्यातं कारणं लोकलक्षणम् ।
नास्ति चेशात्परं शक्र तं प्रपद्य यदीच्छसि ॥ २२८ ॥

प्रत्यक्षं ननु ते सुरेश विदितं संयोगलिङ्गोद्भवं त्रैलोक्यं सविकारनिर्गुणगणं ब्रह्मादिरेतोद्भवम् । यद्ब्रह्मेन्द्रहुताशविष्णुसहिता देवाश्च दैत्येश्वरा नान्यत्कामसहस्रकल्पितधियः शंसन्ति ईशात्परम् । तं देवं सचराचरस्य जगतो व्याख्यातवेद्योत्तमं कामार्थी वरयामि संयतमना मोक्षाय सद्यः शिवम् ॥ २२९ ॥

हेतुभिर्वा किमन्यैस्तैरीशः कारणकारणम् ।
न शुश्रुम यदन्यस्य लिङ्गमभ्यर्चितं सुरैः ॥ २३० ॥
कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैर्लिङ्गं मुक्त्वा महेश्वरम् ।
अर्च्यतेऽर्चितपूर्वं वा ब्रूहि यद्यस्ति ते श्रुतिः ॥ २३१ ॥
यस्य ब्रह्मा च विष्णुश्च त्वं चापि सह दैवतैः ।
अर्चयध्वं सदा लिङ्गं तस्माच्छ्रेष्ठतमो हि सः ॥ २३२ ॥

लोकन करो। (२२४-२२७)

हे शक्र! पहले माताने मुझसे कहा था, " लोककारण महेश्वर सबके ही कारण हैं, महादेवसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है, इसलिये यदि इच्छा हो, तो उनके शरणमें जाओ।" हे सुरेश्वर! यह भी तुम्हें प्रत्यक्ष मालूम है, कि सविकार, निर्गुणगणयुक्त तीनों लोक, जो कि ब्रह्मादि रेतसे उत्पन्न हुआ कहा जाता है, वह योनिसंयोगविशिष्ट लिङ्गसे उत्पन्न हैं; क्यों कि ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि और विष्णुके सहित सब देवता, दैत्य और राक्षस लोग सहस्रों कामनासे छन्दित बुद्धि होकर भी जिससे बढके दूसरा कोई भी नहीं है, ऐसा कहा करते हैं, वह चराचरोंमें विदित विख्यात देवोत्तम कल्याणदाता महादेवकी मैं कामार्थी और सावधानचित्त होकर मोक्षके निमित्त प्रार्थना किया करता हूं। (२२८--२२९)

अन्यान्य युक्तियोंका क्या प्रयोजन है ? ईश्वर ही सब कारणोंका कारण है, देवताओंके द्वारा दूसरेके लिङ्गका पूजित होना मैंने कभी नहीं सुना। महेश्वरको छोडके देवता लोग दूसरे किसी देवताके लिंगकी पूजा करते वा किये हों, उसे यदि तुमने सुना हो, तो वर्णन करो। ब्रह्मा, विष्णु और समस्त देवताओंके सहित तुम भी सदा जिसके लिंगकी पूजा किया करते हो, उससे बढके और श्रेष्ठ दूसरा कौन है ? इसलिये वही सब लोगोंका आत्यन्तिक

न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजा।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा ॥ २३३ ॥

देव्याः कारणरूपभावजनिताः सर्वा भगाङ्काः स्त्रियो लिङ्गनापि हरस्य सर्वपुरुषाः प्रत्यक्षचिन्हीकृताः। योऽन्यत्कारणमीश्वरात्प्रवदते देव्या च यन्नाङ्कितं त्रैलोक्ये सचराचरे स तु पुमान्बाह्यो-भवेद् दुर्मतिः ॥ २३४ ॥

पुंलिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिङ्गं विद्धि चाप्युमाम्।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत् ॥२३५॥
तस्माद्वरमहं काङ्क्षे निधनं वापि कौशिक।
गच्छ वा तिष्ठ वा शक्र यथेष्टं बलसूदन ॥ २३६ ॥
काममेष वरो मेऽस्तु शापो वाथ महेश्वरात्।
न चान्यां देवतां काङ्क्षे सर्वकामफलामपि ॥ २३७ ॥
एवमुक्त्वा तु देवेन्द्रं दुःखादाकुलितेन्द्रियः।
न प्रसीदति मे देवः किमेतदिति चिन्तयन् ॥ २३८ ॥
अथापश्यं क्षणेनैव तमेवैरावतं पुनः।

इष्ट है। (२३०—२३२)

जब कि प्रजासमूह पद्मचिन्ह, चक्रचिन्ह और वज्रचिन्हसे युक्त नहीं है, केवल लिङ्ग चिन्हित और योनिचिन्हित हुई है, तब अवश्य ही यह महेश्वरसम्बन्धीय है। देवीके कारणरूप भावजनित समस्त स्त्रियें योनिचिन्हसे युक्त और सब पुरुष महादेवके लिंगके द्वारा प्रत्यक्ष चिन्हित होरहे हैं। जो दुर्बुद्धि मनुष्य ईश्वरके अतिरिक्त दूसरेको कारण कहता है, तथा जो देवी चिन्हसे अङ्कित नहीं है, उसे कारण कहता है वह पुरुष चराचरयुक्त तीनों लोकके बाहर हुआ करता है। पुंल्लिंगमात्र ही महादेव और स्त्रीलिंगमात्रको ही भगवती जानो; स्त्री-पुरुष, इन दो शरीरोंके द्वारा स्थावर जंगमात्मक यह जगत् व्याप्त होरहा है। (२३३-२३५)

हे बलसूदन सुरराज! मैं उस ही महेश्वरसे वर अथवा मृत्युकी कामना करता हूं। तुम इच्छानुसार गमन करो अथवा निवास करो। मेरी यह अभिलाषा है, कि महेश्वरके द्वारा मुझे वर मिले अथवा शाप ही प्राप्त होवे परन्तु दूसरे देवताओंके सर्वकामफलप्रद होनेपर भी मैं उनकी आकांक्षा नहीं करता। देवराजसे ऐसा कहके मैं दुःखपूर्वक व्याकुलेन्द्रिय हुआ; महादेव किस

हंसकुन्देन्दुसदृशं मृणालरजतप्रभम् ॥ २३९ ॥
वृषरूपधरं साक्षात्क्षीरोदमिव सागरम् ।
कृष्णपुच्छं महाकायं मधुपिङ्गललोचनम् ॥ २४० ॥
वज्रसारमयैः शृङ्गैर्निष्टप्तकनकप्रभैः ।
सुतीक्ष्णैर्मृदुरक्ताग्रैरुत्किरन्तमिवावनिम् ॥ २४१ ॥
जाम्बूनदेन दाम्ना च सर्वतः समलंकृतम् ।
सुवक्त्रं खुरनासं च सुवर्णं सुकटीतटम् ॥ २४२ ॥
सुपार्श्वं विपुलस्कन्धं सुरूपं चारुदर्शनम् ।
ककुदं तस्य चाभाति स्कन्धमापूर्य धिष्ठितम् ॥२४३॥
तुषारगिरिकूटाभं सिताभ्रशिखरोपमम् ।
तमास्थितश्च भगवान्देवदेवः सहोमया ॥ २४४ ॥
अशोभत महादेवः पौर्णमास्यामिवोडुराट् ।
तस्य तेजोभवो वह्निः समेघः स्तनयित्नुमान् ॥२४५॥
सहस्रमिव सूर्याणां सर्वमापूर्य विष्ठितः ।
ईश्वरः सुमहातेजाः संवर्तक इवानलः ॥ २४६ ॥
युगान्ते सर्वभूतानां दिधक्षुरिव चोद्यतः ।

लिये मुझपर प्रसन्न नहीं होते हैं, ऐसी ही चिन्ता करके क्षणभरके बीच फिर उस ही ऐरावतको हंस, कुन्द और इन्दुसदृश, मृणाल और रजत समान प्रकाशमान साक्षात् क्षीरसागरकी भांति वृषरूपधारी देखा। उस महाकाय वृषकी पूंछ कृष्णवर्ण थी, नेत्र मधुकी भांति पिंगलवर्ण थे। (२३९-२४०)

वह वृषभ तपाये हुए सुवर्ण समान प्रकाशमान, उत्तम तीक्ष्ण, मृदु और रक्ताग्र, वज्रसारमय था, सींगसे मानो पृथ्वीको विदीर्ण करता था; वह वृष सुवर्णके बने हुए दावेंसे सब प्रकार अलंकृत था, उसके मुख, कान, नासिका कटि, कोखे अत्यन्त सुन्दर थे, कन्धा विशाल था। उस सुन्दर मनोहर वृषभका ककुद स्कन्धपूरण करके अधिष्ठित था। (२४१-२४३)

देवोंके देव भगवान महादेव उमादेवीके सहित उस सिताभ्रशिखर तथा तुषार गिरिकूट सदृश बैलपर चढके पौर्णमासीकी रात्रिके चन्द्रमाकी भांति शोभित हुए थे। उनके शरीरकी तेज बादलयुक्त अग्नि तथा सहस्र सूर्य समान दीप्ति सब दिशाओंमें व्याप्त होरही थी। उस समय ईश्वरका तेज

तेजसा तु तदा व्याप्तं दुर्निरीक्ष्यं समन्ततः ॥ २४७ ॥
पुनरुद्विग्नहृदयः किमेतदिति चिन्तयम् ।
मुहूर्तमिव तत्तेजो व्याप्य सर्वा दिशो दश ॥ २४८ ॥
प्रशान्तं दिक्षु सर्वासु देवदेवस्य मायया ।
अथापश्यं स्थितं स्थाणुं भगवन्तं महेश्वरम् ॥ २४९ ॥
नीलकण्ठं महात्मानमसक्तं तेजसां निधिम् ।
अष्टादशभुजं स्थाणुं सर्वाभरणभूषितम् ॥ २५० ॥
शुक्लाम्बरधरं देवं शुक्लमाल्यानुलेपनम् ।
शुक्लध्वजमनाधृष्यं शुक्लयज्ञोपवीतिनम् ॥ २५१ ॥
गायद्भिर्नृत्यमानैश्च वादयद्भिश्च सर्वशः ।
वृतं पार्श्वचरैर्दिव्यैरात्मतुल्यपराक्रमैः ॥ २५२ ॥
बालेन्दुमुकुटं पाण्डुं शरच्चन्द्रमिवोदितम् ।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतं त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः ॥२५३॥
अशोभतास्य देवस्य माला गात्रे सितप्रभे ।
जातरूपमयैः पद्मैर्ग्रथिता रत्नभूषिता ॥ २५४ ॥
मूर्तिमन्ति तथाऽस्त्राणि सर्वतेजोमयानि च ।

प्रलय कालके संवर्तक अनलकी भांति मानो सब भूतोंको जलानेका इच्छुक होकर उदित हुआ। उस समय दशों दिशा उसके तेजसे व्याप्त होकर दुर्निरीक्ष्य होगई। मैं उद्विग्नचित्त होकर चिन्ता करने लगा, कि यह क्या है? इतने ही समयमें जो तेज दशों दिशामें व्याप्त हुआ था, महादेवकी मायाके प्रभावसे मुहूर्तकालके बीचमें सब दिशाओंमें प्रशान्त हुआ। (२४४-२४९)

अनन्तर मैं धूमरहित अग्निकी भांति सौम्यदर्शन मनोहर सर्वांगी पार्वतीके सहित सौरभेय बैलपर स्थित नीलकण्ठ महानुभाव असक्त तेजके निधि अष्टादश भुज सब आभूषणोंसे भूषित सफेद अम्बर और श्वेतमालाधारी, सफेद ध्वजा, अनाधृष्ट शुक्लयज्ञोपवीती भगवान् स्थाणु महेश्वर परमेश्वरका दर्शन किया। वह आत्मतुल्यपराक्रम, नृत्य, गीत और बाजा बजानेवाले दिव्य अनुचरोंके द्वारा सब भांतिसे परिवृत थे, बालेन्दुमुकुटवाले पाण्डुरवर्ण देव मानों शरच्चन्द्रकी भांति उदित हुए। तीन उदित सूर्योंकी भांति उनके तीनों नेत्र प्रकाशमान थे। (२४९-२५३)

उस देवके सितप्रभायुक्त शरीरमें

मया दृष्टानि गोविन्द भवस्यामिततेजसः ॥ २५५ ॥
इन्द्रायुधसवर्णाभं धनुस्तस्य महात्मनः ।
पिनाकमिति विख्यातमभवत्पन्नगो महान् ॥ २५६ ॥
सप्तशीर्षो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो विषोल्बणः ।
ज्यावेष्टितमहाग्रीवः स्थितः पुरुषविग्रहः ॥ २५७ ॥
शरश्च सूर्यसंकाशः कालानलसमद्युतिः ।
एतदस्त्रं महाघोरं दिव्यं पाशुपतं महत ॥ २५८ ॥
अद्वितीयमनिर्देश्यं सर्वभूतभयावहम् ।
सस्फुलिङ्गं महाकायं विसृजन्तमिवानलम् ॥ २५९ ॥
एकपादं महादंष्ट्रं सहस्रशिरसोदरम् ।
सहस्रभुजजिह्वाक्षमुद्गिरन्तमिवानलम् ॥ २६० ॥
ब्राह्मान्नारायणाच्चैन्द्रादाग्नेयादपि वारुणात् ।
यद्विशिष्टं महाबाहो सर्वशस्त्रविघातनम् ॥ २६१ ॥
येन तत्त्रिपुरं दग्ध्वा क्षणाद्भस्मीकृतं पुरा ।
शरेणैकेन गोविन्द महादेवेन लीलया ॥ २६२ ॥
निर्दहेत च यत्कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

सुवर्णमय पद्मके द्वारा ग्रथित रत्नभूषित माला थी। हे गोविंद ! मैंने अमित-तेजस्वी महेश्वरके सर्वतेजोमय मूर्तिमान अस्त्रोंको अवलोकन किया। उस महात्माकी इन्द्रायुध समान वर्णवाला धनुष जो पिनाक नामसे विख्यात है, मैंने देखा, कि वह सातसिर, महाकाय, तीक्ष्णदन्त, विषोल्बण ज्या–वेष्टित महाग्रीव पुरुषविग्रह महान् पन्नगरूपसे स्थित है; और प्रलयकालकी अग्नि तथा सूर्यके समान प्रकाशमान बाण निरीक्षण किया। उसहीका नाम दिव्य, महत्, पाशुपत अस्त्र है, वह अद्वितीय, अनिर्देश्य, सर्वभूतभयावह, महाकाय है और मानो अङ्गारके सहित अग्निविसर्जन कर रहा था। (२५४—२५९)

वह एक चरणवाला महादंष्ट्र सहस्र-शिर, सहस्रोदर, सहस्रभुज, सहस्र-जिह्व और सहस्राक्षरूपसे अग्नि उद्गीरण कर रहा था। हे महाबाहो ! वह ब्राह्म, नारायण, ऐन्द्र, आग्नेय और वारुण अस्त्रसे श्रेष्ठ और सर्वशस्त्रविघातक था। हे गोविन्द ! महादेवने लीलाके क्रमसे एक मात्र जिस बाणके सहारे उस त्रिपुरको जलाके भस्मीभूत किया था, वही अस्त्र यदि महादेवकी भुजासे

महेश्वरभुजोत्सृष्टं निमेषार्धान्न संशयः ॥ २६३ ॥
नावध्यो यस्य लोकेऽस्मिन् ब्रह्माविष्णुसुरेष्वपि।
तदहं दृष्टवांस्तत्र आश्चर्यमिदमुत्तमम् ॥ २६४ ॥
गुह्यमस्त्रवरं नान्यत्तत्तुल्यमधिकं हि वा।
यत्तच्छूलमिति ख्यातं सर्वलोकेषु शूलिनः ॥ २६५ ॥
दारयेद्यां महीं कृत्स्नां शोषयेद्वा महोदधिम्।
संहरेद्वा जगत्कृत्स्नं विसृष्टं शूलपाणिना ॥ २६६ ॥
यौवनाश्वो हतो येन मान्धाता सबलः पुरा।
चक्रवर्ती महातेजास्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ २६७ ॥
महाबलो महावीर्यः शक्रतुल्यपराक्रमः।
करस्थेनैव गोविन्द लवणस्येह रक्षसः ॥ २६८ ॥
तच्छूलमतितीक्ष्णाग्रं सुभीमं लोमहर्षणम्।
त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा तर्जमानमिव स्थितम् ॥२६९॥
त्रिधूमं सार्चिषं कृष्णं कालसूर्यमिवोदितम्।
सर्पहस्तमनिर्देश्यं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ २७० ॥
दृष्टवानस्मि गोविन्द तदस्त्रं रुद्रसन्निधौ।

छूटे तो अर्द्धनिमेषमें चराचर सहित, त्रिलोकके सहित समस्त जगत्को निःसन्देह भस्म करे। इस लोकमें ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंके बीच जिससे कोई भी अवध्य नहीं है। हे तात! मैंने उस आश्चर्य और अद्भुत अस्त्रको देखा था, उसके समान अथवा उससे श्रेष्ठ, गुह्यतर और एक दूसरा परम अस्त्र देखा, जो कि सब लोकोंमें महादेवका त्रिशूल कहके विख्यात है। (२६०—२६५)

वह महादेवके हाथसे छूटनेपर स्वर्ग तथा समस्त पृथ्वीमण्डलको विदारण, समुद्रको शोषण और समस्त जगत्को नष्ट कर सकता है। पहले समयमें जिस शूलके लवण राक्षसके हाथमें स्थित होनेपर युवनाश्व और त्रिलोकविजयी महातेजस्वी बलवान इन्द्रके समान पराक्रमी चक्रवर्ती राजा मान्धाता सेनाके सहित मारे गये थे। अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला भयङ्कर वह लोमहर्षण शूल, त्रिशिखा भ्रुकुटी करके तर्जन करते हुए स्थित था। हे कृष्ण! प्रलय-कालके सूर्यकी भांति उदित उस त्रिधूम अर्चियुक्त, अनिर्देश्य, पाशधारी, अन्तक समान सर्प हस्त अस्त्रको मैंने रुद्रके

परशुस्तीक्ष्णधारश्च दत्तो रामस्य यः पुरा ॥ २७१ ॥
महादेवेन तुष्टेन क्षत्रियाणां क्षयंकरः ।
कार्तवीर्यो हतो येन चक्रवर्ती महामृधे ॥ २७२ ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी येन निःक्षत्रिया कृता ।
जामदग्न्येन गोविन्द रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ २७३ ॥
दीप्तधारः सुरौद्रास्यः सर्पकण्ठाग्रधिष्ठितः ।
अभवच्छूलिनोऽभ्याशे दीप्तवह्निशिखोपमः ॥ २७४ ॥
असंख्येयानि चास्त्राणि तस्य दिव्यानि धीमतः ।
प्राधान्यतो मयैतानि कीर्तितानि तवानघ ॥ २७५ ॥
सव्यदेशे तु देवस्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दिव्यं विमानमास्थाय हंसयुक्तं मनोजयम् ॥ २७६ ॥
वामपार्श्वगतश्चापि तथा नारायणः स्थितः ।
वैनतेयं समारुह्य शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २७७ ॥
स्कन्दो मयूरमास्थाय स्थितो देव्याः समीपतः ।
शक्तिघण्टे समादाय द्वितीय इव पावकः ॥ २७८ ॥
पुरस्ताच्चैव देवस्य नन्दिं पश्याम्यवस्थितम् ।
शूलं विष्टभ्य तिष्ठन्तं द्वितीयमिव शङ्करम् ॥ २७९ ॥

निकट देखा। (२६९—२७१)

हे गोविन्द ! इसके अतिरिक्त पहले महादेवने प्रसन्न होके रामको जो क्षत्रियोंका नाशक तीक्ष्ण धारवाला परशु प्रदान किया था, जिसके द्वारा महासंग्राममें चक्रवर्ती राजा कार्तवीर्य मारा गया, उसे भी मैंने उनके निकट देखा। हे गोविन्द ! अक्लिष्टकर्मा जामदग्न्य रामने जिसके सहारे इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया था, वह तीक्ष्ण धारवाला रौद्रमुख सर्प-कण्ठाग्रमें अधिष्ठित जलती हुई अग्निकी शिखा समान परशु महादेवके समीप था। हे अनघ ! उस धीमान्‌के निकट और भी अनगिनत अस्त्र थे, मुख्य करके तुमसे मैंने इन तीन अस्त्रोंका विषय वर्णन किया है। उस देवके दाहिनी ओर लोकपितामह ब्रह्मा हंसयुक्त मनोजव दिव्य विमानमें स्थित थे, बाईं ओर शंखचक्रगदाधारी नारायण गरुडपर चढके विराजमान थे। (२७१—२७७)

देवीके निकट द्वितीय अग्निकी भांति स्कन्द शक्ति और घण्टा धारण करके मयूरपर निवास करते थे। महादेवके

स्वायम्भुवाद्या मनवो भृग्वाद्या ऋषयस्तथा ।
शक्राद्या देवताश्चैव सर्व एव समभ्ययुः ॥ २८० ॥
सर्वभूतगणाश्चैव मातरो विविधाः स्थिताः ।
तेऽभिवाद्य महात्मानं परिवार्य समन्ततः ॥ २८१ ॥
अस्तुवन्विविधैः स्तोत्रैर्महादेवं सुरास्तदा ।
ब्रह्मा भवं तदाऽस्तौषीद्रथंतरमुदीरयन् ॥ २८२ ॥
ज्येष्ठसाम्ना च देवेशं जगौ नारायणस्तदा ॥ २८३ ॥
गृणन्ब्रह्म परं शक्रः शतरुद्रियमुत्तमम् ।
ब्रह्मा नारायणश्चैव देवराजश्च कौशिकः ॥ २८४ ॥
अशोभन्त महात्मानस्त्रयस्त्रय इवाग्नयः ।
तेषां मध्यगतो देवो रराज भगवाञ्छिवः ॥ २८५ ॥
शरदभ्रविनिर्मुक्तः परिधिस्थ इवांशुमान् ।
अयुतानि च चन्द्रार्कानपश्यं दिवि केशव ॥ २८६ ॥
ततोऽहमस्तुवं देवं विश्वस्य जगतः पतिम् ।
उपमन्युरुवाच–नमो देवाधिदेवाय महादेवाय ते नमः ॥ २८७ ॥
शक्ररूपाय शक्राय शक्रवेषधराय च ।

सम्मुख द्वितीय शङ्करकी भाँति शूल ग्रहण करके खडे हुए नन्दीको देखा। स्वायम्भुव आदि मनु, भृगु आदि ऋषि और इन्द्र आदि सब देवता उस स्थानमें उपस्थित थे। समस्त भूत और विविध मातृकागण उस महात्माको सब प्रकारसे घेरके और प्रणाम करके स्थित थीं। देवताओंने उस समय विविध स्तोत्रोंसे महादेवकी स्तुति की थी; अनन्तर ब्रह्मा रथन्तर साम उच्चारण करते हुए महेश्वरकी स्तुति करने लगे। (२७८-२८२)

नारायणने देवेश्वरको अत्यन्त प्रसन्न करनेके लिये ज्येष्ठ साम गान किया। देवराज उत्कृष्ट शतरुद्रियका पाठ करते हुए परब्रह्मकी स्तुति करने लगे। ब्रह्मा, नारायण और देवराज कौशिक, ये तीनों महानुभाव तीनों अग्निकी भाँति शोभित हुए। देवोंके देव भगवान् महेश्वर बीचमें शरत्कालके बादलोंसे रहित सूर्यकी भाँति विराजमान थे। हे केशव! उस समय मैंने आकाशमण्डलमें दश सहस्रके परिमाणसे चन्द्रमा और सूर्य देखे। अनन्तर मैं समस्त जगत्‌के प्रभु महादेवकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ। (२८३-२८७)

नमस्ते वज्रहस्ताय पिङ्गलायारुणाय च ॥ २८८ ॥
पिनाकपाणये नित्यं शङ्खशूलधराय च।
नमस्ते कृष्णवासाय कृष्णकुंचितमूर्धजे ॥ २८९ ॥
कृष्णाजिनोत्तरीयाय कृष्णाष्टमिरताय च।
शुक्लवर्णाय शुक्लाय शुक्लाम्बरधराय च ॥ २९० ॥
शुक्लभस्मावलिप्ताय शुक्लकर्मरताय च।
नमोऽस्तु रक्तवर्णाय रक्ताम्बरधराय च ॥ २९१ ॥
रक्तध्वजपताकाय रक्तस्रगनुलेपिने।
नमोऽस्तु पीतवर्णाय पीताम्बरधराय च ॥ २९२ ॥
नमोऽस्तूच्छ्रितछत्राय किरीटवरधारिणे।
अर्धहारार्धकेयूरअर्धकुण्डलकर्णिने ॥ २९३ ॥
नमः पवनवेगाय नमो देवाय वै नमः।
सुरेन्द्राय मुनीन्द्राय महेन्द्राय नमोऽस्तु ते ॥ २९४ ॥
नमः पद्मार्धमालाय उत्पलैर्मिश्रिताय च।
अर्धचन्दनलिप्ताय अर्धस्रगनुलेपिने ॥ २९५ ॥
नम आदित्यवक्त्राय आदित्यनयनाय च।

उपमन्यु बोले, तुम देवादिदेव हो इसलिये तुम्हें नमस्कार है; तुम शक्र-रूप, शक्र, शक्रवेषधारी महादेव हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; तुम वज्रहस्त, पिंगल, अरुण, पिनाकपाणि, सदा शंखशूलधर, कृष्णवासा, कृष्णकुञ्चित-केश, कृष्णाजिनवस्त्रधारी, कृष्णाष्टमी-रत हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। तुम शुक्लवर्ण, शुक्ल, शुक्लाम्बरधर, श्वेतभस्म-धारी और शुक्ल कर्ममें रत हो इससे तुम्हें प्रणाम है; रक्तवर्ण रक्ताम्बरधारी, रक्तध्वज पताका और लालमालाधारी हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम पीताम्बरधारी, पीतवर्ण ध्वज पताका-युक्त और पीली माला धारण करनेवाले हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। (२८७-२९२)

तुम उच्छ्रितच्छत्र, किरीटवरधारी, अर्द्धहार, अर्द्धकेयूर और अर्द्ध-कुण्डल-कर्णी हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; तुम ही वायुवेग हो, इसलिये तुम्हें नमस्कार है; हे देव ! तुम्हें नमस्कार है; तुम सुरेन्द्र, मुनीन्द्र और महेन्द्र हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम उत्पलमिश्रित, पद्मार्द्ध-मालाधारी हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम अर्द्धचन्दनलिप्त, अर्द्धमाल्यानुलेपी, आदित्यवक्त्र और

नम आदित्यवर्णाय आदित्यप्रतिमाय च ॥ २९६ ॥
नमः सोमाय सौम्याय सौम्यवक्त्रधराय च।
सौम्यरूपाय मुख्याय सौम्यदंष्ट्राविभूषिणे ॥ २९७ ॥
नमः श्यामाय गौराय अर्धपीतार्धपाण्डवे।
नारीनरशरीराय स्त्रीपुंसाय नमोऽस्तु ते ॥ २९८ ॥
नमो वृषभवाहाय गजेन्द्रगमनाय च।
दुर्गमाय नमस्तुभ्यमगम्यागमनाय च ॥ २९९ ॥
नमोऽस्तु गणगीताय गणवृन्दरताय च।
गणानुयातमार्गाय गणनित्यव्रताय च ॥ ३०० ॥
नमः श्वेताभ्रवर्णाय संध्यारागप्रभाय च।
अनुद्दिष्टाभिधानाय स्वरूपाय नमोऽस्तु ते ॥ ३०१ ॥
नमो रक्ताग्रवासाय रक्तसूत्रधराय च।
रक्तमालाविचित्राय रक्ताम्बरधराय च ॥ ३०२ ॥
मणिभूषितमूर्धाय नमश्चन्द्रार्धभूषिणे।
विचित्रमणिमूर्द्धाय कुसुमाष्टधराय च ॥ ३०३ ॥
नमोऽग्निमुखनेत्राय सहस्रशशिलोचने।
अग्निरूपाय कान्ताय नमोऽस्तु गहनाय च ॥ ३०४ ॥

आदित्यनयन हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; तुम आदित्यवर्ण, आदित्यप्रतिम हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; तुम सोम, सोमवक्त्रधर, सौम्यरूप, मुख्य, सोमदन्त-विभूषित हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; तुम श्याम, गौर, अर्द्धपीत और पाण्डु-वर्ण हो इससे तुम्हें प्रणाम है; नर नारीरूप, स्त्री-पुरुष स्वरूप हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; तुम वृषभवाहन, गजेन्द्रगमन, दुर्गम और अगम्यागमन हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; गणगीत, गणवृन्दरत, गणानुयातमार्ग और गणनित्यव्रत हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; तुम श्वेताभ्रवर्ण, सन्ध्यारागप्रभ, अनु-द्दिष्टाभिधान स्वरूप हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। (२९२—३०१)

तुम रक्ताग्रवासा, रक्तसूत्रधर, लाल-माला विचित्र, रक्ताम्बरधारी, मणिभू-षितमूर्द्धा और अर्द्धचन्द्रभूषित हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम विचित्र मणिमण्डित मस्तकपर अष्टकुसुमधारी, अग्निमुख, अग्निनेत्र और सहस्रशशि-नेत्र हो, इससे तुम्हें प्रणाम है; तुम अग्निरूप, कान्त, गहन हो, इससे तुम्हें

खचराय नमस्तुभ्यं गोचराभिरताय च ।
भूचराय भुवनाय अनन्ताय शिवाय च ॥ ३०५ ॥
नमो दिग्वाससे नित्यमधिवाससुवाससे ।
नमो जगन्निवासाय प्रतिपत्तिसुखाय च ॥ ३०६ ॥
नित्यमुद्बद्धमुकुटे महाकेयूरधारिणे ।
सर्पकण्ठोपहाराय विचित्राभरणाय च ॥ ३०७ ॥
नमस्त्रिनेत्रनेत्राय सहस्रशतलोचने ।
स्त्रीपुंसाय नपुंसाय नमः सांख्याय योगिने ॥ ३०८ ॥
शंयोरभिस्रवन्ताय अथर्वाय नमो नमः ।
नमः सर्वार्तिनाशाय नमः शोकहराय च ॥ ३०९ ॥
नमो मेघनिनादाय बहुमायाधराय च ।
बीजक्षेत्राभिपालाय स्रष्टाराय नमो नमः ॥ ३१० ॥
नमः सुरासुरेशाय विश्वेशाय नमो नमः ।
नमः पवनवेगाय नमः पवनरूपिणे ॥ ३११ ॥
नमः काञ्चनमालाय गिरिमालाय वै नमः ।
नमः सुरारिमालाय चण्डवेगाय वै नमः ॥ ३१२ ॥

नमस्कार है; तुम खेचर और गोचराभिरत हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम भूचर, भुवन, अनन्त, शिव, दिगम्बर पुष्पादिगन्धवासित और उत्तम वस्त्रधारी हो इससे तुम्हें प्रणाम है; तुम जगन्निवास, ज्ञान और सुखस्वरूप हो, सदा उद्बद्धमुकुट, महाकेयूरधारी सर्पकण्ठोपहार, विचित्र आभूषण, लोकयात्रानिर्वाहक अग्नि, सूर्य, चन्द्र रूप तीनों नेत्रोंके नेत्रस्वरूप और सहस्रशतलोचन हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम स्त्रीपुरुष और नपुंसक हो, तुम ही सांख्य और योगी हो, इससे तुम्हें नमस्कार है । (३०२—३०८)

तुम शंयुसंज्ञक, यज्ञषाड्गुण्यकर्त्ता देवताओंके प्रसाद स्वरूप हो, अथवा तुम सर्वार्ति नाशकर और शोक हरनेवाले हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम ही बादलोंके बीच गर्जना शब्द और बहु मायाधारी हो, इससे तुम्हें नमस्कार है, तुम बीजपाल, क्षेत्रपाल और स्रष्टा हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम सब देवताओंके ईश और विश्वेश्वर हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम पवनवेग पवनरूपी, काञ्चनमाल और गिरिमाल अर्थात् पर्वतके बीच क्रीडापरायण हो,

ब्रह्मशिरोपहर्ताय महिषघ्नाय वै नमः।
नमः स्त्रीरूपधाराय यज्ञविध्वंसनाय च ॥ ३१३ ॥
नमस्त्रिपुरहर्ताय यज्ञविध्वंसनाय च।
नमः कामाङ्गनाशाय कालदण्डधराय च ॥ ३१४ ॥
नमः स्कन्दविशाखाय ब्रह्मदण्डाय वै नमः।
नमो भवाय शर्वाय विश्वरूपाय वै नमः ॥ ३१५ ॥
ईशानाय भवघ्नाय नमोऽस्त्वन्धकघातिने।
नमो विश्वाय मायाय चिन्त्याचिन्त्याय वै नमः ॥३१६॥
त्वं नो गतिश्च श्रेष्ठश्च त्वमेव हृदयं तथा।
त्वं ब्रह्मा सर्वदेवानां रुद्राणां नीललोहितः ॥ ३१७ ॥
आत्मा च सर्वभूतानां सांख्ये पुरुष उच्यते।
ऋषभस्त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः ॥३१८॥
गृहस्थस्त्वमाश्रमिणामीश्वराणां महेश्वरः।
कुबेरः सर्वयक्षाणां क्रतूनां विष्णुरुच्यते ॥ ३१९ ॥
पर्वतानां भवान्मेरुर्नक्षत्राणां च चन्द्रमाः।
वसिष्ठस्त्वमृषीणां च ग्रहाणां सूर्य उच्यते ॥ ३२० ॥

इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम सुरारि-माल, चण्डवेग, ब्रह्माके सिरको हरनेवाले और महिषघ्न हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम मेघनिनाद, बहुमायाधारी हो; इससे तुम्हें नमस्कार है; त्रिमूर्तिधारी, सर्वरूपधारी, त्रिपुरहर और यज्ञविध्वंसकारी हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम कामाङ्ग नाशक कालदण्डधारी, स्कन्दविशाख और ब्रह्मदण्ड हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम भव, शर्व, विश्वरूप, ईशान, भवघ्न और अन्धकान्तक हो, इससे तुम्हें नमस्कार है; तुम विश्वमायावी, चिन्त्य, अचिन्त्य हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। (३०९—३१६)

तुम हमारे लिये श्रेष्ठ तथा गतिरूप हो, तुम ही हम लोगोंके हृदयस्वरूप हो, तुम सब देवताओंके बीच ब्रह्मा, रुद्रगणोंके बीच नीललोहित, सर्व प्राणियोंकी आत्मा और सांख्ययोगमें पुरुष रूपसे वर्णित हुआ करते हो; तुम पवित्र लोगोंके बीच ऋषभ, योगियोंमें निष्कल शिव, आश्रमी पुरुषोंमें गृहस्थ और ईश्वरोंमें महेश्वर हो; तुम यक्षोंके बीच कुबेर हो, यज्ञोंमें विष्णु कहके वर्णित होते हो, तुम पर्वतोंमें मेरु और नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा हो, ऋषियोंमें वासिष्ठ

आरण्यानां पशूनां च सिंहस्त्वं परमेश्वरः ।
ग्राम्याणां गोवृषश्चासि भवाँल्लोकप्रपूजितः ॥ ३२१ ॥
आदित्यानां भवान्विष्णुर्वसूनां चैव पावकः ।
पक्षिणां वैनतेयस्त्वमनन्तो भुजगेषु च ॥ ३२२ ॥
सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम् ।
सनत्कुमारो योगानां सांख्यानां कपिलो ह्यसि ॥३२३॥
शक्रोऽसि मरुतां देव पितृणां हव्यवाडसि ।
ब्रह्मलोकश्च लोकानां गतीनां मोक्ष उच्यसे ॥ ३२४ ॥
क्षीरोदः सागराणां च शैलानां हिमवान् गिरिः ।
वर्णानां ब्राह्मणश्चासि विप्राणां दीक्षितो द्विजः ॥३२५॥
आदिस्त्वमसि लोकानां संहर्ता काल एव च ।
यच्चान्यदपि लोके वै सर्वतेजोऽधिकं स्मृतम् ॥ ३२६ ॥
तत्सर्वं भगवानेव इति मे निश्चिता मतिः ।
नमस्ते भगवन् देव नमस्ते भक्तवत्सल ॥ ३२७ ॥
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वसंभव ।
प्रसीद मम भक्तस्य दीनस्य कृपणस्य च ॥ ३२८ ॥

और ग्रहोंके बीच सूर्य कहके अभिहित हुआ करते हो; तुम जङ्गली पशुओंके परम ईश्वर सिंह हो और ग्रामवासी पशुओंके बीच लोकपूजित गऊ वृषभ-स्वरूप हो, तुम आदित्योंके बीच विष्णु, वसुओंमें अग्नि, पक्षियोंमें गरुड,सर्पों-के बीच अनन्त, वेदोंमें सामवेद, यजु-र्वेदके बीच शतरुद्रिय,योगियोंमें सनत्-कुमार और सांख्योंके बीच कपिलस्व-रूप हो । (३१७—३२३)

हे देव ! तुम देवताओंमें इन्द्र तथा पितरोंमें अग्नि हो, तुम लोकोंके बीच ब्रह्मलोक और गतियोंके बीच मोक्षरूप से वर्णित हुआ करते हो। तुम समुद्रोंमें क्षीरसागर, पर्वतोंके बीच हिमालय, वर्णोंमें ब्राह्मण, विप्रोंके बीच दीक्षित ब्राह्मण हो; तुम सब लोकोंके आदि-कर्ता और कालक्रमसे संहर्ता हो; लोक में जो कुछ अधिक तेजसे युक्त वस्तु दीख पडती है, वह सब ही भगवानका स्वरूप है, ऐसा ही मेरी बुद्धिमें निश्चय हुआ है । हे भगवन् ! हे देव ! तुम्हें नमस्कार है; हे भक्तवत्सल ! तुम्हें प्रणाम है; हे योगेश्वर ! तुम्हें नमस्कार है । हे जगत्की सृष्टि करनेवाले! तुम्हें प्रणाम करता हूं; मैं दीन कृपण तुम्हा-

अनैश्वर्येण युक्तस्य गतिर्भव सनातन।
यच्चापराधं कृतवानज्ञात्वा परमेश्वर ॥ ३२९ ॥
मद्भक्त इति देवेश तत्सर्वं क्षन्तुमर्हसि।
मोहितश्चास्मि देवेश त्वया रूपविपर्ययात् ॥ ३३० ॥
नार्घ्यं तेन मया दत्तं पाद्यं चापि महेश्वर।
एवं स्तुत्वाऽहमीशानं पाद्यमर्घ्यं च भक्तितः ॥३३१॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा सर्वं तस्मै न्यवेदयम्।
ततः शीताम्बुसंयुक्ता दिव्यगन्धसमन्विता ॥ ३३२ ॥
पुष्पवृष्टिः शुभा तात पपात मम मूर्धनि।
दुन्दुभिश्च तदा दिव्यस्ताडितो देवकिंकरैः।
ववौ च मारुतः पुण्यः शुचिगन्धः सुखावहः॥३३३॥
ततः प्रीतो महादेवः सपत्नीको वृषध्वजः।
अब्रवीत्त्रिदशांस्तत्र हर्षयन्निव मां तदा ॥ ३३४ ॥
पश्यध्वं त्रिदशाः सर्वे उपमन्योर्महात्मनः।
मयि भक्तिं परां नित्यमेकभावादवस्थिताम् ॥ ३३५ ॥
एवमुक्तास्तदा कृष्ण सुरास्ते शूलपाणिना।

रा भक्त हूं, आप मुझपर प्रसन्न होइये। (३२४--३२८)

हे सनातन! इस अनैश्वर्ययुक्त भक्त के गति होइये। हे परमेश्वर! हे देवेश! मैंने अज्ञानके वशमें होकर जो कुछ अपराध किया है, आपको मुझे अपना भक्त समझकर उन अपराधोंकी क्षमा करना उचित है। हे देवेश्वर! मैं तुम्हारे रूपविपर्यय वशसे मोहित हुआ था, इसही निमित्त मैं तुम्हें पाद्य, अर्घ प्रदान नहीं कर सका। इस ही प्रकार मैंने महादेवकी स्तुति करके भक्ति-भावसे हाथ जोडके पाद्य, अर्घ आदि प्रदान किया। हे तात! अनन्तर मेरे सिरपर शीतल जलसे पूरित दिव्य गन्धयुक्त शुभ पुष्पवृष्टि होने लगी। देवताओंके सेवक दिव्य दुन्दुभी बजाने लगे। पवित्र गन्धवाली सुखदायक पुण्यजनक वायु बहने लगी। उसके अनन्तर सपत्नीक वृषभध्वज महादेव प्रसन्न होकर उस समय मानो मुझे हर्षित करते हुए देवताओंसे बोले, हे देव-वृन्द! मेरे विषयमें महात्मा उपमन्युकी एकाग्र भावसे स्थित परम भक्ति अवलोकन करो। (३२९-३३५)

हे कृष्ण! जब शूलपाणिने देवता-

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे नमस्कृत्वा वृषध्वजम् ॥ ३३६ ॥
भगवन् देवदेवेश लोकनाथ जगत्पते ।
लभतां सर्वकामेभ्यः फलं त्वत्तो द्विजोत्तमः ॥३३७॥
एवमुक्तस्ततः शर्वः सुरैर्ब्रह्मादिभिस्तथा ।
आह मां भगवानीशः प्रहसन्निव शंकरः ॥ ३३८ ॥
भगवानुवाच- वत्सोपमन्यो तुष्टोऽस्मि पश्य मां मुनिपुङ्गव ।
दृढभक्तोऽसि विप्रर्षे मया जिज्ञासितो ह्यसि ॥ ३३९॥
अनया चैव भक्त्या ते अत्यर्थं प्रीतिमानहम् ।
तस्मात्सर्वान् ददाम्यद्य कामांस्तव यथेप्सितान् ॥३४०॥
एवमुक्तस्य चैवाथ महादेवेन धीमता ।
हर्षादश्रूण्यवर्तन्त रोमहर्षस्त्वजायत ॥ ३४१ ॥
अब्रुवं च तदा देवं हर्षगद्गदया गिरा ।
जानुभ्यामवनीं गत्वा प्रणम्य च पुनः पुनः ॥ ३४२ ॥
अद्य जातो ह्यहं देव सफलं जन्म चाद्य मे ।
सुरासुरगुरुर्देवो यत्तिष्ठति ममाग्रतः ॥ ३४३ ॥
यं न पश्यन्ति चैवाद्धा देवा ह्यमितविक्रमम् ।

ओंसे ऐसा कहा, तब वे लोग हाथ जोडके वृषभध्वजको नमस्कार करके बोले, हे भगवन् ! हे देवदेवेश जगत्पति लोकनाथ ! यह द्विजवर आपके निकटसे सब काम्यमान फल लाभ करें। भगवान् शङ्कर ब्रह्मा प्रभृति देवताओंका ऐसा वचन सुनके हंसकर मुझसे कहने लगे। (३३६—३३८)

भगवान बोले, हे पुत्र मुनिपुंगव उपमन्यु ! मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं, तुम मेरा दर्शन करो। हे विप्रर्षि ! तुम मेरे दृढ भक्त हो, इस ही निमित्त मैं तुमसे पूछता हूं। तुम्हारी भक्तिके वश में होकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं, इसलिये इस समय तुम्हारी जो कुछ अभिलाष होगा, उन सब काम्य विषयोंको प्रदान करूंगा। धीमान महादेव का ऐसा वचन सुनके हर्षपूर्वक मेरे नेत्रोंसे आंसू गिरने लगे और रोएं खडे होगये। उस समय मैं दोनों जानु पृथ्वीपर स्थापितकर उस देवको बार बार प्रणाम करके हर्षित होकर गद्गद वचनसे कहने लगा, कि जब सुरासुर-गुरु महादेव मेरे अगाडी निवास करते हैं तब आज मेरा जन्म ग्रहण करना सफल हुआ। (३३९—३४३)

तमहं दृष्टवान् देवं कोऽन्यो धन्यतरो मया ॥ ३४४ ॥
एवं ध्यायन्ति विद्वांसः परं तत्त्वं सनातनम् ।
तद्विशेषमतिख्यातं यदजं ज्ञानमक्षरम् ॥ ३४५ ॥
स एष भगवान् देवः सर्वसत्त्वादिरव्ययः ।
सर्वतत्त्वविधानज्ञः प्रधानपुरुषः परः ॥ ३४६ ॥
योऽसृजद्दक्षिणादङ्गाद्ब्रह्माणं लोकसंभवम् ।
वामपार्श्वात्तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरः ॥ ३४७ ॥
युगान्ते चैव संप्राप्ते रुद्रमीशोऽसृजत्प्रभुः ।
स रुद्रः संहरन् कृत्स्नं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ ३४८॥
कालो भूत्वा महातेजाः संवर्तक इवानलः ।
युगान्ते सर्वभूतानि ग्रसन्निव व्यवस्थितः ॥ ३४९ ॥
एष देवो महादेवो जगत्सृष्ट्वा चराचरम् ।
कल्पान्ते चैव सर्वेषां स्मृतिमाक्षिप्य तिष्ठति ॥३५०॥
सर्वगः सर्वभूतात्मा सर्वभूतभवोद्भवः ।
आस्ते सर्वगतो नित्यमदृश्यः सर्वदैवतैः ॥ ३५१ ॥
यदि देयो वरो मह्यं यदि तुष्टोऽसि मे प्रभो ।

देवता लोग आराधना करके भी जिस देवेश्वरका दर्शन करनेमें समर्थ नहीं होते मैंने उसका दर्शन किया; इसलिये मेरे समान और कौन धन्य पुरुष है ? विद्वान् लोग इस ही सम्मुखवर्त्ती मूर्त्तिरूप सनातन परम तत्त्वका ध्यान किया करते हैं। यह मूर्त्तिही देवान्तरकी अपेक्षा विशिष्ट मूर्त्ति होके भी नित्य,अक्षर, उत्पत्तिरहित ज्ञान स्वरूपसे विख्यात है। यह वही भगवान् सत्त्वादि, अव्यय देव, सर्वतत्त्वविधानज्ञ प्रधान परम पुरुष है, जिसने दक्षिण अङ्गसे लोक-विधाता पितामहको और वाम अंगसे लोकरक्षाके निमित्त विष्णुको उत्पन्न किया है और प्रलयकाल उपस्थित होनेपर ईश्वर रुद्रको उत्पन्न करता है, वही रुद्र स्थावर जंगममय समस्त जगत्को संहार करते हुए संवर्त्तक अग्निकी भांति महातेजस्वी कालस्वरूपसे युगके अंतमें सब भूतोंको ग्रास करके स्थित होता है। (३४४—३४९)

यह महादेव सचराचर जगत्की सृष्टि करता और कल्पान्तमें सबकी स्मृति लोप करके निवास करता है। यही सर्वग, सर्वभूतात्मा, सर्वभूतभवोद्भव, सदा सर्वगत होके भी सब

भक्तिर्भवतु मे नित्यं त्वयि देव सुरेश्वर ॥ ३५२ ॥
अतीतानागतं चैव वर्तमानं च यद्विभो ।
जानीयामिति मे बुद्धिः प्रसादात्सुरसत्तम ॥ ३५३ ॥
क्षीरोदनं च भुञ्जीयामक्षयं सह बान्धवैः ।
आश्रमे च सदाऽस्माकं सान्निध्यं परमस्तु ते ॥३५४॥
एवमुक्तः स मां प्राह भगवाँल्लोकपूजितः ।
महेश्वरो महातेजाश्चराचरगुरुः शिवः ॥ ३५५ ॥
श्रीभगवानुवाच- अजरश्चामरश्चैव भव त्वं दुःखवर्जितः ।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥ ३५६ ॥
ऋषीणामभिगम्यश्च मत्प्रसादाद्भविष्यसि ।
शीलवान् गुणसंपन्नः सर्वज्ञः प्रियदर्शनः ॥ ३५७ ॥
अक्षयं यौवनं तेऽस्तु तेजश्चैवानलोपमम् ।
क्षीरोदः सागरश्चैव यत्र यत्रेच्छसि प्रियम् ॥ ३५८ ॥
तत्र ते भविता कामं सान्निध्यं पयसो निधेः ।
क्षीरोदनं च भुङ्क्ष्व त्वममृतेन समन्वितम् ॥ ३५९ ॥
बन्धुभिः सहितः कल्पं ततो मामुपयास्यसि ।

देवताओंको नहीं दीख पडता। हे देव! हे सुरेश्वर! यदि तुम मुझपर प्रसन्न हुए हो, और मुझे वरदान करना उचित समझते हो, तो मैं यही वर मांगता हूं, कि तुम्हारे ऊपर मेरी सदा भक्ति बनी रहे। हे विभु! हे सुरसत्तम! भूत, वर्त्तमान और जो कुछ भविष्य विषय हैं, उसे मैं तुम्हारी कृपासे जान सकूं, यही मेरी प्रार्थना है और मैं बान्धवोंके सहित अक्षय क्षीरोदन भोजन करूं तथा मेरे आश्रमके निकट आपका निवास रहे। लोकपूजित चराचर-गुरु महातेजस्वी भगवान् महेश्वर मेरी ऐसी प्रार्थना सुनके मुझसे बोले। (३५०-३५५)

भगवान् बोले, हे द्विजवर! तुम मेरी कृपासे अजर, अमर, दुःखरहित, यशस्वी और दिव्य ज्ञानसे संयुक्त होकर ऋषियोंमें आदरणीय होगे। तुम शील-वान्, गुणवान्, सर्वज्ञ और प्रियदर्शन होगे। तुम्हारा अग्निके समान तेज और यौवन अक्षय होवे। तुम जिस स्थानको प्रिय समझोगे, उस ही स्थानमें तुम्हारी इच्छाके अनुसार क्षीरोदसागर निकटवर्त्ती होगा, तुम बान्धवोंके सहित अमृत समान क्षीरोदन भक्षण

अक्षया बान्धवाश्चैव कुलं गोत्रं च ते सदा ॥ ३६० ॥
भविष्यति द्विजश्रेष्ठ मयि भक्तिश्च शाश्वती ।
सान्निध्यं चाश्रमे नित्यं करिष्यामि द्विजोत्तम ॥३६१॥
तिष्ठ वत्स यथाकामं नोत्कण्ठां च करिष्यसि ।
स्मृतस्त्वया पुनर्विप्र करिष्यामि च दर्शनम् ॥ ३६२॥
एवमुक्त्वा स भगवान् सूर्यकोटिसमप्रभः ।
ईशानः स वरान् दत्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३६३ ॥
एवं दृष्टो मया कृष्ण देवदेवः समाधिना ।
तदवाप्तं च मे सर्वं यदुक्तं तेन धीमता ॥ ३६४ ॥
प्रत्यक्षं चैव ते कृष्ण पश्य सिद्धान्व्यवस्थितान् ।
ऋषीन् विद्याधरान् यक्षान् गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥३६५॥
पश्य वृक्षलतागुल्मान् सर्वपुष्पफलप्रदान् ।
सर्वर्तुकुसुमैर्युक्तान्सुखपत्रान् सुगन्धिनः ॥ ३६६ ॥
सर्वमेतन्महाबाहो दिव्यभावसमन्वितम् ।
प्रसादाद्देवदेवस्य ईश्वरस्य महात्मनः ॥ ३६७ ॥
वासुदेव उवाच– एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रत्यक्षमिव दर्शनम् ।

करो । अनन्तर कल्पान्तकालमें मेरे निकट गमन करोगे । हे द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे बान्धवोंका कुल और गोत्र सदा अक्षय होगा और मुझमें तुम्हारी शाश्वती भक्ति रहेगी । हे द्विजोत्तम ! मैं सदा तुम्हारे आश्रमके निकट रहूंगा। हे पुत्र ! तुम इच्छानुसार निवास करो, उत्कण्ठित न होना । पुनर्वार स्मरण करनेसे भी मैं तुम्हें दर्शन दूंगा। कोटि-सूर्य समान प्रकाशसे युक्त भगवान ईशान ऐसा कहके वरदान देकर उस ही स्थानमें अन्तर्द्धान होगये। (३५९-३६३)

हे कृष्ण ! इस ही प्रकार समाधिके द्वारा मैंने देवोंके देव महादेवका दर्शन किया था । उन्होंने जो कुछ कहा था, मुझे वह सब प्राप्त हुआ है । हे कृष्ण ! प्रत्यक्ष देखो; सिद्ध, ऋषि, विद्याधर, यक्ष, गन्धर्व और अप्सरावृन्द स्थित हैं । सर्वपुष्पफलप्रद वृक्ष, लता और गुल्म अवलोकन करो, ये सब ऋतुओंमें ही पुष्पयुक्त, सुखपत्र और सुगन्धमय होरहे हैं । हे महाबाहो ! महानुभाव देवोंके देव ईश्वरकी कृपासे ये सब दिव्य भावसे सम्पन्न हैं। (३६४-३६७)

श्रीकृष्ण बोले, मैंने प्रत्यक्ष दर्शनकी भांति उस महामुनिका वाक्य सुनके

विस्मयं परमं गत्वा अब्रुवं तं महामुनिम् ॥ ३६८ ॥
धन्यस्त्वमसि विप्रेन्द्र कस्त्वदन्योऽस्ति पुण्यकृत् ।
यस्य देवाधिदेवस्य सान्निध्यं कुरुतेऽऽश्रमे ॥ ३६९ ॥
अपि तावन्ममाप्येवं दद्यात्स भगवाञ्छिवः ।
दर्शनं मुनिशार्दूल प्रसादं चापि शंकरः ॥ ३७० ॥
उपमन्युरुवाच– द्रक्ष्यसे पुण्डरीकाक्ष महादेवं न संशयः ।
अचिरेणैव कालेन यथा दृष्टो मयाऽनघ ॥ ३७१ ॥
चक्षुषा चैव दिव्येन पश्याम्यमितविक्रमम् ।
षष्ठे मासि महादेवं द्रक्ष्यसे पुरुषोत्तम ॥ ३७२ ॥
षोडशाष्टौ वरांश्चापि प्राप्स्यसि त्वं महेश्वरात् ।
सपत्नीकाद्यदुश्रेष्ठ सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ३७३ ॥
अतीतानागतं चैव वर्तमानं च नित्यशः ।
विदितं मे महाबाहो प्रसादात्तस्य धीमतः ॥ ३७४ ॥
एतान्सहस्रशश्चान्यान्समनुध्यातवान्हरः ।
कस्मात्प्रसादं भगवान्न कुर्यात्तव माधव ॥ ३७५ ॥
त्वादृशेन हि देवानां श्लाघनीयः समागमः ।
ब्रह्मण्येनानृशंसेन श्रद्दधानेन चाप्युत ॥ ३७६ ॥

अत्यन्त विसमययुक्त होकर उनसे कहा, हे विप्रेन्द्र ! तुम ही धन्य हो, तुम्हारे अतिरिक्त और पुण्यवान् दूसरा कौन है ? क्यों कि देवोंके देव तुम्हारे आश्रमके निकटवर्त्ती हैं । हे मुनिपुङ्गव ! कल्याणदाता भगवान् शङ्कर प्रसन्न होके मुझे भी दर्शन और प्रसाद दे सकते हैं ? (३६८-३७०)

उपमन्यु बोले, हे अनघ पुण्डरीकाक्ष ! मैंने जिस प्रकार दर्शन किया था, तुम थोडे ही समयमें उस ही भांति महादेवका दर्शन करोगे । हे अमितविक्रम पुरुषोत्तम ! मैं दिव्य नेत्रके सहारे देखता हूं, कि तुम छठवें महीनेमें महादेवका दर्शन करोगे । हे यदुश्रेष्ठ ! सपत्नीक महादेवके निकट तुम चौवीस वर पाओगे, यह मैं तुमसे सत्य ही कहता हूं । हे महाबाहो ! उस महेश्वरके प्रसादसे भूत, वर्त्तमान और भविष्य विषय सदा मुझे विदित होते हैं । हे माधव ! भगवान् भवानीपतिने इन सब तथा दूसरे सहस्रों पुरुषोंपर कृपा की है, तब तुम पर कृपा क्यों न करेंगे ? विशेष करके तुम्हारे समान श्रद्धावान्,

जप्यं तु ते प्रदास्यामि येन द्रक्ष्यसि शंकरम् ।

श्रीकृष्ण उवाच- अब्रुवं तमहं ब्रह्मन् त्वत्प्रसादान्महामुने ॥ ३७७ ॥

द्रक्ष्ये दितिजसंघानां मर्दनं त्रिदशेश्वरम् ।

एवं कथयतस्तस्य महादेवाश्रितां कथाम् ॥ ३७८ ॥

दिनान्यष्टौ ततो जग्मुर्मुहूर्तमिव भारत ।

दिनेऽष्टमे तु विप्रेण दीक्षितोऽहं यथाविधि ॥ ३७९ ॥

दण्डी मुण्डी कुशी चीरी घृताक्तो मेखलीकृतः ।

मासमेकं फलाहारो द्वितीयं सलिलाशनः ॥ ३८० ॥

तृतीयं च चतुर्थं च पञ्चमं चानिलाशनः ।

एकपादेन तिष्ठंश्च ऊर्ध्वबाहुरतन्द्रितः ॥ ३८१ ॥

तेजः सूर्यसहस्रस्य अपश्यं दिवि भारत ।

तस्य मध्यगतं चापि तेजसः पाण्डुनन्दन ॥ ३८२ ॥

इन्द्रायुधपिनद्धाङ्गं विद्युन्मालागवाक्षकम् ।

नीलशैलचयप्रख्यं बलाकाभूषिताम्बरम् ॥ ३८३ ॥

तत्र स्थितश्च भगवान् देव्या सह महाद्युतिः ।

ब्रह्मण्य और अनृशंस पुरुषके सङ्ग समागम होना देवताओंमें श्लाघनीय है। मैं तुम्हें जपका फल प्रदान करता हूं, उसहीके द्वारा तुम महादेवका दर्शन करनेमें समर्थ होगे। (३७१—३७७)

विष्णु बोले, मैंने उनसे कहा, हे ब्रह्मन्! हे महामुनि! मैं आपकी कृपासे दितिजदलको मर्दनेवाले त्रिदशेश्वरका दर्शन करूंगा। हे भारत! अनन्तर इस ही प्रकार महादेवाश्रित कथा कहते कहते मुहूर्तकालकी भांति आठ दिन बीत गया। आठवें दिन मैंने उस विप्रसे विधिपूर्वक दीक्षा पाई। दण्डधारी मुण्डित सिर, कुशचीरधारी और घृताक्त होकर मेखला धारण किया। एक महीनेतक फलाहार करके रहा, दूसरे महीनेमें जल पीके और तीसरे चौथे तथा पांचवें महीनेतक वायु पीके निवास किया। हे भारत! मैं ऊर्ध्वबाहु और अतन्द्रित होकर एक पदसे स्थित था, अनन्तर मैंने आकाशमण्डलमें सहस्र सूर्यका तेज अवलोकन किया। हे पाण्डुनन्दन! उस तेजके बीचमें इन्द्रायुधपिनद्धाङ्ग, विद्युन्माला रूपगवाक्ष समन्वित, नीलगिरिके निकट बकपंक्ति विभूषित पर्वत मण्डल की भांति स्थित था। (३७७–३८३)

तपसा तेजसा कान्त्या दीप्तया सह भार्यया ॥१८४॥
रराज भगवांस्तत्र देव्या सह महेश्वरः।
सोमेन सहितः सूर्यो यथा मेघस्थितस्तथा ॥ १८५॥
संहृष्टरोमा कौन्तेय विस्मयोत्फुल्ललोचनः।
अपश्यं देवसंघानां गतिमार्तिहरं हरम् ॥ १८६॥
किरीटिनं गदिनं शूलपाणिं व्याघ्राजिनं जटिलं दण्डपाणिम्।
पिनाकिनं वज्रिणं तीक्ष्णदंष्ट्रं शुभाङ्गदं व्यालयज्ञोपवीतम् ॥ १८७॥
दिव्यां मालामुरसाऽनेकवर्णां समुद्वहन्तं गुल्फदेशावलम्बाम्।
चन्द्रं यथा परिविष्टं ससन्ध्यं वर्षात्यये तद्वदपश्यमेनम् ॥ १८८॥
प्रमथानां गणैश्चैव समन्तात्परिवारितम्।
शरदीव सुदुष्प्रेक्ष्यं परिविष्टं दिवाकरम् ॥ १८९॥
एकादश शतान्येवं रुद्राणां वृषवाहनम्।
अस्तुवं नियतात्मानं कर्मभिः शुभकर्मिणम् ॥१९०॥
आदित्या वसवः साध्या विश्वेदेवास्तथाऽश्विनौ।
विश्वाभि स्तुतिभिर्देवं विश्वदेवं समस्तुवन् ॥ १९१॥
शतक्रतुश्च भगवान् विष्णुश्चादितिनन्दनौ।

महातेजस्वी भगवान् महेश्वर देवीके सहित उसही नीरदमण्डलमें स्थित रहके तप, तेज, कान्ति और दीप्यमान उमाके सहित मेघमण्डलमें स्थित चन्द्रमासे युक्त सूर्यकी भांति विराजते थे। हे कुन्तीनन्दन! मैंने रोमाञ्चित शरीर और विस्मयोत्फुल्ल नेत्रसे देवताओंकी गति तथा आर्त्तिहर महादेवका दर्शन किया। मैंने देखा, कि ये ही किरीट मण्डित, गदा हाथमें लिये हुए, शूलपाणि, व्याघ्राम्बरधारी, जटिल, दण्डपाणि, पिनाकी, वज्री, तीक्ष्णदन्त, शुभाङ्गद, व्यालयज्ञोपवीती देव वर्षाके समाप्तिमें सन्ध्याके सहित घिरे हुए चन्द्रमाकी भांति वक्षःस्थलमें गुल्फ पर्य्यन्त अनेक वर्णकी दिव्यमाला धारण करके निवास करते हैं। शरत्कालमें निर्मल, दुष्प्रेक्ष्य, प्रकाशमान सूर्यकी भांति भूतगणोंसे सब प्रकार घिरे हुए थे, ग्यारह सौ रुद्रगण मन और कर्मसे सदा शुभ कर्मशील उस वृषभवाहन महेश्वरकी स्तुति करते थे। (१८४-१९०)

आदित्य गण, वसु, साध्य, विश्वदेव और दोनों अश्विनीकुमार विश्वस्तुतिके सहारे उस विश्वेश्वरकी आराधना करते थे। अदिति-नन्दन इन्द्र, विष्णु और

ब्रह्मा रथन्तरं साम ईरयन्ति भवान्तिकं ॥ ३९२ ॥
योगीश्वराः सुबहवो योगदं पितरं गुरुम् ।
ब्रह्मर्षयश्च ससुतास्तथा देवर्षयश्च वै ॥ ३९३ ॥
पृथिवी चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
मासार्धमासा ऋतवो रात्रिः संवत्सराः क्षणाः ॥३९४॥
मुहूर्ताश्च निमेषाश्च तथैव युगपर्ययाः ।
दिव्या राजन्नमस्यन्ति विद्याः सत्त्वविदस्तथा ॥३९५॥
सनत्कुमारो देवाश्च इतिहासास्तथैव च ।
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ ३९६ ॥
मनवः सप्त सोमश्च अथर्वा सबृहस्पतिः ।
भृगुर्दक्षः कश्यपश्च वसिष्ठः काश्य एव च ॥ ३९७ ॥
छन्दांसि दीक्षा यज्ञाश्च दक्षिणाः पावको हविः ।
यज्ञोपगानि द्रव्याणि मूर्तिमन्ति युधिष्ठिर ॥ ३९८ ॥
प्रजानां पालकाः सर्वे सरितः पन्नगा नगाः ।
देवानां मातरः सर्वा देवपत्न्यः सकन्यकाः ॥ ३९९ ॥
सहस्राणि मुनीनां च अयुतान्यर्बुदानि च ।
नमस्यन्ति प्रभुं शान्तं पर्वताः सागरा दिशः ॥४००॥
गन्धर्वाप्सरसश्चैव गीतवादित्रकोविदाः ।
दिव्यतालेषु गायन्तः स्तुवन्ति भवमद्भुतम् ॥ ४०१ ॥

ब्रह्मा महादेवके निकट रथन्तर सामगान करते थे। हे राजन्! बहुतेरे योगेश्वरवृन्द पुत्रोंके सहित ब्रह्मर्षि, देवर्षि पृथ्वी, आकाश, नक्षत्र, ग्रह, मास, पक्ष, सब ऋतु, रात्रि, संवत्सर क्षण, मुहूर्त, निमेष, युगपर्यय, दिव्य विद्या और सत्त्ववित् सब प्राणी उस योगदाता, पिता तथा गुरुको नमस्कार करते थे। सनत्कुमार, समस्त देव, इतिहास, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, सप्तमनु, सोम, अथर्वा, बृहस्पति, भृगु, दक्ष, कश्यप, वसिष्ठ, काश्य, समस्त छन्द, दीक्षा, यज्ञ, दक्षिणा, अग्नि, हवि, मूर्त्तिमत् यज्ञके उपकरण तथा सब सामग्री समस्त प्रजापालगण, नदियें, पन्नग और नगगण, देवगणोंकी माता, कन्या और समस्त स्त्रियें, सहस्र अयुत और अर्बुद संख्यक मुनिवृन्द, पर्वत, समुद्र, और सब दिशा, गीतवाद्यके

विद्याधरा दानवाश्च गुह्यका राक्षसास्तथा ।
सर्वाणि चैव भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
नमस्यन्ति महाराज वाङ्मनःकर्मभिर्विभुम् ॥ ४०२॥
पुरस्ताद्धिष्ठितः शर्वो ममासीत्त्रिदशेश्वरः ।
पुरस्ताद्धिष्ठितं दृष्ट्वा ममेशानं च भारत ॥ ४०३ ॥
सप्रजापतिशक्रान्तं जगन्मामभ्युदैक्षत ।
ईक्षितुं च महादेवं न मे शक्तिरभूत्तदा ॥ ४०४ ॥
ततो मामब्रवीद्देवः पश्य कृष्ण वदस्व च ।
त्वया ह्याराधितश्चाहं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४०५ ॥
त्वत्समो नास्ति मे कश्चित्त्रिषु लोकेषु वै प्रियः ।
शिरसा वन्दिते देवे देवी प्रीता ह्युमा तदा ।
ततोऽहमब्रुवं स्थाणुं स्तुतं ब्रह्मादिभिः सुरैः ॥ ४०६ ॥
कृष्ण उवाच– नमोऽस्तु ते शाश्वत सर्वयोने ब्रह्माधिपं त्वामृषयो वदन्ति ।
तपश्च सत्त्वं च रजस्तमश्च त्वामेव सत्यं च वदन्ति सन्तः ॥ ४०७ ॥
त्वं वै ब्रह्मा च रुद्रश्च वरुणोऽग्निर्मनुर्भवः ।

जाननेवाले गन्धर्व तथा अप्सरागण दिव्य तालके सहित गान करती हुई शान्त विभुभवको प्रणाम और अद्भुतभावसे स्तुति कर रही थीं।(३९१-४०१)

हे महाराज ! विद्याधर, दानव, गुह्यक, राक्षस और स्थावर जङ्गम समस्त प्राणी वचन, मन और कर्मसे उस महेश्वरको प्रणाम करते थे; देवेश्वर महादेव मेरे अगाडी स्थित थे। हे भारत ! मेरे अगाडी महादेवको खडे हुए देखके ब्रह्मा और इन्द्र पर्यन्त सब लोग मुझे देखने लगे। उस समय महादेवकी ओर देखनेमें मेरी सामर्थ्य न हुई। अनन्तर महेश्वर मुझसे बोले हे "कृष्ण ! तुम मेरा दर्शन करो और जो कुछ अभिलाष हो, वह मुझसे कहो, तुमने सैकडों सहस्रों बार मेरी आराधना की है, तीनों लोकोंके बीच तुम्हारे समान प्रियपात्र मेरा कोई भी नहीं है।" मैंने जब सिर नीचा करके महादेवकी वन्दना की, तब उमादेवी प्रसन्न हुई। अनन्तर मैंने ब्रह्मादि देवताओंके स्तवनीय महादेवसे कहा। (४०२-४०६)

विष्णु बोले, हे अपरिणामिन् सर्व योनि शङ्कर ! तुम्हें प्रणाम है, ऋषि लोग तुम्हें सब वेदोंके स्तवनीय कहते हैं, साधु लोग तुम्हें ही तप, सत्त्व,

धाता त्वष्टा विधाता च त्वं प्रभुः सर्वतोमुखः ॥४०८॥
त्वत्तो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
त्वया सृष्टमिदं कृत्स्नं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥४०९॥
यानीन्द्रियाणीह मनश्च कृत्स्नं ये वायवः सप्त तथैव चाग्नयः ।
ये देवसंस्था स्तवदेवताश्च तस्मात्परं त्वामृषयो वदन्ति ॥४१०॥
वेदाश्च यज्ञाः सोमश्च दक्षिणा पावको हविः ।
यज्ञोपगं च यत्किञ्चिद्भगवांस्तदसंशयम् ॥ ४११ ॥
इष्टं दत्तमधीतं च व्रतानि नियमाश्च ये ।
ह्रीः कीर्तिः श्रीर्द्युतिस्तुष्टिः सिद्धिश्चैव तदर्पणी ॥४१२॥
कामः क्रोधो भयं लोभो मदः स्तम्भोऽथ मत्सरः ।
आधयो व्याधयश्चैव भगवंस्तनवस्तव ॥ ४१३ ॥
कृतिर्विकारः प्रणयः प्रधानं बीजमव्ययम् ।
मनसः परमा योनिः प्रभावश्चापि शाश्वतः ॥ ४१४ ॥
अव्यक्तः पावनोऽचिन्त्यः सहस्रांशुर्हिरण्मयः ।

रज, तम और सत्यस्वरूप कहा करते हैं। तुम ही ब्रह्मा, रुद्र, वरुण, अग्नि, मनु, भव, धाता (ईश्वर), त्वष्टा (रूपनिर्माता), विधाता (धर्माधर्मरूपी कर्मफल देनेवाले) और तुम सर्वतोमुख प्रभु हो। स्थावर जङ्गम समस्त प्राणी तुमसे ही उत्पन्न हुए हैं, ये चराचरोंके सहित तीन लोक तुमसे प्रकट हुए हैं। इस शरीरमें जो सब इन्द्रियें, मन और प्राण आदि पञ्चवायु हैं, और गार्हपत्य, दक्षिण, आवहनीय, सभ्य, आवसथ्य, ये पांचों श्रौत, छठवीं स्मार्त्त, सातवीं लौकिक, ये सात प्रकारकी अग्नि और देव अर्थात् सूत्रात्मामें जिनकी समाप्ति हुई है, तथा जो स्तुतिके योग्य देवता हैं, उन सबके नेत्र और वचनसे ऋषि लोग तुम्हें अगोचर कहा करते हैं। (४०७–४१०)

सब वेद, यज्ञ, सोम दक्षिणाग्नि, हवि तथा जो कुछ यज्ञकी सामग्री हैं, भगवान् ही निःसंदेह उन सबके स्वरूप हैं। इष्ट, दत्त,अधीत,व्रत, नियम,लज्जा, कीर्ति, श्री, द्युति, तुष्टि और सिद्धि ये सभी तुम्हारे स्वरूप प्राप्तिके कारण हैं। हे भगवन्! काम, क्रोध, भय, लोभ, मद, स्तम्भ, मत्सरता आधि और व्याधि, ये सब तुम्हारे अंश हैं। क्रिया, विकार अर्थात् क्रिया फलभूत हर्ष आदि,उसके अभाव प्रणय,वासना-बीज प्रधान, मनकी परमयोनि, शाश्वत

आदिर्गणानां सर्वेषां भवान्वै जीविताश्रयः ॥ ४१५ ॥
महानात्मा मतिर्ब्रह्मा विश्वः शम्भुः स्वयंभुवः ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च संवित्ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ॥४१६॥
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ।
त्वां बुद्ध्वा ब्राह्मणो वेदात्प्रमोहं विनियच्छति॥४१७॥
हृदयं सर्वभूतानां क्षेत्रज्ञस्त्वमृषिस्तुतः ।
सर्वतः पाणिपादस्त्वं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः॥ ४१८ ॥
सर्वतः श्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि ।
फलं त्वमसि तिग्मांशोर्निमेषादिषु कर्मसु ॥ ४१९ ॥
त्वं वै प्रभार्चिः पुरुषः सर्वस्य हृदि संश्रितः ।
अणिमा महिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥४२०॥
त्वयि बुद्धिर्मतिर्लोकाः प्रपन्नाः संश्रिताश्च ये ।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसत्त्वा जितेन्द्रियाः॥४२१॥
यस्त्वां ध्रुवं वेदयते गुहाशयं प्रभुं पुराणं पुरुषं च विग्रहम् ।

प्रभाव, अज्ञान, अव्यक्त, पावन, अचिन्त्य, चित्तमें ज्योतिरूपी सूर्य, तथा अव्यक्तादि तत्वोंकी आदि हो, आप ही उन सबके जीविताश्रय अर्थात् नदियोंके निमित्त समुद्रकी भांति प्राप्य स्थान, महान्, आत्मा, मति, ब्रह्मा, विश्व, शम्भु, स्वयम्भु, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, संवित्, ख्याति, धृति, स्मृति, आदि पर्याय-वाचक शब्दोंके द्वारा वेदार्थ जाननेवाले पुरुषोंसे तुम ही वेदमें महान् आत्मा कहके वर्णित हुआ करते हो। विद्वान् ब्राह्मण लोग तुम्हें जानके मोहजनक अज्ञान निवारण करते हैं। ४११-४१७

तुम सब प्राणियोंके हृदयमें वास करनेवाले क्षेत्रज्ञ और मन्त्रोंके स्तवनीय हो। तुम्हारे पाणि और पादका अन्त सर्वत्र विद्यमान है। तुम्हारे नेत्र, सिर और मुख सब ठौर विराजमान हैं; तुम सर्वत्र श्रुतिमान होकर सारे जगत्‌को परिपूर्ण कर रहे हो, तुम ही सूर्यकी प्रभा तथा किरण और निमेष आदि कर्मोंके फल हो; तुम सबके हृदयस्थ पुरुष हो। तुम अणिमा (दुर्लक्ष्यतन्मात्र) हो, तुम लघिमा (त्रिविध परिच्छेदसे रहित) हो, तुम प्राप्तिस्वरूप ईशान और अव्यय ज्योति हो, तुममें बुद्धि, मति और समस्त लोक स्थित होरहे हैं। जो लोग ध्याननिष्ठ, नित्य योगमें रत, सत्य-सन्ध और जितेन्द्रिय हैं, वे तुममें ही संश्रित होरहे हैं। (४१८-४२१)

हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥४२२॥

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं त्वां च मूर्तितः ।
प्रधानविधियोगस्थस्त्वामेव विशते बुधः ॥ ४२३ ॥

एवमुक्ते मया पार्थ भवे चार्तिविनाशने ।
चराचरं जगत्सर्वं सिंहनादं तदाऽकरोत् ॥ ४२४ ॥

तं विप्रसंघाश्च सुरासुराश्च नागाः पिशाचाः पितरो वयांसि ।
रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे महर्षयश्चैव तदा प्रणेमुः ॥ ४२५ ॥

मम मूर्ध्नि च दिव्यानां कुसुमानां सुगन्धिनाम् ।
राशयो निपतन्ति स्म वायुश्च सुसुखो ववौ ॥ ४२६ ॥

निरीक्ष्य भगवान् देवीं ह्युमां मां च जगद्धितः ।
शतक्रतुं चाभिवीक्ष्य स्वयं मामाह शंकरः ॥ ४२७ ॥

विद्मः कृष्ण परां भक्तिमस्मासु तव शत्रुहन् ।
क्रियतामात्मनः श्रेयः प्रीतिर्हि त्वयि मे परा ॥४२८॥

जो तुम्हें न चलनेवाले, गुहामें शयन करनेवाले, प्रभु, पुराण पुरुष, विशिष्टानुभव स्वरूप निष्कल ज्ञप्तिमात्र, हिरण्यका बना हुआ और बुद्धिमान पुरुषोंकी परम गतिको जानते हैं, अथवा जानके शिष्योंको बनाते हैं, वे महाबुद्धिमान पुरुष बुद्धिको अतिक्रम करके निवास किया करते हैं। विद्वान् पुरुष सातों सूक्ष्म विषयों अर्थात् महत्, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्र और षडङ्ग अर्थात् सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्तशक्ति और अत्यन्त शक्तियुक्त तुम्हें मूर्तिमान रूपसे जानके और चित्तप्रत्यके आत्मनिष्ठत्व रूपसे ज्ञापनरूपी विधिके अनुसार योगयुक्त होकर तुममें ही प्रवेश करते हैं। (४२२–४२३)

हे पार्थ! सब दुःखोंको दूर करनेवाले महादेवसे जब मैंने ऐसा कहा, उस समय चराचरोंसे युक्त समस्त जगत् सिंहनाद करने लगा; उस समय ब्राह्मण, देवता, असुर, सर्प, पिशाच, पितर, पक्षीवृन्द राक्षसों, समस्त प्राणियों तथा महर्षियोंने उन्हें प्रणाम किया। मेरे सिरपर दिव्य सुगन्धियुक्त फूलोंकी वर्षा हुई और महा सुखस्पर्श वायु बहने लगी। अखिल जगत् का हित करनेवाला भगवान शङ्कर और उमादेवी; मुझे और इन्द्रको देखके स्वयं मुझसे कहने लगे। हे शत्रुनिषूदन कृष्ण! यह मैं जानता हूं कि मुझपर तुम्हारी परम भक्ति है, तुम अपना

वृणीष्वाष्टौ वरान् कृष्ण दातास्मि तव सत्तम।
ब्रूहि यादवशार्दूल यानिच्छसि सुदुर्लभान् ॥ ४२९ ॥ [१०११]
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

कृष्ण उवाच- मूर्ध्ना निपत्य नियतस्तेजःसन्निचये ततः।
परमं हर्षमागत्य भगवन्तमथाब्रुवम् ॥ १ ॥
धर्मे दृढत्वं युधि शत्रुघातं यशस्तथाऽग्र्यं परमं बलं च।
योगप्रियत्वं तव सन्निकर्षं वृणे सुतानां च शतं शतानि ॥ २ ॥
एवमस्त्विति तद्वाक्यं मयोक्तः प्राह शंकरः।
ततो मां जगतो माता धारिणी सर्वपावनी ॥ ३ ॥
उवाचोमा प्रणिहिता शर्वाणी तपसां निधिः।
दत्तो भगवता पुत्रः साम्बो नाम तवानघ ॥ ४ ॥
मत्तोऽप्यष्टौ वरानिष्टान् गृहाण त्वं ददामि ते।
प्रणम्य शिरसा सा च मयोक्ता पाण्डुनन्दन ॥ ५ ॥
द्विजेष्वकोपं पितृतः प्रसादं शतं सुतानां परमं च भोगम्।
कुले प्रीतिं मातृतश्च प्रसादं शमप्राप्तिं प्रवृणे चापि दाक्ष्यम् ॥ ६ ॥

कल्याण साधन करो, तुमपर मेरी परम प्रीति उत्पन्न हुई है। हे सत्तम कृष्ण! तुम वर मांगो मैं तुम्हें आठ वर दूंगा। हे यादवश्रेष्ठ! तुम जिन सब दुर्लभ वरोंके निमित्त इच्छा करते हो उन्हें मांगो। (४२४—४२९)

अनुशासनपर्वमें १४ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें १५ अध्याय।

श्रीकृष्ण बोले, अनन्तर मैंने परम हर्षसे सिर झुकाके उन्हें प्रणाम किया और तेजःपुञ्जमें स्थित भगवान्से कहा। हे भगवन्! मैं धर्ममें दृढबन्धन, युद्धमें शत्रुहनन, श्रेष्ठ यश, अत्यन्त बल, योगके सहित प्रियत्व और सैकडों पुत्र पानेके लिये आपके निकट प्रार्थना करता हूं। महादेव मेरी ऐसी प्रार्थना सुनके बोले, "ऐसा ही होवे।" अनन्तर जगन्माता, सर्वधारिणी, सर्वपावनी, तपस्याकी निधि, शर्वाणी उमा देवीने मुझसे कहा, हे पापरहित कृष्ण! भगवानने तुम्हें सांब नामक पुत्र प्रदान किया। अब तुम निज अभिलषित आठ वर मुझसे मांगो, मैं तुम्हें वर देती हूं। हे पाण्डुनन्दन! मैंने उस समय सिर झुकाके देवीको प्रणाम करके कहा, हे माता! ब्राह्मणोंके विषयमें

उमोवाच— एवं भविष्यत्यमरप्रभाव नाहं मृषा जातु वदे कदाचित् ।
भार्यासहस्राणि च षोडशैव तासु प्रियत्वं च तथाऽक्षयं च ॥ ७॥
प्रीतिं चाग्र्यां बान्धवानां सकाशाद्ददामि तेऽहं वपुषः काम्यतां च ।
भोक्ष्यन्ते वै सप्ततिं वै शतानि गृहे तुभ्यमतिथीनां च नित्यम् ॥ ८॥
वासुदेव उवाच- एवं दत्त्वा वरान् देवो मम देवी च भारत ।
अन्तर्हितः क्षणे तस्मिन् स गणो भीमपूर्वज ॥ ९ ॥
एतदत्यद्भुतं पूर्वं ब्राह्मणायातितेजसे ।
उपमन्यवे मया कृत्स्नं व्याख्यातं पार्थिवोत्तम ।
नमस्कृत्वा तु स प्राह देवदेवाय सुव्रत ॥ १० ॥
उपमन्युरुवाच- नास्ति शर्वसमो देवो नास्ति शर्वसमा गतिः ।
नास्ति शर्वसमो दाने नास्ति शर्वसमो रणे ॥ ११ ॥ [१०२२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५॥

उपमन्युरुवाच-ऋषिरासीत्कृते तात तण्डिरित्येव विश्रुतः ।

अक्रोध, पिताकी प्रसन्नता, शतपुत्र, परम भोग, कुलमें प्रीति, माताकी कृपा, शमप्राप्ति और दक्षताकी मैं प्रार्थना करता हूं। (१—६)

उमा बोली, हे परमप्रभाव ! तुमने जो वर मांगा वह तुम्हें प्राप्त होगा; इसके अतिरिक्त मैं और भी आठ वर देती हूं, मैं कदापि मिथ्या नहीं कहती, इसलिये तुम भी महाप्रभावयुक्त होगे और मिथ्या न कहोगे, तुम्हारे सोलह हजार भार्या होंगी, उनपर तुम्हारा प्रियत्व और धनधान्य आदिका अक्षयत्व रहेगा, तुम गन्धर्वोंके निकट परम प्रीति प्राप्त करोगे; तुम्हारे शरीरकी कमनीयता होगी और तुम्हारे गृह में प्रतिदिन सत्तर सौ अतिथि भोजन करेंगे, मैंने तुम्हें यह आठ वर और प्रदान किया। (७-८)

श्रीकृष्ण बोले,हे भीमाग्रज भारत ! महादेव और देवी इस ही प्रकार चौबीस वर देके उस ही समय निजगणके सहित अन्तर्द्धान हुए। हे नृपवर ! यह अत्यन्त अद्भुत समस्त विषय पहले मैंने ब्राह्मणश्रेष्ठ तेजस्वी उपमन्युके समीप वर्णन किया। हे सुव्रत ! उन्होंने महादेवको नमस्कार करके कहा। (९-१०)

उपमन्यु बोले, महादेवके समान देवता नहीं है, न महादेवके समान गति है, दानविषयमें महादेवके समान

दश वर्षसहस्राणि तेन देवः समाधिना ॥ १ ॥
आराधितोऽभूद्भक्तेन तस्योदर्कं निशामय ।
स दृष्टवान्महादेवमस्तौषीच स्तवैर्विभुम् ॥ २ ॥
इति तण्डिस्तपोयोगात्परमात्मानमव्ययम् ।
चिन्तयित्वा महात्मानमिदमाह सुविस्मितः ॥ ३ ॥
यं पठन्ति सदा सांख्याश्चिन्तयन्ति च योगिनः ।
परं प्रधानं पुरुषमधिष्ठातारमीश्वरम् ॥ ४ ॥
उत्पत्तौ च विनाशे च कारणं यं विदुर्बुधाः ।
देवासुरमुनीनां च परं यस्मान्न विद्यते ॥ ५ ॥
अजं तमहमीशानमनादिनिधनं प्रभुम् ।
अत्यन्तसुखिनं देवमनघं शरणं व्रजे ॥ ६ ॥
एवं ब्रुवन्नेव तदा ददर्श तपसां निधिम् ।
तमव्ययमनौपम्यमचिन्त्यं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ७ ॥
निष्कलं सकलं ब्रह्म निर्गुणं गुणगोचरम् ।

कोई नहीं है और न कोई पुरुष संग्राम में ही महादेवके समान है। (११)

अनुशासनपर्वमें १५ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें १६ अध्याय।

उपमन्यु बोले, हे तात ! सत्ययुगमें तण्डिनामसे विख्यात एक ऋषि था, उस भक्तने दस हजार वर्षतक ध्यान योगके सहारे एकाग्र होकर महादेवकी आराधना की थी, तपस्या पूर्ण होनेपर उन्हें जो फल प्राप्त हुआ उसे सुनो, उन्होंने विभु महादेवका दर्शन करके स्तुतियुक्त वचनसे उनका स्तव किया था, तण्डि मुनि तपोयोग निबन्धनसे अव्यय महात्मा परमात्माका इस ही प्रकार ध्यान करके अत्यन्त विस्मय-युक्त होकर यह वक्ष्यमाण वचन बोले, सांख्यादि लोक जिस परमप्रधान पुरुष अधिष्ठाता ईश्वरकी स्तुति किया करते हैं, योगीजन जिसका सदा ध्यान करते हैं, ज्ञानी लोग जिसे उत्पत्ति और विनाशका कारण कहते हैं, देवता, असुर और मुनियोंके बीच जिससे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है, मैं उस जन्मरहित, अनादिनिधन, सर्व शक्तिमान, अत्यन्त सुखी, पापरहित रुद्रदेवका शरणागत होता हूं। (१—६)

तण्डि मुनिने ऐसा वचन कहते कहते उस अव्यय, तपोनिधि, अनुपम, अचिन्तनीय, शाश्वत, कूटस्थ, निष्कल और निर्गुण, गुणगोचर ब्रह्माका दर्शन

योगिनां परमानन्दमक्षरं मोक्षसंज्ञितम् ॥ ८ ॥
मनोरिन्द्राग्निमरुतां विश्वस्य ब्रह्मणो गतिम् ।
अग्राह्यमचलं शुद्धं बुद्धिग्राह्यं मनोमयम् ॥ ९ ॥
दुर्विज्ञेयमसंख्येयं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ।
योनिं विश्वस्य जगतस्तमसः परतः परम् ॥ १० ॥
यः प्राणवन्तमात्मानं ज्योतिर्जीवस्थितं मनः ।
तं देवं दर्शनाकाङ्क्षी बहून्वर्षगणानृषिः ॥ ११ ॥
तपस्युग्रे स्थितो भूत्वा दृष्ट्वा तुष्टाव चेश्वरम् ।
तण्डिरुवाच- पवित्राणां पवित्रस्त्वं गतिर्गतिमतां वर ॥ १२ ॥
अत्युग्रं तेजसां तेजस्तपसां परमं तपः ।
विश्वावसुहिरण्याक्षपुरुहूतनमस्कृत ॥ १३ ॥
भूरिकल्याणद विभो परं सत्यं नमोऽस्तु ते ।
जातीमरणभीरूणां यतीनां यततां विभो ॥ १४ ॥
निर्वाणद सहस्रांशो नमस्तेऽस्तु सुखाश्रय ।
ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वे देवा महर्षयः ॥ १५ ॥

किया। वही योगियोंका परम आनन्द अविनाशी और मोक्षसंज्ञित है; वही मनु, इन्द्र, अग्नि, वायु, जगत् और देवताओंका अवलम्ब है। वह अग्राह्य, अचल, शुद्ध बुद्धिमे मालूम होने योग्य और मनोमय है। वह दुर्विज्ञेय, असंख्येय और अकृतात्म लोगोंको दुष्प्राप्य है; वह समस्त जगत्की योनि है, तमोगुणके परे स्थित पुराण पुरुष और श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ देवता है, जो आत्माको प्राणविशिष्ट करके उसमें आवृत जीव तथा मनोरूप ज्योति स्वरूपसे स्थित रहता है, उस ही देवके दर्शनकी इच्छा करके तण्डि ऋषि अनेक वर्ष पर्यन्त उग्र तपस्या करनेके अनन्तर ईश्वरका दर्शन करके स्तुति करने लगे। (७-१२)

तण्डि बोले, हे गतिमत्प्रवर! तुम गङ्गा आदि पवित्र पदार्थोंसे भी पवित्र और श्रेष्ठगति हो, नेत्र आदि तेजस्वी पदार्थोंके तेज अर्थात् प्रकाशक और समस्त तपस्याकी भी परम तपस्या हो। तुम विश्वावसु, हिरण्याक्ष और पुरुहूतके नमस्कृत हो; हे मोक्षदाता विभु! तुम परम सत्य हो इससे तुम्हें प्रणाम है। हे विभु! तुम जन्म मरण-भीरु यतमान यतियोंके निर्वाणदाता हो। हे सहस्रांशु! हे सुखाश्रय! तुम्हें प्रणाम है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, विश्वदेव और

न विदुस्त्वां तु तत्त्वेन कुतो वेत्स्यामहे वयम् ।
त्वत्तः प्रवर्तते सर्वं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १६ ॥
कालाख्यः पुरुषाख्यश्च ब्रह्माख्यश्च त्वमेव हि ।
तनवस्ते स्मृतास्तिस्रः पुराणज्ञैः सुरर्षिभिः ॥ १७ ॥
अधिपौरुषमध्यात्ममधिभूताधिदैवतम् ।
अधिलोकाधिविज्ञानमधियज्ञस्त्वमेव हि ॥ १८ ॥
त्वां विदित्वाऽऽत्मदेहस्थं दुर्विदं दैवतैरपि ।
विद्वांसो यान्ति निर्मुक्ताः परं भावमनामयम् ॥ १९ ॥
अनिच्छतस्तव विभो जन्ममृत्युरनेकतः ।
द्वारं तु स्वर्गमोक्षाणामाक्षेप्ता त्वं ददासि च ॥ २० ॥
त्वं वै स्वर्गश्च मोक्षश्च कामः क्रोधस्त्वमेव च ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव अधश्चोर्ध्वं त्वमेव हि ॥ २१ ॥
ब्रह्मा भवश्च विष्णुश्च स्कन्देन्द्रौ सविता यमः ।

महर्षि लोग तुम्हें यथार्थ रूपसे नहीं जानते तब मैं तुम्हें किस प्रकार जान सकूंगा ? तुमसे ही जगत् उत्पन्न होता और उत्पन्न होके तुमहीमें प्रतिष्ठित रहता है । तुम ही काल, तुम ही पुरुष और तुम ही ब्रह्म हो । पुराण जाननेवाले देवर्षि लोग तुम्हारा कालाख्य, पुरुषाख्य और ब्रह्माख्य अथवा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्राख्य इन तीनों रूपोंको स्मरण किया करते हैं । (१२-१७)

शिरश्चरणादिमान् देहपर अधिकार करके जो विज्ञान प्रवृत्त होता है, तुम ही वह अधिपौरुष विज्ञान स्वरूप हो; देहमें अधर और हनुरूप वाक्सन्धिको अधिकार करके विवेक उत्पन्न होता है, तुम ही वह अध्यात्म स्वरूप हो । देहारम्भक भूतगण और प्राण तथा नेत्र आदि इन्द्रियोंको अवलम्बन करके जो विज्ञान होता है, तुम ही वह अधिभूत और अधिदैवत हो; तुम ही अधिलोकमें अधिविज्ञान और अधियज्ञ स्वरूप हो; विद्वान् पुरुष तुम्हें देवताओंसे भी दुर्विज्ञेय, शरीरमें स्थित जानके निर्मुक्त होके अनामय परम भावको प्राप्त होते हैं । हे विभु ! स्वर्ग और मोक्षके द्वारस्वरूप तुम्हें जो लोग जाननेकी इच्छा नहीं करते, तुम उन्हें आकर्षण करके बार बार जन्म और मृत्युके मुखमें प्रेरण किया करते हो । तुम ही स्वर्ग और मोक्ष हो; तुम ही काम और क्रोधस्वरूप हो, तुम ही सत्त्व, रज और तमोगुणस्वरूप हो, तुम ही

वरुणेन्दू मनुर्धाता विधाता त्वं धनेश्वरः ॥ २२ ॥
भूर्वायुः सलिलाग्निश्च खं वाग्बुद्धिः स्थितिर्मतिः ।
कर्म सत्यानृते चोभे त्वमेवास्ति च नास्ति च ॥ २३ ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च प्रकृतिभ्यः परं ध्रुवम् ।
विश्वाविश्वपरो भावश्चिन्त्याचिन्त्यस्त्वमेव हि ॥ २४ ॥
यच्चैतत्परमं ब्रह्म यच्च तत्परमं पदम् ।
या गतिः सांख्ययोगानां स भवान्नात्र संशयः ॥२५॥
नूनमद्य कृतार्थाः स्म नूनं प्राप्ताः सतां गतिम् ।
यां गतिं प्रापयन्तीह ज्ञाननिर्मलबुद्धयः ॥ २६ ॥
अहो मूढाः स्म सुचिरमिमं कालमचेतसा ।
यन्न विद्मः परं देवं शाश्वतं यं विदुर्बुधाः ॥ २७ ॥
सेयमासादिता साक्षात्त्वद्भक्तिर्जन्मभिर्मया ।
भक्तानुग्रहकृद्देवो यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥ २८ ॥
देवासुरमुनीनां तु यच्च गुह्यं सनातनम् ।

अध और ऊर्ध्वरूप हो। (१८-२१)

तुम ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु, स्कन्द, इंद्र, सूर्य, यम, वरुण, चन्द्रमा, मनु, धाता, विधाता और कुबेर हो। तुम ही पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश, वचन, बुद्धि, स्थिति और मतिस्वरूप हो; तुम ही सत्यानृत दोनों कर्म हो और तुम ही रज्जुसर्पकी भाँति मालूम होते हो, परन्तु स्वयं वैसे जगत्कारण अज्ञानरूप से विद्यमान नहीं हो, तुम ही इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ और निश्चल हो। तुम कार्यकारणके भिन्नभाव सत्तामात्र स्वरूप हो; तुम सोपाधिक रूपसे चिन्तनीय और निरुपाधिभावसे अचिन्त्य हो। जिसे परब्रह्म तथा जिसे परम पद कहते हैं और जो सांख्ययोग की परम गति है, वह तुम ही हो; इस में सन्देह नहीं है, कि ज्ञानके सहारे जिनकी बुद्धि निर्मल हुई है, वे जिस गतिकी अभिलाष करते हैं, मुझे वही साधुओंकी गति प्राप्त हुई है, अब मैं निश्चय ही कृतार्थ हुआ। (२२-२६)

पण्डित लोग जिसे शाश्वत कहते हैं, मैंने जो इतने समयतक उस परम देव- को नहीं जाना, इससे मैं अवश्य ही अचेतन और मूढ था। भक्तोंपर कृपा करनेवाले, जिस देवके जाननेसे लोग अमृतत्वलाभ करते हैं, मैंने अनेक जन्म- में उस देवके विषयमें यह भक्तिलाभ की है। देवता, असुर और मुनियोंकी

गुहायां निहितं ब्रह्म दुर्विज्ञेयं मुनेरपि ॥ २९ ॥
स एष भगवान् देवः सर्वकृत्सर्वतोमुखः ।
सर्वात्मा सर्वदर्शी च सर्वगः सर्ववेदिता ॥ ३० ॥
देहकृद्देहभृद्देही देहभुग्देहिनां गतिः ।
प्राणकृत्प्राणभृत्प्राणी प्राणदः प्राणिनां गतिः ॥ ३१ ॥
अध्यात्मगतिरिष्टानां ध्यायिनामात्मवेदिनाम् ।
अपुनर्भवकामानां या गतिः सोऽयमीश्वरः ॥ ३२ ॥
अयं च सर्वभूतानां शुभाशुभगतिप्रदः ।
अयं च जन्ममरणे विदध्यात्सर्वजन्तुषु ।
अथ संसिद्धिकामानां या गतिः सोऽयमीश्वरः ॥३३॥
भूराद्यान्सर्वभुवनानुत्पाद्य सदिवौकसः ।
दधाति देवस्तनुभिरष्टाभिर्यो बिभर्ति च ॥ ३४ ॥
अतः प्रवर्तते सर्वमस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
अस्मिंश्च प्रलयं याति अयमेकः सनातनः ॥ ३५ ॥
अयं स सत्यकामानां सत्यलोकः परं सताम् ।
अपवर्गश्च मुक्तानां कैवल्यं चात्मवेदिनाम् ॥ ३६ ॥

हृदय कन्दरके बीच स्थित जो गुह्य सनातन ब्रह्म मुनियोंको भी दुर्विज्ञेय है, यह वही भगवान् है। यह देव सर्वकृत्, सर्वतोमुख, सर्वात्मा, सर्वदर्शी, सर्वग, सर्ववेदिता, देहकृत्, देहभृत्, देही, देहभुक् और देहधारियोंकी गति है, यही प्राणकृत, प्राणभृत्, प्राणी, प्राणद् और प्राणियोंकी गति है। अभिलषित विषयोंकी अध्यात्म गति और ध्याननिष्ठ आत्मज्ञ तथा अपुनर्मरणकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंकी जो गति है, यह वही ईश्वर है। (२७-३२)

यही सब प्राणियोंको शुभाशुभ गतिदाता है और यही सब जीवोंके जन्ममृत्युका विधान करता है। सम्यक् सिद्धिकाम मनुष्योंका जो गम्यस्थान है, यह ईश्वर ही वह गतिस्वरूप है। जो देव देवताओंके सहित पृथ्वी आदि सब लोकोंको उत्पन्न करके आठ मूर्तिके द्वारा उसे धारण और पालन करता है, इसहीसे सब जगत् उत्पन्न होके इसहीमें प्रतिष्ठित है और इसहीमें प्रलयके समय लीन होता है, केवल यह ईश्वर ही नित्य है। अव्यभिचारी सत्य अर्थात् वेदोक्त कर्मफल स्वरूप जो स्वर्ग है, उन स्वर्गकाम साधुओंके येही केवल

अयं ब्रह्मादिभिः सिद्धैर्गुहायां गोपितः प्रभुः।
देवासुरमनुष्याणामप्रकाशो भवेदिति ॥ ३७ ॥
तं त्वां देवासुरनरास्तत्त्वेन न विदुर्भवम्।
मोहिताः खल्वनेनैव हृदिस्थेनाप्रकाशिना ॥ ३८ ॥
ये चैनं प्रतिपद्यन्ते भक्तियोगेन भाविताः।
तेषामेवात्मनाऽऽत्मानं दर्शयत्येष हृच्छयः ॥ ३९ ॥
यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म मरणं चापि विद्यते।
यं विदित्वा परं वेद्यं वेदितव्यं न विद्यते ॥ ४० ॥
यं लब्ध्वा परमं लाभं नाधिकं मन्यते बुधः।
यां सूक्ष्मां परमां प्राप्तिं गच्छन्नव्ययमक्षयम् ॥ ४१ ॥
यं सांख्या गुणतत्त्वज्ञाः सांख्यशास्त्रविशारदाः।
सूक्ष्मज्ञानतराः सूक्ष्मं ज्ञात्वा मुच्यन्ति बन्धनैः ॥४२॥
यं च वेदविदो वेद्यं वेदान्ते च प्रतिष्ठितम्।
प्राणायामपरा नित्यं यं विशन्ति जपन्ति च ॥ ४३ ॥

सत्य लोक हैं और येही योगियोंके अपवर्ग और आत्मवित् पुरुषोंके कैवल्य स्वरूप हैं। यह प्रभु देवता और असुरोंके बीच अप्रकाशित रहता है, इस ही लिये ब्रह्मा आदि मन्त्रव्याख्याता सिद्धोंके द्वारा शास्त्र स्वरूप गुहामें स्थित है। देवता, असुर और मनुष्य लोग यथार्थ रूपसे इसे जाननेमें समर्थ नहीं हैं। हृदयस्थ और अप्रकाश इस ईश्वरके द्वारा सभी मोहित होरहे हैं। (३३—३८)

जो लोग भक्तिभावसे ध्यान करके इसका दर्शन करनेकी इच्छा करते हैं, यह हृदयरूपी गुफामें शयन करनेवाला भगवान उन्हें स्वयं ही दर्शन देता है।

जिसे जाननेसे फिर जन्म वा मृत्यु नहीं होती, जिस परम वेद्य परमेश्वरके जाननेसे फिर कुछ भी जाननेके लिये शेष नहीं रहता, जिसे पाके विद्वान् पुरुष फिर किसी लाभको अधिक नहीं समझते, जिसे सूक्ष्म और परम प्राप्ति समझके विद्वान् पुरुष अक्षय तथा अव्यय होते हैं, जिन्होंने ज्ञानके द्वारा लिङ्ग अतिक्रम किया है, वेही सांख्य शास्त्र जाननेवाले गुणतत्वज्ञ सांख्यमतवाले पण्डित लोग सूक्ष्म पुरुषको जानके बन्धनसे छूट जाते हैं। (३९–४२)

वेद जाननेवाले विद्वान् लोग जिसे वेद्य कहके जानते हैं, जो वेदान्त शास्त्रके बीच प्रतिष्ठित हो रहा है।

ओङ्काररथमारुह्य ते विशन्ति महेश्वरम् ।
अयं स देवयानानामादित्यो द्वारमुच्यते ॥ ४४ ॥
अयं च पितृयानानां चन्द्रमा द्वारमुच्यते ।
एष काष्ठा दिशश्चैव संवत्सरयुगादि च ॥ ४५ ॥
दिव्यादिव्यः परो लाभ अयने दक्षिणोत्तरे ।
एनं प्रजापतिः पूर्वमाराध्य बहुभिः स्तवैः ॥ ४६ ॥
प्रजार्थं वरयामास नीललोहितसंज्ञितम् ।
ऋग्भिर्यमनुशासन्ति तत्त्वे कर्मणि बह्वृचाः ॥ ४७ ॥
यजुर्भिर्यत्त्रिधा वेद्यं जुह्वत्यध्वर्यवोऽध्वरे ।
सामभिर्यं च गायन्ति सामगाः शुद्धबुद्धयः ॥ ४८ ॥
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म स्तुवन्त्याथर्वणा द्विजाः ।
यज्ञस्य परमा योनिः पतिश्चायं परः स्मृतः ॥ ४९ ॥
रात्र्यहःश्रोत्रनयनः पक्षमासशिरोभुजः ।
ऋतुवीर्यस्तपोधैर्यो ह्यब्दगुह्योरुपादवान् ॥ ५० ॥

सदा प्राणायाममें रत रहनेवाले मनुष्य जिसमें प्रवेश करते तथा जिसका जप करते हैं, वे लोग ओंकार रूपी रथमें चढके जिस महेश्वरमें प्रवेश किया करते हैं, यह वही देवयान पथका द्वार आदित्यरूपसे कहा गया है; यही पितृयानका द्वार चन्द्रमारूपसे अभिहित हुआ करता है । येही काष्ठा, दिशा, संवत्सर और युगादि हैं, येही दिव्यादिव्य अर्थात् इन्द्र और सार्वभौमत्व लाभ तथा दक्षिणोत्तर अयन स्वरूप हैं । पहले प्रजापतिने इसी नीललोहित की अनेक भांतिसे आराधना करके प्रजाके निमित्त वर मांगा था । (४३—४७)

ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण लोग अनारोपित रूप विषयमें ऋङ्मन्त्रोंसे जिसका वर्णन करते हैं; यजुर्वेद जाननेवाले अध्वर्युगण श्रौत, स्मार्त्त और ध्यान, इन त्रिविध यज्ञोंसे वेद्य, जिसके निमित्त अध्वरमें यजुर्मन्त्रके द्वारा होम किया करते हैं; शुद्धबुद्धि सामवेदी ब्राह्मण सामवेदके मन्त्रोंसे जिसका यश गाते तथा अथर्ववेदी ब्राह्मण जिस यज्ञके फल सत् स्वरूप परब्रह्मकी स्तुति किया करते हैं, येही वह यज्ञयोनि और यज्ञफल कहके स्मृत होते हैं । रात्रि तथा दिन जिसके कर्ण और नेत्र हैं, पक्ष तथा महीना जिसके शिर और भुजा हैं; ऋतु जिसका वीर्य, तपस्या धैर्य और वर्ष जिसके गुह्य, ऊरु और चरण हैं; येही

मृत्युर्यमो हुताशश्च कालः संहारवेगवान्।
कालस्य परमा योनिः पतिश्चायं सनातनः ॥ ५१ ॥
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रौ ग्रहाश्च सह वायुना।
ध्रुवः सप्तर्षयश्चैव भुवनाः सप्त एव च ॥ ५२ ॥
प्रधानं महदव्यक्तं विशेषान्तं सवैकृतम्।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं भूतादि सदसच्च यत् ॥ ५३ ॥
अष्टौ प्रकृतयश्चैव प्रकृतिभ्यश्च यः परः।
अस्य देवस्य यद्भागं कृत्स्नं संपरिवर्तते ॥ ५४ ॥
एतत्परममानन्दं यत्तच्छाश्वतमेव च।
एषा गतिर्विरक्तानामेष भावः परः सताम् ॥ ५५ ॥
एतत्पदमनुद्विग्नमेतद्ब्रह्म सनातनम्।
शास्त्रवेदाङ्गविदुषामेतद्ध्यानं परं पदम् ॥ ५६ ॥
इयं सा परमा काष्ठा इयं सा परमा कला।
इयं सा परमा सिद्धिरियं सा परमा गतिः ॥ ५७ ॥
इयं सा परमा शान्तिरियं सा निर्वृतिः परा।
यं प्राप्य कृतकृत्याः स्म इत्यमन्यन्त योगिनः ॥५८॥

मृत्यु, यम, अग्नि, संहारवेगवान् काल, कालकी परम योनि और सनातन काल स्वरूप हैं। (४७—५१)

येही सनक्षत्र चन्द्रमा, सूर्य, वायुके सहित समस्त ग्रह, ध्रुव, सप्तर्षि और सातों भुवन स्वरूप हैं। येही प्रधान, महत्, अव्यक्त, सवैकृत विशेषान्त ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त सद्रूप भूमि, जल, अग्नि और असद्रूप वायु तथा आकाश स्वरूप हैं। येही भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहङ्कार, इन अष्ट प्रकृति स्वरूप और प्रकृतिसे भी मायावी तथा मायावीके अंश समस्त प्रपञ्च स्वरूप हैं। येही आनन्दमय ईश्वरसे भी परम शुद्ध आनन्द स्वरूप और समस्त नित्य वस्तुओंसे भी नित्य हैं; येही विरक्तोंकी गति और साधुओंके परमभाव हैं। (५२—५५)

येही अनुद्विग्नपद स्वरूप तथा येही सनातन ब्रह्म हैं। शास्त्र और वेदाङ्ग जाननेवाले पुरुषोंके येही परमपदप्रापक ध्यानस्वरूप हैं। येही श्रुतिप्रसिद्ध परम काष्ठा हैं, येही परम कला हैं, येही परम सिद्धि और येही परम गति हैं। येही परम शान्ति तथा परम निर्वृति हैं; योगी लोग जिसे

इयं तुष्टिरियं सिद्धिरियं श्रुतिरियं स्मृतिः ।
अध्यात्मगतिरिष्टानां विदुषां प्राप्तिरव्यया ॥ ५९ ॥
यजतां कामयानानां मखैर्विपुलदक्षिणैः ।
या गतिर्यज्ञशीलानां सा गतिस्त्वं न संशयः ॥ ६० ॥
सम्यग्योगजपैः शान्तिर्नियमैर्देहतापनैः ।
तप्यतां या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥ ६१ ॥
कर्मन्यासकृतानां च विरक्तानां ततस्ततः ।
या गतिर्ब्रह्मसदने सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६२ ॥
अपुनर्भवकामानां वैराग्ये वर्त्ततां च या ।
प्रकृतीनां लयानां च सा गतिस्त्वं सनातन ॥ ६३ ॥
ज्ञानविज्ञानयुक्तानां निरुपाख्या निरञ्जना ।
कैवल्या या गतिर्देव परमा सा गतिर्भवान् ॥ ६४ ॥
वेदशास्त्रपुराणोक्ताः पञ्चैता गतयः स्मृताः ।
त्वत्प्रसादाद्धि लभ्यन्ते न लभ्यन्तेऽन्यथा विभो ॥६५॥

पाके यह समझते हैं, कि "मैं कृतकृत्य हुआ हूं"-ये वही तुष्टि, सिद्धि, श्रुति अर्थात् श्रोत्रादि जनित अनुभूति और स्मृतिस्वरूप हैं । येही योगियोंकी अध्यात्मगति अर्थात् प्रत्येक प्रबल-रूपवाली गतिस्वरूप हैं। येही विद्वान पुरुषोंकी अपुनरावर्त्तिनी प्राप्तिस्वरूप हैं। बहुतसी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञके सहारे यजनशील कामनावान मनुष्योंका जो गम्यस्थान है, यज्ञ करनेवाले पुरुषोंकी निःसंदेह तुम वह गति हो। (५६-६०)

हे देव! पूरी रीतिसे जप, योग, शान्ति, नियम और देहको तपाते हुए तपस्या करनेवाले मनुष्योंको जो गति प्राप्त होती है, तुम ही वह परम गति हो। (६१)

हे सनातन! कर्मसंन्यासकारी विरक्त पुरुषोंकी ब्रह्मलोकमें जो गति होती है, तुम ही वह गम्यस्थान हो,जो लोग पुनः जन्मकी कामना नहीं करते और सदा वैराग्य अवलम्बन किया करते हैं, उन्हें अपुनरावृत्तिरूपी जो गति प्राप्त होती है, हे सनातन! तुम ही वह गतिस्वरूप हो। (६२-६३)

हे देव! ज्ञानविज्ञानसे युक्त पुरुषोंकी निरुपाख्य, निरञ्जन, कैवल्य-रूपी जो गति हुआ करती है, तुम ही वह परम गतिस्वरूप हो। वेद, शास्त्र और पुराणमें कही हुई ये पांच प्रकारकी

इति तण्डिस्तपोराशिस्तुष्टावेशानमात्मना ।
जगौ च परमं ब्रह्म यत्पुरा लोककृज्जगौ ॥ ६६ ॥
उपमन्युरुवाच-एवं स्तुतो महादेवस्तण्डिना ब्रह्मवादिना ।
उवाच भगवान्देव उमया सहितः प्रभुः ॥ ६७ ॥
ब्रह्मा शतक्रतुर्विष्णुर्विश्वे देवा महर्षयः ।
न विदुस्त्वामिति ततस्तुष्टः प्रोवाच तं शिवः ॥६८ ॥
श्रीभगवानुवाच-अक्षयश्चाव्ययश्चैव भविता दुःखवर्जितः ।
यशस्वी तेजसा युक्तो दिव्यज्ञानसमन्वितः ॥ ६९ ॥
ऋषीणामभिगम्यश्च सूत्रकर्ता सुतस्तव ।
मत्प्रसादाद् द्विजश्रेष्ठ भविष्यति न संशयः ॥ ७० ॥
कं वा कामं ददाम्यद्य ब्रूहि यद्वत्स काङ्क्षसे ।
प्राञ्जलिः स उवाचेदं त्वयि भक्तिर्दृढाऽस्तु मे ॥ ७१ ॥
उपमन्युरुवाच- एतान्दत्त्वा वरान्देवो वन्द्यमानः सुरर्षिभिः ।
स्तूयमानश्च विबुधैस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ७२ ॥

गति स्मृत हुआ करती है, हे विभु! तुम्हारी कृपासे ही वे सब गति प्राप्त होती हैं, अन्यथा प्राप्त नहीं होतीं। तपस्विश्रेष्ठ तण्डिमुनिने स्वयं इस ही प्रकार ईशानदेवकी स्तुति की थी! पहिले समयमें प्रजापतिने जिस प्रकार परब्रह्मका यश गाया था, इन्होंने भी उसे ही अवलम्बन करके उस ही प्रकार यश गान किया। (६४–६६)

उपमन्यु बोले, उमाके सहित देवप्रभु भगवान् महादेव ब्रह्मवादी तण्डि मुनिके द्वारा इस ही प्रकार स्तुतियुक्त होकर अर्थात् ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, विश्वदेव और महर्षि लोग भी तुम्हें नहीं जानते, इस ही वचनसे महादेव प्रसन्न होकर तण्डिसे कहने लगे। (६७-६८)

भगवान् बोले, हे द्विजश्रेष्ठ! तुम मेरे प्रसादसे अक्षय, अव्यय, दुःखरहित, यशस्वी, तेज और दिव्यज्ञानसे युक्त होगे और तुम्हारा पुत्र ऋषियोंका अभिगम्य तथा सूत्रकर्ता होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। हे तात! कहो, तुम्हें कौनसी अभिलाषा है, मैं इस समय तुम्हें वरदान करूंगा। तण्डि मुनि हाथ जोडके उस समय यह वचन बोले, हे देव! तुममें मेरी दृढ भक्ति रहे। (६९--७१)

उपमन्यु बोले, देवर्षियोंसे वन्दनीय और देवताओंसे स्तूयमान महादेव तण्डि मुनिको यह सब वरदान करके

अन्तर्हिते भगवति सानुगे यादवेश्वर।
ऋषिराश्रममागम्य ममैतत्प्रोक्तवानिह ॥ ७३ ॥
यानि च प्रथितान्यादौ तण्डिराख्यातवान्मम।
नामानि मानवश्रेष्ठ तानि त्वं शृणु सिद्धये ॥ ७४ ॥
दश नामसहस्राणि देवेष्वाह पितामहः।
शर्वस्य शास्त्रेषु तथा दश नामशतानि च ॥ ७५ ॥
गुह्यानीमानि नामानि तण्डिर्भगवतोऽच्युत।
देवप्रसादाद्देवेशः पुरा प्राह महात्मने ॥ ७६ ॥ [१०९८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि मेघवाहनपर्वाख्याने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच- ततः स प्रयतो भूत्वा मम तात युधिष्ठिर।
प्राञ्जलिः प्राह विप्रर्षिर्नामसंग्रहमादितः ॥ १ ॥
उपमन्युरुवाच- ब्रह्मप्रोक्तैर्ऋषिप्रोक्तैर्वेदवेदाङ्गसंभवैः।
सर्वलोकेषु विख्यातं स्तुत्यं स्तोष्यामि नामभिः ॥ २ ॥
महद्भिर्विहितैः सत्यैः सिद्धैः सर्वार्थसाधकैः।

उस ही स्थानमें अन्तर्धान होगये। हे यादवेश्वर! जब भगवान सेवकोंके सहित अन्तर्हित हुए तब महर्षि तण्डिने इस आश्रममें आके मुझसे यह सब वृत्तान्त कहा था। पहले जो कुछ विदित हुआ था, तण्डि मुनिने यह सब मुझसे कहा। हे मनुजश्रेष्ठ! उन्होंने भगवानके जिन नामोंका वर्णन किया था, तुम सिद्धिलाभके निमित्त वह सब सुनो। पितामहने देवताओंके समीप भगवानके दस हजार नामको वर्णन किया था, परन्तु शास्त्रके बीच महादेवके सहस्र नाम विख्यात हैं। हे अच्युत! हे देवेश! पहले समयमें तण्डि मुनिने इस गुप्त नामोंको उन्हींकी कृपासे महानुभाव महेश्वरकी कृपाप्रसादसे प्राप्त किया था। (७२—७६)

अनुशासनपर्वमें १६ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें १७ अध्याय।

श्रीकृष्ण बोले, हे तात युधिष्ठिर! अनन्तर वह विप्रर्षि हाथ जोडके सावधान होकर मेरे समीप आदिसे नामसंग्रह कहने लगे। (१)

उपमन्यु बोले, मैं ब्रह्मा और ऋषियोंके द्वारा वेदवेदाङ्गोंमें वर्णित नामोंसे सब लोकोंमें विख्यात, स्तुतियोग्य महेश्वरकी स्तुति करूंगा। जो सब स्तुतिके वचन सर्वार्थसाधक, सिद्ध, सत्य,

ऋषिणा तण्डिना भक्त्या कृतैर्वेदकृतात्मना ॥ ३ ॥
यथोक्तैः साधुभिः ख्यातैर्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
प्रवरं प्रथमं स्वर्ग्यं सर्वभूतहितं शुभम् ॥ ४ ॥
श्रुतैः सर्वत्र जगति ब्रह्मलोकावतारितैः ।
सत्यैस्तत्परमं ब्रह्म ब्रह्मप्रोक्तं सनातनम् ॥ ५ ॥
वक्ष्ये यदुकुलश्रेष्ठ शृणुष्वावहितो मम ।
वरयैनं भवं देवं भक्तस्त्वं परमेश्वरम् ॥ ६ ॥
तेन ते श्रावयिष्यामि यत्तद्ब्रह्म सनातनम् ।
न शक्यं विस्तरात्कृत्स्नं वक्तुं सर्वस्य केनचित् ॥७॥
युक्तेनापि विभूतीनामपि वर्षशतैरपि ।
यस्यादिर्मध्यमन्तं च सुरैरपि न गम्यते ॥ ८ ॥
कस्तस्य शक्नुयाद्वक्तुं गुणान् कार्त्स्न्येन माधव ।
किं तु देवस्य महतः संक्षिप्तार्थपदाक्षरम् ॥ ९ ॥
शक्तितश्चरितं वक्ष्ये प्रसादात्तस्य धीमतः ।
अप्राप्य तु ततोऽनुज्ञां न शक्यः स्तोतुमीश्वरः ॥१०॥

महत् और सुविहित हैं, जिसे तण्डि महर्षिने वेदोंसे विभिन्न करके ग्रथित किया है; तत्त्वदर्शी विख्यात साधु और मुनियोंके द्वारा जो वर्णित हुआ है, सर्वत्र प्रसिद्ध ब्रह्मलोकसे प्रकट उस अन्वर्थ वचनसे सबमें श्रेष्ठ,प्रथम, स्वर्ग्य सब भूतोंके हितैषी शुभ स्वरूप शंकरकी स्तुति करूंगा। हे यदुकुलश्रेष्ठ! वेदमें वर्णित उस सनातन परब्रह्मके नामोंका वर्णन करता हूं, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। तुम परमेश्वरमें भक्ति करते हो, इसलिये उस भवानीपति महादेवको वरण करो। (२-६)

तुम उसके भक्त हो, इसहीसे मैं तुम्हें उस सनातन परब्रह्मका नाम सुनाऊंगा, कोई पुरुष भी महादेवकी समस्त महिमा विस्तारपूर्वक वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है। हे माधव! विभूतियुक्त पुरुष एक सौ वर्षमें भी उसे नहीं जान सकता। देवता लोग जिसकी आदि, मध्य और अन्त जाननेमें अशक्त हैं, उसके सब गुणोंको वर्णन करनेमें कौन समर्थ होगा? परन्तु उस बुद्धिशक्तिसे युक्त महादेवकी कृपासे मैं निज शक्तिके अनुसार संक्षिप्त अर्थ, पद और अक्षरयुक्त चरित वर्णन करूंगा। (७—९)

विना उसकी कृपासे कोई उसकी

यदा तेनाभ्यनुज्ञातः स्तुतो वै स तदा मया ।
अनादिनिधनस्याहं जगद्योनेर्महात्मनः ॥ ११ ॥
नाम्नां कंचित्समुद्देशं वक्ष्याम्यव्यक्तयोनिनः ।
वरदस्य वरेण्यस्य विश्वरूपस्य धीमतः ॥ १२ ॥
शृणु नाम्नां चयं कृष्ण यदुक्तं पद्मयोनिना ।
दश नामसहस्राणि यान्याह प्रपितामहः ॥ १३ ॥
तानि निर्मथ्य मनसा दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ।
गिरेः सारं यथा हेम पुष्पसारं यथा मधु ॥ १४ ॥
घृतात्सारं यथा मण्डस्तथैतत्सारमुद्धृतम् ।
सर्वपापापहमिदं चतुर्वेदसमन्वितम् ॥ १५ ॥
प्रयत्नेनाधिगन्तव्यं धार्यं च प्रयतात्मना ।
माङ्गल्यं पौष्टिकं चैव रक्षोघ्नं पावनं महत् ॥ १६ ॥
इदं भक्ताय दातव्यं श्रद्दधानास्तिकाय च ।
नाश्रद्दधानरूपाय नास्तिकायाजितात्मने ॥ १७ ॥
यश्चाभ्यसूयते देवं कारणात्मानमीश्वरम् ।
स कृष्ण नरकं याति सह पूर्वैः सहात्मजैः ॥ १८ ॥

स्तुति करनेमें समर्थ नहीं होता। जब मैं उससे अनुज्ञात हुआ हूं, तभी स्तुति किया है। मैं आदि अन्तसे रहित, जगद्योनि, महानुभाव, अव्यक्तयोनिके नामोंका किञ्चित् उद्देश कहूंगा। हे कृष्ण! वरदाता, वरणीय, विश्वरूपी, धीमान् शङ्करके जो सब नाम ब्रह्माके द्वारा वर्णित हुए हैं, उसे सुनो। पितामह ब्रह्माने जो दश सहस्र नाम कहा है, वह सब मनहीमन मथके उसके बीचसे यह सार रूपसे इस प्रकार निकाला गया है, जैसे दहीसे घृत, पहाडसे सुवर्ण, फूलसे मधु और दूधसे मक्खन निकाला जाता है। (१०—१५)

यह सब पापोंको दूर करनेवाला, चारों वेदोंसे युक्त नामोंको सावधानचित्त होकर लोगोंको जानना तथा धारण करना उचित है। इन मङ्गलजनक, पुष्टिकर, रक्षोघ्न, महत्, पावन नामोंको श्रद्धावान् आस्तिक भक्तोंको सुनाना चाहिये; अश्रद्धावान्, नास्तिक और अजितेन्द्रिय पुरुषोंको कदापि उपदेश करना उचित नहीं है। हे कृष्ण! कारणस्वरूप देवोंके देव ईश्वरके विषयमें जो लोग असूया करते हैं, वे पूर्व पुरुषों तथा पुत्रोंके सहित नरकमें डूबते

इदं ध्यानमिदं योगमिदं ध्येयमनुत्तमम् ।
इदं जप्यमिदं ज्ञानं रहस्यमिदमुत्तमम् ॥ १९ ॥
यं ज्ञात्वा अन्तकालेऽपि गच्छेत परमां गतिम् ।
पवित्रं मङ्गलं मेध्यं कल्याणमिदमुत्तमम् ॥ २० ॥
इदं ब्रह्मा पुरा कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सर्वस्तवानां राजत्वे दिव्यानां समकल्पयत् ॥ २१ ॥
तदाप्रभृति चैवायमीश्वरस्य महात्मनः ।
स्तवराज इति ख्यातो जगत्यमरपूजितः ॥ २२ ॥
ब्रह्मलोकादयं स्वर्गे स्तवराजोऽवतारितः ।
यतस्तण्डिः पुरा प्राप तेन तण्डिकृतोऽभवत् ॥ २३ ॥
स्वर्गाच्चैवात्र भूर्लोकं तण्डिना ह्यवतारितः ।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २४ ॥
निगदिष्ये महाबाहो स्तवानामुत्तमं स्तवम् ।
ब्रह्मणामपि यद्ब्रह्म पराणामपि यत्परम् ॥ २५ ॥
तेजसामपि यत्तेजस्तपसामपि यत्तपः ।

हैं। इन नामोंका जप कर सकनेसे ही ध्यान आदिके फल प्राप्त होते हैं, यह योग और अनुत्तम ध्येय है, यही जप, यही ज्ञान तथा यही श्रेष्ठ रहस्य है। (१५—१९)

अन्तकालमें जिसके जाननेसे परम गति प्राप्त होती है, यह पापनाशक, अभ्युदयकारी, यज्ञफलदायक और परमानन्द स्वरूप है। पहले समयमें सर्वलोकपितामह ब्रह्माने इस स्तोत्रको समस्त दिव्य स्तोत्रोंके राजत्व पर अभिषिक्त किया। उस ही समयसे महानुभाव देवताओंसे पूजित यह स्तोत्र जगत्‌में स्तवराज नामसे विख्यात हुआ है। यह स्तवराज ब्रह्मलोकसे स्वर्गमें उतरा और स्वर्गसे पहले समयमें इसे तण्डि मुनिने पाया, इस ही निमित्त यह तण्डिकृत कहके प्रसिद्ध हुआ है। तण्डिके द्वारा यह स्वर्गसे भूलोकमें उतरा है। (२०–२४)

हे महाबाहो! समस्त मङ्गलोंका मङ्गलकारी, सर्व पापोंका नाश करनेवाला, सब स्तोत्रोंके बीच उत्तम स्तोत्र वर्णन करूंगा। जो वेदोंका भी वेद अर्थात् वाक्यका भी वाक्य स्वरूप है, सब श्रेष्ठ वस्तुओं अर्थात् इन्द्रियार्थ, मन, बुद्धि, महत्, अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ पुरुष है, तेजस्वी पदार्थों अर्थात् नेत्र आदिका

शान्तानामपि यः शान्तो द्युतीनामपि या द्युतिः ॥२६॥
दान्तानामपि यो दान्तो धीमतामपि या च धीः ।
देवानामपि यो देव ऋषीणामपि यस्त्वृषिः ॥ २७ ॥
यज्ञानामपि यो यज्ञः शिवानामपि यः शिवः ।
रुद्राणामपि यो रुद्रः प्रभा प्रभवतामपि ॥ २८ ॥
योगिनामपि यो योगी कारणानां च कारणम् ।
यतो लोकाः संभवन्ति न भवन्ति यतः पुनः ॥२९ ॥
सर्वभूतात्मभूतस्य हरस्यामिततेजसः ।
अष्टोत्तरसहस्रं तु नाम्नां शर्वस्य मे शृणु ।
यच्छ्रुत्वा मनुजव्याघ्र सर्वान्कामानवाप्स्यसि ॥३०॥
स्थिरः स्थाणुः प्रभुर्भीमः प्रवरो वरदो वरः ।
सर्वात्मा सर्वविख्यातः सर्वः सर्वकरो भवः ॥ ३१ ॥ (१२)

तेज स्वरूप है, तपस्या गङ्गा आदि पुण्य तीर्थोंका भी पुण्यस्वरूप है, उपरतचित्तोंकी भी आत्यन्तिक उपरति है, द्युतिमण्डलीका भी तेजस्वरूप है, जो दान्त पुरुषोंमें अत्यन्त जितेन्द्रिय, ज्ञानियोंके बीच आत्मानुभवरूपी ज्ञानस्वरूप है, जो देवताओंका देवता, ऋषियोंका भी ऋषिस्वरूप है, जो यज्ञोंका यज्ञ और कल्याणस्वरूप है, जो रुद्रगणोंका रुद्र और प्रभायुक्त वस्तुओंमें प्रभारूप है । (२४—२८)

जो योगियोंका योगी और सब कारणोंका कारण है, जिससे सब लोग उत्पन्न होते हैं और जिसमें लीन होनेसे पुनर्जन्म नहीं होता, उस सब भूतोंके आत्मभूत, अमिततेजस्वी, सर्वव्यापी हरके अष्टोत्तर सहस्र नाम मेरे समीप सुनो । हे मनुजश्रेष्ठ ! उसे सुननेसे समस्त कामना प्राप्त होंगी । वह अचञ्चल है इस ही निमित्त उसका नाम स्थिर है १, कूटस्थ नित्य है इसहीसे स्थाणु २, अन्तर्यामी ईश्वर है इसहीसे प्रभु ३, जगत्संहर्ता है, जगत् उससे भीत होता है इस ही लिये उसका नाम भीम है ४, भोग, मोक्ष और कामकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंका वरणीय है, इस ही निमित्त प्रवर ५, अभिलषित वस्तु प्रदान करता है, इसहीसे वरद ६, समस्त जगत्को परिपूरित कर रहा है, इस ही लिये वर ७, सर्वात्मा ८, सर्वविख्यात ९, प्रत्येक रूपसे सबमें व्याप्त होरहा है, इसहीसे सर्व १०, विश्वकर्ता है, इस ही निमित्त सर्वकर ११, सबकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण

जटी चर्मी शिखण्डी च सर्वाङ्गः सर्वभावनः।
हरश्च हरिणाक्षश्च सर्वभूतहरः प्रभुः ॥ २२ ॥
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च नियतः शाश्वतो ध्रुवः।
श्मशानवासी भगवान् खचरो गोचरोऽर्दनः ॥ २३ ॥
अभिवाद्यो महाकर्मा तपस्वी भूतभावनः।
उन्मत्तवेषप्रच्छन्नः सर्वलोकप्रजापतिः ॥ २४ ॥
महारूपो महाकायो वृषरूपो महायशाः।
महात्मा सर्वभूतात्मा विश्वरूपो महाहनुः ॥ २५ ॥ (४५)

है इस ही निमित्त भव है। १२(१९-२१)

जटा धारण करनेसे जटी १३, व्याघ्र वा गज चर्म पहरनेसे चर्मी १४, मयूर-शिखाकी भांति जटा बांधनेसे शिखण्डी १५, समस्त जगत् उनका अवयव स्वरूप है, इसहीसे सर्वाङ्ग १६, विश्व-कर्त्ता होनेसे सर्वभावन १७, सर्वसंहार-कारी होनेसे हर १८, मृगके नेत्रकी भांति नेत्रविशिष्ट है, इसहीसे हरिणाक्ष १९, सर्वभूतहर २०, सर्वभोक्ता होनेसे प्रभु २१, प्रकृष्टरूप कुर्वद्भावसे वर्तमान है, इस ही निमित्त प्रवृत्ति २२, निरुद्यमभावसे निवास करता है, इस ही लिये निवृत्ति २३, विषय ग्रहण करनेके लिये स्वयं प्रवृत्त होता है, इस ही निमित्त नियत २४, नित्य होनेसे शाश्वत २५, अचल है, इसलिये ध्रुव २६, पुनरुत्थानसे रहित होके लोग जिस स्थानमें शयन करते हैं, उस वाराणसी क्षेत्रमें वास करता है, इस ही लिये श्मशानवासी २७, समस्त ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री ज्ञान और समग्र वैराग्यविशिष्ट होनेसे भगवान २८, हार्दाकाशचारी होनेसे खचर २९ इन्द्रियोंमें विषयरूपसे विचरता है, इस ही लिये गोचर ३०, पापियोंको पीडित करता है, इस ही निमित्त अर्दन है। ३१. (२२—२३)

सबके नमस्कार योग्य और स्तवनीय होनेसे अभिवाद्य ३२, पृथ्वी आदि महत् कार्योंका कर्ता है, इस ही लिये महाकर्मा ३३, तपरूप निजधनसे युक्त है, इसीसे तपस्वी ३४, आकाश आदि भूतोंको सङ्कल्प मात्रसे उत्पन्न करता है, इसहीसे भूतभावन ३५, दिगम्बर रूपसे दुर्ज्ञेय होनेसे उन्मत्त वेश प्रच्छन्न है ३६, समस्त भुवन तथा समस्त प्रजाका स्वामी है, इसहीसे सर्वलोक-प्रजापति ३७, उसका रूप अपरिच्छेद्य है, इसलिये महारूप ३८, वैराज स्थूल देहधारी है, इसहीसे महाकाय ३९, धर्मस्वरूप होनेसे वृषरूप ४०, महत्

लोकपालोऽन्तर्हितात्मा प्रसादो हयगर्दभिः।
पवित्रं च महांश्चैव नियमो नियमाश्रितः ॥ ३६ ॥
सर्वकर्मा स्वयंभूत आदिरादिकरो निधिः।
सहस्राक्षो विशालाक्षः सोमो नक्षत्रसाधकः ॥३७॥
चन्द्रः सूर्यः शनिः केतुर्ग्रहो ग्रहपतिर्वरः।
अत्रिरत्र्या नमस्कर्ता मृगबाणार्पणोऽनघः ॥ ३८ ॥ (७३)

यज्ञस्वरूप है, इसहीसे महायशा ४१, महामना है इसहीसे महात्मा ४२, उसके रक्षणमात्रसे सब भूत प्रकट हुए हैं, इस ही निमित्त सर्वभूतात्मा ४३, जगत्के बीच प्रकाशित है, इसीसे विश्वरूप ४४, उसका हनु विश्व ग्रास करनेमें समर्थ है, इस ही लिये महाहनु है। ४५ (३४—३५)

इन्द्रादि स्वरूप होनेसे लोकपाल ४६, अविद्याकल्पित अहंकारादिसे तिरोहितात्मा, अखण्ड, एकरसस्वभाव है, इस ही निमित्त अन्तर्हितात्मा ४७, आनन्द स्वरूप होनेसे प्रसाद ४८, रथस्थ होनेपर अग्निरूपी, उसके रथको अश्वतरी खींचती हैं, इस ही कारणसे हयगर्दभी ४९, संसार वज्रपातसे त्राण करता है, इस ही निमित्त पवित्र ५०, पूज्य है, इसलिये महान् ५१, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि नियमके सहारे वह प्राप्त होता है, इस ही निमित्त नियम ५२, और उक्त नियमोंके आश्रित है, इस ही लिये नियमाश्रित है। ५३ (३६)

समस्त शिल्पाचार्य विश्वकर्मा है, इसहीसे सर्वकर्मा ५४, नित्य सिद्ध होनेसे स्वयम्भूत ५५, सबसे प्रथम होनेसे आदि ५६, हिरण्यगर्भस्रष्टा है, इसीसे आदिकर ५७, पद्म, शंख प्रभृति अक्षय ऐश्वर्यरूप है, इस ही निमित्त निधि ५८, अनन्त करचरणनयनादिमान् अर्थात् देवेन्द्र स्वरूप होनेसे सहस्राक्ष ५९, अतीत अनागतके प्रकाशक नेत्रसम्पन्न है, इसहीसे विशालाक्ष ६०, चन्द्र वा शशिय स्वरूप होनेसे सोम ६१, आकाशमें प्रकाशमान शरीरसे नक्षत्रोंके कारण होनेसे नक्षत्रसाधक ६२, चन्द्र ६३, सूर्य ६४, शनि ६५, केतु ६६, राहु ६७, ग्रहपति (क्रूरत्वनिबन्धन) मङ्गल ६८, वर(वरणीय, पूज्य, बृहस्पति) ६९,अत्रि अर्थात् अत्रिगोत्रापत्य बुध है, इसलिये सर्व ग्रहस्वरूप ७०, दुर्वासारूपसे अत्रिपत्नी अनुसूयाका पुत्र होके उसे नमस्कार करनेसे अत्रीनमस्कर्त्ता ७१, मृगरूपधारी यज्ञमें बाण चलाया था, इसीसे मृगबाणार्पण ७२, यज्ञघ्न होनेपर भी तेजस्वी और

महातपा घोरतपा अदीनो दीनसाधकः।
संवत्सरकरो मन्त्रः प्रमाणं परमं तपः ॥ ३९ ॥
योगी योज्यो महाबीजो महारेता महाबलः।
सुवर्णरेताः सर्वज्ञः सुबीजो बीजवाहनः ॥ ४० ॥
दशबाहुस्त्वनिमिषो नीलकण्ठ उमापतिः।
विश्वरूपः स्वयं श्रेष्ठो बलवीरोऽबलो गणः ॥ ४१ ॥
गणकर्ता गणपतिर्दिग्वासाः काम एव च। (१०२)

स्वतन्त्र होके निष्पाप है इसहीसे अनघ है। ७३ (३७-३८)

जगत्सृष्टिक्षम आलोचना की थी, इसहीसे महातपा ७४, विश्वसंहारक्षम आलोचनाविशिष्ट है, इसलिये घोरतपा ७५, महामना होनेसे अदीन ७६, शरणागतोंका इष्टसाधक है, इसलिये दीनसाधक ७७, कालचक्रके प्रवर्तक ध्रुव आदि ज्योतिर्गणस्वरूप है, इसहीसे संवत्सरकर ७८, मननहेतु, त्राणकारी प्रणवादिरूप है, इसहीसे मन्त्र ७९, वेदशास्त्रादिरूप होनेसे प्रमाण ८०, और योगके द्वारा आत्मदर्शनस्वरूप होनेसे परमतप ८१, योगनिष्ठ है, इसलिये योगी ८२, योगके सहारे ब्रह्ममें प्रविलापनीय है, इस ही निमित्त योज्य ८३, कारणका कारण है, इसलिये महाबीज ८४, अव्यक्तकी स्फूर्ति सत्ताप्रद है, इसलिये महारेता ८५, श्रेष्ठ सामर्थ्यवान है, इसीसे महाबल ८६, हिरण्यमय ब्रह्माण्डका स्रष्टा है, इसही निमित्त सुवर्णरेता ८७, मायावृत्तिसे सबको ही जानता है इसलिये सर्वज्ञ ८८, अधिकारी होके बीजभूत है, इसहीसे सुबीज ८९, अविद्याकामकर्मात्मक बीजही उसका इस लोक और परलोक सञ्चारके निमित्त वाहनस्वरूप है, इस ही लिये बीजवाहन है। ९० (४०)

दशबाहु ९१, अनिमिष ९२, नीलकण्ठ ९३, उमापति ९४, विश्वरूप ९५, स्वयं श्रेष्ठ ९६, सामर्थ्यके सहारे विक्रान्त होनेसे बलवीर ९७, विना चेतनप्रयोगके चलनेकी सामर्थ्यसे युक्त नहीं है, इसलिये अबल; अव्यक्त, महत्, अहङ्कार, पञ्चतमात्र, ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत, ये चौबीस तत्व; पचीसवां भोक्ता तथा स्वयं षड्विंश है इसहीसे गण ९८, इस ही भांति गणोंका कर्ता है, इसी कारण गणकर्ता ९९, और गणपति कहके वर्णित होता है १००, दारुकावनमें मुनिपत्नियोंको मोहित करनेके लिये दिगम्बर हुए थे अथवा अनन्त दिशाओंके आच्छादक हैं, इस ही लिये दिग्वासा १०१, अभिलाष-

मन्त्रवित्परमो मन्त्रः सर्वभावकरो हरः ॥ ४२ ॥
कमण्डलुधरो धन्वी बाणहस्तः कपालवान् ।
अशनी शतघ्नी खड्गी पट्टिशी चायुधी महान् ॥४३॥
स्रुवहस्तः सुरूपश्च तेजस्तेजस्करो निधिः ।
उष्णीषी च सुवक्त्रश्च उदग्रो विनतस्तथा ॥ ४४ ॥
दीर्घश्च हरिकेशश्च सुतीर्थः कृष्ण एव च ।
शृगालरूपः सिद्धार्थो मुण्डः सर्वशुभङ्करः ॥ ४५ ॥
अजश्च बहुरूपश्च गन्धधारी कपर्द्यपि ।
ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वलिङ्ग ऊर्ध्वशायी नभःस्थलः ॥४६॥ (१४०)

स्वरूप होनेसे काम १०२, पाठ और अर्थके अनुसार मन्त्रोंको जानता है, इसही लिये मन्त्रवित् १०३, आत्मतत्वानुशोचनरूप विचार स्वरूप होनेसे परम मन्त्र १०४, अखिलकारण होनेसे सर्वभावकर १०५, सबके नाशके कारण होनेसे हर है । १०६ (४१-४२)

कमण्डलुधर १०७, धन्वी १०८, बाणहस्त १०९, कपालवान ११०, अशनी १११, शतघ्नी ११२, खड्गी ११३, पट्टिशी ११४, आयुधी ११५, महान् ११५ हाथमें यज्ञपात्र धारण किया करते हैं, इस ही निमित्त स्रुवहस्त ११७, शोभायमानरूपसे युक्त हैं, इस ही लिये सुरूप ११८, तेजस्वी होनेसे तेजनिधि ११९, भक्तोंके कान्तिप्रद होनेसे तेजस्कर निधि १२०, उष्णीषी १२१, सुवक्त्र, १२२, ऊर्जित रूप होनेसे उदग्र १२३, विनयवान् है, इसीसे विनत १२४, दीर्घ १२५, इन्द्रियोंके द्वारा तत्वदर्थका प्रकाशक है, इस ही निमित्त हरिकेश १२६, उत्तम तीर्थ स्वरूप है, इस ही निमित्त सुतीर्थ १२७, भूवाचक कृषि शब्द और निर्वृति वाचक ण शब्द है, इन दोनोंके ऐक्यसे परब्रह्म अर्थ होता है, इस ही निमित्त कृष्ण १२८, वणिक्के द्वारा अवमानित ब्राह्मणके योगयुक्त होके मरनेके लिये बैठनेपर उसे धीरज देनेके लिये इन्द्रने जो सियारका रूप धरा था, उसके सङ्ग अभिन्न होनेसे शृगालरूप १२९, सिद्धगण ही उसके अर्थनीय पदार्थ हैं,इस ही निमित्त सिद्धार्थ १३०,परिव्राट् होनेसे मुण्ड१३१ और सर्व शुभङ्कर है। १३२ (४३-४५)

जन्मरहित होनेसे अज १३३, बहुरूप १३४, कुसुम कस्तुरी प्रभृति सुगंधित वस्तु धारण करते हैं इस ही निमित्त गन्धधारी १३५, जटाजूट धारण करनेसे कपर्दी १३६, अखण्डित

त्रिजटी चीरवासाश्च रुद्रः सेनापतिर्विभुः।
अहश्चरो नक्तंचरस्तिग्ममन्युः सुवर्चसः ॥ ४७ ॥
गजहा दैत्यहा कालो लोकधाता गुणाकरः।
सिंहशार्दूलरूपश्च आर्द्रचर्माम्बरावृतः ॥ ४८ ॥
कालयोगी महानादः सर्वकामश्चतुष्पथः।
निशाचरः प्रेतचारी भूतचारी महेश्वरः ॥ ४९ ॥
बहुभूतो बहुधरः स्वर्भानुरमितो गतिः। (१६९)

ब्रह्मचर्य करनेसे ऊर्ध्वरेता १३७, ऊर्द्ध लिङ्ग १३८, उत्तान-शयन करनेसे उत्तानशायी १३९, नभ अर्थात् आकाश-संज्ञक शक्ति ही उसका स्थल है, इस ही निमित्त नभस्थल १४०, त्रिजटी १४१, चीरवासा १४२, प्राणरूपसे सबको रुलाता है, अर्थात् सबका प्राण स्वरूप है, इस ही निमित्त रुद्र १४३, सेनापति १४४, सर्वव्यापी होनेसे विभु १४५, देवादि स्वरूप होनेसे अहश्चर १४६, राक्षसादि स्वरूप है, इसीसे नक्तंचर १४७, तीक्ष्णक्रोध है, इसलिये तिग्ममन्यु १४८, जीवोंके अध्ययन और तपस्याका तेज स्वरूप है, इस ही निमित्त सुवर्चस है। १४९ (४६-४७)

वाराणसीमें गजासुरको मारा था, इससे गजहा १५०, दैत्यहा १५१, मृत्यु अथवा संवत्सर स्वरूप होनेसे काल १५२, सब लोकोंका ईश्वर है, इस ही लिये लोकधाता १५३, दीनदयालुता और ज्ञानैश्वर्य प्रभृतिकी खान है, इस ही लिये गुणाकर १५४, समस्त हिंसक पशु स्वरूप होनेसे सिंह शार्दूलरूप १५५, आर्द्रगजचर्मधारी है, इस ही निमित्त आर्द्रचर्माम्बरावृत १५६, काल वञ्चक योगी है, इसही निमित्त कालयोगी १५७, अनाहत ध्वनि स्वरूप होनेसे महानाद १५८, सर्वकामना उसमें समाप्त होती हैं, इसलिये सर्वकाम १५९, उसकी उपासनाके लिये विश्व, तैजस, प्राज्ञ और शिव ध्यानरूपी चार उपाय हैं इस ही निमित्त चतुष्पथ १६०, वेतालादि स्वरूप होनेसे निशाचर १६१, प्रेतोंके सङ्ग विचरनेसे प्रेतचारी १६२, भूतचारी १६३, इन्द्र आदि ईश्वरसे भी महान् है, इस ही निमित्त महेश्वर है। १६४, (४८-४९)

सदसत् रूपसे अनेक हुआ है, इस ही लिये बहुभूत १६५, महत् प्रपञ्च धारण कर रहा है, इस लिये बहुधर १६६, मूलाज्ञानरूप तम शब्दसे युक्त राहु होनेसे स्वर्भानु १६७, परिमाण नहीं है, इस ही निमित्त अमित १६८,

नृत्यप्रियो नित्यनर्तो नर्तकः सर्वलालसः ॥ ५० ॥
घोरो महातपाः पाशो नित्यो गिरिरुहो नभः ।
सहस्रहस्तो विजयो व्यवसायो ह्यतन्द्रितः ॥५१॥
अधर्षणो धर्षणात्मा यज्ञहा कामनाशकः ।
दक्षयागापहारी च सुसहो मध्यमस्तथा ॥ ५२ ॥
तेजोऽपहारी बलहा मुदितोऽर्थोऽजितोऽवरः ।
गम्भीरघोषो गम्भीरो गंभीरबलवाहनः ॥ ५३ ॥
न्यग्रोधरूपो न्यग्रोधो वृक्षकर्णस्थितिर्विभुः । (२०३)

मुक्त पुरुषोंके प्राप्य होनेसे गति १६९, नृत्यप्रिय १७०, सदा नृत्यमें रत रहता है, इस लिये नित्यनर्त्त १७१, नर्त्तक १७२, विश्वबन्धु होनेसे सर्वलालस १७३, महादेवकी दो प्रकारकी मूर्त्ति है, एक क्षुधातृष्णारूपी घोर और दूसरी सन्तोषादि रूप अघोर है इसलिये घोरा मूर्त्तिविशिष्ट होनेसे घोर १७४, उसकी सृष्टि संहाररूपी आलोचना है इसलिये महातपा १७५, अपनी मायासे सबको बांधता है, इस ही कारण पाश १७६, नाशरहित है, इसलिये नित्य १७७, कैलासशैलवासी होनेसे गिरिरुह १७८, आकाशकी भांति अभंग है, इसलिये नभ १७९, सहस्रहस्त १८०, विजय १८१, जयके हेतु होनेसे व्यवसाय १८२, प्रवृत्तिको रोकनेवाली मोहमयी वृत्तिसे रहित है, इसलिये अतन्द्रित है। १८३ (५०—५१)

अप्रकम्प्य है इस निमित्त अधर्षण १८४, भयरूप है इसलिये धर्षणात्मा १८५, बौद्धावतार रूपसे यज्ञघ्न है, इस ही निमित्त यज्ञहा १८६, कामनाशक १८७, दक्षयज्ञापहारी १८८, प्रियदर्शन होनेसे सुसह १८९, मृदुप्रिय दर्शन है, इसलिये मध्यम १९०, तेजोपहारी १९१ इन्द्ररूपसे बलनामक असुरको पराजित करते हैं, इसीसे बलहा १९२, कारण रूपसे नित्य आनन्दयुक्त है, इस ही लिये मुदित १९३, धनरूपसे अर्थनीय है, इस ही निमित्त अर्थ १९४, अजित १९५, उससे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है, इसलिये अवर १९६, गम्भीरघोष १९७, गम्भीर १९८, गम्भीरबलवाहन है। १९९ (५२—५३)

ऊर्ध्वमूल नीची साखावाला अश्वत्थ रूपसे संसार वृक्ष स्वरूप है, इस ही निमित्त न्यग्रोधरूप २००, वट निकटवासी दक्षिण मूर्त्ति अथवा मार्कण्डेय-दृष्ट, समुद्रमें वट पत्रपर शयन करनेवाले बालक रूपधारी महाविष्णु स्वरूप है, इस ही निमित्त न्यग्रोध २०१, वृक्षके

सुतीक्ष्णदशनश्चैव महाकायो महाननः ॥ ५४ ॥
विष्वक्सेनो हरिर्यज्ञः संयुगापीडवाहनः ।
तीक्ष्णतापश्च हर्यश्वः सहायः कर्मकालवित् । ॥५५॥
विष्णुप्रसादितो यज्ञः समुद्रो वडवामुखः ।
हुताशनसहायश्च प्रशान्तात्मा हुताशनः ॥ ५६ ॥
उग्रतेजा महातेजा जन्यो विजयकालवित् ।
ज्योतिषामयनं सिद्धिः सर्वविग्रह एव च ॥ ५७ ॥
शिखी मुण्डी जटी ज्वाली मूर्तिजो मूर्द्धगो बली । (२२५)

कर्णकी भांति पत्रपर प्रलय कालमें स्थित था, इस ही लिये वृक्षकर्णस्थिति २०२, हरि, हर, दुर्गा, गणेश आदि विविध रूपसे भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके निमित्त उत्पन्न होता है, इस ही निमित्त विभु २०३, अनेक ब्रह्माण्ड-चणकचर्वणक्षम दांतोंसे युक्त है, इस ही निमित्त सुतीक्ष्णदशन २०४, महा काय २०५, महानन है । २०६ (५४)

उसके प्रयाण करनेपर समस्त दैत्यसेना सब भांतिसे पलायन करती है, अर्थात् उसकी सारी सेना सब प्रकारसे पूज्य है, इस ही निमित्त विष्वक्सेन २०७, वह आपदोंको हरता है, अथवा सर्वसंहारक है, इसलिये हरि २०८, सृष्टिका बीज स्वरूप है, इस ही निमित्त यज्ञ २०९, संग्राममें ध्वजभूत वृष ही उसका वाहन है, इसलिये संयुगापीड-वाहन २१०, अग्निस्वरूप होनेसे तीक्ष्ण-ताप २११, सूर्य स्वरूप होनेसे हर्यश्व २१२, जीवका सखा है, इसलिये सहाय २१३, दश आदिकर्मोंका समयज्ञ है, इस निमित्त कर्मकालवित् २१४, चक्र पानेके निमित्त विष्णुने उसे प्रसन्न किया था, इस ही लिये विष्णुप्रसादित २१५, विष्णुरूपी होनेसे यज्ञ २१६, सागर स्वरूप है, इसलिये समुद्र २१७, जो अग्नि समुद्रके जलको प्रतिदिन भस्म कर रही है, तत्स्वरूप होनेसे वडवामुख २१८, वायु स्वरूप होनेसे हुताशन-सहाय २१९, निस्तरङ्ग सागरके सदृश होनेसे प्रशान्तात्मा २२०, अग्निरूप होनेसे हुताशन है। २२१(५५—५६)

दुःसह स्पर्श है, इसलिये उग्रतेजा २२२, सब ठौर प्रकाशित है, इसलिये महातेजा २२३, संग्रामनिपुण होनेसे जन्य २२४, विजयकालवित् २२५, जिस शास्त्रमें ग्रह-नक्षत्रोंका गमन वर्णित है, उसका नाम ज्योतिष है, उस शास्त्रके आश्रय होनेसे ज्योतिषामयनं २२६, नाम है । जयरूपी है, इसलिये सिद्धि २२७, काल प्रभृति सभी उसका शरीर

वेणवी पणवी ताली खली कालकटंकटः ॥ ५८ ॥
नक्षत्रविग्रहमतिर्गुणबुद्धिर्लयोऽगमः ।
प्रजापतिर्विश्वबाहुर्विभागः सर्वगोऽमुखः ॥ ५९ ॥
विमोचनः सुसरणो हिरण्यकवचोद्भवः ।
मेढ्रजो बलचारी च महीचारी स्रुतस्तथा ॥ ६० ॥
सर्वतूर्यनिनादी च सर्वातोद्यपरिग्रहः ।
व्यालरूपो गुहावासी गुहो माली तरङ्गवित् ॥ ६१ ॥ (२६३)

है इस निमित्त सर्वविग्रह २२८, शिखावान गृहस्थ है, इसलिये शिखी २२९, शिखारहित संन्यासी है, इसलिये मुण्डी २३०, जटावान् वानप्रस्थ है, इसलिये जटी २३१, ज्वालावान् आर्चिरादि मार्ग है, इस ही निमित्त ज्वाली २३२, मूर्तिमें प्रकट होता है, इसलिये मूर्तिज २३३, सहस्रारमें गमन करनेसे मूर्धग २३४, बलवान होनेसे बली २३५ बांसुरी, ढोल, तानाख्य वाद्यविशेष विशिष्ट है, इसलिये वेणवी २३६, पणवी २३७, ताली २३८, धान्यस्थान-सम्पन्न हैं, इसलिये खली २३९, कालको आवरण करनेवाली ईश्वरी माया है, उसे भी आवरण कर रहा है, इसलिये कालकटङ्कट है। २४० (५७-५८)

उसकी मति ग्रहतारा प्रभृति विग्रह-विशिष्ट कालचक्रानुसारिणी है, इसलिये नक्षत्रविग्रहमति २४१; गुणकार्य बुद्धि विशिष्ट जीव रूपी है, इस ही लिये गुणबुद्धि २४२, उसमें सब वस्तु लय होती हैं, इस ही निमित्त लय २४३, अचञ्चल कूटस्थ चिन्मात्र है, इसलिये आगम २४४, विराट है इसही निमित्त प्रजापति २४५, जगत्के प्राणियोंकी भुजा ही उसके बाहु हैं, इसहीसे विश्व-बाहु २४६, व्यष्टिकार्य रूप होनेसे विभाग २४७, समष्टि कार्य स्वरूप है, इसलिये सर्वग २४८, भोगसाधनरहित अभोक्ता है, इसलिये अमुख है। २४९(५९)

संसारमोचक होनेसे विमोचन २५०, अनायास ही प्राप्य है, इस ही निमित्त सुशरण २५१, जो रहता है, वह हिरण्य है अर्थात् मायासे विकारभूत कवचकी भांति आवरक शरीरमें उसकी उत्पत्ति होती है, इस ही लिये हिरण्यकवचोद्भव २५२, मेढ़ अर्थात् लिङ्गमें उसकी उत्पत्ति होती है, इस ही निमित्त मेढ्रज २५३, शबररूपसे बल शब्दवाची वनमें विचरता है, इसलिये बलचारी २५४, समस्त पृथ्वीपर विचरता है, इसलिये महीचारी २५५, सर्वत्र गत है, इस निमित्त स्रुत है। २५६ (६०)

सर्वतूर्यनिनादी २५७, सब जीव

त्रिदशस्त्रिकालधृक्कर्मसर्वबन्धविमोचनः।
बन्धनस्त्वसुरेन्द्राणां युधि शत्रुविनाशनः ॥ ६२ ॥
सांख्यप्रसादो दुर्वासाः सर्वसाधुनिषेवितः।
प्रस्कन्दनो विभागज्ञो अतुल्यो यज्ञभागवित् ॥६३॥
सर्ववासः सर्वचारी दुर्वासा वासवोऽमरः।
हैमो हेमकरोऽयज्ञः सर्वधारी धरोत्तमः ॥ ६४ ॥
लोहिताक्षो महाक्षश्च विजयाक्षो विशारदः। (२८९)

ही उसके कुटुम्ब हैं, इसलिये सर्वातोद्य-परिग्रह अर्थात् पशुपति २५८, शेषनाग रूप होनेसे व्यालरूप २५९, योगीरूपसे गुहावासी २६०, कार्तिकेय स्वरूपसे गुह २६१, वनमालाधारी होनेसे माली २६२, विषयसुखोंको तरङ्गसमान जानता है, इस ही लिये तरङ्गवित् २६३ प्राणियोंकी जन्म, स्थिति और नाश, ये तीनों दशा उसहीसे प्रकट होती हैं, इसीसे त्रिदश २६४, त्रिकालजात वस्तु-ओंको धारण करता है, इसलिये त्रिकाल-धृक् २६५, सञ्चित, क्रियमाण और अविद्याकामात्मक कर्मोंके बन्धनको विमोचन करता है; इसीसे सर्व–कर्म–बन्धविमोचन २६६, असुरेंद्रगणोंके बन्धन २६७, युद्धमें शत्रुविनाशन है। २६८ (६१—६२)

आत्मानात्मविवेकसे बहुत प्रसन्न होता है, इस निमित्त सांख्यप्रसाद २६९, रुद्रांशरूपसे उत्पन्न दुर्वासा २७०, सर्वसाधुनिषेवित २७१, ब्रह्मादि देव-ताओंके भी प्रच्युतिकारक होनेसे प्रस्क-न्दन २७२, प्राणियोंके कर्मफलोंको यथोचित विभक्त करता है, इसलिये विभागज्ञ २७३, उसके समान कोई भी नहीं है, इसलिये अतुल्य २७४, यज्ञिय हवि प्रभृतिके विभागाभिज्ञ है, इस ही कारण यज्ञभागवित् है।२७५(६३)

उसका सर्वत्र वासस्थान है, इसलिये सर्ववास २७६, सर्वत्र विचरता है, इस ही निमित्त सर्वचारी २७७, दुःस्थ आर्द्र गजचर्म उसका वस्त्र है, इस ही कारण दुर्वासा २७८, इन्द्र-स्वरूप होनेसे वासव २७९, अमर २८०, हिमालयरूपी है, इसलिये हैम २९१, सुवर्णकर्त्ता है, इसलिये हेमकर २८२, निष्कर्मा है, इसलिये अयज्ञ२८३, समस्त कर्मफलोंको धारण करता है, इस ही निमित्त सर्वधारी २८४, दिग्गज कूर्म और शेष प्रभृतिको धारण करने-वाला है तथा स्वयं अनन्याधार है, इस ही निमित्त धरोत्तम है। २८५ (६४)

लोहिताक्ष २८६, महाक्ष २८७, विजयके उपलक्षित रथविशिष्ट है, इस-

संग्रहो निग्रहः कर्ता सर्पचीरनिवासनः ॥ ६५ ॥
मुख्योऽमुख्यश्च देहश्च काहलिः सर्वकामदः ।
सर्वकालप्रसादश्च सुबलो बलरूपधृत् ॥ ६६ ॥
सर्वकामवरश्चैव सर्वदः सर्वतोमुखः ।
आकाशनिर्विरूपश्च निपाती ह्यवशः खगः ॥ ६७ ॥
रौद्ररूपोंऽशुरादित्यो बहुरश्मिः सुवर्चसी ।
वसुवेगो महावेगो मनोवेगो निशाचरः ॥ ६८ ॥
सर्ववासी श्रिया वासी उपदेशकरोऽकरः ।
मुनिरात्मनिरालोकः संभग्नश्च सहस्रदः ॥ ६९ ॥ (३२५)

लिये विजयाक्ष २८८, पण्डित हैं, इस ही निमित्त विशारद २८९, बाणासुर प्रभृतिको दासरूपसे स्वीकार किया था, इसीसे संग्रह २९०, इन्द्र आदि देवताओंको उतिसक्त होनेपर दण्ड करता है, इसलिये निग्रह २९१, कर्ता २९२, सर्पचीरनिवासन २९३, देवताओंके बीच अष्टम अग्नि और नवम विष्णु रूपसे सर्वदेवमय है, इसलिये मुख्य २९४, अमुख्य २९५, अत्यन्त पुष्ट है, इस निमित्त देह २९६, काहल नाम वाद्य विशेषविशिष्ट हैं, इसलिये काहली २९७, सर्वकामद २९८, सर्वफलप्रसाद २९९, सुबल ३००, बलरूपधृत् है। ३०१ (६५—६६)

सर्वकामवर ३०२, सर्वद ३०३, सर्वतोमुख ३०४, आकाशवत् है, उससे विविध विचित्ररूप प्रकट होते हैं, इस निमित्त निर्विरूप ३०५, देहगर्तमें आत्माको निपातित करता है, इसलिये निपाती ३०६, देहसम्बन्धानिबन्धन अपरिहार्य होनेसे दुःखादि सम्बन्धवश से अवश ३०७, हार्दाकाशमें शुद्ध चैतन्यरूपसे स्थित रहनेसे खग ३०८, रौद्ररूप ३०९, देवभेदसे अंशु ३१०, आदित्य ११, बहुरश्मि १२, उत्तम तेजशाली है, इसलिये सुवर्चसी १३, वायुकी भान्ति वेगवान है, इस निमित्त वसु-वेग १४, महावेग १५, मनोवेग १६, अविद्याकी भांति विषय भोग करता है, इसी लिये निशाचर है। ३१७ (६७—६८)

सर्वशरीरमें वास करता है, इसहीसे सर्ववासी १८, ऋग्मन्त्रोंमें निवास करता है, इसलिये श्रियावासी १९, उपदेशकर ३२०, मौनभावसे स्थित होकर उपदेश करता है, इसलिये अकर २१, मुनि २२, आत्माकोही निश्चय करके देहादि उपाधिसे निकलकर अवलोकन करता है इसलिये आत्मनिरा-

पक्षी च पक्षरूपश्च अतिदीप्तो विशाम्पतिः ।
उन्मादो मदनः कामो ह्यश्वत्थोऽर्थकरो यशः ॥७०॥
वामदेवश्च वामश्च प्राग्दक्षिणश्च वामनः ।
सिद्धयोगी महर्षिश्च सिद्धार्थः सिद्धसाधकः ॥ ७१ ॥
भिक्षुश्च भिक्षुरूपश्च विपणो मृदुरव्ययः ।
महासेनो विशाखश्च षष्टिभागो गवां पतिः ॥ ७२ ॥
वज्रहस्तश्च विष्कम्भी चमूस्तम्भन एव च ।
वृत्तावृत्तकरस्तालो मधुर्मधुकलोचनः ॥ ७३ ॥ (३६०)

लोक २३, सम्यक् सेवित होनेसे संयम २४, अनन्त धनदाता होनेसे सहसद २५, गरुडस्वरूप है इसीसे पक्षी २६, मित्ररूपसे सहाय है, इस ही निमित्त पक्षरूप २७, शुक्र तेज अभिभवके कारण कोटि सूर्य सदृश है इस लिये अतिदीप्त २८, प्रजासमूहका पति है, इसलिये विशाम्पति २९, उन्मादकारक है, इस ही लिये उन्माद ३३०, मोहक होनेसे मदन ३१, काम्यमान है, इसलिये काम ३२, संसारवृक्ष है, इस निमित्त अश्वत्थ ३३, धनप्रद है, इसलिये अर्थकर ३४, कीर्तिदाता है, इसलिये यश है । ३३५ (६९—७०)

कर्मफलोंका विभाजक है, इसलिये वामदेव ३६, कर्मफलरूप है, इसलिये वाम ३७, सबका आदि होनेसे प्राक् ३८, तीनों लोकोंको आक्रमण करनेमें समर्थ है, इस ही निमित्त दक्षिण ३९, बलिके ध्वंस करनेवाले होनेसे वामन ३४०, सनत्कुमार आदि रूपसे सिद्धयोगी ४१, वशिष्ठ आदिरूपसे महर्षि ४२, दत्तात्रेय आदि रूपसे सिद्धार्थ ४३, याज्ञवल्क्य आदि रूपसे विद्वत्संन्यासी है, इसलिये सिद्ध साधक ४४, लिंगधारी हंस है, इसलिये भिक्षु ४५, लिंगहीन परमहंस है, इसलिये भिक्षुरूप ४६, निर्व्यवहार है, इसहीसे विपण ४७, सब प्राणियोंका अभयदाता है, इसलिये मृदु ४८, निर्विकार अर्थात् मान अपमानमें हर्ष विषादसे रहित है, इसलिये अव्यय ४९, देव सेनापति कार्तिकेय स्वरूप होनेसे महासेन ३५०, विशाख ५१, षष्टितत्त्व उसके भोग्य हैं, इसलिये षष्टिभाग ५२, इन्द्रियोंका चालक है, इसलिये गवांपति है। ३५३ ७१—७२

इन्द्रस्वरूप है, इस निमित्त वज्रहस्त ५४, विस्तारवान होनेसे विष्कम्भी ५५, दैत्यसेनाको स्तम्भन करनेवाला है, इसलिये चमूस्तम्भन ५६, युद्धमें रथके द्वारा मण्डली करण वृत्त और

वाचस्पत्यो वाजसनो नित्यमाश्रमपूजितः ।
ब्रह्मचारी लोकचारी सर्वचारी विचारवित् ॥ ७४ ॥
ईशान ईश्वरः कालो निशाचारी पिनाकवान् ।
निमित्तस्थो निमित्तं च नन्दिर्नन्दिकरो हरिः ॥७५॥
नन्दीश्वरश्च नन्दी च नन्दनो नन्दिवर्धनः ।
भगहारी निहन्ता च कालो ब्रह्मा पितामहः ॥ ७६ ॥
चतुर्मुखो महालिङ्गश्चारुलिङ्गस्तथैव च । (३८९)

परसेनाको भेद करके अक्षत शरीरसे उसमेंसे आगमन करनेमें अवृत्त, इन दोनोंका कर्त्ता है, इसलिये वृत्तावृत्तकर ५७, संसारसिन्धुतल अथवा आधार है, इस ही कारण ताल ५८, वसन्त-रूप होनेसे मधु ५९, मधुककी भांति पिङ्गल नेत्र है, इसलिये मधुकलोचन ३६०, वृहस्पतिकी भांति पुरोहित कर्म करता है, इसलिये वाचस्पत्य ६१, शाखा विशेषका प्रवर्त्तक अध्वर्युकर्म कर्त्ता है इस ही कारण वाजसन ६२, नित्य आश्रम पूजित ६३, ब्रह्मचारी ६४, लोकचारी ६५, सर्वचारी ६६, विचारवित् है । ३६७ (७३-७४)

अन्तर्यामी रूपसे नियन्ता है, इस ही निमित्त ईशान ६८, सर्वव्यापी होनेसे ईश्वर ६९, लोगोंके पुण्य-पापके फल देनेके लिये गिनती करता है इसलिये काल ७०, ब्राह्मी निशा महाप्रलयकालमें प्रत्यगानन्द अनुभव करता है, इस ही निमित्त निशाचारी ७१, रक्षाकारी धनुर्द्धारी होनेसे पिनाकवान् ७२, दैत्यरूप लक्ष्यमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित है, इसलिये निमित्तस्थ ७३, विश्वरूप होनेसे लक्ष्य स्वरूप है, इस ही लिये निमित्त ७४, ज्ञान-सम्पत्तियुक्त है, इसलिये नन्दी ७५, सम्पत्तिकर होनेसे नन्दिकर ७६, हनुमान रूपसे रामके सहाय होनेसे हरि है । ३७७ (७५)

निजवाहन नन्दीका ईश्वर है, इस-लिये नन्दीश्वर ७८, गण रूपसे नंदी ७९, आनंददाता होनेसे नंदन ८०, दी हुई सम्पत्तिकी वृद्धि करता है, इसलिये नंदिवर्द्धन ८१, इन्द्रादिकोंका भी ऐश्वर्य हरण करता है, इस ही लिये भगहारी ८२, मृत्यु रूप होनेसे निहन्ता ८३, चौसठ कलाके आश्रय होनेसे काल ८४, अत्यन्त बृहत् है इसलिये ब्रह्मा ८५, जगत्पिता विष्णुकाभी पिता है, इस ही निमित्त पितामह ८६, विधातृरूप चतुर्मुख है । ३८७ (७६)

सुरासुर प्रभृति समस्त महत् प्राणी उसके लिङ्गकी पूजा करते हैं, इस ही

लिङ्गाध्यक्षः सुराध्यक्षो योगाध्यक्षो युगावहः ॥ ७७ ॥
बीजाध्यक्षो बीजकर्ता अध्यात्मानुगतो बलः ।
इतिहासः सकल्पश्च गौतमोऽथ निशाकरः ॥ ७८ ॥
दम्भो ह्यदम्भो वैदम्भो वश्यो वशकरः कलिः ।
लोककर्ता पशुपतिर्महाकर्ता ह्यनौषधः ॥ ७९ ॥
अक्षरं परमं ब्रह्म बलवच्छक्र एव च ।
नीतिर्ह्यनीतिः शुद्धात्मा शुद्धो मान्यो गतागतः ॥८०॥
बहुप्रसादः सुस्वप्नो दर्पणोऽथ त्वमित्रजित् । (४२५)

लिये महालिङ्ग ८८, रमणीय वेषधारी होनेसे चारुलिंग ८९, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका अध्यक्ष अर्थात् प्रवृत्तिनिवृत्तिका नियामक है, इस ही लिये लिंगाध्यक्ष ३९०, सुराध्यक्ष ९१, योगाध्यक्ष ९२, पुण्य-पापके तारतम्य विशिष्ट सत्य,त्रेता, द्वापर और कलियुग का प्रवर्त्तक है इसलिये युगावह ९३, धर्माधर्मका फलदाता है, इसहीसे बीजाध्यक्ष ९४, बीजकर्ता ९५, आत्माको अधिकार करके प्रवृत्त शास्त्रों का अनुसरण करनेसे साधक है, इस ही निमित्त अध्यात्मानुगत ९६, धृति प्रभृति सब बल उसमें वर्तमान रहते हैं, इसलिये बल९७, भारतादि रूपी होनेसे इतिहास ९८, यज्ञकल्प प्रयोगविधिके सहित सम्बन्धविशिष्ट है, इसलिये सङ्कल्प ९९, तर्कशास्त्रका प्रणेता होने से गौतम ४००, चन्द्ररूप है; इसलिये निशाकर है। ४०१ (७७—७८)

शत्रुओंको दमन करता है, इसलिये दम्भ ४०२, अदम्भ ४०३, धर्मध्वजित्वसे रहित है, इसलिये वैदम्भ, ४०४ भक्ताधीन होनेसे वश्य ४०५, दूसरेको वशीभूत करनेमें समर्थ है, इसलिये वशकर ४०६, देवासुर परस्परके वैर-कर्ता होनेसे कलि ४०७, चौदहों भुवनोंकी सृष्टि करनेवाला है, इसलिये लोककर्ता ४०८, ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त जीव और पशुओंका पालक है, इस निमित्त पशुपति ४०९, पञ्चभूतोंका स्रष्टा होनेसे महाकर्ता ४१०, अभोक्ता होनेसे अनौषध ११, क्षरणहीन अक्षर १२, अक्षादि और ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ आनन्दमय है, इसलिये परब्रह्म १३, बलके अभिमानी देवतारूप होनेसे बलवत् १४, शतक्रतु रूप होनेसे शक्र १५, नीति १६, अनीति १७, शुद्धात्मा १८, शुद्ध १९, मान्य ४२०, गमनशील संसारस्वरूप है, इसलिये गतागत है। ४२१ (७९-८०)

बहुप्रसाद २२, सुस्वप्न २३,

वेदकारो मन्त्रकारो विद्वान्समरमर्दनः ॥ ८१ ॥
महामेघनिवासी च महाघोरो वशी करः ।
अग्निज्वालो महाज्वालो अतिधूम्रो हुतो हविः ॥८२॥
वृषणः शंकरो नित्यं वर्चस्वी धूमकेतनः ।
नीलस्तथाङ्गलुब्धश्च शोभनो निरवग्रहः ॥ ८३ ॥
स्वस्तिदः स्वस्तिभावश्च भागी भागकरो लघुः ।
उत्सङ्गश्च महाङ्गश्च महागर्भपरायणः ॥ ८४ ॥
कृष्णवर्णः सुवर्णश्च इन्द्रियं सर्वदेहिनाम् ।
महापादो महाहस्तो महाकायो महायशाः ॥ ८५ ॥
महामूर्धा महामात्रो महानेत्रो निशालयः । (४६५)

बिम्ब प्रतिबिम्ब दर्शनास्पद है, इस ही निमित्त दर्पण २४, अमित्रजित् २५, वेदकार २६, मन्त्रकार २७, विद्वान् २८, समरमर्दन २९, प्रलयकालके महामेघमण्डलमें अधिष्ठाता रूपसे वास करता है, इस ही लिये महामेघनिवासी ४३०, प्रलयकर्तृत्वके निमित्त महाघोर ३१, सभी उसके वशमें है, इसलिये वशी ३२, संहारकर्त्ता है, इसलिये कर ३३ अग्निकी भांति तेजस्वी है, इसलिये अग्निज्वाल ३४, महाज्वाल ३५, कालाग्निरूपसे सबको जलानेके समय अत्यन्त धूम्रमय होनेसे अतिधूम्र ३६, होमसे प्रसन्न होता है, इसलिये हुत ३७, पय प्रभृतिस्वरूप है, इस लिये हवि है । ४३८ (८१—८२)

कर्मफल वरसानेवाला धर्म है, इस निमित्त वृषण ३९, सुखदाता होनेसे शङ्कर ४४०, नित्यवर्चस्वी ४१, वह्निरूप होनेसे धूमकेतन ४२, मरकत वर्ण होनेसे नील ४३, नील वा अनील लिङ्गमें नित्य सन्निहित रहता है, इसलिये अङ्गलुब्ध ४४, कल्याणका हेतु है, इसलिये शोभन ४५, प्रतिबन्धरहित मनोरथोंकी वृष्टि करनेवाला है, इस ही लिये निरवग्रह ४६, स्वस्तिद ४७, अस्तिभाव है, इस ही लिये स्वस्ति भाव ४८, यज्ञमें भगवान कहाता है, इसलिये भागी ४९, भागकर ४५०, लघु ५१, असंगरूप होनेसे उत्संग ५२, महांग ५३ प्रजननात्मक कन्दर्प है, इस ही लिये महागर्भपरायण है । ४५४ (८३—८४)

विष्णुरूप है, इसलिये कृष्णवर्ण ५५, साम्बरूप होनेसे श्वेतवर्ण और सुवर्ण ५६, समस्त प्राणियोंकी इन्द्रिय ५७, महापाद ५८, महाहस्त ५९,

महान्तको महाकर्णो महोष्ठश्च महाहनुः ॥ ८६ ॥
महानासो महाकम्बुर्महाग्रीवः श्मशानभाक् ।
महावक्षा महोरस्को ह्यन्तरात्मा मृगालयः ॥ ८७ ॥
लम्बनो लम्बितोष्ठश्च महामायः पयोनिधिः ।
महादन्तो महादंष्ट्रो महाजिह्वो महामुखः ॥ ८८ ॥
महानखो महारोमा महाकेशो महाजटः ।
प्रसन्नश्च प्रसादश्च प्रत्ययो गिरिसाधनः ॥ ८९ ॥
स्नेहनोऽस्नेहनश्चैव अजितश्च महामुनिः ।
वृक्षाकारो वृक्षकेतुरनलो वायुवाहनः ॥ ९० ॥
गण्डली मेरुधामा च देवाधिपतिरेव च ।
अथर्वशीर्षः सामास्य ऋक्सहस्रामितेक्षणः ॥ ९१ ॥
यजुःपादभुजो गुह्यः प्रकाशो जङ्गमस्तथा । (५११)

महाकाय ४६०, महायशा ४६१, महामूर्द्धा ४६२, महाप्रमाण है, इसलिये महामात्र ४६३, महानेत्र ४६४, निशाकी भांति अविद्या उसमें लीन होती है, इस ही कारण निशालय ४६५, महान्तक ४६६, महाकर्ण ४६७, महोष्ठ ४६८, महाहनु है। ४६९ (८५—८६)

महानास ४७०महाकम्बु४७१,महाग्रीव ४७२, श्मशानभाक् ४७३, महावक्षा ७४, महोरस्क ७५, अन्तरात्मा ४७६, अङ्काधिरोपित मृगचन्द्र रूपसे मृगालय ७७, जैसे वृक्षोंके फल लटके रहते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड उसे अवलम्बन कर रहा है, इस ही निमित्त लम्बन ७८, प्रलयकालमें विश्वग्रास करनेके निमित्त लम्बित ओष्ठ ७९, महामाय ४८०,क्षीरोदसमुद्र रूप होनेसे पयोनिधि ८१, महादन्त ८२, महादंष्ट्र ८३, महाजिह्व ८४, महामुख ८५, नृसिंह रूप होनेसे महानख ८६, वराहरूप होनेसे महारोमा ८७, महाकेश ८८, महाजट ८९,प्रसन्न ४९०, प्रसाद ९१, प्रत्यय ९२, युद्धमें पर्वत ही उसके जयके कारण हैं इस ही लिये गिरिसाधन है। ९३ (८७—८९)

पिताकी भांति प्रजासमूहके ऊपर स्नेह करता है, इसलिये स्नेहन ९४, स्नेह न करनेसे अस्नेहन ९५, अजित ९६, महामुनि ९७, संसार वृक्ष ही उसका आकार है, इसलिये वृक्षाकार ९८, वृक्षकेतु ९९, अनल ५००, वायुवाहन १, क्षुद्र पर्वतोंमें गमनशील होनेसे गण्डली २, मेरुधामा ३, देवाधिपति ४,अथर्वशीर्ष ५, सामास्य ६,

अमोघार्थः प्रसादश्च अभिगम्यः सुदर्शनः ॥ ९२ ॥
उपकारः प्रियः सर्वः कनकः काञ्चनच्छविः ।
नाभिर्नन्दिकरो भावः पुष्करस्थपतिः स्थिरः ॥ ९३ ॥
द्वादशस्त्रासनश्चाद्यो यज्ञो यज्ञसमाहितः ।
नक्तं कलिश्च कालश्च मकरः कालपूजितः ॥ ९४ ॥
सगणो गणकारश्च भूतवाहनसारथिः ।
भस्मशयो भस्मगोप्ता भस्मभूतस्तरुर्गणः ॥ ९५ ॥ (५४२)

ऋक्सहस्रामितेक्षण ७, यजुः-पादभुज ८, गुह्य (उपनिषद्देश) ९, कर्मकाण्ड रूपसे प्रकाश १०, मनुष्य पशु आदि रूप है, इसलिये जंगम ११, उसके निकट प्रार्थना करनेसे निष्फल नहीं होती, इस ही निमित्त अमोघार्थ १२ दयालु है, इस ही लिये प्रसाद १३ सुखप्राप्य होनेसे अभिगम्य १४, सुदर्शन है। ५१५ (९०—९२)

प्रीणन रूप होनेसे उपकार १६, सुखदायी रूप होनेसे प्रिय १७, सम्मुख आगमन करनेसे सर्व १८, स्वर्गादि प्रियवस्तु रूप होनेसे कनक ५१९ काञ्चनच्छवि ५२०, जगत्का मध्यस्थल होनेसे नाभि २१, यज्ञ फलकी वृद्धि करता है, इसलिये नन्दिकर २२, यज्ञ-श्रद्धा रूपसे भाव २३, ब्रह्माण्डकी रचना करता है, इसलिये पुष्करस्थ पति २४, पर्वतादि स्थावररूप होनेसे स्थिर २५, मनुष्योंके गर्भवासादि दश प्रकारकी अवस्थाके बीच मृत्यु दशम है, स्वर्ग एकादश और मोक्ष द्वादश है, तत्स्वरूप होनेसे द्वादश २६, त्रासन २७, आद्य २८, जीव ब्रह्मकी संगति करणरूपी योग है, इस-लिये यज्ञ २९, योगके द्वारा प्राप्त होता है, इसलिये यज्ञसमाहित ५३०, अप्रकाश है, इसलिये नक्त ३१, कलिके कार्य काम क्रोधादि रूप होनेसे कलि ३२, जन्ममरण प्रवाहको सञ्चा-लन करता है, इसलिये काल ३३, मकराकार शिशुमारचक्र कालके ज्ञा-पक और तत्स्वरूप होनेसे मकर ३४, मृत्युके द्वारा पूजित है, इसलिये काल-पूजित है। ५३५ (९३-९४)

प्रमथादियुक्त होनेसे सगण ५३६, बाणादिको अपना भक्त किया था, इस लिये गणकार ३७, भूतगणोंके योगक्षेम निर्वाह कर्त्ता ब्रह्मा उसका सारथि कहा जाता है, इसही निमित्त भूतवाहनसार-थि ३८, पापोंका भर्त्सन करता है, इस ही लिये भस्मशय ३९, भस्मसे जगत्की रक्षा करता है, इस ही निमित्त भस्मगोप्ता ५४०, मंकणक नामक मुनि

लोकपालस्तथाऽलोको महात्मा सर्वपूजितः।
शुक्लस्त्रिशुक्लः संपन्नः शुचिर्भूतनिषेवितः ॥ ९६ ॥
आश्रमस्थः क्रियावस्थो विश्वकर्ममतिर्वरः।
विशालशाखस्ताम्रोष्ठो ह्यम्बुजालः सुनिश्चलः ॥ ९७ ॥
कपिलः कपिशः शुक्ल आयुश्चैव परोऽपरः।
गन्धर्वो ह्यदितिस्तार्क्ष्यः सुविज्ञेयः सुशारदः ॥ ९८ ॥
परश्वधायुधो देव अनुकारी सुबान्धवः।
तुम्बवीणो महाक्रोध ऊर्ध्वरेता जलेशयः ॥ ९९ ॥
उग्रो वंशकरो वंशो वंशनादो ह्यनिन्दितः। (५८४)

निज हाथसे बाहर हुए शाकरसको देखकर नाचने लगे, उनके नृत्यकी शान्तिके लिये महादेवने अपनी अंगुली काटके उसमेंसे भस्म दिखाया था, इसलिये उसका शरीर केवल भस्ममय होनेसे भस्मभूत ४१, कल्पवृक्ष स्वरूप है, इसलिये तरु ४२, भृंगिरिटि नन्दिकेश्वर प्रभृति गण स्वरूप है, इसलिये गण है। ४३ (९५)

चौदह भुवनोंका पालक होनेसे लोकपाल ४४, लोकातीत होनेसे अलोक ४५, पूर्ण है, इस ही निमित्त महात्मा ४६, सर्वपूजित ४७, शुद्ध है इसलिये शुक्ल ४८, काय, मन और वचन ये तीनों ही उसके पवित्र हैं इस ही कारण त्रिशुक्ल ४९, कैवल्य प्राप्त होनेसे सम्पन्न ५५०, असङ्ग होनेसे शुचि ५१, पूर्वाचार्योंसे सेवित है, इस लिये भूतनिषेवित है। ५५२ (९६)

चारों आश्रमोंमें धर्मरूपसे स्थित है, इस ही निमित्त आश्रमस्थ ५३, धर्मके पूर्वरूप यज्ञादिकर्म और अवस्थासे युक्त होनेसे क्रियावस्थ ५४, विश्वकर्माका कौशलस्वरूप है, इसलिये विश्वकर्ममति ५५, लक्ष्मी स्वरूपसे प्रार्थनीय है, इस लिये वर ५६, दीर्घबाहु होनेसे विशालशाख ५७, ताम्रोष्ठ ५८, जलस्वरूप होनेसे अम्बुजाल ५९, पर्वतादिरूप है, इसलिये सुनिश्चल ५६०, कपिल ६१, कपिश ६२, शुक्ल ६३, जीवन कालस्वरूप होनेसे आयु ६४, प्राचीनरूपसे पर ६५, अर्वाचीन रूपसे अपर ६६, चित्ररथ आदि रूपसे गन्धर्व ६७, देवमाता वा पृथिवी रूपसे अदिति ६८, गरुडरूपसे तार्क्ष्य ६९, सुविज्ञेय ५७० शोभनवाक् होनेसे सुशारद है। ५७१ (९७--९८)

परश्वधायुध ७२, देव ७३, अनुकारी ७४, सुबान्धव ७५, तुम्बवीण ७६, महाक्रोध ७७, ऊर्ध्वरेता ७८, जले

सर्वाङ्गरूपो मायावी सुहृदो ह्यनिलोऽनलः ॥ १०० ॥
बन्धनो बन्धकर्ता च सुबन्धनविमोचनः ।
सयज्ञारिः सकामारिर्महादंष्ट्रो महायुधः ॥ १०१ ॥
बहुधानिन्दितः शर्वः शंकरः शंकरोऽधनः ।
अमरेशो महादेवो विश्वदेवः सुरारिहा ॥ १०२ ॥
अहिर्बुध्न्योऽनिलाभश्च चेकितानो हविस्तथा ।
अजैकपाच्च कापाली त्रिशंकुरजितः शिवः ॥ १०३ ॥
धन्वन्तरिर्धूमकेतुः स्कन्दो वैश्रवणस्तथा ।
धाता शक्रश्च विष्णुश्च मित्रस्त्वष्टा ध्रुवो धरः ॥ १०४ ॥
प्रभावः सर्वगो वायुरर्यमा सविता रविः ।
उषंगुश्च विधाता च मान्धाता भूतभावनः ॥ १०५ ॥ (६३४)

शय ७९, उग्र ५८०, वंशकर ५८१, वंश ८२, वंशनाद, ८३, अनिन्दित ८४, सर्वाङ्गरूप ८५, मायावी ८६, सुहृद ८७, अनिल ८८, अनल ८९, बन्धन ५९०, बन्धकर्त्ता ९१,सुबन्धन-विमोचन ९२, यज्ञशत्रु दैत्योंके सङ्ग वास करता है, इस लिये सयज्ञारी ९३, कामविजयी योगियोंके संग निवास करता है, इस निमित्त सकामारि ९४, महादंष्ट्र९५,महायुध है।९६ (९९-१०१)

दारुकावनमें अत्यन्त मनोहर रूप धरके दिगम्बर होकर ऋषिपत्नियोंके चित्तको मोहित करनेमें प्रवृत्त होनेपर ऋषियोंने उसकी अनेक प्रकारसे निन्दा की थी, इस ही निमित्त बहुधानिन्दित ५९७, मुनियोंको मोहित किया था, इस ही निमित्त शर्व ९८, मुनियोंका कल्याण उसकी मुट्ठीमें था, इसलिये शङ्कर ९९, उन लोगोंकी शङ्का हरण की थी, इस ही कारण शङ्कर ६००, अधन१, अमरेश२,महादेव ३,विश्वदेव ४, सुरारिहा ५, पातालमें शेषरूपसे वर्त्तमान है,इसलिये अहिर्बुध्न्य६,वायुकी भांति अप्रत्यक्ष है, इसलिये अनिलाभ ७, अत्यन्त ज्ञानवान् है,इसलिये चेकि-तान ८,भोक्ताकी भोग्यवस्तुस्वरूप है, इस निमित्त हवि ९, एकादश रुद्रोंके बीच अन्यतम है, इस ही कारण अजै-कपात् ६१० ब्रह्माण्डके अधीश्वर होनेसे कापाली ११, सर्व जीवस्व-रूपसे त्रिशङ्कु १२, अजित १३ और शिव है । १४ (१०२-१०३)

धन्वन्तरि ६१५, धूमकेतु १६, स्कन्द १७, वैश्रवण १८, धाता १९, शक्र ६२०, विष्णु २१, मित्र २२, त्वष्टा २३, ध्रुव २४, धर २५, प्रभाव

विभुर्वर्णविभावी च सर्वकामगुणावहः ।
पद्मनाभो महागर्भश्चन्द्रवक्त्रोऽनिलोऽनलः ॥ १०६ ॥
बलवांश्चोपशान्तश्च पुराणः पुण्यचञ्चुरी ।
कुरुकर्ता कुरुवासी कुरुभूतो गुणौषधः ॥ १०७ ॥
सर्वाशयो दर्भचारी सर्वेषां प्राणिनां पतिः ।
देवदेवः सुखासक्तः सदसत्सर्वरत्नवित् ॥ १०८ ॥
कैलासगिरिवासी च हिमवद्गिरिसंश्रयः ।
कूलहारी कूलकर्ता बहुविद्यो बहुप्रदः ॥ १०९ ॥
वणिजो वर्धकी वृक्षो बकुलश्चन्दनश्छदः ।
सारग्रीवो महाजत्रुरलोलश्च महौषधः ॥ ११० ॥
सिद्धार्थकारी सिद्धार्थश्छन्दोव्याकरणोत्तरः ।
सिंहनादः सिंहदंष्ट्रः सिंहगः सिंहवाहनः ॥ १११ ॥ (६८१)

२६, सर्वग वायु २७, अर्यमा २८, सविता २९, रवि ६३०, नृपति विशेषरूपसे उषंगु ३१, विधाता ३२, मान्धाता (नृपविशेष) ३३, भूतभावन ३४, विभु ३५, श्वेत पीत आदि वर्णोंको विविधरूपसे उत्पन्न किया है, इसलिये वर्ण-विभावी ३६, सर्वकामवह ३७, पद्मनाभ ३८, महागर्भ ३९, चन्द्रवक्त्र ६४०, अनिल ४१, अनल वायु और अग्निके अधिष्ठात्री देवता स्वरूप है। ६४२ (१०४-१०६)

बलवान् ४३, उपशान्त ४४, पुराण ४५, पुण्यचञ्चु ४६, लक्ष्मीरूप ४७, कुरुक्षेत्रके निर्माता होनेसे कुरुकर्ता ४८, कुरुवासी ४९, कुरुभूत ६५०, ऐश्वर्यज्ञान वैराग्य प्रभृतिके भी औषधका उद्दीपक है, इस ही निमित्त गुणौषध ५१, सबका सुषुप्ति स्थान है, इसलिये सर्वाश्रय ५२, अन्तर्वेदिस्थ कुशरूपसे हवि भक्षण करता है, इसीसे दर्भचारी ५३, समस्त प्राणियोंका पति ५४ देवदेव ५५, सुखासक्त ५६, कारण ५७ और कार्य रूपसे सदसत् ५८, सर्वरत्नवित् ५९, कैलासगिरिवासी ६६०, हिमवद्गिरिसंश्रय ६१, महाप्रवाह रूपसे कूलहारी ६२, पुष्कर आदि महातडागोंका कर्त्ता है, इसलिये कूलकर्त्ता ६३, बहुविद्य ६४, बहुप्रद है। ६५ (१०७-१०९)

वणिज ६६, तक्ष रूपसे वर्द्धकी ६७ तक्षणीय संसारवृक्ष है, इसलिये वृक्ष ६८, बकुल (वृक्षविशेष) ६९, चन्दन ६७०, छद (सप्तपर्ण) ७१, सारग्रीव (दृढकन्धर) ७२, महाजत्रु ७३, अलोल ७४, व्रीहियवादि रूपसे

प्रभावात्मा जगत्कालस्थालो लोकहितस्तरुः ।
सारङ्गो नवचक्राङ्गः केतुमाली सभावनः ॥ ११२ ॥
भूतालयो भूतपतिरहोरात्रमनिन्दितः ॥ ११३ ॥
वाहिता सर्वभूतानां निलयश्च विभुर्भवः ।
अमोघः संयतो ह्यश्वो भोजनः प्राणधारणः ॥ ११४ ॥
धृतिमान्मतिमान् दक्षः सत्कृतश्च युगाधिपः ।
गोपालिर्गोपतिर्ग्रामो गोचर्मवसनो हरिः ॥ ११५ ॥
हिरण्यबाहुश्च तथा गुहापालः प्रवेशिनाम् ।
प्रकृष्टारिर्महाहर्षो जितकामो जितेन्द्रियः ॥ ११६ ॥
गान्धारश्च सुवासश्च तपःसक्तो रतिर्नरः ।
महागीतो महानृत्यो ह्यप्सरोगणसेवितः ॥ ११७ ॥ (७२६)

महौषध ७५, सिद्धार्थकारी ७६, वेद व्याख्यान-सिद्धार्थ ७७, सिंहनाद ७८, सिंहदंष्ट्र ७९, सिंहग ६८०, सिंहवाहन ८१, प्रभावात्मा ८२, जगत्कालस्थाल (जगद्ग्रासकर्त्ता) ८३, लोकहित ८४, तारण कर्त्ता होनेसे तरु ८५, सारंग (पक्षिविशेष) ८६, नवचक्रांग (नवीन हंस) ८७, केतुमाली (मयूर कुक्कुट आदि पक्षिरूप) ८८, धर्मपरीक्षाके स्थानकी रक्षा करता है, इसलिये सभावन ८९, भूतालय ६९०, भूतपति ६९१, अहोरात्र ६९२, अनिन्दित है। ६९३, (११०–११३)

समस्त भूतोंको वहन करता है, इसही निमित्त सर्वभूतवाहिता ९४, सर्वभूतनिलय ९५, विभु ९६, वर्त्तमान है, इसलिये भव ९७, अमोघ(नैष्फल्य-रहित) ९८, संयत (धारणा ध्यान समाधिमान्) ९९, उच्चैःश्रवादि स्वरूपसे अश्व ७००, भोजन (अन्नदाता) १, प्राणधारण २, धृतिमान् ३, मतिमान् ४, दक्ष (उत्साही) ५, सत्कृत(आदर-युक्त) ६ धर्माधर्मका फल देनेवाला है, इस ही निमित्त युगाधिप ७, इन्द्रियोंका पालयिता है, इसलिये गोपाली ८, किरणोंका पति सूर्यादि है, इस ही निमित्त गोपति ९, ग्राम (समूह) १०, गोचर्मवसन ११, भक्तोंके दुःख हरनेसे हरि १२, हिरण्यबाहु १३, योगियोंके शरीरकी रक्षा करता है, इस ही निमित्त गुहापाल १४, प्रकृष्टारि(उत्तम साधक) १५, महाहर्ष १६, जितकाम १७, जितेन्द्रिय १८ (११४—११६)

गान्धार (स्वरविशेष) १९, सुवास २०, तपःसक्त २१, रति (प्रीतिरूप) २२, नर (विराटरूपसे ब्रह्माण्डव्यापक)

महाकेतुर्महाधातुर्नैकसानुचरश्चलः ।
आवेदनीय आदेशः सर्वगन्धसुखावहः ॥ ११८ ॥
तोरणस्तारणो वातः परिधीपतिखेचरः ।
संयोगो वर्धनो वृद्धो अतिवृद्धो गुणाधिकः ॥ ११९ ॥
नित्य आत्मसहायश्च देवासुरपतिः पतिः ।
युक्तश्च युक्तबाहुश्च देवो दिवि सुपर्वणः ॥ १२० ॥
आषाढश्च सुषाढश्च ध्रुवोऽथ हरिणो हरः ।
वपुरावर्तमानेभ्यो वसुश्रेष्ठो महापथः ॥ १२१ ॥
शिरोहारी विमर्शश्च सर्वलक्षणलक्षितः ।
अक्षश्च रथयोगी च सर्वयोगी महाबलः ॥ १२२ ॥
समाम्नायोऽसमाम्नायस्तीर्थदेवो महारथः । (७६५)

२३, महागीत २४, महानृत्य २५, अप्सराओंसे सेवित २६, वृष ही उसका केतु अर्थात् ध्वजा है, इस ही निमित्त महाकेतु २७, मेरु पर्वतरूपी महाधातु २८, अनेक शिखर प्रचारी होनेसे नैकसानुचर २९, दुर्ग्रह है, इसलिये चल ३०, वचनके अगोचर होनेसे भी गुरुओंके द्वारा उपदेशके योग्य है, इसलिये आवेदनीय ३१, साक्षात् उपदेश स्वरूप है, इसलिये आदेश ३२, सर्वगन्ध सुखावह ३३, पुरद्वार आदि रूपसे तोरण ३४, तारण ३५, वात ३६, परिधि-दुर्गादि स्वरूप ३७, पति तथा खेचर गरुड आदि रूप ३८, संयोगवर्धन (स्त्रीपुरुषोंका सम्बन्ध) ३९, वृद्ध ७४०, अतिवृद्ध ४१, ज्ञानैश्वर्य आदियुक्त होनेसे गुणाधिक है। ४२ (११७—११९)

नित्य आत्मसहाय ४३, देवासुरपति ४४, पति ४५, समरमें सन्नद्ध है, इसलिये युक्त ४६, शत्रुमर्दन बाहु-विशिष्ट है, इसलिये युक्तबाहु ४७, स्वर्गमें इन्द्रका आराधनीय है, इसलिये देव ४८, सर्वसहन सामर्थ्यप्रद है, इस ही लिये आषाढ ४९, सुषाढ ५०, ध्रुव (अचञ्चल) ५१, श्वेत है इससे हरिण ५२, और संहार कर्त्ता होनेसे हर ५३, स्वर्गच्युत पुरुषोंको वपुःप्रदाता है, इसलिये वपुः ५४, धनसेभी अधिक प्रिय है, इसलिये वसुश्रेष्ठ ५५, शिष्टाचार स्वरूप वा महांपथ ५६, विचारपूर्वक ब्रह्माका सिर हरण किया था, इस ही निमित्त शिरोहारी ५७, सर्वलक्षणलक्षित (सामुद्रिकमें कहे हुए सब लक्षणोंसे युक्त) ५८, रथ सन्धान दारु अक्ष होनेसे रथयोगी ५९, सर्वयोगी ७६० महाबल है। ७६१, (१२०-१२२)

निर्जीवो जीवनो मन्त्रः शुभाक्षो बहुकर्कशः ॥ १२३ ॥
रत्नप्रभूतो रत्नाङ्गो महार्णवनिपानवित् ।
मूलं विशालो ह्यमृतो व्यक्ताव्यक्तस्तपोनिधिः ॥१२४॥
आरोहणोऽधिरोहश्च शीलधारी महायशाः ।
सेनाकल्पो महाकल्पो योगो युगकरो हरिः ॥ १२५ ॥
युगरूपो महारूपो महानागहनो वधः ।
न्यायनिर्वपणः पादः पण्डितो ह्यचलोपमः ॥ १२६ ॥
बहुमालो महामालः शशी हरसुलोचनः ।
विस्तारो लवणः कूपस्त्रियुगः सफलोदयः ॥ १२७ ॥
त्रिलोचनो विषण्णाङ्गो मणिविद्धो जटाधरः ।
बिन्दुर्विसर्गः सुमुखः शरः सर्वायुधः सहः ॥ १२८ ॥ (८११)

देवस्वरूप होनेसे समाम्नाय ६२, स्मृति इतिहास पुराण और आगम आदि रूपसे असमाम्नाय ६३, तीर्थदेव ६४, महारथ ६५, अचेतन प्रपञ्च रूपसे निर्जीव ६६, अचेतन देहादिके चैतन्यप्रदाता होनेसे जीवन ६७, प्रणवादि रूपसे मन्त्र ६८, शान्तदृष्टि है, इसलिये शुभाक्ष ६९, संहर्तृ रूपसे बहुकर्कश ७०, प्रचुर रत्न समन्वित है, इसलिये रत्नप्रभूत७१, रत्नाङ्ग ७२, महार्णवनिपातवित् ७३, संसार वृक्षका मूल ७४, अत्यन्त शोभायमान है, इसलिये विशाल ७५, अमृत ७६, कार्य कारण रूपसे व्यक्ताव्यक्त७७, तपोनिधि है।७८, १२३-१२४

परम पदमें आरोहण करनेके वास्ते इच्छुक है, इसलिये आरोहण ७९, और उसमें अधिरूढ होनेसे अधिरोह८०, सदाचारसम्पन्न है, इसलिये शीलधारी ८१, महायशा ८२, समस्त सेनाका अलङ्कार स्वरूप है, इसलिये सेनाकल्प ८३, दिव्यभूषण है, इसलिये महाकल्प ८४, योग (चित्तवृत्ति-निरोध) ८५, सब युग उसके हाथमें विद्यमान हैं, इसलिये युगकर ८६, पदाभिमानी देवता होनेसे हरि ८७, युगरूप ८८, महारूप ८९, महानागहन (गजासुरघ्न) ९०, वध (मृत्यु,) ९१, न्याययुक्त दाता होनेसे न्यायनिर्वपण ९२, त्रिविक्रम है, इस ही लिये पाद ९३, परोक्षज्ञानी है, इसलिये पण्डित ९४, अचलोपम (निश्चल) है। ७९५ (१२५—१२६)

बहुमाल ९६, महामाल९७, शशीहरसुलोचन ९८, विस्तीर्ण लवण समुद्र रूप होनेसे विस्तार लवणकूप ९९, कलिके बहिर्भूत होनेसे त्रियुग ८००, सफलोदय १, शास्त्र, आचार्य, ध्यान, ये

निवेदनः सुखाजातः सुगन्धारो महाधनुः ।
गन्धपाली च भगवानुत्थानः सर्वकर्मणाम् ॥ १२९ ॥
मन्थानो बहुलो वायुः सकलः सर्वलोचनः ।
तलस्तालः करस्थाली ऊर्ध्वसंहननो महान् ॥ १३० ॥
छत्रं सुच्छत्रो विख्यातो लोकः सर्वाश्रयः क्रमः ।
मुण्डो विरूपो विकृतो दण्डी कुण्डी विकुर्वणः ॥१३१॥
हर्यक्षः ककुभो वज्री शतजिह्वः सहस्रपात् ।
सहस्रमूर्धा देवेन्द्रः सर्वदेवमयो गुरुः ॥ १३२ ॥
सहस्रबाहुः सर्वाङ्गः शरण्यः सर्वलोककृत् ।
पवित्रं त्रिककुन्मन्त्रः कनिष्ठः कृष्णपिङ्गलः ॥ १३३ ॥
ब्रह्मदण्डविनिर्माता शतघ्नी पाशशक्तिमान् । (८५२)

तीनों उसके नेत्र सदृश हैं, इसलिये त्रिनेत्र २, भूम्यादि अष्टमूर्त्तियोंका विशेष रूपसे निरन्वय है, इस ही निमित्त विषण्णाङ्ग ३, कानमें कुण्डल धारण करता है, इस ही लिये मणिविद्ध ४, जटाधर ५, बिन्दु ६, विसर्ग ७, रूपसे व्यक्त-वर्ण है, इसलिये सुमुख ८, शर ९, सर्वायुध १०, सब कुछ सहता है, इसलिये सह है। ८११ (१२७-१२८)

निवेदन १२, सुखाजात १३, सुगन्धार १४, महाधनु १५, गन्धपाली भगवान्, १६, समस्त कर्मोंके उत्थान ८१७, जगत्को आलोडित करनेमें समर्थ होनेसे महाप्रलयानिल है, इसलिये मन्थान बहुलवायु १८, पूर्ण है, इसलिये सकल १९, सर्वलोचन ८२०, तलस्ताल (करतल वाद्य विशेष) २१, करस्थाली (हाथ ही भोजनका पात्र है)

२२, दृढ शरीर है इसलिये ऊर्ध्व-संहनन २३, महान् २४, छत्र २५, सुछत्र २६, विख्यात लोक २७, त्रिविक्रम इससे पदके सहारे तीनों लोकोंको आक्रमण किया था, इस ही निमित्त सर्वाश्रयक्रम २८, मुण्ड २९, विरूप ८३०, विकृत ३१, दण्डी ३२, कुण्डी ३३, कर्मके द्वारा अप्राप्य है, इसलिये विकुर्वण है। ८३४ (१२९—१३१)

सिंहरूपसे हर्यक्ष ३५, सर्वदिक् रूपसे ककुभ ३६, वज्री ३७, शतजिह्व ३८, सहस्रपात् ३९, सहस्रमूर्द्धा ४०, देवेन्द्र ४१, सर्वदेवमय ३५, गुरु ४२, सहस्रबाहु ४३, वह सर्वत्र प्राप्त हो सकता है, इसलिये सर्वांग ४४, शरण्य ४५, सर्वलोककृत् ४६, पवित्र ४७, ककुद् उच्च स्थानोंकी भांति बीज शक्ति और कीलक, ये तीनों ही उसके मन्त्र

पद्मगर्भो महागर्भो ब्रह्मगर्भो जलोद्भवः ॥ १३४ ॥
गभस्तिर्ब्रह्मकृद्ब्रह्मी ब्रह्मविद्ब्राह्मणो गतिः।
अनन्तरूपो नैकात्मा तिग्मतेजाः स्वयंभुवः ॥१३५॥
ऊर्ध्वगात्मा पशुपतिर्वातरंहा मनोजवः।
चन्दनी पद्मनालाग्रः सुरभ्युत्तरणो नरः ॥ १३६ ॥
कर्णिकारमहास्रग्वी नीलमौलिः पिनाकधृत्।
उमापतिरुमाकान्तो जाह्नवीधृदुमाधवः ॥ १३७ ॥
वरो वराहो वरदो वरेण्यः सुमहास्वनः। (८८४)

है, इस ही निमित्त त्रिककुन्मन्त्र ४८, अदितिके कनिष्ठ पुत्र वामनरूपी विष्णु स्वरूप है, इसलिये कनिष्ठ ४९, हरिहर मूर्त्ति रूपसे कृष्ण पिंगल है। ८५० (१३२—१३३)

ब्रह्मदण्डविनिर्माता ५१, शतघ्नी-पाश शक्तिमान् ५२, ब्रह्मारूपसे पद्मगर्भ ५३, महागर्भ ५४, ब्रह्मगर्भ ५५, वह समुद्रसे प्रकट हुआ था इसलिये जलो-द्भव ५६, रश्मि स्वरूपसे गभस्ति ५७, वेदकर्त्ता होनेसे ब्रह्मकृत् ५८, वेदाध्यायी है, इसलिये ब्रह्मी ५९, वेदार्थवित् है, इसलिये ब्रह्मवित् ६०, ब्रह्मनिष्ठ है, इस लिये ब्राह्मण ६१, ब्रह्मनिष्ठोंका परम अयन है, इसलिये गति ६२, अनन्तरूप ६३, नैकात्मा ६४, ब्रह्माके विषयमें दृष्टि रखता है, इसलिये तिग्मतेजा है। ८६५ (१३४—१३५)

ऊर्ध्वगात्मा ६६, पशुपति ६७, वातरंहा ६८, मनोजव ६९, शरीरमें चन्दन लगानेसे चन्दनी ७०, किसी समयमें ब्रह्मा निज आश्रय पद्मनालकी जड देखनेकी इच्छासे उस मार्गसे गमन करके उसकी आदि न देख सके, इस-लिये उसका अनन्तरूप होनेसे पद्मना-लाग्र ७१, किसी समय ब्रह्माने विष्णुके विषयमें स्पर्द्धा करके गऊसे कहा तुम साक्षी दो, कि मैंने महादेवका शिरस्थल देखा है, सुरभीने ब्रह्माके भयसे मिथ्या साक्षी दी थी। अनन्तर महादेवने उसे यह कहके शाप दिया, कि तेरी सब सन्तति अपवित्र वस्तु भक्षण करेगी। इस ही शापके कारण कामधेनुको ऊर्ध्व-पदसे अधःपदमें लेआनेसे सुरभ्युत्तरण ७२, सब जीवोंका नाश करता है, इसलिये नर है। ८७३, (१३६)

कर्णिकारमहास्रग्वी ७४, नीलमौलि (नीलमणिमय किरीट शोभित मौलि) ७५, पिनाकधृत् ७६, उमानामी ब्रह्मविद्याके यथेष्ट विनियोगके हेतु स्वामी है, इसलिये उमापति ७७, ब्रह्मविद्यासे वशीकृत होनेसे उमा-

महाप्रसादो दमनः शत्रुहा श्वेतपिङ्गलः ॥ १३८ ॥
पीतात्मा परमात्मा च प्रयतात्मा प्रधानधृत् ।
सर्वपार्श्वमुखस्त्र्यक्षो धर्मसाधारणो वरः ॥ १३९ ॥
चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा अमृतो गोवृषेश्वरः ।
साध्यर्षिर्वसुरादित्यो विवस्वान्सविताऽमृतः ॥ १४० ॥
व्यासः सर्गः सुसंक्षेपो विस्तरः पर्ययो नरः ।
ऋतुः संवत्सरो मासः पक्षः संख्यासमापनः ॥१४१॥
कला काष्ठा लवा मात्रा मुहूर्ताहःक्षपाः क्षणाः । (९१५)

कान्त ७८, जान्हवीधृत् ७९, पार्वतीका पति है, इसलिये उमाधव ८०, आद्य भूमिका उद्धारकर्त्ता है, इस ही निमित्त वरवराह ८१, अनेक अवतारोंके द्वारा जगत्को पालन करता है, इस ही निमित्त वरद ८२, जगत्पालक होनेसे वरेण्य ८३, हयग्रीव रूपसे वेदमन्त्रोंका उच्चारण किया था, इस ही लिये सुमहास्वन ८४, महाप्रसाद ८५, दमन, ८६, शत्रुहा ८७, अर्द्धनारी नटेश्वर रूपसे दक्षिणार्द्धमें कर्पूरगौर और वामार्द्धमें कनकपिंगल है, इस ही निमित्त श्वेतपिंगल है। ८८, (१३७—१३८)

पीतात्मा ८९, अन्नमय, प्राणमय मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, इन पांचों आत्मासे पृथक् आनन्द मात्र स्वरूप है, इस ही निमित्त परमात्मा ९०, निर्मल शुद्धचित्त होनेसे प्रयतात्मा ९१, त्रिगुणात्मक जगत्कारण प्रधानाख्य अज्ञानका अधिष्ठान है, इसलिये प्रधानधृत् ९२, पञ्चवक्त्र रूपसे सर्वपार्श्वमुख ९३, चन्द्र, सूर्य और अग्निरूप तीनों नेत्रोंसे युक्त है, इसलिये त्र्यक्ष ९४, पुण्यानुरूप प्रसाद स्वरूप है, इसहीसे सर्वसाधारण वर ९५, चराचरात्मा ९६, सूक्ष्मात्मा ९७, अमृत पृथ्वीपति धर्मका ईश्वर है, इस ही निमित्त अमृत गो-वृषेश्वर ९८, देवोंका देवता और साध्योंका ऋषि है, इसलिये साध्यर्षि ९९, अदितिके पुत्र वसु स्वरूप होनेसे आदित्यवसु १००, अंशुजालवान होनेसे विवस्वान जगत्प्रसव कर्त्ता होनेसे सविता और यज्ञीय सोम स्वरूप है, इसलिये अमृत है। १०१(१३९–१४०)

पुराण इतिहासोंका कर्त्ता है, इसलिये व्यास २, उसके बनाये हुए पुराण आदिमें सर्गसूत्र तथा भाष्यादि रूपसे सुसंक्षेप वा विस्तर ३, समष्टिरूप वैश्वानर है, इसलिये पर्ययनर ४, ऋतु १०५, संवत्सर ६, मास ७, पक्ष १०८ ऋतुओंकी संख्या समाप्त करनेवाली संक्रान्ति दर्शपौर्णमासादि रूपसे

विश्वक्षेत्रं प्रजाबीजं लिङ्गमाद्यस्तु निर्गमः ॥ १४२ ॥
सदसद्‌व्यक्तमव्यक्तं पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥ १४३ ॥
निर्वाणं ह्लादनश्चैव ब्रह्मलोकः परा गतिः ।
देवासुरविनिर्माता देवासुरपरायणः ॥ १४४ ॥
देवासुरगुरुर्देवो देवासुरनमस्कृतः ।
देवासुरमहामात्रो देवासुरगणाश्रयः ॥ १४५ ॥
देवासुरगणाध्यक्षो देवासुरगणाग्रणीः ।
देवातिदेवो देवर्षिर्देवासुरवरप्रदः ॥ १४६ ॥
देवासुरेश्वरो विश्वो देवासुरमहेश्वरः ।
सर्वदेवमयोऽचिन्त्यो देवतात्माऽऽत्मसंभवः ॥१४७॥
उद्भित्त्रिविक्रमो वैद्यो विरजो नीरजोऽमरः ।
ईड्यो हस्तीश्वरो व्याघ्रो देवसिंहो नरर्षभः ॥ १४८ ॥ (९६४)

संख्यासमापन ९,कला १०,काष्ठा ११,लव १२,मात्रा १३,मुहूर्त अहःक्षपा १४,क्षण १५, विश्वक्षेत्र १६,प्रजाबीज १७,लिंग १८, आद्यनिर्गम (अंकुर रूपी) है। ९१९ (१४१—१४२)

सत् ९२०असत् २१,व्यक्त(इन्द्रिय-ग्राह्य) २२,मैं नहीं जानता, यह अनु-भववेद्य अज्ञान होनेसे अव्यक्त २३, पिता २४,माता २५,पितामह २६,तपरू-पसे स्वर्गद्वार २७,रागरूपसे प्रजाद्वार २८ वैराग्य रूपसे मोक्ष द्वार २९,स्वर्ग स्वरू-पसे त्रिविष्टप ३०,मोक्षरूपसे निर्वाण ३१, आनंदजनक होनेसे ह्लादन ३२, ब्रह्म-लोक ३३,सत्य लोक परागति ३४,देवासु-रविनिर्माता ३५,देवासुरपरायण ३६ देवा-सुरगुरु ३७, देव ३८, देवासुरनमस्कृत ३९,देवासुरमहामात्र ४०, देवासुरगणा-श्रय ४१,देवासुरगणाध्यक्ष ४२, देवासुर-गणाग्रणी ४३, इन्द्रादिको अतिक्रम कर-के स्वयं प्रकाशमान है,इसलिये देवाति-देव ४४, देवर्षि ४५, देवासुरवरप्रद है। ९४६ (१४३—१४६)

अन्तर्यामी रूपसे देवासुरेश्वर ९४७, जगत्‌गर्भाशय होनेसे विश्व ४८, अंत-र्यामी ईश्वरका अधिष्ठान है, इसलिये देवासुरमहेश्वर ४९, सर्वदेवमय ५०, अचिन्त्य, ५१ , देवतात्मा ५२, आत्मसम्भव (स्वतःसिद्ध) ५३ , उद्भिद् ५४, त्रिविक्रम ५५, विद्यावान है, इसलिये वैद्य ५६ , निर्मल होनेसे विरज ९५७, रजोगुणसे रहित है, इस-लिये नीरज ५८, अविनाशी होनेसे

विबुधोऽग्रवरः सूक्ष्मः सर्वदेवस्तपोमयः।
सुयुक्तः शोभनो वज्री प्रासानां प्रभवोऽव्ययः ॥१४९॥
गुहः कान्तो निजः सर्गः पवित्रं सर्वपावनः।
शृङ्गी शृङ्गप्रियो बभ्रू राजराजो निरामयः ॥ १५० ॥
अभिरामः सुरगणो विरामः सर्वसाधनः।
ललाटाक्षो विश्वदेवो हरिणो ब्रह्मवर्चसः ॥ १५१ ॥
स्थावराणां पतिश्चैव नियमेन्द्रियवर्धनः।
सिद्धार्थः सिद्धभूतार्थोऽचिन्त्यः सत्यव्रतः शुचिः ॥१५२॥
व्रताधिपः परं ब्रह्म भक्तानां परमा गतिः। (१००३)

अमर ५९, स्तवनीय होनेसे ईड्य ६०, कालहस्तीश्वर नाम वायव्यलिंग रूपसे हस्तीश्वर ६१, व्याघ्रेश्वर नामक लिंग स्वरूपसे व्याघ्र ६२, देवताओंके बीच पराक्रमी है, इस ही निमित्त देवसिंह ६३, मनुष्योंके बीच श्रेष्ठ है, इस ही लिये नरर्षभ ६४, विशेष प्राज्ञ है, इसलिये विबुध ६५, सबसे अगाडी यज्ञ भाग वरण करता है, इस ही लिये अग्रवर ६६, दुर्लक्ष्य रूपसे सूक्ष्म ९६७, सर्वदेव ६८, तपोमय ६९, सुयुक्त ७०, शोभन ७१, वज्री ७२, प्रास आदि अस्त्रोंकी उत्पत्तिका कारण है, इसलिये प्रासप्रभव ७३, अव्यय है। ७४, (१४७-१४९)

कुमार रूपसे गुह ७५, आनंदकी पराकाष्ठा स्वरूप है, इसलिये कान्त ७६, अपनेसे अभिन्न है, इसलिये निजसर्ग ९७७, मृत्युके क्लेशसे परित्राण करता है, इस निमित्त पवित्र ७८, सर्वपावन ७९, वृषादि रूपसे शृंगी ८०, शैल शृंगाश्रय है, इसलिये शृंगप्रिय ८१, शनैश्चर होनेसे बभ्रु ८२, राजराज (कुबेर) ८३, निर्दोष है, इस लिये निरामय ८४, अभिराम ८५, सुरगण ८६, सर्वोपरम रूपसे विराम ९८७, सर्वसाधन ८८, ललाटाक्ष ८९, विश्वदेव ९०, मृगरूप होनेसे हरिण ९१, दिव्य तपसे युक्त तेजस्वी है, इसलिये ब्रह्मवर्चस ९२, हिमाचल आदि रूपसे स्थावर पति ९३, नियमेन्द्रियवर्द्धन ९४, सिद्धार्थ ९५, सिद्धभूतार्थ (द्विविध मोक्ष स्वरूप) ९६, साधारण उपास्यसे पृथक् है, इसलिये अचिन्त्य ९९७, ब्रह्मनिष्ठ होनेसे सत्यव्रत ९८, निर्मलचित्त है, इसलिये शुचि है। ९९ (१५०-१५२)

समस्त व्रतोंका फलदाता है, इस निमित्त व्रताधिप १०००, विश्वतैजस प्राज्ञ नाम अपर ब्रह्मासे श्रेष्ठ तुरीय शिवाख्य श्रुति-प्रसिद्ध है, इसलिये पर १, देश-काल और वस्तुओंसे परिच्छेदरहित

विमुक्तो मुक्ततेजाश्च श्रीमान् श्रीवर्धनो जगत् ॥१५३॥(१००८)
यथाप्रधानं भगवानिति भक्त्या स्तुतो मया ।
यन्न ब्रह्मादयो देवा विदुस्तत्त्वेन नर्षयः ॥ १५४ ॥
स्तोतव्यमर्च्यं वन्द्यं च कः स्तोष्यति जगत्पतिम् ।
भक्त्या त्वेवं पुरस्कृत्य मया यज्ञपतिर्विभुः ॥ १५५ ॥
ततोऽभ्यनुज्ञां संप्राप्य स्तुतो मतिमतां वरः ।
शिवमेभिः स्तुवन् देवं नामभिः पुष्टिवर्धनैः ॥१५६॥
नित्ययुक्तः शुचिर्भक्तः प्राप्नोत्यात्मानमात्मना ॥१५७॥
एतद्धि परमं ब्रह्म परं ब्रह्माधिगच्छति ।
ऋषयश्चैव देवाश्च स्तुवन्त्येते न तत्परम् ॥ १५८ ॥
स्तूयमानो महादेवस्तुष्यते नियतात्मभिः ।
भक्तानुकम्पी भगवानात्मसंस्थाकरो विभुः ॥ १५९ ॥
तथैव च मनुष्येषु ये मनुष्याः प्रधानतः ।
आस्तिकाः श्रद्दधानाश्च बहुभिर्जन्मभिः स्तवैः ॥१६०॥

अखण्ड एक रस तन्मात्र रूपसे ब्रह्म है २, भक्तोंकी परमगति है, मुक्ततेजा होनेसे विमुक्त (लिङ्ग शरीरसे रहित) ४, मुक्ततेजा ५, श्रीमान ६, श्रीवर्द्धन ७,नित्य रूपान्तर प्राप्त होनेसे जगत् है । १००८ (१५३)

मैंने प्रधानताके अनुसार भक्तिपूर्वक इस ही प्रकार भगवानकी स्तुति की थी; ब्रह्मादि देवता और महर्षि लोग जिसे यथार्थ रूपसे नहीं जानते, उस स्तवनीय, वन्दनीय और पूजनीय जगदीश्वरकी दूसरा कौन स्तुति कर सकेगा ? मैंने भक्तिपूर्वक यज्ञपति मतिमतांवर विभुको पुरस्कार करके उनसे सब भांतिसे अनुज्ञात होके स्तुति की थी । नित्य युक्त शुद्धचित्तवाले, भक्तजन यदि इन पुष्टिवर्द्धन नामोंसे महादेवकी स्तुति करें, तो वे स्वयं ही आत्मलाभ करनेमें समर्थ होवें । यही ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें श्रेष्ठ साधनयुक्त विद्या है, इसे जपनेसे कैवल्य प्राप्ति होती है, इस ही लिये ऋषि तथा देववृन्द इन नामोंसे महादेवकी स्तुति किया करते हैं । (१५४—१५८)

आत्मसंस्थाकर अर्थात् मोक्षदाता, भक्तोंपर कृपा करनेवाले भगवान् विभु महादेव एकाग्र चित्तवाले भक्तोंके द्वारा इस स्तोत्रसे स्तुतियुक्त होके प्रसन्न होते हैं । मनुष्योंके बीच जो लोग आस्तिक तथा श्रद्धावान् हैं, वे अनेक

भक्त्या ह्यनन्यमीशानं परं देवं सनातनम्।
कर्मणा मनसा वाचा भावेनामिततेजसः ॥ १६१ ॥
शयाना जाग्रमाणाश्च व्रजन्नुपविशंस्तथा।
उन्मिषन्निमिषंश्चैव चिन्तयन्तः पुनः पुनः ॥ १६२ ॥
शृण्वन्तः श्रावयन्तश्च कथयन्तश्च ते भवम्।
स्तुवन्तः स्तूयमानाश्च तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥१६३॥
जन्मकोटिसहस्रेषु नानासंसारयोनिषु।
जन्तोर्विगतपापस्य भवे भक्तिः प्रजायते ॥ १६४ ॥
उत्पन्ना च भवे भक्तिरनन्या सर्वभावतः।
भाविनः कारणे चास्य सर्वयुक्तस्य सर्वथा ॥ १६५ ॥
एतद्देवेषु दुष्प्रापं मनुष्येषु न लभ्यते।
निर्विघ्ना निश्चला रुद्रे भक्तिरव्यभिचारिणी ॥ १६६ ॥
तस्यैव च प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।
येन यान्ति परां सिद्धिं तद्भागवतचेतसः ॥ १६७ ॥
ये सर्वभावानुगताः प्रपद्यन्ते महेश्वरम्।
प्रपन्नवत्सलो देवः संसारात्तान्समुद्धरेत् ॥ १६८ ॥

जन्ममें इस स्तवके द्वारा अनन्य साधारण सनातन परम देवकी वचन, मन, कर्मसे सब प्रकार आराधना करनेसे अत्यन्त तेजस्वी होते हैं। सोने, जागने, चलने, बैठने, पलक खोलने और बंद करनेके समय वे लोग महेश्वरका बार-बार ध्यान करके उनके गुणोंको सुनने, कहने और गाकर स्तुति करनेपर स्तूयमान होकर सन्तुष्ट और सुखी होते हैं। सहस्र कोटि जन्म तक अनेक संसार-योनिमें भ्रमण करनेसे जब जीवके पाप दूर होते हैं, तब महादेवमें भक्ति उत्पन्न होती है। (१५९—१६४)

सब साधनोंसे युक्त मनुष्योंमें भाग्यवशसे सब प्रकार महेश्वरमें अनन्यभक्ति अर्थात् भवसे आत्माको अभिन्न जानके उनमें जो भक्ति हुआ करती है, वही उत्पन्न होती है। रुद्रमें अव्यभिचारी, निर्विघ्न और निर्मल भक्ति देवताओंको भी दुर्लभ है, वह मनुष्य मण्डलमें नहीं प्राप्त होती; उसकी कृपासे ही मनुष्योंमें भक्ति उत्पन्न होती है, जिसके सहारे उसके ध्यानमें तत्पर रहनेवाले पुरुष परम सिद्धि पाते हैं। जो लोग सब प्रकारसे अनुगत होकर महेश्वरके शरणापन्न होते हैं, भक्तवत्सल महादेव उन्हें

एवमन्ये विकुर्वन्ति देवाः संसारमोचनम् ।
मनुष्याणामृते देवं नान्या शक्तिस्तपोबलम् ॥१६९ ॥
इति तेनेन्द्रकल्पेन भगवान्सदसत्पतिः ।
कृत्तिवासाः स्तुतः कृष्ण तण्डिना शुभबुद्धिना ॥१७०॥
स्तवमेतं भगवतो ब्रह्मा स्वयमधारयत ।
गीयते च स बुद्धयेत ब्रह्मा शङ्करसन्निधौ ॥ १७१ ॥
इदं पुण्यं पवित्रं च सर्वदा पापनाशनम् ।
योगदं मोक्षदं चैव स्वर्गदं तोषदं तथा ॥ १७२ ॥
एवमेतत्पठन्ते य एकभक्त्या तु शंकरम् ।
या गतिः सांख्ययोगानां व्रजन्त्येतां गतिं तदा ॥१७३॥
स्तवमेतं प्रयत्नेन सदा रुद्रस्य सन्निधौ ।
अब्दमेकं चरेद्भक्तः प्राप्नुयादीप्सितं फलम् ॥ १७४ ॥
एतद्रहस्यं परमं ब्रह्मणो हृदि संस्थितम् ।
ब्रह्मा प्रोवाच शक्राय शक्रः प्रोवाच मृत्यवे ॥ १७५ ॥
मृत्युः प्रोवाच रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्तण्डिमागमत् ।
महता तपसा प्राप्तस्तण्डिना ब्रह्मसद्मनि ॥ १७६ ॥

संसारसे पार करते हैं। संसारसे मुक्त करनेवाले महादेवके अतिरिक्त अन्य-देवता मनुष्योंके तपोबलको नष्ट किया करते हैं, क्यों कि मनुष्योंको तपस्याके अतिरिक्त और दूसरी कोई भी शक्ति नहीं है। (१६५—१६९)

हे कृष्ण! इस ही प्रकारसे वह इन्द्र-कल्प शुद्धबुद्धि तण्डि मुनिने सदा सत्पति भगवान् शङ्करकी स्तुति की थी और उन्हींके द्वारा महादेवके निकट यह स्तव गाया गया था, तुम ब्राह्मण हो इसलिये इसे समझ सकोगे। यह स्तोत्र पुण्यप्रद पवित्र सदा पापोंको नष्ट करनेवाला योगद, मोक्षद, स्वर्ग और सन्तोषप्रद है; इस ही प्रकार जो लोग एकमात्र महादेवमें भक्ति करके इसका पाठ करते हैं, उन्हें सांख्य योगियोंकी गति प्राप्त होती है। यदि भक्त लोग एक वर्षतक महादेवके समीप इस स्तोत्रका पाठ करें, तो ईप्सित फल प्राप्त कर सकते हैं। यह परम रहस्य ब्रह्माके हृदयमें स्थित था, अनन्तर ब्रह्माने इन्द्रसे कहा, इन्द्रने मृत्युसे कहा और मृत्युने रुद्रगणोंके निकट वर्णन किया, रुद्रगणोंके द्वारा यह स्तोत्र तण्डिमुनिको मालूम हुआ। तण्डिने

तण्डिः प्रोवाच शुक्राय गौतमाय च भार्गवः।
वैवस्वताय मनवे गौतमः प्राह माधव ॥ १७७ ॥
नारायणाय साध्याय समाधिष्ठाय धीमते।
यमाय प्राह भगवान् साध्यो नारायणोऽच्युतः ॥१७८॥
नाचिकेताय भगवानाह वैवस्वतो यमः।
मार्कण्डेयाय वार्ष्णेय नाचिकेतोऽभ्यभाषत ॥ १७९ ॥
मार्कण्डेयान्मया प्राप्तो नियमेन जनार्दन।
तवाप्यहममित्रघ्न स्तवं दद्यां ह्यविश्रुतम् ॥ १८० ॥
स्वर्ग्यमारोग्यमायुष्यं धन्यं वेदेन संमितम्।
नास्य विघ्नं विकुर्वन्ति दानवा यक्षराक्षसाः ॥ १८१ ॥
पिशाचा यातुधाना वा गुह्यका भुजगा अपि।
यः पठेत शुचिः पार्थ ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
अभग्नयोगो वर्षं तु सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ १८२ ॥ [१२८०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे महादेवसहस्रनामस्तोत्रे सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

वैशम्पायन उवाच- महायोगी ततः प्राह कृष्णद्वैपायनो मुनिः।

ब्रह्मस्थानमें महत् तपस्याके सहारे इसे पाया। (१७०-१७६)

हे माधव! तण्डिने शुक्रसे कहा, शुक्रने गौतमसे और गौतमने वैवस्वत मनुके निकट इसे वर्णन किया; वैवस्वत मनुने नारायण नामक बुद्धिमान् प्रियपात्र साध्यको इस स्तोत्रका उपदेश किया, अच्युत साध्य नारायणने यमसे कहा, सूर्यपुत्र भगवान् यमने नाचिकेतासे कहा। हे वृष्णिवंशप्रसूत! नचिकेताने मार्कण्डेय मुनिके समीप वर्णन किया। हे जनार्दन! यह स्तोत्र नियमपूर्वक मुझे मार्कण्डेय ऋषिके समीप प्राप्त हुआ है। (१७७--१८०)

हे शत्रुनाशन! मैं तुम्हें यह अभिश्रुत स्तोत्र प्रदान करूंगा। यह स्वर्ग और आरोग्य जनक आयुष्कर धनप्रद तथा वेद तुल्य है; यक्ष, राक्षस, दानव, पिशाच, यातुधान वा सर्पादि इसमें विघ्न नहीं कर सकते। हे पार्थ! जो पुरुष पवित्र ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय और अखण्डित योगसे युक्त होकर एक वर्ष-तक सदा इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। (१८०—१८२)

अनुशासनपर्वमें १७ अध्याय समाप्त।

पठस्व पुत्र भद्रं ते प्रीयतां ते महेश्वरः ॥ १ ॥
पुरा पुत्र मया मेरौ तप्यता परमं तपः।
पुत्रहेतोर्महाराज स्तव एषोऽनुकीर्तितः ॥ २ ॥
लब्धवानीप्सितान्कामानहं वै पाण्डुनन्दन।
तथा त्वमपि शर्वाद्धि सर्वान्कामानवाप्स्यसि ॥ ३ ॥
कपिलश्च ततः प्राह सांख्यर्षिर्देवसंमतः।
मया जन्मान्यनेकानि भक्त्या चाराधितो भवः ॥४॥
प्रीतश्च भगवान् ज्ञानं ददौ मम भवान्तकम्।
चारुशीर्षस्ततः प्राह शक्रस्य दयितः सखा।
आलम्बायन इत्येवं विश्रुतः करुणात्मकः ॥ ५ ॥
मया गोकर्णमासाद्य तपस्तप्त्वा शतं समाः।
अयोनिजानां दान्तानां धर्मज्ञानां सुवर्चसाम् ॥ ६ ॥
अजराणामदुःखानां शतवर्षसहस्रिणाम्।
लब्धं पुत्रशतं शर्वात्पुरा पाण्डुनृपात्मज ॥ ७ ॥
वाल्मीकिश्चाह भगवान्युधिष्ठिरमिदं वचः।

अनुशासनपर्वमें १८ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर महायोगी कृष्णद्वैपायन मुनि कहने लगे, हे तात! तुम स्तोत्र पाठ करो, तुम्हारा कल्याण होगा और महादेव तुमपर प्रसन्न होंगे। हे तात महाराज! पहले जब मैंने पुत्रके निमित्त सुमेरु पर्वतपर परम तपस्या की थी, उस समयमें इस ही स्तोत्रका पाठ किया था। हे पाण्डुनन्दन! मैंने इस ही स्तोत्रका पाठ करके अभिलषित वस्तुओंको पाया था, वैसे ही तुम्हारी भी सब कामना महादेव पूरी करेंगे। (१-३)

अनन्तर सांख्य शास्त्र बनानेवाले देवसंमत कपिल मुनि बोले, मैंने अनेक जन्मतक भक्तिपूर्वक महादेवकी आराधना की थी, तब भगवान्‌ने मुझपर प्रसन्न होकर संसारविनाशन ज्ञान दान किया। (४-५)

अनन्तर इन्द्रके प्रियमित्र आलंबायन गोत्री करुणामय विख्यात चारुशीर्ष बोले, हे पाण्डुनृपनन्दन! पहले समयमें मैंने गोकर्ण तीर्थमें जाके एक सौ वर्षतक तपस्या करके महादेवसे अयोनिज, दान्त, धर्मज्ञ, अत्यन्त तेजस्वी, अजर और दुःखरहित सौ हजार वर्षकी परमायु विशिष्ट एक सौ पुत्र प्राप्त किया था। (५-७)

विवादे साग्निमुनिभिर्ब्रह्मघ्नो वै भवानिति ॥ ८ ॥
उक्तः क्षणेन चाविष्टस्तेनाधर्मेण भारत ।
सोऽहमीशानमनघममोघं शरणं गतः ॥ ९ ॥
मुक्तश्चास्मि ततः पापैस्ततो दुःखविनाशनः ।
आह मां त्रिपुरघ्नो वै यशस्तेऽग्र्यं भविष्यति ॥१०॥
जामदग्न्यश्च कौन्तेयमिदं धर्मभृतां वरः ।
ऋषिमध्ये स्थितः प्राह ज्वलन्निव दिवाकरः ॥ ११ ॥
पितृविप्रवधेनाहमार्तो वै पाण्डवाग्रज ।
शुचिर्भूत्वा महादेवं गतोऽस्मि शरणं नृप ॥ १२ ॥
नामभिश्चास्तुवं देवं ततस्तुष्टोऽभवद्भवः ।
परशुं च ततो देवो दिव्यान्यस्त्राणि चैव मे ॥ १३ ॥
पापं च ते न भविता अजेयश्च भविष्यसि ।
न ते प्रभविता मृत्युरजरश्च भविष्यसि ॥ १४ ॥
आह मां भगवानेवं शिखण्डी शिवविग्रहः ।
तदवाप्तं च मे सर्वं प्रसादात्तस्य धीमतः ॥ १५ ॥
विश्वामित्रस्तदोवाच क्षत्रियोऽहं तदाभवम् ।

भगवान् वाल्मीकि मुनि राजा युधिष्ठिरसे बोले, वेद विपरीत वादविषयमें साग्निक मुनियोंने मुझे "ब्रह्म हत्यारा" कहा था। हे भारत! क्षणभरमें मैं उस अधर्मसे आविष्ट हुआ था, अनन्तर ब्रह्महत्या पापसे युक्त होकर उस समय मैं अनघ अमोघ ईशान देवका शरणागत हुआ उनका शरणागत होके मैं पापसे छूटा, उसहीसे मेरा दुःख नष्ट हुआ। उस समय महादेवने मुझसे कहा, तुम्हें श्रेष्ठ यश प्राप्त होगा। (८-१०)

धार्मिक प्रवर जामदग्न्य (परशुराम) ऋषियोंके बीच प्रकाशमान सूर्यकी भांति निवास करते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे बोले, हे पाण्डवाग्रज! मैं पितृतुल्य ब्राह्मणोंका वध करनेसे अत्यन्त आर्त हुआ था। हे राजन्! अनन्तर पवित्र होकर महादेवकी शरणमें गया और इन्हीं नामोंसे उनकी स्तुति की। अनन्तर महादेव मुझपर प्रसन्न हुए और मुझे दिव्य अस्त्रोंमें श्रेष्ठ परशु प्रदान किया; फिर बोले, कि तुम्हें पाप न होगा तुम सबसे अजेय होगे, मृत्यु तुम्हें ले नहीं सकेगी, शिवविग्रह शिखंडि मुझे ऐसा ही कहते हैं, उस धीमानकी कृपासे मैंने यह सब पाया है। ११-१५

ब्राह्मणोऽहं भवानीति मया चाराधितो भवः ॥ १६ ॥
तत्प्रसादान्मया प्राप्तं ब्राह्मण्यं दुर्लभं महत् ।
असितो देवलश्चैव प्राह पाण्डुसुतं नृपम् ॥ १७ ॥
शापाच्छक्रस्य कौन्तेय विभो धर्मोऽनशत्तदा ।
तन्मे धर्मं यशश्चाग्र्यमायुश्चैवाददत्प्रभुः ॥ १८ ॥
ऋषिर्गृत्समदो नाम शक्रस्य दयितः सखा ।
प्राहाजमीढं भगवान् बृहस्पतिसमद्युतिः ॥ १९ ॥
वरिष्ठो नाम भगवांश्चाक्षुषस्य मनोः सुतः ।
शतक्रतोरचिन्त्यस्य सत्रे वर्षसहस्रिके ॥ २० ॥
वर्तमानेऽब्रवीद्वाक्यं साम्नि ह्युच्चारिते मया ।
रथन्तरे द्विजश्रेष्ठ न सम्यगिति वर्तते ॥ २१ ॥
समीक्षस्व पुनर्बुद्धया पापं त्यक्त्वा द्विजोत्तम ।
अयज्ञवाहिनं पापमकार्षीस्त्वं सुदुर्मते ॥ २२ ॥
एवमुक्त्वा महाक्रोधः प्राह शंभुं पुनर्वचः ।
प्रज्ञया रहितो दुःखी नित्यभीतो वनेचरः ॥ २३ ॥

अनन्तर विश्वामित्र मुनि बोले, मैं जब क्षत्रिय था, तब ब्राह्मण बननेकी इच्छासे महेश्वरकी आराधना की थी, उनकी कृपासे मैंने अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मणत्व पाया है । (१६-१७)

असित देवल मुनि पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे बोले, हे विभु कौन्तेय ! पहले धर्मशास्त्रके किसी विषयको अन्यथा करनेसे इन्द्रने क्रुद्ध होकर मुझे शाप दिया, शापके प्रभावसे मेरा धर्म नष्ट होगया, अनन्तर प्रभु महादेवने मुझे वह धर्म, उत्तम यश और परमायु प्रदान किया । (१७-१८)

बृहस्पतिके समान तेजस्वी इन्द्रके प्रियमित्र भगवान् गृत्समद अजमीढ-वंशीय राजा युधिष्ठिरसे बोले, चाक्षुष मनुके पुत्र भगवान् वरिष्ठ अचिन्तनीय शतक्रतुके सहस्रवार्षिक यज्ञके वर्त्तमान कालमें मैंने विपरीत रीतिसे साम उच्चारण किया, तब वह मुझसे बोले, हे द्विजश्रेष्ठ ! यह रथन्तर साम पूर्णरूपसे उच्चारित नहीं हुआ । हे द्विजोत्तम ! तुम मिथ्याभिनिवेश रूप पाप परित्याग करके फिर बुद्धिके सहारे विचार करो । रे अत्यन्त नीच बुद्धिवाले! तैंने अयज्ञवाही पाप अर्थात् अन्यथा रीतिसे सामपाठ रूपी अपराध किया है ।(१९-२२)

वह ऐसा कहके महाक्रोधसे रुष्ट

दश वर्षसहस्राणि दशाष्टौ च शतानि च।
नष्टपानीयपवने मृगैरन्यैश्च वर्जिते ॥ २४ ॥
अयज्ञियद्रुमे देशे रुरुसिंहनिषेविते।
भविता त्वं मृगः क्रूरो महादुःखसमन्वितः ॥ २५ ॥
तस्य वाक्यस्य निधने पार्थ जातो ह्यहं मृगः।
ततो मां शरणं प्राप्तं प्राह योगी महेश्वरः ॥ २६ ॥
अजरश्चामरश्चैव भविता दुःखवर्जितः।
साम्यं ममास्तु ते सौख्यं युवयोर्वर्धतां क्रतुः ॥ २७ ॥
अनुग्रहानेवमेष करोति भगवान् विभुः।
परं धाता विधाता च सुखदुःखे च सर्वदा ॥ २८ ॥
अचिन्त्य एष भगवान्कर्मणा मनसा गिरा।
न मे तात युधि श्रेष्ठ विद्यया पण्डितः समः ॥ २९ ॥
वासुदेवस्तदोवाच पुनर्मतिमतां वरः।
सुवर्णाक्षो महादेवस्तपसा तोषितो मया ॥ ३० ॥
ततोऽथ भगवानाह प्रीतो मां वै युधिष्ठिर।
अर्थात्प्रियतरः कृष्ण मत्प्रसादाद्भविष्यसि ॥ ३१ ॥

होकर फिर बोले, 'तुम बुद्धिहीन, दुःखयुक्त, भीत, वनचारी, क्रूर मृग होकर जल और वायुसे रहित अन्य हरिणोंसे वर्जित अयज्ञीय वृक्षोंसे युक्त रुरु मृग तथा सिंहोंसे निषेवित वनके बीच महादुःखसे संयुक्त होकर दश हजार तीन सौ अस्सी वर्षतक वास करोगे' हे पार्थ! उनका वचन शेष होते ही मैं मृग हुआ। (२३—२६)

अनन्तर जब मैं शिवका शरणागत हुआ तब महायोगी महेश्वर मुझसे बोले, तुम अजर, अमर और दुःख-रहित होगे। इन्द्रके सङ्ग तुम्हारा अवैषम्य तथा सुखसमृद्धि प्राप्त हो और यज्ञ भी वर्द्धित होता रहे। भगवान् महेश्वर इस ही प्रकार अनुग्रह किया करते हैं। येही सदा सुखदुःखके विधाता हैं। ये भगवान् वचन, मन और कर्मसे अगोचर हैं। हे तात युधिष्ठिर! उसकी कृपासे विद्या विषयमें मेरे समान पण्डित कोई भी नहीं है। (२६-२९)

अनन्तर मतिमत्प्रवर श्रीकृष्णचन्द्र फिर कहने लगे, कि मैंने सुवर्णाक्ष महादेवको तपस्याके सहारे सन्तुष्ट किया था। हे धर्मराज! अन्तमें सर्व-ज्ञाता भगवान् प्रसन्न होकर मुझसे बोले,

अपराजितश्च युद्धेषु तेजश्चैवानलोपमम्।
एवं सहस्रशश्चान्यान्महादेवो वरं ददौ ॥ ३२ ॥
मणिमन्थेऽथ शैले वै पुरा संपूजितो मया।
वर्षायुतसहस्राणां सहस्रं शतमेव च ॥ ३३ ॥
ततो मां भगवान्प्रीत इदं वचनमब्रवीत्।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यस्ते मनसि वर्तते ॥ ३४ ॥
ततः प्रणम्य शिरसा इदं वचनमब्रुवम्।
यदि प्रीतो महादेवो भक्त्या परमया प्रभुः ॥ ३५ ॥
नित्यकालं तवेशान भक्तिर्भवतु मे स्थिरा।
एवमस्त्विति भगवांस्तत्रोक्त्वान्तरधीयत ॥ ३६ ॥
जैगीषव्य उवाच- ममाष्टगुणमैश्वर्यं दत्तं भगवता पुरा।
यत्नेनान्येन बलिना वाराणस्यां युधिष्ठिर ॥ ३७ ॥
गर्ग उवाच- चतुःषष्ट्यङ्गमददत्कलाज्ञानं ममाद्भुतम्।
सरस्वत्यास्तटे तुष्टो मनोयज्ञेन पाण्डव ॥ ३८ ॥

हे कृष्ण! धर्मका फल और कामका मूल अर्थ ही सबसे प्रिय है, तुम उस अर्थसे भी सबको अधिक प्रिय होगे, अर्थात् मेरे प्रसादसे तुम सबको अन्तरात्माकी भांति प्रिय हुआ करोगे और तुम युद्धमें पराजित न होगे, तुम्हारा तेज अग्निकी भांति होगा। इस ही प्रकार महादेवने मुझे सहस्र बार वर दान किया है; पहले अवतारमें मणिमन्थ पर्वतपर अयुत सहस्र और सौ हजार वर्षतक महादेव मेरे द्वारा पूजित हुए थे। (३०—३३)

अनन्तर भगवान्ने प्रसन्न होकर मुझसे यह वचन कहा, कि तुम्हारा मङ्गल हो, तुम्हारे अन्तःकरणमें जो अभिलाष हो, वह वर मांगो। तब मैंने सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम करके कहा, हे सर्वभूतसंयोगी महादेव! आप यदि मेरी परम भक्तिसे प्रसन्न हुए हैं। तो यही वर दीजिये कि सदा तुम्हारे विषयमें मेरी भक्ति स्थिर रहे, भगवान् "एवमस्तु" ऐसा कहके उसही स्थानमें अन्तर्द्धान होगये। (३४—३६)

जैगीषव्य बोले, हे युधिष्ठिर! पहले समयमें काशीपुरीमें बलशालियोंमें श्रेष्ठ भगवानने यत्नपूर्वक मुझे अष्टगुण ऐश्वर्य दान किया था। (३७)

गर्ग बोले, हे पाण्डव! भगवानने सरस्वती नदीके तट पर मेरे मनोयज्ञके द्वारा सन्तुष्ट होकर मुझे चौसठ अंग-

तुल्यं मम सहस्रं तु सुतानां ब्रह्मवादिनाम् ।
आयुश्चैव सपुत्रस्य संवत्सरशतायुतम् ॥ ३९ ॥
पराशर उवाच- प्रसाद्येह पुरा शर्वं मनसाऽचिन्तयं नृप ।
महातपा महातेजा महायोगी महायशाः ॥ ४० ॥
वेदव्यासः श्रिया वासो ब्राह्मणः करुणान्वितः ।
अप्यसावीप्सितः पुत्रो मम स्याद्वै महेश्वरात् ॥ ४१ ॥
इति मत्वा हृदि मतं प्राह मां सुरसत्तमः ।
मयि संभावना यास्याः फलात्कृष्णो भविष्यति॥ ४२॥
सावर्णस्य मनोः सर्गे सप्तर्षिश्च भविष्यति ।
वेदानां च स वै वक्ता कुरुवंशकरस्तथा ॥ ४३ ॥
इतिहासस्य कर्ता च पुत्रस्ते जगतो हितः ।
भविष्यति महेन्द्रस्य दयितः स महामुनिः ॥ ४४ ॥
अजरश्चामरश्चैव पराशरसुतस्तव ।
एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४५ ॥
युधिष्ठिर महायोगी वीर्यवानक्षयोऽव्ययः ।
माण्डव्य उवाच-अचौरश्चौरशङ्कायां शूले भिन्नो ह्यहं तदा ॥ ४६ ॥

विशिष्ट अद्भुत कलाज्ञान दान किया और मेरे समान ब्रह्मवादी एक हजार पुत्र तथा पुत्रोंके सहित दस हजार एक सौ वर्षकी परमायु प्रदानकी है । (३८-३९)

पराशर बोले, हे महाराज ! पहले मैंने महेश्वरको प्रसन्न करनेके लिये मन ही मन ध्यान किया था, कि महातपस्वी,महातेजस्वी,महायोगी,महायशस्वी वेदव्यास श्रीसंपन्न, करुणान्वित महादेवकी कृपासे मेरा अभीप्सित पुत्र हो । अनन्तर सुरसत्तम महादेव मेरे हृदयका अभिप्राय जानके बोले, मुझमें जो तुम भक्ति रखते हो, उसके फलसे तुम्हारे कृष्ण नामक पुत्र होगा, वह सावर्णिक मनुका सप्तर्षि होगा, वेदोंका वक्ता और कुरुवंशका रक्षाकर्त्ता होगा; जगत्का हितैषी इतिहासकर्ता तुम्हारा वह पुत्र इन्द्रका दयित वा महामुनि होगा । हे पराशर ! तुम्हारा पुत्र अजर तथा अमर होगा । हे युधिष्ठिर ! वह महायोगी वीर्यवान अक्षय और अव्यय भगवान् इस ही प्रकार कहके उसी स्थानमें अन्तर्द्धान होगये । (४०-४६)

माण्डव्य बोले, मैं चोर न होनेपर भी चोरशंकाके हेतु शूलीपर चढाया

तत्रस्थेन स्तुतो देवः प्राह मां वै नरेश्वर ।
मोक्षं प्राप्स्यसि शूलाच्च जीविष्यसि समार्बुदम् ॥ ४७ ॥
रुजा शूलकृता चैव न ते विप्र भविष्यति ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव वर्जितस्त्वं भविष्यसि ॥४८॥
पादाच्चतुर्थात्संभूत आत्मा यस्मान्मुने तव ।
त्वं भविष्यस्यनुपमो जन्म वै सफलं कुरु ॥ ४९ ॥
तीर्थाभिषेकं सकलं त्वमविघ्नेन चाप्स्यसि ।
स्वर्गं चैवाक्षयं विप्र विदधामि तवोर्जितम् ॥ ५० ॥
एवमुक्त्वा तु भगवान् वरेण्यो वृषवाहनः ।
महेश्वरो महाराज कृत्तिवासा महाद्युतिः ॥ ५१ ॥
सगणो दैवतश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत ।
गालव उवाच- विश्वामित्राभ्यनुज्ञातो ह्यहं पितरमागतः ॥ ५२ ॥
अब्रवीन्मां ततो माता दुःखिता रुदती भृशम् ।
कौशिकेनाभ्यनुज्ञातं पुत्रं वेदविभूषितम् ॥ ५३ ॥
न तात तरुणं दान्तं पिता त्वां पश्यतेऽनघ ।
श्रुत्वा जनन्या वचनं निराशो गुरुदर्शने ॥ ५४ ॥

गया था, उस समय शूलीपर रहके भी मैंने महेश्वरकी स्तुति की तब वह मुझसे बोले, हे विप्र! तुम शूलीसे छूट जाओगे और अर्बुद वर्षतक जीवित रहोगे, तथा तुम्हें इस शूलीसे कुछ भी पीडा न होगी, तुम आधि व्याधिसे रहित होगे। हे मुनि! तुम्हारा यह शरीर जब धर्मके चौथे चरण सत्यसे उत्पन्न हुआ है, तब तुम अवश्यही अनुपम होगे, इसलिये अपना जन्म सफल करो! तुम विना विघ्नके सब तीर्थोंके अभिषेकजनित फल पाओगे। हे विप्र! तुम्हारे निमित्त उर्ज्जस्वल अक्षय स्वर्गका विधान करता हूं। हे महाराज! कृत्तिवासा, महातेजस्वी, देवश्रेष्ठ वृषवाहन वरणीय भगवान् महेश्वर ऐसा कहके उस ही स्थानमें अपने गणोंके सहित अन्तर्द्धान हुए। (४६—५२)

गालव मुनि बोले, मैंने विश्वामित्रकी आज्ञा पाके पिताके समीप गमन किया; अनन्तर माता अत्यन्त दुःखित होके रोदन करती हुई मुझसे बोली, हे निष्पाप पुत्र! तुम विश्वामित्रकी आज्ञा पाके घर आये हो, परन्तु तुम्हारे पिता तुम्हें नहीं देखते हैं। मैंने माताका वचन सुनके पितृदर्शनसे निराश होकर

नियतात्मा महादेवमपश्यं सोऽब्रवीच माम्।
पिता माता च ते त्वं च पुत्र मृत्युविवर्जिताः ॥ ५५॥
भविष्यथ विश क्षिप्रं द्रष्टासि पितरं क्षये।
अनुज्ञातो भगवता गृहं गत्वा युधिष्ठिर ॥ ५६ ॥
अपश्यं पितरं तात इष्टिं कृत्वा विनिःसृतम्।
उपस्पृश्य गृहीत्वेध्मं कुशांश्च शरणाद्रूरून् ॥ ५७ ॥
तान्विसृज्य च मां प्राह पिता सास्राविलेक्षणः।
प्रणमन्तं परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डव ॥ ५८ ॥
दिष्ट्या दृष्टोऽसि मे पुत्र कृतविद्य इहागतः।
वैशम्पायन उवाच-एतान्यत्यद्भुतान्येव कर्माण्यथ महात्मनः ॥ ५९ ॥
प्रोक्तानि मुनिभिः श्रुत्वा विस्मयामास पाण्डवः।
ततः कृष्णोऽब्रवीद्वाक्यं पुनर्मतिमतां वरः ॥ ६० ॥
युधिष्ठिरं धर्मनिधिं पुरुहूतमिवेश्वरः।
वासुदेव उवाच— उपमन्युर्मयि प्राह तपन्निव दिवाकरः ॥ ६१ ॥
अशुभैः पापकर्माणो ये नराः कलुषीकृताः।
ईशानं न प्रपद्यन्ते तमोराजसवृत्तयः ॥ ६२ ॥

संयतचित्तसे महादेवका दर्शन किया, वह मुझसे बोले, हे पुत्र! तुम पिता-माताके सहित मृत्युरहित होगे, इसलिये शीघ्र गृहमें प्रवेश करो। हे तात युधिष्ठिर! मैंने भगवानकी आज्ञानुसार फिर गृहमें जाके देखा। पिता यज्ञ करके कुशकाठ लेकर तथा वृक्षके स्वयं गिरे हुए अन्नफलोंको स्पर्श करते हुए गृहसे आ रहे हैं। हे पाण्डव! पिताको देखके मैंने प्रणाम किया, उन्होंने हाथ में स्थित कुशकाष्ठ परित्याग करके आखोंमें आंसू भरके मुझे आलिङ्गन किया और मेरा मस्तक सूंघके बोले, हे पुत्र! भाग्यसे ही मैंने तुम्हें कृतविद्य होकर घरमें आया हुआ देखा। ५२-५९

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुनियोंके कहे हुए महानुभाव महादेवके यह सब अत्यन्त अद्भुत कर्म सुनके विस्मित हुए; अनन्तर सर्वनियन्ता मतिमतांवर श्रीकृष्णचन्द्र महेन्द्र-सदृश धर्मनिधि युधिष्ठिरसे फिर कहने लगे। (५९-६१)

श्रीकृष्ण बोले, तपनशील सूर्यकी भांति उपमन्यु मुझसे कहने लगे, कि जो सब पापी मनुष्य अशुभ कर्मोंसे दूषित हुए हैं, वे तामस तथा राजस

ईश्वरं संप्रपद्यन्ते द्विजा भावितभावनाः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि यो भक्तः परमेश्वरे ॥ ६३ ॥
सदृशोऽरण्यवासीनां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
ब्रह्मत्वं केशवत्वं वा शक्रत्वं वा सुरैः सह ॥ ६४ ॥
त्रैलोक्यस्याधिपत्यं वा तुष्टो रुद्रः प्रयच्छति ।
मनसापि शिवं तात ये प्रपद्यन्ति मानवाः ॥ ६५ ॥
विधूय सर्वपापानि देवैः सह वसन्ति ते ।
भित्त्वा भित्त्वा च कूलानि हुत्वा सर्वमिदं जगत् ॥६६॥
यजेद्देवं विरूपाक्षं न स पापेन लिप्यते ।
सर्वलक्षणहीनोऽपि युक्तो वा सर्वपातकैः ॥ ६७ ॥
सर्वं नुदति तत्पापं भावयञ्छिवमात्मना ।
कीटपक्षिपतङ्गानां तिरश्चामपि केशव ॥ ६८ ॥
महादेवप्रपन्नानां न भयं विद्यते क्वचित् ।
एवमेव महादेवं भक्ता ये मानवा भुवि ॥ ६९ ॥
न ते संसारवशगा इति मे निश्चिता मतिः ।
ततः कृष्णोऽब्रवीद्वाक्यं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ७० ॥

वृत्तिसे युक्त पुरुष महादेवको नहीं पाते और जो सब ब्राह्मण सदा उनका ध्यान किया करते हैं, वेही ईश्वरको पाते हैं; जो भक्त परमेश्वरमें सब प्रकारसे चित्त लगाता है, वह शुद्धचित्तवाले वनवासी मुनियोंके सदृश है। रुद्रदेव प्रसन्न होने- पर ब्रह्मत्व, केशवत्व, देवताओंके सहित इन्द्रत्व अथवा तीनों लोकोंका राज्य प्रदान करते हैं। जो मनुष्य मनसे भी शिवके शरणापन्न होते हैं, वे सब पापों से छूटके देवताओंके सङ्ग निवास किया करते हैं। (६१—६६)

जो लोग गृह, तडाग आदि भेदके तथा समस्त जगत्का विध्वंस करते हुए विरूपाक्ष देवकी पूजा करते हैं, वेभी पापमें लिप्त नहीं होते। सब लक्षणोंसे रहित तथा समस्त पापोंसे युक्त होकर भी यदि कोई मनही मन महेश्वरका ध्यान करे, तो वह ध्यान ही उसके पापोंको खण्डन करता है। हे केशव ! कीट पक्षी, पतंग आदि तिर्यग् योनि- वाले भी यदि महादेवके शरणागत हों तो उन्हें भी कहींपर भय न हो। भूमण्डलके बीच जो लोग एकमात्र महेश्वरमें भक्ति करते हैं, वे संसारके वशगामी नहीं होते, यही मेरे मनमें

विष्णुरुवाच– आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च द्यौर्भूमिरापो वसवोऽथ विश्वे ।
धातार्यमा शुक्रबृहस्पती च रुद्राः ससाध्या वरुणोऽथ गोपाः॥७१॥
ब्रह्मा शक्रो मारुतो ब्रह्म सत्यं वेदा यज्ञा दक्षिणा वेदवाहाः ।
सोमो यष्टा यच्च हव्यं हविश्च रक्षा दीक्षा संयमा ये च केचित् ॥७२॥
स्वाहा वौषट् ब्राह्मणाः सौरभेयी धर्मं चाग्र्यं कालचक्रं बलं च ।
यशो दमो बुद्धिमतां स्थितिश्च शुभाशुभं ये मुनयश्च सप्त ॥७३॥
अग्र्या बुद्धिर्मनसा दर्शने च स्पर्शश्चाग्र्यः कर्मणां या च सिद्धिः ।
गणा देवानामूष्मपाः सोमपाश्च लेखाः सुयामास्तुषिता ब्रह्मकायाः ७४
आभासुरा गन्धपा धूमपाश्च वाचाविरुद्धाश्च मनोविरुद्धाः ।
शुद्धाश्च निर्माणरताश्च देवाः स्पर्शाशना दर्शपा आज्यपाश्च ॥ ७५ ॥
चिन्त्यद्योता ये च देवेषु मुख्या ये चाप्यन्ये देवताश्चाजमीढ ।
सुपर्णगन्धर्वपिशाचदानवा यक्षास्तथा चारणपन्नगाश्च ॥ ७६ ॥
स्थूलं सूक्ष्मं मृदु चाप्यसूक्ष्मं दुःखं सुखं दुःखमनन्तरं च ।
सांख्यं योगं तत्पराणां परं च शर्वाज्जातं विद्धि यत्कीर्तितं मे ॥७७॥

निश्चय है । अनन्तर श्रीकृष्ण धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहने लगे । (६६-७०)

विष्णु बोले, हे महाराज ! सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, वसुगण, विश्वगण, धाता, अर्यमा, शुक्र, बृहस्पति, रुद्रगण, साध्य, वरुण, गोप, ब्रह्मा, इन्द्र, मरुद्गण, सत्य स्वरूप ब्रह्म, वेद, यज्ञ, दक्षिणा, वेद पढनेवाले, सोम, यजमान, हव्य वा हवि, रक्षा, दीक्षा तथा जो कोई संयमशील हैं, स्वाहा, वौषट्, ब्राह्मणवृन्द, सौरभेयी, श्रेष्ठ धर्म, कालचक्र, बल, यश, दम, बुद्धिमानोंकी स्थिति और शुभाशुभ, सप्तर्षि, उत्तम बुद्धि, मन, दर्शन, स्पर्श, कार्यसिद्धि, देवगण, ऊष्मप, सोमप, मेघ, उत्तम साम, स्तुपितगण, ब्रह्मकायगण, आभासुरगण, गन्धपगण, धूमपगण वाणी और मनके अविरुद्ध, शुद्ध, निर्माणरत, देवगण, स्पर्शाशन, दर्शप और आज्यपगण, हे आजमीढवंशीय महाराज ! इनके अतिरिक्त जो सब चिन्त्यद्योत अर्थात् सङ्कल्पमात्रसे जिनके सम्मुख सब वस्तु प्रकाशित होती हैं, देवताओंके बीच जो ऐसे मुख्य देवता हैं और गरुड, गन्धर्व, पिशाच, दानव, यक्ष, चारण, पन्नगगण, स्थूल, अतिसूक्ष्म, मृदु, असूक्ष्म, दुःख, सुख, अनन्तर दुःख तथा श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ सांख्य योग इत्यादि जो कुछ वर्णित हुए हैं, वे सभी महेश्वरसे उत्पन्न

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	१)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाई	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	॥।) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व ।					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)

कुल मूल्य ५२।) कुल डा. व्य. ९।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क ११ ॥ ॐ ॥ [अनुशासनपर्व ३]

महाभारत ।

भाषा-भाष्य-समेत

संपादक- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

महाभारत ।

प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रसिद्ध होता है।

१२ अंकोंका अर्थात् १२०० पृष्ठोंका मूल्य म० आ० से ६) रु० और वी. पी. से ७) रु० है।

मंत्री- स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी. पी. से ७) विदेशके लिये ८)

तत्संभूता भूतकृतो वरेण्याः सर्वे देवा भुवनस्यास्य गोपाः ।
आविश्येमां धरणीं येऽभ्यरक्षन्पुरातनीं तस्य देवस्य सृष्टिम् ॥ ७८ ॥
विचिन्वन्तस्तपसा तत्स्थवीयः किंचित्तत्त्वं प्राणहेतोर्नतोऽस्मि ।
ददातु देवः स वरानिहेष्टानभिष्टुतो नः प्रभुरव्ययः सदा ॥ ७९ ॥
इमं स्तवं संनियतेन्द्रियश्च भूत्वा शुचिर्यः पुरुषः पठेत ।
अभग्नयोगो नियतो मासमेकं संप्राप्नुयादश्वमेधे फलं यत् ॥ ८० ॥
वेदान् कृत्स्नान् ब्राह्मणः प्राप्नुयात्तु जयेन्नृपः पार्थ महीं च कृत्स्नाम् ।
वैश्यो लाभं प्राप्नुयान्नैपुणं च शूद्रो गतिं प्रेत्य तथा सुखं च ॥ ८१ ॥
स्तवराजमिमं कृत्वा रुद्राय दधिरे मनः ।
सर्वदोषापहं पुण्यं पवित्रं च यशस्विनः ॥ ८२ ॥
यावन्त्यस्य शरीरेषु रोमकूपाणि भारत ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि स्वर्गे वसति मानवः ॥ ८३ ॥ [१३६१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे मेघवाहनपर्वाख्याने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच- यदिदं सहधर्मेति प्रोच्यते भरतर्षभ ।

भये हैं । (७१–७७)

भूतसृष्टिकारी आकाश आदि उस आनन्दमात्र शरीरवाले महेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं; ये शुद्धतत्त्व-प्रेप्सु उपासकोंके वरणीय हैं, येही देव स्वरूपसे जगत्का पालन किया करते हैं। जो इस पृथ्वीमें आविष्ट होकर उस देवके इस पुरातनी सृष्टिकी रक्षा करते हैं, तपस्याके सहारे जिनकी आलोचना की जाती है, वह उनसे भी वृद्ध और प्राणका हेतु है, मैं उसहीको प्रणाम करता हूं; वह सर्व-शक्तिमान अविनाशी महेश्वर मुझसे सन्तुष्ट होकर हमें सदा अभिलषित वर प्रदान करे। (७८—७९)

जो मनुष्य संयतेन्द्रिय, योगयुक्त और पवित्र होकर एक महीनेतक सदा इस स्तोत्रका पाठ करते हैं, वे अश्वमेध यज्ञका फल पाते हैं। हे पार्थ! ब्राह्मण इस स्तोत्रका पाठ करनेसे समस्त वेद-पाठका फल पाते, क्षत्रिय अखण्ड भूमण्डलको जय करते, वैश्योंको लाभ, निपुणता प्राप्त होती और शूद्र मरनेके अनन्तर सद्गति तथा सुख लाभ करनेमें समर्थ होता है। यशस्वी पुरुष इस सर्व-दोषनाशक, पवित्र और पुण्ययुक्त स्तवराज पाठ कर रुद्रके विषयमें मन स्थिर करते हैं। हे भारत! इस शरीरमें जितने रोमकूप हैं, इस स्तवराजको

पाणिग्रहणकाले तु स्त्रीणामेतत्कथं स्मृतम् ॥ १ ॥
आर्ष एष भवेद्धर्मः प्राजापत्योऽथवाऽऽसुरः ।
यदेतत्सहधर्मेति पूर्वमुक्तं महर्षिभिः ॥ २ ॥
संदेहः सुमहानेष विरुद्ध इति मे मतिः ।
इह यः सहधर्मो वै प्रेत्यायं विहितः क नु ॥ ३ ॥
स्वर्गो मृतानां भवति सहधर्मः पितामह ।
पूर्वमेकस्तु म्रियते क चैकस्तिष्ठते वद ॥ ४ ॥
नानाधर्मफलोपेता नानाकर्मनिवासिताः ।
नानानिरयनिष्ठान्ता मानुषा बहवो यदा ॥ ५ ॥
अनृताः स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति ।
यदानृताः स्त्रियस्तात सहधर्मः कुतः स्मृतः ॥ ६ ॥
अनृताः स्त्रिय इत्येवं वेदेष्वपि हि पठ्यते ।
धर्मोऽयं पूर्विका संज्ञा उपचारः क्रियाविधिः ॥ ७ ॥

पाठ करनेसे मनुष्य उतने ही सहस्र वर्षके परिमाणसे स्वर्गलोकमें निवास करता है। (८०—८१)

अनुशासनपर्वमें १८ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें १९ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ! स्त्रियोंके पाणिग्रहणके समय जो सहधर्म शब्द उच्चारित होता है, यह क्या ऋषियोंके बनाये हुए मन्त्रके द्वारा प्रकाशित धर्म है अथवा प्रजापतिके सहारे सन्तानके लिये प्रसिद्ध हुआ है, अथवा आसुर अर्थात् केवल इन्द्रियप्रीतिके निमित्त साहित्य है। पहले महर्षियोंने जिसे सहधर्म कहा है, वह मेरे विचारमें विरुद्ध मालूम होनेसे उसमें मुझे बहुत ही सन्देह हुआ है। इस लोकमें जो सहधर्म शब्दसे वर्णित होता है, परलोकमें वह किस प्रकार विहित हुआ करता है? हे पितामह! सहधर्माचरणके द्वारा मृतलोगोंको स्वर्ग मिलता है, पहले एक व्यक्तिके मरनेसे दूसरा कहां रहता है? । (१—४)

जब कि मनुष्य धर्मके अनेक फलों तथा अनेक भांतिके कर्मोंसे युक्त हैं और अन्तमें अनेक निरयनिष्ठ होते हैं; इसके अतिरिक्त धर्मप्रवक्ता ऋषियोंने स्त्रीको अनृत कहके वर्णन किया है, इसलिये जब स्त्रियां अनृत (मिथ्या) हुई, तब सहधर्म किस प्रकार हो सकता है? और वेदमें भी स्त्रियां अनृतरूपसे वर्णित हुई हैं, धर्म प्रथम संज्ञामात्र है, पाणिग्रहण आदि विधि वेदविहित होने

गह्वरं प्रतिभात्येतन्मम चिन्तयतोऽनिशम् ।
निःसंदेहमिदं सर्वं पितामह यथाश्रुति ॥ ८ ॥
यदेतद्यादृशं चैतद्यथा चैतत्प्रवर्तितम् ।
निखिलेन महाप्राज्ञ भवानेतद्ब्रवीतु मे ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अष्टावक्रस्य संवादं दिशया सह भारत ॥ १० ॥
निर्वेष्टुकामस्तु पुरा अष्टावक्रो महातपाः ।
ऋषेरथ वदान्यस्य वव्रे कन्यां महात्मनः ॥ ११ ॥
सुप्रभां नाम वै नाम्ना रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
गुणप्रभावशीलेन चारित्रेण च शोभनाम् ॥ १२ ॥
सा तस्य दृष्ट्वैव मनो जहार शुभलोचना ।
वनराजी यथा चित्रा वसन्ते कुसुमाचिता ॥ १३ ॥
ऋषिस्तमाह देया मे सुता तुभ्यं हि तच्छृणु ।
गच्छ तावद्दिशं पुण्यामुत्तरां द्रक्ष्यसे ततः ॥ १४ ॥

अष्टावक्र उवाच- किं द्रष्टव्यं मया तत्र वक्तुमर्हति मे भवान् ।

पर भी पुरुषकी इच्छाके अनुरोधसे ही हुआ करती है, यथार्थमें वह धर्म नहीं, केवल उपचारमात्र है। हे महाप्राज्ञ पितामह! सदा इस विषयकी चिन्ता करनेसे यह मुझे अत्यन्त गहन बोध होता है, इसलिये आपने जिस प्रकार सुना हो, निःसन्दिग्ध रूपसे वह सब वृत्तान्त तथा यह विषय जिस प्रकार प्रवर्तित हुआ है, वह मेरे निकट वर्णन करिये। (५-९)

भीष्म बोले, हे भारत! प्राचीन लोग इस विषयमें अष्टावक्र और दिगभिमानी देवीके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। पहले समयमें महातपस्वी अष्टावक्रने दारपरिग्रह करनेकी अभिलाष करके महानुभाव वदान्य नामक ऋषिकी सुप्रभा नामी कन्या पानेके लिये प्रार्थना की थी, वह कन्या पृथ्वीमण्डलमें अत्यन्त सुन्दरी और गुण, प्रभाव, शील तथा चरित्रके द्वारा परम श्रेष्ठ थी। वसन्तकालमें पुष्पयुक्त वनशोभासे युक्त उस उत्तम नेत्रवाली कन्याने अष्टावक्रकी ओर दृष्टि करते ही उनके मनको हरण किया था। वदान्य ऋषि उनसे बोले, मैं जिस प्रकार तुम्हें अवश्य कन्या प्रदान करूंगा, उसे सुनो। इस समय तुम पवित्र उत्तर दिशामें गमन

तथेदानीं मया कार्यं यथा वक्ष्यति मां भवान् ॥१५॥

वदान्य उवाच– धनदं समतिक्रम्य हिमवन्तं च पर्वतम् ।
रुद्रस्यायतनं दृष्ट्वा सिद्धचारणसेवितम् ॥ १६ ॥
संहृष्टैः पार्षदैर्जुष्टं नृत्यद्भिर्विविधाननैः ।
दिव्याङ्गरागैः पैशाचैरन्यैर्नानाविधैः प्रभो ॥ १७ ॥
पाणितालसुतालैश्च शम्पातालैः समैस्तथा ।
संहृष्टैः प्रनृत्यद्भिः शर्वस्तत्र निषेव्यते ॥ १८ ॥
इष्टं किल गिरौ स्थानं तद्दिव्यमिति शुश्रुम ।
नित्यं संनिहितो देवस्तथा ते पार्षदाः स्मृताः ॥१९॥
तत्र देव्या तपस्तप्तं शङ्करार्थं सुदुश्चरम् ।
अतस्तदिष्टं देवस्य तथोमाया इति श्रुतिः ॥ २० ॥
पूर्वं तत्र महापार्श्वे देवस्योत्तरतस्तथा ।
ऋतवः कालरात्रिश्च ये दिव्या ये च मानुषाः ॥२१॥
देवं चोपासते सर्वे रूपिणः किल तत्र ह ।

करो, तब तुम देखोगे । (१०–१४)

अष्टावक्र बोले, वहां मैं क्या देखूंगा? आप मुझसे वह विषय वर्णन करिये आप मुझे जो कहेंगे इस समय मुझे वही करना योग्य है । (१५)

वदान्य ऋषि बोले, हिमालय पर्वत और कुबेरको अतिक्रम करके सिद्धचारणोंसे सेवित रुद्रका स्थान देखोगे । वह स्थान हर्षयुक्त, नाचनेवाले, अनेक मुखवाले पार्षदों और दिव्याङ्ग रागसे संयुक्त पिशाच तथा दूसरे अनेक प्रकारके प्रमथगणोंसे परिसेवित है । पाणिताल, सुताल अर्थात् कांस्यमय भाण्ड, शम्पाताल अर्थात् विद्युतकी भांति अत्यन्त चपल भ्रमणादिघटित नृत्यक्रियामान विक्षेप और भ्रमणादिरहित समतालके द्वारा प्रसन्नचित्त नृत्य करनेवालोंसे महादेव वहांपर सेवित होते हैं । उस पहाडपर निवास करना ईश्वरको अभिलषित है, इसीसे वह दिव्य लोक कहाता है, मैंने ऐसा ही सुना है । महादेव सदा वहांपर उपस्थित रहते हैं और उनके पारिषद् लोग सदा उस स्थानमें निवास किया करते हैं । (१६–१९)

देवीने वहां महादेवके निमित्त अत्यन्त दुश्चर तपस्या की थी, मैंने सुना है, उस ही लिये वह महादेव और उमादेवीका इष्टस्थान है । पहले समयमें वहांपर देवके उत्तर भागमें महापार्श्व पर्वतपर

तदतिक्रम्य भवनं त्वया यातव्यमेव हि ॥ २२ ॥
ततो नीलं वनोद्देशं द्रक्ष्यसे मेघसन्निभम्।
रमणीयं मनोग्राहि तत्र वै द्रक्ष्यसे स्त्रियम् ॥ २३ ॥
तपस्विनीं महाभागां वृद्धां दीक्षामनुष्ठिताम्।
द्रष्टव्या सा त्वया तत्र संपूज्या चैव यत्नतः ॥ २४ ॥
तां दृष्ट्वा विनिवृत्तस्त्वं ततः पाणिं ग्रहीष्यसि।
यद्येष समयः सर्वः साध्यतां तत्र गम्यताम् ॥ २५ ॥
अष्टावक्र उवाच– तथास्तु साधयिष्यामि तत्र यास्याम्यसंशयम्।
यत्र त्वं वदसे साधो भवान् भवतु सत्यवाक् ॥ २६ ॥
भीष्म उवाच– ततोऽगच्छत्स भगवानुत्तरामुत्तरां दिशम्।
हिमवन्तं गिरिश्रेष्ठं सिद्धचारणसेवितम् ॥ २७ ॥
स गत्वा द्विजशार्दूलो हिमवन्तं महागिरिम्।
अभ्यगच्छन्नदीं पुण्यां बाहुदां धर्मशालिनीम् ॥ २८ ॥
अशोके विमले तीर्थे स्नात्वा वै तर्प्य देवताः।
तत्र वासाय शयने कौशे सुखमुवास ह ॥ २९ ॥
ततो रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय स द्विजः।

समस्त धातु कालरात्रि और दिव्य मनुष्य इत्यादि सबकी ही मूर्ति धारण करके महादेवकी उपासना करती थीं, तुम उस स्थानको अतिक्रम करके गमन करोगे। अनन्तर मेघवर्ण, मनोहर, रमणीय वन देखोगे। वहां महाभाग तपस्विनी दीक्षानुष्ठानकारिणी एक वर्षीयसी स्त्रीका दर्शन करोगे। वह तुम्हारी यत्नपूर्वक दर्शनीय और पूजनीय है। जब उसे देखके तुम निवृत्त होंगे, तब मेरी कन्याका पाणिग्रहण कर सकोगे, तुम यदि ऐसा नियम करना चाहते हो, तो वहां जाके सब विषयोंको साधन करो। (१०–२५)

अष्टावक्र बोले, हे साधु! ऐसा ही होगा, आपने जिस प्रकार कहा है, मैं अवश्य ही वहां जाके सब विषयोंको साधन करूंगा, आपका वचन सत्य होवे। (२६)

भीष्म बोले, अनन्तर भगवानने उत्कर्षशाली उत्तर दिशामें सिद्धचारणों से सेवित हिमालय पहाडपर गमन किया। उस द्विजश्रेष्ठने महागिरि हिमालयपर जाके बाहुदानामी धर्मशालिनी पवित्र नदीमें प्रवेश किया। अनन्तर शोकरहित विमल तीर्थमें स्नान और

स्नात्वा प्रादुश्चकाराग्निं स्तुत्वा चैनं प्रधानतः ॥ ३० ॥
रुद्राणीं रुद्रमासाद्य ह्रदे तत्र समाश्वसत् ।
विश्रान्तश्च समुत्थाय कैलासमभितो ययौ ॥ ३१ ॥
सोऽपश्यत्काञ्चनद्वारं दीप्यमानमिव श्रिया ।
मन्दाकिनीं च नलिनीं धनदस्य महात्मनः ॥ ३२ ॥
अथ ते राक्षसाः सर्वे येऽभिरक्षन्ति पद्मिनीम् ।
प्रत्युत्थिता भगवन्तं मणिभद्रपुरोगमाः ॥ ३३ ॥
स तान्प्रत्यर्चयामास राक्षसान् भीमविक्रमान् ।
निवेदयत मां क्षिप्रं धनदायेति चाब्रवीत् ॥ ३४ ॥
ते राक्षसास्तथा राजन् भगवन्तमथाब्रुवन् ।
असौ वैश्रवणो राजा स्वयमायाति तेऽन्तिकम् ॥ ३५ ॥
विदितो भगवानस्य कार्यमागमनस्य यत् ।
पश्यैनं त्वं महाभागं ज्वलन्तमिव तेजसा ॥ ३६ ॥
ततो वैश्रवणोऽभ्येत्य अष्टावक्रमनिन्दितम् ।
विधिवत्कुशलं पृष्ट्वा ततो ब्रह्मर्षिमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

तर्पण करके वहांपर सुखपूर्वक कुश-शय्यापर निवास करने लगे। अनन्तर रात्रि बीतनेपर उस द्विजवरने प्रातःकाल में उठके स्नान किया और वेदमन्त्रोंसे स्तुति करके अग्नि प्रकट की। महादेव और पार्वतीकी पूजा करके उस ही ह्रदपर विश्राम करने लगे। विश्राम करनेके अनन्तर उठके कैलास पर्वतकी ओर गमन किया। वहां जाके परम शोभासे दीप्यमान एक काञ्चनद्वार देखा और महानुभाव कुबेरकी नलिनी तथा मन्दाकिनीका दर्शन किया। अनन्तर मणिभद्र आदि राक्षसों जो कि उस नलिनी की सदा रक्षा करते हैं, वे लोग भगवान् अष्टावक्रको देखके उठ खडे हुए, उन्होंने भी उन भीमविक्रमी राक्षसोंको प्रत्यभिनन्दित करके कहा, कि कुबेरके पास जाके शीघ्र मेरे आनेका समाचार दो। (२७-३४)

हे राजन्! उन राक्षसोंने भगवान अष्टावक्रसे कहा, ये राजाओंके राजा, धनके स्वामी स्वयं ही आपके समीप आ रहे हैं, भगवान कुबेरको आपके आगमनका कारण मालूम है। आप इस तेजस्विताके द्वारा प्रज्वलित महाभागको अवलोकन करिये। अनन्तर धनेश्वर अनिन्दित ब्रह्मर्षि अष्टावक्रके निकट आके विधिपूर्वक कुशलप्रश्न

सुखं प्राप्तो भवान् कच्चित् किं वा मत्तश्चिकीर्षति ।
ब्रूहि सर्वं करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि वै द्विज ॥ ३८ ॥
भवनं प्रविश त्वं मे यथाकामं द्विजोत्तम ।
सत्कृतः कृतकार्यश्च भवान् यास्यत्यविघ्नतः ॥ ३९ ॥
प्राविशद्भवनं स्वं वै गृहीत्वा तं द्विजोत्तमम् ।
आसनं स्वं ददौ चैव पाद्यमर्घ्यं तथैव च ॥ ४० ॥
अथोपविष्टयोस्तत्र मणिभद्रपुरोगमाः ।
निषेदुस्तत्र कौबेरा यक्षगन्धर्वकिन्नराः ॥ ४१ ॥
ततस्तेषां निषण्णानां धनदो वाक्यमब्रवीत् ।
भवच्छन्दं समाज्ञाय नृत्येरन्नप्सरोगणाः ॥ ४२ ॥
आतिथ्यं परमं कार्यं शुश्रूषा भवतस्तथा ।
संवर्ततामित्युवाच मुनिर्मधुरया गिरा ॥ ४३ ॥
अथोर्वरा मिश्रकेशी रम्भा चैवोर्वशी तथा ।
अलम्बुषा घृताची च चित्रा चित्राङ्गदा रुचिः ॥४४ ॥
मनोहरा सुकेशी च सुमुखी हासिनी प्रभा ।
विद्युता प्रशमी दान्ता विद्योता रतिरेव च ॥ ४५ ॥
एताश्चान्याश्च वै बह्वयः प्रनृत्ताप्सरसः शुभाः ।

करके बोले, हे द्विजवर ! आपने सुखसे आगमन किया है न ? मेरे समीप आप क्या अभिलाष करते हैं, आप जो कहेंगे, मैं उसे पूर्ण करूंगा । हे द्विजोत्तम ! आप इच्छापूर्वक मेरे गृहमें प्रवेश करिये । यहांपर सत्कृत और कृतकार्य होकर निर्विघ्नताके सहित गमन करना । कुबेरने उस द्विजवरको सङ्ग लेकर निज गृहमें प्रवेश किया और वहां जाके उन्हें आसन, पाद्य और अर्घ प्रदान किया । (३५-४०)

उन दोनोंके बैठनेके अनन्तर मणिभद्र प्रभृति यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि कुबेरके सब गण बैठ गये । अनन्तर सबके बैठनेपर कुबेरने कहा, यदि आपकी इच्छा हो, तो अप्सरागण नृत्य करनेमें प्रवृत्त हों, आपकी सेवा तथा आतिथ्य करना मेरा कर्त्तव्य कार्य है । तब मुनिने मृदु वचनसे कहा, "नृत्य आरम्भ होवे ।" अनन्तर उर्वरा, मिश्रकेशी, रम्भा, उर्वशी, अलम्बुषा घृताची, मित्रा, चित्रांगदा, रुचि, मनोहरा, सुकेशी, सुमुखी, हासिनी, प्रभा, विद्युता, प्रशमी, दान्ता, विद्योता, रति

अवादयंश्च गन्धर्वा वाद्यानि विविधानि च ॥ ४६ ॥
अथ प्रवृत्ते गान्धर्वे दिव्ये ऋषिरुपाविशत्।
दिव्यं संवत्सरं तत्रारमतैष महातपाः ॥ ४७ ॥
ततो वैश्रवणो राजा भगवन्तमुवाच ह।
साग्रः संवत्सरो जातो विप्रेह तव पश्यतः ॥ ४८ ॥
हार्योऽयं विषयो ब्रह्मन् गान्धर्वो नाम नामतः।
छन्दतो वर्ततां विप्र यथा वदति वा भवान् ॥ ४९ ॥
अतिथिः पूजनीयस्त्वमिदं च भवतो गृहम्।
सर्वमाज्ञाप्यतामाशु परवन्तो वयं त्वयि ॥ ५० ॥
अथ वैश्रवणं प्रीतो भगवान्प्रत्यभाषत।
अर्चितोऽस्मि यथान्यायं गमिष्यामि धनेश्वर ॥ ५१ ॥
प्रीतोऽस्मि सदृशं चैव तव सर्वं धनाधिप।
तव प्रसादाद्भगवन् महर्षेश्च महात्मनः ॥ ५२ ॥
नियोगादद्य यास्यामि वृद्धिमानृद्धिमान् भव।
अथ निष्क्रम्य भगवान् प्रययावुत्तरामुखः ॥ ५३ ॥

और दूसरी अनेक अप्सरा नृत्य करनेमें प्रवृत्त हुई। गन्धर्वगण विविध बाजे बजाने लगे। (४१—४६)

दिव्य गीतवाद्य आरम्भ हुआ, महात्मा महातपस्वी अष्टावक्र देवपरिमाणके एक वर्षतक वहां बैठे रहे और अत्यन्त आनन्दित हुए। अनन्तर राजा वैश्रवण भगवान अष्टावक्रसे बोले, हे विप्र! देखते देखते इस स्थानमें ही आपको कुछ अधिक एक वर्ष बीत गया, हे ब्रह्मन्! इसलिये अब यह नृत्य-गीतादि परित्याग करना उचित है, इस समय आप इच्छानुसार निवास करिये; अथवा आप जैसा कहें, वैसा ही होवे। आप पूजनीय अतिथि हैं, और यह गृह भी आपका है, इसलिये आपकी जैसी आज्ञा हो, वैसा ही किया जाय, हम सब कोई आपके अधीन हैं। (४७—५०)

अनन्तर भगवान् अष्टावक्र प्रसन्न होके कुबेरसे बोले, हे धनेश्वर! मैं यथायोग्य पूजित हुआ; अब यहांसे गमन करूंगा। हे धनाधिप! मैं तुमसे प्रसन्न हुआ हूं, तुमने जो किया है, यह तुम्हारे ही योग्य है, तुम्हारी कृपा और महानुभाव भगवान् वदान्य ऋषिके आज्ञानुसार अब मैं जाता हूं तुम बुद्धिमान और समृद्धिमान बने रहो। अनन्तर भगवान

कैलासं मन्दरं हैमं सर्वाननुचचार ह।
तानतीत्य महाशैलान् कैरातं स्थानमुत्तमम् ॥ ५४ ॥
प्रदक्षिणं तथा चक्रे प्रयतः शिरसा नतः।
धरणीमवतीर्याथ पूतात्माऽसौ तदाऽभवत् ॥ ५५ ॥
स तं प्रदक्षिणं कृत्वा त्रिः शैलं चोत्तरामुखः।
समेन भूमिभागेन ययौ प्रीतिपुरस्कृतः ॥ ५६ ॥
ततोऽपरं वनोद्देशं रमणीयमपश्यत।
सर्वर्तुभिर्मूलफलैः पक्षिभिश्च समन्वितैः ॥ ५७ ॥
रमणीयैर्वनोद्देशैस्तत्र तत्र विभूषितम्।
तत्राश्रमपदं दिव्यं ददर्श भगवानथ ॥ ५८ ॥
शैलांश्च विविधाकारान् काञ्चनान् रत्नभूषितान्।
मणिभूमौ निविष्टाश्च पुष्करिण्यस्तथैव च ॥ ५९ ॥
अन्यान्यपि सुरम्याणि पश्यतः सुबहून्यथ।
भृशं तस्य मनो रेमे महर्षेर्भावितात्मनः ॥ ६० ॥
स तत्र काञ्चनं दिव्यं सर्वरत्नमयं गृहम्।
ददर्शाद्भुतसंकाशं धनदस्य गृहाद्वरम् ॥ ६१ ॥

अष्टावक्र कुबेरके स्थानसे बाहर होके उत्तर दिशाकी ओर चले; कैलास, मन्दर और सुमेरु पर्वतपर विचरते हुए उन सब महापर्वतोंको अतिक्रम करके अत्यन्त उत्कृष्ट किरातस्थलमें पहुंचे। (५१—५४)

उन्होंने प्रयत और नतशिर होके उस स्थानकी प्रदक्षिणा की। अनन्तर पृथ्वीपर उतरके वह उस समय हर्षित हुए और उस पर्वतकी तीन बार प्रदक्षिणा करके प्रसन्न चित्तसे उत्तरकी ओर समतल भूमिपर चलने लगे। अनन्तर उन्होंने और एक वनस्थल देखा। वह वन सब ऋतुओंके फूल, फल, मूल और पक्षियोंसे युक्त था और जगह जगह रमणीय शोभासे विभूषित था। भगवान अष्टावक्रने उस स्थानमें एक दिव्य आश्रम देखा। वहांपर विविध रत्नोंसे भूषित सुवर्णमय पर्वत और मणिमय भूमिपर मनोहर तालाब विद्यमान थे; तथा दूसरे बहुतेरे विषयोंको देखकर वह शुद्धचित्त महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हुए। (५५—६०)

उन्होंने उस स्थानमें कुबेरके गृहसे भी श्रेष्ठ अद्भुत सङ्काश सर्व रत्नमय एक दिव्य सुवर्णसे बना हुआ भवन

महान्तो यत्र विविधा मणिकाञ्चनपर्वताः ।
विमानानि च रम्याणि रत्नानि विविधानि च ॥६२॥
मन्दारपुष्पैः संकीर्णां तथा मन्दाकिनीं नदीम् ।
स्वयंप्रभाश्च मणयो वज्रैर्भूमिश्च भूषिता ॥ ६३ ॥
नानाविधैश्च भवनैर्विचित्रमणितोरणैः ।
मुक्ताजालविनिक्षिप्तैर्मणिरत्नविभूषितैः ॥ ६४ ॥
मनोदृष्टिहरै रम्यैः सर्वतः संवृतं शुभैः ।
ऋषिभिश्चावृतं तत्र आश्रमं तं मनोहरम् ॥ ६५ ॥
ततस्तस्याभवच्चिन्ता कुत्र वासो भवेदिति ।
अथ द्वारं समभितो गत्वा स्थित्वा ततोऽब्रवीत् ॥६६॥
अतिथिं समनुप्राप्तमभिजानन्तु येऽत्र वै ।
अथ कन्याः परिवृता गृहात्तस्माद्विनिर्गताः ॥ ६७ ॥
नानारूपाः सप्त विभो कन्याः सर्वा मनोहराः ।
यां यामपश्यत्कन्यां वै सा सा तस्य मनोऽहरत्॥६८॥
न च शक्तो वारयितुं मनोऽस्याथावसीदति ।
ततो धृतिः समुत्पन्ना तस्य विप्रस्य धीमतः ॥ ६९ ॥
अथ तं प्रमदाः प्राहुर्भगवान्प्रविशत्विति ।

देखा। जिस स्थानमें उत्तम महत् मणिकाञ्चनमय विविध पर्वत, अनेक प्रकारके रत्न और समस्त रमणीय विमान विद्यमान थे; मन्दार पुष्पोंसे परिपूरित मन्दाकिनी नदी, स्वयं प्रभायुक्त मणियों और हीरोंसे सब भूमि भूषित थी। अनेक प्रकारके मुक्ता-जालसे खचित, मणिरत्नोंसे विभूषित मणिमय तोरणों और मनोहर,दर्शनीय, रमणीय, पवित्र वस्तुओंसे युक्त तथा वह मनोहर आश्रम ऋषियोंसे आवृत था। अनन्तर अष्टावक्रके अन्तःकरणमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि कहां "निवास करूं ?" अन्तमें वह उस गृहके द्वारपर जाके खडे होकर बोले, इस स्थानमें जो हो, उसे मालूम होवे, कि " मैं अतिथि यहांपर आया हूं।" हे विभु ! अनन्तर अनेक रूपधारिणी, मनको हरनेवाली सात कन्या उस घरसे बाहर हुईं। (६१—६७)

उन्होंने जिस कन्याको देखा, उसीने उनके मनको हरण किया। निवारण करनेमें अशक्त होनेसे उनका मन अवसन्न हुआ। अनन्तर उस धीमान्

स च तासां सुरूपेण तस्यैव भवनस्य हि ॥ ७० ॥
कौतूहलं समाविष्टः प्रविवेश गृहं द्विजः।
तत्रापश्यज्जरायुक्तामरजोम्बरधारिणीम् ॥ ७१ ॥
वृद्धां पर्यङ्कमासीनां सर्वाभरणभूषिताम्।
स्वस्तीति तेन चैवोक्ता सा स्त्री प्रत्यवदत्तदा ॥ ७२ ॥
प्रत्युत्थाय च तं विप्रमास्यतामित्युवाच ह।
अष्टावक्र उवाच- सर्वाः स्वानालयान् यान्तु एका मामुपतिष्ठतु ॥७३॥
प्रज्ञाता या प्रशान्ता या शेषा गच्छन्तु छन्दतः।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य कन्यास्तास्तमृषिं तदा ॥ ७४ ॥
निश्चक्रमुर्गृहात्तस्मात्सा वृद्धाथ व्यतिष्ठत।
अथ तां संविशन् प्राह शयने भास्वरे तदा ॥ ७५ ॥
त्वयापि सुप्यतां भद्रे रजनी ह्यतिवर्तते।
संलापात्तेन विप्रेण तथा सा तत्र भाषिता ॥ ७६ ॥
द्वितीये शयने दिव्ये संविवेश महाप्रभे।
अथ स वेपमानाङ्गी निमित्तं शीतजं तदा ॥ ७७ ॥
व्यपदिश्य महर्षेर्वै शयनं व्यवरोहत।

विप्रके धृति उत्पन्न हुई, तब प्रमदागणोंने उनसे कहा, 'हे भगवान ! भीतर चलिये।' उन्होंने उन सुन्दरियों तथा भवनको देखके कौतूहलयुक्त होकर गृहके भीतर प्रवेश किया। भीतर जाके उन्होंने जरायुक्त अरञ्जित अम्बर-धारिणी सब आभूषणोंसे भूषित एक वर्षीयसी स्त्रीको पलङ्गपर बैठी हुई देखा; देखते ही उन्होंने उससे कहा, "स्वस्ति है", उसने भी उस समय वैसा ही प्रत्युत्तर दिया और उठके उस विप्रवरको बैठनेको कहा। (६८—७३)

अष्टावक्र बोले, सब कोई अपने स्थान पर जावें, जो अत्यन्त ज्ञानवती और प्रशान्त चित्तवाली हो, वही अकेली मेरे निकट उपस्थित रहे, शेष सब अपने अभिप्राय और इच्छानुसार स्थानान्तरमें गमन करें, अनन्तर वे सब कन्या उस समय ऋषिको प्रदक्षिणा करके घरसे निकल गई, केवल वह वृद्धा वहांपर निवास करने लगी; ऋषि सफेद शय्यापर शयन करके वृद्धासे बोले, हे भद्रे ! रात्रि बीती जाती है, इसलिये तुम भी शयन करो। परस्पर कथाप्रसंगसे जब ब्राह्मणने ऐसा कहा, तब वर्षीयसीने प्रकाशमान दूसरी

स्वागतेनागतां तां तु भगवानभ्यभाषत ॥ ७८ ॥
सोपागूहद्भुजाभ्यां तु ऋषिं प्रीत्या नरर्षभ।
निर्विकारमृषिं चापि काष्ठकुड्योपमं तदा ॥ ७९ ॥
दुःखिता प्रेक्ष्य संजल्पमकार्षीद्दृषिणा सह।
ब्रह्मन्नकामतोऽन्यास्ति स्त्रीणां पुरुषतो धृतिः ॥ ८० ॥
कामेन मोहिता चाहं त्वां भजन्ती भजस्व माम्।
प्रहृष्टो भव विप्रर्षे समागच्छ मया सह ॥ ८१ ॥
उपगूह च मां विप्र कामार्ताऽहं भृशं त्वयि।
एतद्धि तव धर्मात्मंस्तपसः पूज्यते फलम् ॥ ८२ ॥
प्रार्थितं दर्शनादेव भजमानां भजस्व माम्।
मम चेदं धनं सर्वं यच्चान्यदपि पश्यसि ॥ ८३ ॥
प्रभुस्त्वं भव सर्वत्र मयि चैव न संशयः।
सर्वान् कामान्विधास्यामि रमस्व सहितो मया ॥८४॥
रमणीये वने विप्र सर्वकामफलप्रदे।
त्वद्वशाहं भविष्यामि रंस्यसे च मया सह ॥ ८५ ॥

शय्यापर शयन किया। अन्तमें वह शीतच्छलसे कांपती हुई महर्षिकी शय्यापर जा चढी। (७३—७८)

हे राजन्! भगवानने उस आगत अबलासे स्वागत प्रश्न किया, उसने प्रीतिपूर्वक दोनों भुजासे ऋषिको आलिंगन किया। ऋषिको काष्ठकी भांति निर्विकार देखके दुःखित होकर उस वृद्धाने उनके संग उस समय वार्त्तालाप आरम्भ किया। वह बोली, हे विप्रवर! पुरुषको पाके स्त्रियोंको स्वभावसे ही धैर्य नहीं रहता, इसलिये कामसे मोहित होकर मैं तुम्हें आलिंगन करती हूं, तुम मेरा मनोरथ सफल करो। हे विप्रर्षि! तुम प्रसन्न होके मेरे संग संगत होकर मुझे आलिंगन करो, मैं तुम्हें देखके अत्यन्त ही कामार्त्त हुई हूं। हे धर्मात्मन्! यह तुम्हारी तपस्याका प्रार्थित फल प्रशंसनीय है, कि देखते ही मैं तुम्हारी सेवामें तत्पर हुई हूं, इसलिये मुझे अङ्गीकार करो। मेरा यह सब धन तथा दूसरी वस्तु जो देख रहे हो, तुम उन सबके स्वामी तथा मेरे भी निःसंदेह स्वामी हो, तुम मेरे संग संगम करो, मैं तुम्हारी सब कामना पूरी करूंगी। (७८—८४)

हे विप्र! सर्वकामफलप्रद इस रमणीय वनमें तुम मेरे संग क्रीडा करोगे,

सर्वान्कामानुपाश्नीमो ये दिव्या ये च मानुषाः ।
नातः परं हि नारीणां विद्यते च कदाचन ॥ ८६ ॥
यथा पुरुषसंसर्गः परमेतद्धि नः फलम् ।
आत्मच्छन्देन वर्तन्ते नार्यो मन्मथचोदिताः ॥ ८७ ॥
न च दह्यन्ति गच्छन्त्यः सुतप्तैरपि पांसुभिः ।
अष्टावक्र उवाच- परदारानहं भद्रे न गच्छेयं कथंचन ॥ ८८ ॥
दूषितं धर्मशास्त्रज्ञैः परदाराभिमर्शनम् ।
भद्रे निवेष्टुकामं मां विद्धि सत्येन वै शपे ॥ ८९ ॥
विषयेष्वनभिज्ञोऽहं धर्मार्थं किल संततिः ।
एवं लोकान् गमिष्यामि पुत्रैरिति न संशयः ॥ ९० ॥
भद्रे धर्मं विजानीहि ज्ञात्वा चोपरमस्व ह ।
स्त्र्युवाच— नानिलोऽग्निर्न वरुणो न चान्ये त्रिदशा द्विज ॥ ९१ ॥
प्रियाः स्त्रीणां यथा कामो रतिशीला हि योषितः ।
सहस्रे किल नारीणां प्राप्येतैका कदाचन ॥ ९२ ॥
तथा शतसहस्रेषु यदि काचित्पतिव्रता ।
नैता जानन्ति पितरं न कुलं न च मातरम् ॥ ९३ ॥

मैं तुम्हारे वशमें होकर रहूंगी और दिव्य, मानुष काम विषयोंको उपभोग करोगे, पुरुषके संसर्गसे हमें जैसा परम फल है, स्त्रियोंको इससे बढके कदाचित् और कुछ भी सुख नहीं है। कामप्रेरित स्त्रियें सुखस्वच्छन्दतासे निवास करती हैं, वे सन्तप्त पांसुमय मार्गमें गमन करनेपर भी नहीं जलतीं (८५-८८)

अष्टावक्र बोले, हे भद्रे ! मैं कदापि परस्त्रीगमन नहीं करता; धर्मशास्त्रज्ञ पण्डितोंके द्वारा परदाराभिगमन अत्यन्त दूषित कहके वर्णित हुआ है। हे कल्याणि ! मैं सत्यके द्वारा शपथ करता हूं, कि इस संसार-आश्रममें प्रवेश करने की मैंने इच्छा की है। मैं विषयसे अनभिज्ञ हूं, केवल धर्मार्थ सन्ततिकी अभिलाष की है, अपत्य उत्पन्न करनेसे निःसंदेह श्रेष्ठ लोकोंमें गमन करूंगा। हे भद्रे ! तुम धर्मको जानो तथा जानके दूर रहो। (८८—९१)

स्त्री बोली, हे द्विज ! वायु, अग्नि, वरुण अथवा दूसरे कोई देवता स्त्रियोंको वैसे प्रिय नहीं हैं, जैसे रतिशील नारियोंको एकमात्र रतिपति प्रियतम है। हजार स्त्रियोंके बीच कदाचित् कोई एकाकिनी पाई जाती है और कहा नहीं

न भ्रातॄन्न च भर्तारं न च पुत्रान्न देवरान् ।
लीलायन्त्यः कुलं घ्नन्ति कूलानीव सरिद्वराः ।
दोषान्सर्वांश्च मत्वाऽऽशु प्रजापतिरभाषत ॥ ९४ ॥

भीष्म उवाच— ततः स ऋषिरेकाग्रस्तां स्त्रियं प्रत्यभाषत ।
आस्यतां रुचितश्छन्दः किं च कार्यं ब्रवीहि मे ॥९५॥
सा स्त्री प्रोवाच भगवन् द्रक्ष्यसे देशकालतः ।
वस तावन्महाभाग कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ ९६ ॥
ब्रह्मर्षिस्तामथोवाच स तथेति युधिष्ठिर ।
वत्स्येऽहं यावदुत्साहो भवत्या नात्र संशयः ॥ ९७ ॥
अथर्षिरभिसंप्रेक्ष्य स्त्रियं तां जरयाऽर्दिताम् ।
चिन्तां परामिकां भेजे संतप्त इव चाभवत् ॥ ९८ ॥
यद्यदङ्गं हि सोऽपश्यत्तस्या विप्रर्षभस्तदा ।
नारमत्तत्र तत्रास्य दृष्टी रूपविरागिता ॥ ९९ ॥
देवतेयं गृहस्यास्य शापात्किं नु विरूपिता ।

जा सकता, कि सौ हजार स्त्रियोंके बीच भी कोई पतिव्रता है। ये पिताको नहीं जानतीं, कुलको नहीं मानतीं, माताको भी मान्य नहीं करतीं, भाइयोंके शासन में भी नहीं रहतीं, भर्त्तापर भक्ति, पुत्रोंमें स्नेह और देवरोंका समादर नहीं करतीं; जैसे नदियें तटको निर्मूल करती हैं, वैसे ही ये भी लीलाक्रमसे कुल नष्ट किया करती हैं; प्रजापतिने इनके सब दोषोंको जानके यह वार्त्ता कही थी। (९१–९४)

भीष्म बोले, अनन्तर अष्टावक्र एकाग्र होकर उस वर्षीयसीसे बोले, तुम इच्छानुसार बैठो और मुझे क्या करना योग्य है वह कहो। वृद्धा बोली, हे भगवन् ! देशकालके अनुसार सब देखोगे। हे महाभाग! बैठिये, कृतकृत्य होइयेगा। (९५–९६)

हे युधिष्ठिर ! अनन्तर ब्रह्मर्षिने उससे कहा, "ऐसा ही होगा।" मेरा जबतक उत्साह रहेगा, तब तक मैं तुम्हारे समीप निःसन्देह निवास करूंगा। अन्तमें ऋषि उस स्त्रीको जराजीर्ण देखकर अत्यन्त चिन्ता करके मानो सन्तापित हुए। उस विप्रवरने उस अंगनाके जिस जिस अंगको अव-लोकन किया, उनकी रूप विरागवती दृष्टि उस समय उसमें अनुरागवान् नहीं हुई। उन्होंने सोचा, यह इस गृहकी अधिष्ठात्री देवी है, किसीके

अस्याश्च कारणं वेत्तुं न युक्तं सहसा मया ॥ १०० ॥
इति चिन्ताविविक्तस्य तमर्थं ज्ञातुमिच्छतः ।
व्यगच्छत्तदहःशेषं मनसा व्याकुलेन तु ॥ १०१ ॥
अथ सा स्त्री तथोवाच भगवन्पश्य वै रवेः ।
रूपं संध्याभ्रसंरक्तं किमुपस्थाप्यतां तव ॥ १०२ ॥
स उवाच ततस्तां स्त्रीं स्नानोदकमिहानय ।
उपासिष्ये ततः संध्यां वाग्यतो नियतेन्द्रियः ॥१०३॥[१४६६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे ऊनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच— अथ सा स्त्री तमुवाच बाढमेवं भवत्विति ।
तैलं दिव्यमुपादाय स्नानशाटीमुपानयत् ॥ १ ॥
अनुज्ञाता च मुनिना सा स्त्री तेन महात्मना ।
अथास्य तैलेनाङ्गानि सर्वाण्येवाभ्यमृक्षत ॥ २ ॥
शनैश्चोत्सादितस्तत्र स्नानशालामुपागमत् ।
भद्रासनं ततश्चित्रं ऋषिरन्वगमन्नवम् ॥ ३ ॥
अथोपविष्टश्च यदा तस्मिन्भद्रासने तदा ।
स्नापयामास शनकैस्तमृषिं सुखहस्तवत् ॥ ४ ॥

आपसे कुरूपा हुई है । मैं सहसा इसका कारण जाननेमें समर्थ नहीं होता हूं; इस विषयको जाननेके निमित्त इस ही भांति चिन्ता करते हुए व्याकुल चित्तसे ऋषिका वह दिन शेष हुआ । अनन्तर वह स्त्री बोली हे भगवन् ! सूर्यका सन्ध्यारागरञ्जितरूप अवलोकन करिये, इस समय आपके निकट क्या लाऊं । वह उस स्त्रीसे बोले, इस समय यहां मेरे स्नान करनेके लिये जल लाओ । इसके अनन्तर मैं एकाग्र और संयतेन्द्रिय होकर सन्ध्या उपासना करूंगा । (९७-१०३)

अनुशासनपर्वमें १९ अध्याय समाप्त ।

अनुशासनपर्वमें २० अध्याय ।

भीष्म बोले, अनन्तर उस स्त्रीने कहा, बहुत अच्छा, 'ऐसा ही होगा' यह कहके वह दिव्य तेल और स्नानका वस्त्र ले आई । उस समय वर्षीयसीने उस महानुभाव मुनिकी आज्ञानुसार उनके शरीरमें तेल लगाया और धीरे धीरे जाके स्नानागारमें उपस्थित हुई । अनन्तर ऋषिवर अभिनव उत्तम आसनपर बैठनेके लिये वहां गये, जब वह

दिव्यं च विधिवच्चक्रे सोपचारं मुनेस्तदा।
स तेन सुसुखोष्णेन तस्या हस्तसुखेन च ॥ ५ ॥
व्यतीतां रजनीं कृत्स्नां नाजानात्स महाव्रतः।
तत उत्थाय स मुनिस्तदा परमविस्मितः ॥ ६ ॥
पूर्वस्यां दिशि सूर्यं च सोऽपश्यदुदितं दिवि।
तस्य बुद्धिरियं किं तु मोहस्तत्त्वमिदं भवेत् ॥ ७ ॥
अथोपास्य सहस्रांशुं किं करोमीत्युवाच ताम्।
सा चामृतरसप्रख्यमृषेरन्नमुपाहरत ॥ ८ ॥
तस्य स्वादुतयाऽन्नस्य न प्रभूतं चकार सः।
व्यगमच्चाप्यहःशेषं ततः संध्याऽगमत्पुनः ॥ ९ ॥
अथ सा स्त्री भगवन्तं सुप्यतामित्यचोदयत्।
तत्र वै शयने दिव्ये तस्य तस्याश्च कल्पिते ॥ १० ॥
पृथक्चैव तथा सुप्तौ सा स्त्री स च मुनिस्तदा।
तथार्धरात्रे सा स्त्री तु शयनं तदुपागमत् ॥ ११ ॥

अष्टावक्र उवाच– न भद्रे परदारेषु मनो मे संप्रसज्जति।

उत्तम आसन पर बैठे, तब उस स्त्रीने धीरे धीरे सुखस्पर्श हाथके द्वारा ऋषिको स्नान करा दिया और उनके संमुख विधिपूर्वक दिव्य उपचारोंको लाके उपस्थित किया। महाव्रती मुनि उस स्त्रीके अत्यन्त सुखजनक तथा उष्ण हाथके सहारे सुखसे सेवित होकर यह न जान सके, कि सारी रात बीत गई। अनन्तर मुनि उठके अत्यन्त विस्मित हुए और पूर्व ओर आकाशमण्डलमें सूर्यको उदित देखा। उस समय उन्हें ऐसा मालूम हुआ, कि 'क्यों यह मोह है, अथवा यथार्थ होगा ?' (१—७)

अन्तमें वह सूर्यकी उपासना करके उस स्त्रीसे बोले, इस समय मैं क्या करूं ? तब वर्षीयसी उनके लिये अमृत रसके सदृश अन्न ले आई। ऋषि उस अन्न की अति स्वादुतानिबन्धनसे अधिक भोजन न कर सके। उस दिनके बीतने पर फिर सन्ध्या उपस्थित हुई। अनन्तर उस स्त्रीने भगवान् अष्टावक्रको शयन करनेके लिये कहा, उन दोनोंकी अलग अलग दिव्य शय्या कल्पित हुई। मुनि और वह वृद्धा स्त्री अपनी अपनी शय्यापर जा सोये; आधी रात्रके समय वह स्त्री मुनिके समीप उपस्थित हुई, अष्टावक्र बोले, हे भद्रे ! मेरा अन्तःकरण परस्त्रीमें आसक्त नहीं होता,

उत्तिष्ठ भद्रे भद्रं ते स्वयं वै विरमस्व च ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच— सा तदा तेन विप्रेण तथा धृत्या निवर्तिता ।
स्वतन्त्राऽस्मीत्युवाचर्षिं न धर्मच्छलमस्ति ते ॥ १३ ॥

अष्टावक्र उवाच– नास्ति स्वतन्त्रता स्त्रीणामस्वतन्त्रा हि योषितः ।
प्रजापतिमतं ह्येतन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १४ ॥

स्त्र्युवाच— बाधते मैथुनं विप्र मम भक्तिं च पश्य वै ।
अधर्मं प्राप्स्यसे विप्र यन्मां त्वं नाभिनन्दसि ॥१५॥

अष्टावक्र उवाच– हरन्ति दोषजातानि नरं जातं यथेच्छकम् ।
प्रभवामि सदा धृत्या भद्रे स्वशयनं व्रज ॥ १६ ॥

स्त्र्युवाच— शिरसा प्रणमे विप्र प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
भूमौ निपतमानायाः शरणं भव मेऽनघ ॥ १७ ॥
यदि वा दोषजातं त्वं परदारेषु पश्यसि ।
आत्मानं स्पर्शयाम्यद्य पाणिं गृह्णीष्व मे द्विज ॥१८।
न दोषो भविता चैव सत्येनैतद्ब्रवीम्यहम् ।
स्वतन्त्रां मां विजानीहि यो धर्मः सोऽस्तु वै मयि ।

हे कल्याणि ! तुम उठो और स्वयं विरत रहो तुम्हारा मंगल होगा । (८–१२)

भीष्म बोले, उस समय वह वृद्धा धीरजके सहारे निवर्तित होके बोली, मैं स्वतन्त्रा हूं, तुम्हें धर्मच्छल अर्थात् परपुरुष प्रलोभन नहीं है । (१३)

अष्टावक्र बोले, स्त्रियोंकी स्वाधीनता नहीं है, स्त्रियें निश्चय ही पराधीन हैं, प्रजापतिका ऐसा मत है, कि स्त्रियें कभी स्वाधीनताके योग्य नहीं हैं । (१४)

स्त्री बोली, हे विप्र ! कन्दर्पपीडा मुझे व्याकुल कर रही है, तुम मेरी भक्ति देखो, यदि तुम मुझे अभिनन्दित न करोगे, तो तुम्हें अधर्म होगा । (१५)

अष्टावक्र बोले, यथेच्छाचार मनुष्यके दोषोंको हरता है । हे कल्याणि ! मैं सदा धीरज धारण करनेमें समर्थ हूं, अपनी शय्या पर जाओ । (१६)

स्त्री बोली, हे विप्र ! मैं सिर झुकाके तुम्हें प्रणाम करती हूं, मुझ पर तुम्हें कृपा करनी उचित है । हे निष्पाप ! तुम पृथ्वीमें पडी हुई मुझ शरणागताकी रक्षा करो । यदि तुम परस्त्रीविषयक दोष देखते हो, तो मैं तुम्हें आत्मसमर्पण करती हूं, हे द्विज! तुम मेरा पाणिग्रहण करो । मैं सत्य

त्वय्यावेशितचित्ता च स्वतन्त्राऽस्मि भजस्व माम् ॥१९॥

अष्टावक्र उवाच- स्वतन्त्रा त्वं कथं भद्रे ब्रूहि कारणमत्र वै।
नास्ति त्रिलोके स्त्री काचिद्या वै स्वातन्त्र्यमर्हति ॥२०॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थाविरे काले नास्ति स्त्रीणां स्वतन्त्रता ॥२१॥

स्त्र्युवाच— कौमारं ब्रह्मचर्यं मे कन्यैवास्मि न संशयः।
पत्नीं कुरुष्व मां विप्र श्रद्धां विजहि मा मम ॥ २२॥

अष्टावक्र उवाच- यथा मम तथा तुभ्यं यथा तुभ्यं तथा मम।
जिज्ञासेयमृषेस्तस्य विघ्नः सत्यं न किं भवेत् ॥ २३ ॥
आश्चर्यं परमं हीदं किं तु श्रेयो हि मे भवेत्।
दिव्याभरणवस्त्रा हि कन्येयं मामुपस्थिता ॥ २४ ॥
किंत्वस्याः परमं रूपं जीर्णमासीत्कथं पुनः।

कहती हूं, कि तुम्हें कुछ भी दोष न होगा; मुझे तुम आत्म-प्रदान करनेमें स्वाधीना समझो; इसमें जो अधर्म होगा, वह मुझे ही होगा। मैंने तुम्हें मन समर्पण किया है, मैं स्वतन्त्रा हूं, इसलिये तुम मुझे अङ्गीकार करो। (१७—१९)

अष्टावक्र बोले, हे भद्रे! तुम किस प्रकार स्वाधीना होसकती हो? इसका क्या कारण है वह कहो। जगत्में कोई भी स्त्री स्वतंत्र है, ऐसा नहीं कहा जासकता। कौमार अवस्थामें पिता रक्षा करता है, युवा अवस्थामें पति रक्षा किया करता है, वृद्धावस्थामें पुत्रगण रक्षा करते हैं, इसलिये स्त्रियोंकी कभी स्वतन्त्रता नहीं रहती है।(२०-२१)

स्त्री बोली, मैं कौमार ब्रह्मचर्य अवलम्बन करनेके हेतु निःसन्देह कन्या ही हूं, हे विप्र! इसलिये तुम मुझे अपनी पत्नी करो, मेरी श्रद्धा निष्फल मत करो। (२२)

अष्टावक्र बोले, मैं आत्मदृष्टान्तके सहारे तुम्हें स्मरातुरा जानता हूं, तुम भी निज संगमश्रद्धा प्रकाश करके अपना अभिप्राय प्रकट करती हो, वदान्य ऋषि मुझे जाननेके लिये जो परीक्षा करते हैं, क्यों सत्य ही उसमें विघ्न न होगा? इस स्त्रीको पहले अत्यन्त जीर्णरूपसे देखा था, अब इसे कन्या देखता हूं, इससे यह परम आश्चर्यका विषय है! क्यों मैं पूर्व परिगृहीता कन्याको परित्याग करूंगा अथवा इसे ही स्वीकार करूंगा? क्या करनेसे मेरा कल्याण होगा? यह दिव्याभरण वसन-

कन्यारूपमिहाद्यैवं किमिवात्रोत्तरं भवेत् ॥ २५ ॥
यथा परं शक्तिधृतेर्न व्युत्थास्ये कथञ्चन।
न रोचते हि व्युत्थानं सत्येनासादयाम्यहम् ॥ २६ ॥ [१४९१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच- न बिभेति कथं सा स्त्री शापाच्च परमद्युतेः।
कथं निवृत्तो भगवांस्तद्भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १ ॥

भीष्म उवाच- अष्टावक्रोऽन्वपृच्छत्तां रूपं विकुरुषे कथम्।
न चानृतं ते वक्तव्यं ब्रूहि ब्राह्मणकाम्यया ॥ २ ॥

स्त्र्युवाच— द्यावापृथिव्योर्यत्रैषा काम्या ब्राह्मणसत्तम।
शृणुष्वावहिता सर्वं यदिदं सत्यविक्रम ॥ ३ ॥
जिज्ञासेयं प्रयुक्ता मे स्थिरीकर्तुं तवानघ।
अव्युत्थानेन ते लोका जिताः सत्यपराक्रम ॥ ४ ॥

धारिणी कन्या मेरे निकट उपस्थित हुई है, इसका यह परम सुन्दर रूप पहले किस प्रकार जीर्ण हुआ था। इस समय तो इसे कन्या रूपसे देखता हूं, इसके अनन्तर न जाने क्या होगा? मुझे जो काम दमन करनेकी सामर्थ्य है उस धीरजसे मैं किसी प्रकार विचलित न होकर पहले प्राप्त हुई कन्याको परित्याग न करूंगा, पूर्वप्राप्तको परित्याग करनेमें मेरी रुचि नहीं होती; इसलिये मैं सत्य धर्मके सहारे दारपरिग्रह करूंगा। (२३—२६)

अनुशासनपर्वमें २० अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें २१ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! वह स्त्री परमतेजस्वी अष्टावक्रके शापसे क्यों न डरी और भगवान् अष्टावक्र किस प्रकार वहांसे निवृत्त हुए, यह वृत्तान्त आप मेरे समीप वर्णन करिये। (१)

भीष्म बोले, अष्टावक्रने उस स्त्रीसे पूछा, कि तुम किस प्रकार रूप पलटती हो? मिथ्या न कहना, ब्राह्मणके मान रखनेके लिये सत्य कहो। (२)

स्त्री बोली, हे ब्राह्मणसत्तम! द्युलोक अथवा भूलोकके जिस किसी स्थानमें निवास करे, उस ही स्थानमें स्त्री-पुरुषोंका परस्पर ऐसा ही अभिप्राय है। हे सत्यविक्रम! सावधान होकर यह समस्त विषय सुनो। हे निष्पाप! तुम्हें स्थिर करनेके लिये मैं इस प्रकार परीक्षा करती थी। हे सत्यपराक्रम! पूर्वप्रतिज्ञा

उत्तरां मां दिशं विद्धि दृष्टं स्त्रीचापलं च ते।
स्थविराणामपि स्त्रीणां बाधते मैथुनज्वरः ॥ ५ ॥
तुष्टः पितामहस्तेऽद्य तथा देवाः सवासवाः।
स त्वं येन च कार्येण संप्राप्तो भगवानिह ॥ ६ ॥
प्रेषितस्तेन विप्रेण कन्यापित्रा द्विजर्षभ।
तवोपदेशं कर्तुं वै तच्च सर्वं कृतं मया ॥ ७ ॥
क्षेमैर्गमिष्यसि गृहं श्रमश्च न भविष्यति।
कन्यां प्राप्स्यसि तां विप्र पुत्रिणी च भविष्यति ॥ ८ ॥
काम्यया पृष्टवांस्त्वं मां ततो व्याहृतमुत्तमम्।
अनतिक्रमणीया सा कृत्स्नैर्लोकैस्त्रिभिः सदा ॥ ९ ॥
गच्छस्व सुकृतं कृत्वा किं चान्यच्छ्रोतुमिच्छसि।
यावद्ब्रवीमि विप्रर्षे अष्टावक्र यथातथम् ॥ १० ॥
ऋषिणा प्रसादिता चाऽस्मि तव हेतोर्द्विजर्षभ।
तस्य संमाननार्थं मे त्वयि वाक्यं प्रभाषितम् ॥ ११॥
भीष्म उवाच- श्रुत्वा तु वचनं तस्याः स विप्रः प्राञ्जलिः स्थितः।

का परित्याग न करनेसे तुमने सब लोकोंको जय किया है। मुझे उत्तर दिशा जानो; स्त्रियोंकी चपलता भी तुम्हें प्रत्यक्ष मालूम हुई। मैथुनज्वर वृद्धा स्त्रियोंको भी पीडित करता है। इस समय प्रजापति तुमपर प्रसन्न हुए तथा इन्द्रके सहित सब देवता तुम पर प्रसन्न हैं। हे द्विजवर! तुम जिस कार्य के लिये इस स्थानमें आये तथा उस कन्याके पिता वदान्य विप्रके द्वारा जिस निमित्त मेरे समीप आये हो, तुम्हें उपदेश करनेके लिये मैंने उन्हीं कार्यों का अनुष्ठान किया। (३—७)

तुम उत्तम रीतिसे मङ्गलपूर्वक घर जाओ, तुम्हें कुछ भी श्रम न होगा, हे विप्र! तुम उस कन्याको पाओगे और वह पुत्रवती होगी। तुमने मान-लिप्साके निमित्त मुझसे प्रश्न किया, इस ही लिये मैंने उत्तम रीतिसे वर्णन किया; ब्राह्मण कामना तीनों लोकमें सब लोगोंको ही सदा अनतिक्रमणीय है। हे विप्रर्षि अष्टावक्र! इस समय पुण्यसञ्चय करके गमन करो और क्या सुननेकी अभिलाष है, मैं वह भी यथार्थ रीतिसे कहती हूं। हे द्विजवर! मैं तुम्हारे निमित्त ऋषिके द्वारा प्रसादिता हुई हूं, उनके सम्मानके लिये तुमसे यह कथा कही है। (८—११)

अनुज्ञातस्तया चापि स्वगृहं पुनराव्रजत् ॥ १२ ॥
गृहमागत्य विश्रान्तः स्वजनं परिपृच्छ्य च ।
अभ्यगच्छच्च तं विप्रं न्यायतः कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
पृष्टश्च तेन विप्रेण दृष्टं त्वेतन्निदर्शनम् ।
प्राह विप्रं तदा विप्रः सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ १४ ॥
भवता समनुज्ञातः प्रस्थितो गन्धमादनम् ।
तस्य चोत्तरतो देशे दृष्टं मे दैवतं महत् ॥ १५ ॥
तया चाहमनुज्ञातो भवांश्चापि प्रकीर्तितः ।
श्रावितश्चापि तद्वाक्यं गृहं चाभ्यागतः प्रभो ॥ १६ ॥
तमुवाच तदा विप्रः सुतां प्रतिगृहाण मे ।
नक्षत्रविधियोगेन पात्रं हि परमं भवान् ॥ १७ ॥
भीष्म उवाच- अष्टावक्रस्तथेत्युक्त्वा प्रतिगृह्य च तां प्रभो ।
कन्यां परमधर्मात्मा प्रीतिमांश्चाभवत्तदा ॥ १८ ॥
कन्यां तां प्रतिगृह्यैव भार्यां परमशोभनाम् ।
उवास मुदितस्तत्र स्वाश्रमे विगतज्वरः ॥ १९ ॥ [१५११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि अष्टावक्रदिक्संवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

भीष्म बोले, कि वह विप्रवर! उसका वचन सुनके हाथ जोडके खडा हुए और उसकी आज्ञा पाके फिर अपने स्थानमें लौट आये। हे कुरुनन्दन! उन्होंने घरमें आके विश्राम कर स्वजनोंसे कुशल प्रश्न करके न्यायपूर्वक उस ब्राह्मणके समीप गमन किया। उस समय वह वदान्य विप्रको देखकर पूछने पर समस्त वृत्तान्त कहने लगे। उन्होंने कहा, मैं आपकी आज्ञानुसार गन्धमादन पर्वत पर जाके उसकी उत्तर ओर एक उत्तम महती देवीका दर्शन किया। मैंने उससे अनुज्ञात होकर आपका नाम सुनाया। हे प्रभु! उसका वचन सुनके फिर निज स्थान पर लौट आया। तब विप्रवर वदान्य उनसे बोले, तुम उत्तम पात्र हो, इसलिये नक्षत्र और वेदविधिके अनुसार मेरी कन्याका पाणि ग्रहण करो। (१२-१७)

भीष्म बोले, हे महाराज! परम धर्मात्मा अष्टावक्र उस समय "ऐसा ही होवे" यह कहके उस कन्याको ग्रहण करके अत्यन्त प्रीतियुक्त हुए। वह द्विजवर उस परम सुन्दरी कन्या-

युधिष्ठिर उवाच— किमाहुर्भरतश्रेष्ठ पात्रं विप्राः सनातनाः।
ब्राह्मणं लिङ्गिनं चैव ब्राह्मणं वाऽप्यलिङ्गिनम् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— स्ववृत्तिमभिपन्नाय लिङ्गिने चेतराय च।
देयमाहुर्महाराज उभावेतौ तपस्विनौ ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच— श्रद्धया परयाऽपूतो यः प्रयच्छेद् द्विजातये।
हव्यं कव्यं तथा दानं को दोषः स्यात्पितामह ॥ ३ ॥
भीष्म उवाच— श्रद्धापूतो नरस्तात दुर्दान्तोऽपि न संशयः।
पूतो भवति सर्वत्र किमुत त्वं महाद्युते ॥ ४ ॥
युधिष्ठिर उवाच— न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवेषु सततं नरः।
कव्यप्रदाने तु बुधाः परीक्ष्यं ब्राह्मणं विदुः ॥ ५ ॥
भीष्म उवाच— न ब्राह्मणः साधयते हव्यं दैवात्प्रसिद्ध्यति।

को भार्यारूपसे प्रतिग्रह करके शोक-रहित और प्रसन्न होके अपने आश्रम-में सुखपूर्वक वास करने लगे। १८-१९

अनुशासनपर्वमें २१ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें २२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ! सनातन ब्राह्मण लोग यति, ब्रह्मचारी ब्रह्मवित् ब्राह्मणको अथवा दण्डादि चिन्हधारी संन्यासीको पात्र कहा करते हैं। (१)

भीष्म बोले, हे महाराज! प्राचीन लोग जीविकानिर्वाहके लिये निज वृत्ति अवलम्बन करनेवाले दण्डादि चिन्हधारी वा अचिन्हित स्वधर्मजीवी ब्राह्मण इन दोनोंको ही दानके पात्र कहते हैं, क्यों कि ये दोनों ही तपस्वी हैं। (२)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! अप-वित्र पुरुष यदि परम श्रद्धापूर्वक द्विजातिको हव्यकव्य दान करे, तो उस दानमें क्या दोष होता है, उसे आप वर्णन करिये। (३)

भीष्म बोले, हे महातेजस्वी तात! नीच मनुष्य भी यदि श्रद्धाके द्वारा पवित्र हो, तब वह अवश्य ही सब ठौर पवित्र है, इसमें सन्देह नहीं है; श्रद्धाही उसे पवित्र करती है। (४)

युधिष्ठिर बोले, मनुष्य सदा देव-कर्ममें ब्राह्मणकी परीक्षा न करे, हव्य-प्रदानके समय अर्थात् पितृकर्ममें ब्राह्मणकी परीक्षा करनी चाहिये; पण्डित लोग ऐसा ही कहा करते हैं; देवताओंकी श्रद्धाप्रियत्व निबन्धनसे दैवकर्म देवताओंकी कृपासेही पूर्ण होता है, और पितृकर्म ब्राह्मणकी कृपासे सिद्ध हुआ करता है। (५)

भीष्म बोले, ब्राह्मण कभी दैवकार्य

देवप्रसादादिज्यन्ते यजमानैर्न संशयः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणान् भरतश्रेष्ठ सततं ब्रह्मवादिनः ।
मार्कण्डेयः पुरा प्राह इति लोकेषु बुद्धिमान् ॥ ७ ॥
युधिष्ठिर उवाच– अपूर्वोऽप्यथवा विद्वान् संबन्धी वा यथा भवेत् ।
तपस्वी यज्ञशीलो वा कथं पात्रं भवेत्तु सः ॥ ८ ॥
भीष्म उवाच– कुलीनः कर्मकृद्वैद्यस्तथैवाप्यानृशंस्यवान् ।
ह्रीमानृजुः सत्यवादी पात्रं पूर्वे च ये त्रयः ॥ ९ ॥
तत्रेमं शृणु मे पार्थ चतुर्णां तेजसां मतम् ।
पृथिव्याः काश्यपस्याग्नेर्मार्कण्डेयस्य चैव हि ॥ १० ॥
पृथिव्युवाच— यथा महार्णवे क्षिप्तः क्षिप्रं लेष्टुर्विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं त्रिवृत्त्यां च निमज्जति ॥ ११ ॥
काश्यप उवाच– सर्वे च वेदाः सह षड्भिरङ्गैः सांख्यं पुराणं च कुले च जन्म ।
नैतानि सर्वाणि गतिर्भवन्ति शीलव्यपेतस्य नृप द्विजस्य ॥ १२ ॥

सिद्ध नहीं करते; वह देवताओंकी कृपासे ही सिद्ध होता है, देवताओंके प्रसादसे यजमान यज्ञ किया करते हैं; इसमें सन्देह नहीं है। हे भरतश्रेष्ठ! पितर पितामह आदि पूजनीय ब्रह्मिष्ठ लोगोंके बीच धी-शक्तिसम्पन्न मार्कण्डेयने पहले समयमें ब्राह्मणोंको ही ब्रह्मवादी कहा था। (६—७)

युधिष्ठिर बोले, अपूर्व अर्थात् पूर्वापरिचित विद्वान्, सम्बन्धी, तपस्वी अथवा यज्ञशील, ये किस प्रकार दानके पात्र होंगे। (८)

भीष्म बोले, पहले जो तुमने तीन पात्रोंका उल्लेख किया है, अर्थात् अपूर्व विद्वान् और किसी प्रकारके सम्बन्धसे युक्त, ये यदि कुलीन, कर्मठ, वेदवित् अनृशंस, लज्जाशील, सरल और सत्यवादी हों, तभी दानके पात्र हुआ करते हैं, तपस्वी और यज्ञशील भी अवश्य ही दानके पात्र होंगे। हे पार्थ! इस विषयमें पृथ्वी, काश्यप, अग्नि और मार्कण्डेय, इन तेजस्वी अर्थात् सर्वज्ञ-चतुष्टयका मत सुनो। (९-१०)

पृथ्वीने कहा है, जैसे समुद्रमें फेंकनेसे पांसुपिण्ड शीघ्र ही विनष्ट होता है, वैसे ही जो याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह, इन तीनों वृत्तियोंके द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, उनके समीप सब दुश्चरित निमग्न हुआ करते हैं। हे महाराज! काश्यपने कहा है, षडङ्गोंके सहित सब वेद, सांख्य, पुराण और सत्कुलमें जन्म इन सदा-

अग्निरुवाच- अधीयानः पण्डितं मन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम्।
प्रभ्रश्यतेऽसौ चरते न सत्यं लोकास्तस्य ह्यन्तवन्तो भवन्ति ॥ १३ ॥
मार्कण्डेय उवाच—अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
नाभिजानामि यज्ञस्य सत्यस्यार्धमवाप्नुयात् ॥ १४ ॥
भीष्म उवाच— इत्युक्त्वा ते जग्मुराशु चत्वारोऽमिततेजसः।
पृथिवी काश्यपोऽग्निश्च प्रकृष्टायुश्च भार्गवः ॥ १५ ॥
युधिष्ठिर उवाच- यदि ते ब्राह्मणा लोके व्रतिनो भुञ्जते हविः।
दत्तं ब्राह्मणकामाय कथं तत्सुकृतं भवेत् ॥ १६ ॥
भीष्म उवाच- आदिष्टिनो ये राजेन्द्र ब्राह्मणा वेदपारगाः।
भुञ्जते ब्रह्मकामाय व्रतलुप्ता भवन्ति ते ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर उवाच- अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः।
किं निमित्तं भवेदत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १८ ॥

चारोंसे भ्रष्ट द्विजोंमें प्रतिग्रह नहीं होता। अग्निने कहा है, जो पुरुष पढके अपनेको पण्डित समझता है और जो विद्याके सहारे दूसरेके यशको नष्ट करता है, वह पुरुष सत्य आचरण नहीं करता, इसहीसे भ्रष्ट होता है और उसके सब लोक नष्ट हुआ करते हैं। मार्कण्डेयने कहा है, सहस्र अश्वमेध और एकमात्र सत्य यदि तुलादण्डपर तौले जांय, तो सहस्र अश्वमेध सत्यके आधे फलके समान होगा, वा नहीं इसे मैं कह नहीं सकता; इसलिये इन गुणोंके एकतमके अभावसे पात्रत्व नहीं होता। (११-१४)

भीष्म बोले, अत्यन्त तेजस्वी पृथ्वी, काश्यप, अग्नि और चिरायु भृगुनन्दन मार्कण्डेय, इन चारोंने पूर्वोक्त वचन कहके गमन किया था। (१५)

युधिष्ठिर बोले, ब्रह्मचर्य व्रतमें रत रहनेवाले ब्राह्मण लोग जो यह हवि भोजन करते हैं, ब्राह्मणको कामार्थ प्रदत्त उस हविके द्वारा उसके व्रत नाशनिबन्धनसे किस प्रकार सुकृत होता है ? (१६)

भीष्म बोले, हे राजेन्द्र ! बारह वर्षतक ब्रह्मचर्य व्रत करनेवाले, वेद- पारग विप्र यदि ब्राह्मणकी कामनावशसे श्राद्धका अन्न भोजन करे, तो उसका व्रत नष्ट होगा। (१७)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! पण्डित लोग धर्मको अनेकान्त अर्थात् अनेक फलाकार और बहुद्वार कहा करते हैं, इसलिये इस विषयमें किस प्रकार निष्ठाकी जा सकती है। आप मुझसे

भीष्म उवाच– अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥ १९ ॥
ये तु धर्मं प्रशंसन्तश्चरन्ति पृथिवीमिमाम्।
अनाचरन्तस्तद्धर्मं संकरेऽभिरताः प्रभो ॥ २० ॥
तेभ्यो हिरण्यं रत्नं वा गामश्वं वा ददाति यः।
दश वर्षाणि विष्ठां स भुङ्क्ते निरयमाश्रितः॥ २१ ॥
मेदानां पुल्कसानां च तथैवान्तेऽवसायिनाम्।
कृतं कर्माकृतं वापि रागमोहेन जल्पताम् ॥ २२ ॥
वैश्वदेवं च ये मूढा विप्राय ब्रह्मचारिणे।
ददते नेह राजेन्द्र ते लोकान् भुञ्जतेऽशुभान् ॥ २३ ॥
युधिष्ठिर उवाच– किं परं ब्रह्मचर्यं च किं परं धर्मलक्षणम्।
किं च श्रेष्ठतमं शौचं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २४ ॥
भीष्म उवाच– ब्रह्मचर्यात्परं तात मधुमांसस्य वर्जनम्।
मर्यादायां स्थितो धर्मः शमश्चैवास्य लक्षणम् ॥ २५ ॥

वही कहिये। (१८)

भीष्म बोले, हे राजेन्द्र! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अनृशंसता, दम और आर्जव, ये कई एक धर्मके लक्षण कहके निश्चित हुए हैं। जो लोग धर्मकी प्रशंसा करते हुए इस पृथ्वीपर विचरते हैं, वे लोग यदि उस धर्मके अनाचरणमें प्रवृत्त होते हैं, तो सङ्करकार्यमें अभिरत कहके वर्णित हुआ करते हैं। जो निरयनिष्ठ मनुष्य उन्हें सुवर्ण, रत्न गऊ अथवा अश्वदान करता है, वह दश वर्षतक विष्ठा भक्षण किया करता है। जो ब्राह्मण होके भी राग अथवा मोहके वशमें होकर दूसरेके किये वा बिना किये हुए पापकर्मको प्रकाशित करते हैं, वे मृत गऊ, भैंस आदिके मांसको भक्षण करनेवाले मेद जाति और स्वाभाविक ब्राह्मण आदिकी हिंसा करनेवाले पुल्कश जातिकी भांति गिने जाते हैं। हे राजेन्द्र! जो मूढ पुरुष ब्रह्मचारी विप्रको वैश्वदेव बलि प्रदान नहीं करते, वे अशुभ लोकोंको भोग किया करते हैं। (१९-२३)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! ब्रह्मचर्यमें श्रेष्ठता क्या है? धर्मका उत्तम लक्षण कौनसा है? और श्रेष्ठ पवित्रता किसे कहते हैं? इसे ही आप मेरे निकट वर्णन करिये। (२४)

भीष्म बोले, हे तात! मधु-मांस परित्याग करना ही ब्रह्मचर्यमें श्रेष्ठ है,

युधिष्ठिर उवाच— कस्मिन्काले चरेद्धर्मं कस्मिन्कालेऽर्थमाचरेत्।
कस्मिन्काले सुखी च स्यात्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥२६॥
भीष्म उवाच— कल्यमर्थं निषेवेत ततो धर्ममनन्तरम्।
पश्चात्कामं निषेवेत न च गच्छेत्प्रसङ्गिताम् ॥ २७ ॥
ब्राह्मणांश्चैव मन्येत गुरूंश्चाप्यभिपूजयेत्।
सर्वभूतानुलोमश्च मृदुशीलः प्रियंवदः ॥ २८ ॥
अधिकारे यदनृतं यच्च राजसु पैशुनम्।
गुरोश्चालीककरणं तुल्यं तद्ब्रह्महत्यया ॥ २९ ॥
प्रहरेन्न नरेन्द्रेषु न हन्याद्गां तथैव च।
भ्रूणहत्यासमं चैव उभयं यो निषेविते ॥ ३० ॥
नाग्निं परित्यजेज्जातु न च वेदान् परित्यजेत्।
न च ब्राह्मणमाक्रोशेत्समं तद्ब्रह्महत्यया ॥ ३१ ॥
युधिष्ठिर उवाच— कीदृशाः साधवो विप्राः केभ्यो दत्तं महाफलम्।
कीदृशानां च भोक्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३२ ॥

विषयोंसे इन्द्रियोंको निवृत्त रखना ही सबसे श्रेष्ठ है, पवित्रता और मर्यादाके अन्तर्गत धर्मका लक्षण ही उत्कृष्ट है। (२५)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! किस समय धर्माचरण करे? किस समय अर्थ व्यवहार करे और किस समयमें सुखी होवे? आप मुझसे येही विषय कहिये। (२६)

भीष्म बोले प्रातःकालमें अर्थसेवा करे, फिर धर्माचरण करे उसके अनन्तर कामकी सेवा करके सुखी हो, परन्तु उसमें आसक्त न होवे, ब्राह्मणोंका मान करे, गुरुओंका सम्मान करे, सब प्राणियोंके अनुकूल रहके मृदुस्वभाव और प्रियवादी होवे, अधिकारके बीच मिथ्या व्यवहार, राजकुलमें चुगली और गुरुजनोंके निकट अलीक व्यवहार करना ब्रह्महत्याके समान है। राजाके ऊपर प्रहार न करे, गऊको न मारे; जो पुरुष ऊपर कहे हुए दोनों कार्योंको करता है, उसे भ्रूणहत्याके समान पाप होता है। अग्निको कभी परित्याग न करे, वेदको कभी न त्यागे। ब्राह्मणोंके विषयमें डाह न करे, आक्रोश करनेसे ब्रह्महत्याके समान पाप होता है। (२७—३१)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! कैसे ब्राह्मण साधु कहाते हैं? किन लोगोंको दान देनेसे महाफल होता है और किस

भीष्म उवाच- अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः ।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥३३॥
अमानिनः सर्वसहा दृढार्था विजितेन्द्रियाः ।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३४ ॥
अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः ।
स्वकर्मनिरता ये च तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ३५ ॥
साङ्गांश्च चतुरो वेदानधीते यो द्विजर्षभः ।
षड्भ्यः प्रवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥ ३६ ॥
ये त्वेवं गुणजातीयास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ।
सहस्रगुणमाप्नोति गुणार्हाय प्रदायकः ॥ ३७ ॥
प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः ।
तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजर्षभः ॥ ३८ ॥
गामश्वं वित्तमन्नं वा तद्विधे प्रतिपादयेत ।
द्रव्याणि चान्यानि तथा प्रेत्यभावे न शोचति ॥३९॥

प्रकारके ब्राह्मणोंको भोजन कराना उचित है ? आप मुझे इस ही विषयका उपदेश करिये । (३२)

भीष्म बोले, जो लोग क्रोधरहित, धर्मपरायण, सत्यमें रत और इन्द्रियोंको दमन करनेमें तत्पर हैं, वेही उत्तम ब्राह्मण हैं, वैसे ही ब्राह्मणोंको दान करनेसे महत् फल होता है । जो लोग, अभिमानी नहीं हैं, सब कुछ सहते, दृढप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय और सब प्राणियोंके हितमें रत रहते तथा सबकी शुभ-कामना किया करते हैं, उन्हें दान करनेसे महत् फल होता है । जो लोग लोभरहित, शुचि, वेदज्ञ लज्जाशील और सत्यवादी तथा निज कर्ममें रत रहते हैं, उन्हें ही दान करनेसे महाफल हुआ करता है । जो ब्राह्मण अङ्गसहित चारों वेदोंको पढते और यजन, याजन आदि षट्कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं; ऋषि लोग उन्हें ही दानका पात्र कहा करते हैं । (३३—३६)

जो लोग ऊपर कहे हुए गुणोंसे युक्त हों, उन्हें दान करनेसे महाफल होता है । गुणी पात्रको दान करनेसे दाताको सहस्र गुण फल प्राप्त होता है । बुद्धि, शास्त्र, ज्ञान, सच्चरित्र और शील-सम्पन्न एक ब्राह्मण भी समस्त कुलका उद्धार करनेमें समर्थ है; वैसे ब्राह्मणको गऊ, घोडे, अर्थ, अन्न तथा दूसरी समस्त वस्तु दान करना चाहिये, ऐसा

तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजोत्तमः ।
किमङ्ग पुनरेवैते तस्मात्पात्रं समाचरेत् ॥ ४० ॥
निशम्य च गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसंमतम् ।
दूरादानाय्य सत्कृत्य सर्वतश्चापि पूजयेत् ॥ ४१ ॥ [१५५२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि बहुप्राश्निके द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर उवाच- श्राद्धकाले च दैवे च पित्र्येऽपि च पितामह ।
इच्छामीह त्वयाऽऽख्यातं विहितं यत्सुरर्षिभिः ॥१॥
भीष्म उवाच- दैवं पौर्वाह्णिकं कुर्यादपराह्णे तु पैतृकम् ।
मङ्गलाचारसंपन्नः कृतशौचः प्रयत्नवान् ॥ २ ॥
मनुष्याणां तु मध्याह्ने प्रदद्यादुपपत्तिभिः ।
कालहीनं तु यद्दानं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ३ ॥
लङ्घितं चावलीढं च कलिपूर्वं च यत्कृतम् ।
रजस्वलाभिर्दृष्टं च तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ४ ॥
अवघुष्टं च यद्भुक्तमव्रतेन च भारत ।

करनेसे परलोकमें शोक नहीं करना पडता । इस लोकमें जब एक ही उत्तम ब्राह्मण समस्त कुलका उद्धार करता है, तब जो अनेक ब्राह्मण उद्धार करेंगे, उसमें सन्देह ही क्या है? इसलिये पात्रका विचार करके दान करना उचित है । साधुसंमत, गुणयुक्त ब्राह्मणका नाम सुननेसे ही उसे दूर देशसे लाके सत्कार करके सब प्रकार उसकी पूजा करे । (३७—४१)

अनुशासनपर्वमें २२ अध्याय समाप्त ।

अनुशासनपर्वमें २३ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! दैव और पितर श्राद्धके समय देवर्षियोंके द्वारा जिस प्रकार विहित हुए हैं, उसे आप वर्णन करिये, मैं इसे ही सुननेकी अभिलाष करता हूं । (१)

भीष्म बोले, मङ्गलाचारसम्पन्न, पवित्रतायुक्त, यत्नवान् मनुष्य पूर्वाह्णमें देवकार्य और अपराह्णमें पितृकार्य करे और मध्यान्ह कालमें आदरयुक्त होके मनुष्योंको दान करे । जो दान समयसे रहित होता है, उसे पण्डित लोग राक्षसोंका भाग समझते हैं । जो पांवसे लंघित है, जीभसे चाटा जाता, कलहसे बनता और जिसे रजस्वला स्त्री देखती है, धीर लोग उसे राक्षसोंका अंश समझते हैं । हे भारत ! घोषणा (ढिंढोरा)

परामृष्टं शुना चैव तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ५ ॥
केशकीटावपतितं क्षुतं श्वभिरवेक्षितम् ।
रुदितं चावधूतं च तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ६ ॥
निरोङ्कारेण यद्भुक्तं सशस्त्रेण च भारत ।
दुरात्मना च यद्भुक्तं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ७ ॥
परोच्छिष्टं च यद्भुक्तं परिभुक्तं च यद्भवेत् ।
दैवे पित्र्ये च सततं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ८ ॥
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यच्छ्राद्धं परिविष्यते ।
त्रिभिर्वर्णैर्नरश्रेष्ठ तं भागं रक्षसां विदुः ॥ ९ ॥
आज्याहुतिं विना चैव यत्किंचित्परिविष्यते ।
दुराचारैश्च यद्भुक्तं तं भागं रक्षसां विदुः ॥ १० ॥
ये भागा रक्षसां प्रोक्तास्त उक्ता भरतर्षभ ।
अत ऊर्ध्वं विसर्गस्य परीक्षां ब्राह्मणे शृणु ॥ ११ ॥
यावन्तः पतिता विप्रा जडोन्मत्तास्तथैव च ।

के द्वारा जो अन्न दान किया जाता है, जिसे व्रतहीन पुरुष भोजन किया करते हैं, और जिस अन्नको कुत्तेने स्पर्श किया हो, पण्डित लोग उस अन्नको राक्षसोंका भाग समझते हैं। (२-५)

जो अन्न केश, कीट आदिसे युक्त, क्षुतसे दूषित तथा अवज्ञाके हेतुसे बना हो, धीर पुरुष उसे राक्षसोंका भाग समझते हैं। हे भारत ! अनजुल्लात अथवा जो शूद्र, शस्त्रजीवी और दुष्टात्मा मनुष्योंके द्वारा उपभुक्त हुआ करता है, धीर पुरुषोंने उसे राक्षसोंका भाग कहा है। जो दूसरेका जूठा भोजन किया जाता है और जो देवता, अतिथि तथा बालकोंको न देकर स्वयं भोजन किया जाता है, दैव और पितृकार्यमें वह सदा राक्षसोंका भाग कहके विदित हुआ करता है, हे नरश्रेष्ठ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णोंके द्वारा मन्त्रहीन और क्रियारहित जो श्राद्धकी वस्तु परिवेषित होती है, पण्डित लोग उसे राक्षसोंका भाग समझते हैं। घृतकी आहुतिके अतिरिक्त जो कुछ वस्तु परिवेषित होती है और जिसे दुराचारी मनुष्य भोजन किया करते हैं, उसे धीर पुरुषोंने राक्षसोंका भाग कहा है। हे भरतश्रेष्ठ ! राक्षसोंके जो भाग थे, वह सब कहे गये, अब पात्रभूत ब्राह्मणोंके विषयमें दानकी परीक्षा सुनिये। (६-११)

दैवे वाऽप्यथ पित्र्ये वा राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ १२ ॥
श्वित्री क्लीबश्च कुष्ठी च तथा यक्ष्महतश्च यः ।
अपस्मारी च यश्चान्धो राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ १३ ॥
चिकित्सका देवलका वृथा नियमधारिणः ।
सोमविक्रयिणश्चैव राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ १४ ॥
गायना नर्तकाश्चैव प्लवका वादकास्तथा ।
कथका योधकाश्चैव राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ १५ ॥
होतारो वृषलानां च वृषलाध्यापकास्तथा ।
तथा वृषलशिष्याश्च राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ १६ ॥
अनुयोक्ता च यो विप्र अनुयुक्तश्च भारत ।
नार्हतस्तावपि श्राद्धं ब्रह्मविक्रयिणौ हि तौ ॥ १७ ॥
अग्रणीर्यः कृतः पूर्वं वर्णावरपरिग्रहः ।
ब्राह्मणः सर्वविद्योऽपि राजन्नार्हति केतनम् ॥ १८ ॥
अनग्नयश्च ये विप्रा मृतनिर्यातकाश्च ये ।
स्तेनाश्च पतिताश्चैव राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ १९ ॥

हे महाराज ! जो सब ब्राह्मण पतित अर्थात् महापातक करनेसे जातिसे बाहर किये गये हैं, तथा जो जड वा उन्मत्त हैं, वे दैव अथवा पितृकार्यमें निमन्त्रण के योग्य नहीं हैं । हे महाराज ! श्वेत-कुष्ठी, क्लीब, मण्डलकुष्ठी और जो पुरुष यक्ष्मारोगसे आक्रान्त, अपस्मार रोगसे ग्रस्त तथा अन्धे हैं, वे निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं । हे राजन् ! जो सब ब्राह्मण चिकित्सक, देवल अर्थात् देवार्चन वृत्तिजीवी, वृथा नियमधारी और सोमविक्रयी हैं, वे भी निमन्त्रण के योग्य नहीं हैं । गाने, नाचने, कूदने, बजानेवाले, कथक (वृथा-लापी) और योधक पुरुष भी निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं । हे महाराज ! जो ब्राह्मण शूद्रोंके याजक, अध्यापक तथा उनके सेवक हैं, वे भी निमन्त्रण-के योग्य नहीं हैं । हे भारत ! जो ब्राह्मण अनुयोक्ता अर्थात् वेतन लेकर वेद पढे, वे दोनों ही वेद बेचनेवाले हैं । जो ब्राह्मण पहले सबमें अग्रणी रहे हों और पीछे हीन वर्णवाली शूद्रास्त्री-को परिग्रह करे, वह सर्वविद्या सम्पन्न होनेपर भी श्राद्धकालमें निमन्त्रणके योग्य नहीं हो सकता। १२–१८)

हे महाराज ! जो सब ब्राह्मण श्रौत-स्मार्त कर्मसे रहित हैं, जो मृतकोंका

अपरिज्ञानपूर्वांश्च गणपूर्वांश्च भारत।
पुत्रिकापूर्वपुत्रांश्च श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ २० ॥
ऋणकर्ता च यो राजन्यश्च वार्धुषिको नरः।
प्राणिविक्रयवृत्तिश्च राजन्नार्हन्ति केतनम् ॥ २१ ॥
स्त्रीपूर्वाः काण्डपृष्ठाश्च यावन्तो भरतर्षभ।
अजपा ब्राह्मणाश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥ २२ ॥
श्राद्धे दैवे च निर्दिष्टो ब्राह्मणो भरतर्षभ।
दातुः प्रतिग्रहीतुश्च शृणुष्वानुग्रहं पुनः ॥ २३ ॥
चीर्णव्रता गुणैर्युक्ता भवेयुर्येऽपि कर्षकाः।
सावित्रीज्ञाः क्रियावन्तस्ते राजन्केतनक्षमाः ॥ २४ ॥
क्षात्रधर्मिणमप्याजौ केतयेत्कुलजं द्विजम्।
न त्वेव वणिजं तात श्राद्धे च परिकल्पयेत् ॥ २५ ॥
अग्निहोत्री च यो विप्रो ग्रामवासी च यो भवेत्।

दान लेते और निज कर्मसे भ्रष्ट तथा पतित हैं, वे लोग भी निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं। हे भारत! जो मनुष्य पहले अपरिज्ञात, गणपूर्व अर्थात् नीच स्वभाव और पुत्रिकापुत्र अर्थात् "इस कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह मेरा कहावेगा," ऐसा नियम करके जो कन्या दान की जाती है, उससे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह पितृगोत्रसे भ्रष्ट होकर मातृगोत्रोपजीवी होनेसे निन्दनीय होता है, इसलिये ऐसे पुरुष भी श्राद्धमें निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं। हे राजन्! जो मनुष्य ऋणकर्त्ता, कुसीदजीवी और प्राणियोंको बेचकर जीवनका समय बिताता है, वह श्राद्धकालमें निमन्त्रित नहीं हो सकता। हे भरतश्रेष्ठ! जो लोग स्त्रीजित तथा स्त्रीपण्योपजीवी, वेश्यापति और सन्ध्यावन्दनसे रहित हैं, वे ब्राह्मण श्राद्धमें निमन्त्रणके योग्य नहीं हैं। (१९-२२)

हे भरतश्रेष्ठ! दैव और पितृश्राद्धके समय जो ब्राह्मण निर्दिष्ट होते तथा दाता और गृहीताके सम्बन्धमें जो अभ्यनुज्ञात हैं, इस समय उसे सुनो। हे महाराज! जो व्रताचरण किया करते, गुणयुक्त और कर्षक, गायत्रीज्ञ और क्रियावान् हैं, वेही श्राद्धमें निमन्त्रणके योग्य हैं। युद्धमें क्षात्रधर्म युक्त होनेपर भी कुलीन ब्राह्मणको निमन्त्रण करे। हे तात! परन्तु वणिक्वृत्तिवाले ब्राह्मणोंको श्राद्धमें निमन्त्रण न करे, जो ब्राह्मण अग्निहोत्री तथा जो ग्राम-

अस्तेनश्चातिथिज्ञश्च स राजन्केतनक्षमः ॥ २६ ॥
सावित्रीं जपते यस्तु त्रिकालं भरतर्षभ।
भिक्षावृत्तिः क्रियावांश्च स राजन्केतनक्षमः ॥ २७ ॥
उदितास्तमितो यश्च तथैवास्तमितोदितः।
अहिंस्रश्चाल्पदोषश्च स राजन्केतनक्षमः ॥ २८ ॥
अकल्कको ह्यतर्कश्च ब्राह्मणो भरतर्षभ।
संसर्गे भैक्ष्यवृत्तिश्च स राजन्केतनक्षमः ॥ २९ ॥
अव्रती कितवः स्तेनः प्राणिविक्रयिको वणिक्।
पश्चाच्च पीतवान्सोमं स राजन्केतनक्षमः ॥ ३० ॥
अर्जयित्वा धनं पूर्वं दारुणैरपि कर्मभिः।
भवेत्सर्वातिथिः पश्चात्स राजन्केतनक्षमः ॥ ३१ ॥
ब्रह्मविक्रयनिर्दिष्टं स्त्रिया यच्चार्जितं धनम्।
अदेयं पितृविप्रेभ्यो यच्च क्लैब्यादुपार्जितम् ॥ ३२ ॥
क्रियमाणेऽपवर्गे च यो द्विजो भरतर्षभ।

वासी हुआ करते हैं और जो अस्तेय अर्थात् कभी दूसरोंकी वस्तु हरण नहीं करते तथा जो लोग अतिथिज्ञ हैं, वेही श्राद्धमें निमन्त्रणके योग्य हैं। जो ब्राह्मण त्रिकाल गायत्रीका जप करते और भिक्षावृत्ति अवलंबन करके भी क्रियावान हैं, वेही निमन्त्रणके योग्य हैं। हे राजन्! जो ब्राह्मण पहले दरिद्र रहके फिर समृद्धिमान हो, जो अहिंसक और अविद्यत्वादि दोषोंसे रहित हो, वही श्राद्धमें निमंत्रणके योग्य है। हे भरतश्रेष्ठ जो अदांभिक और अतर्की हैं, तथा सम्पत्तिसम्पन्न गृहमें भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके जीवनका समय व्यतीत करते हैं, वेही श्राद्धके समय निमन्त्रणके योग्य हैं। (२३--२९)

हे भरतश्रेष्ठ! हे राजन्! जो ब्राह्मण अव्रती, धूर्त्त, अपहारक, प्राणिविक्रयी और वणिक्वृत्तिसे युक्त होके भी देवताओंको दान करके पश्चात् सोमपान करता है, वह भी श्राद्धकालमें निमन्त्रणके योग्य हैं। हे राजन्! पहले दारुण कर्मोंसे धनोपार्जन करके पीछे सर्वातिथि होता है, वह भी श्राद्धकालमें निमन्त्रणके योग्य है। वेद बेचके जो धन प्राप्त होता है, जो धन स्त्रियोंके द्वारा उपार्जित हुआ करता है और दीन वचन तथा मिथ्या शपथ आदिके सहारे जो धन संग्रह किया जाता है, वह पितरोंको अदेय है। (३०-३२)

न व्याहरति यद्युक्तं तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ३३ ॥
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः प्राप्तं दधि घृतं तथा।
सोमक्षयश्च मांसं च यदारण्यं युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥
श्राद्धापवर्गे विप्रस्य स्वधा वै मुदिता भवेत्।
क्षत्रियस्यापि यो ब्रूयात्प्रीयन्तां पितरस्त्विति ॥ ३५ ॥
अपवर्गे तु वैश्यस्य श्राद्धकर्मणि भारत।
अक्षय्यमभिधातव्यं स्वस्ति शूद्रस्य भारत ॥ ३६ ॥
पुण्याहवाचनं दैवं ब्राह्मणस्य विधीयते।
एतदेव निरोङ्कारं क्षत्रियस्य विधीयते ॥ ३७ ॥
वैश्यस्य दैवे वक्तव्यं प्रीयन्तां देवता इति।
कर्मणामानुपूर्व्येण विधिपूर्वं कृतं शृणु ॥ ३८ ॥
जातकर्मादिकाः सर्वास्त्रिषु वर्णेषु भारत।
ब्रह्मक्षत्रे हि मन्त्रोक्ता वैश्यस्य च युधिष्ठिर ॥ ३९ ॥
विप्रस्य रशना मौञ्जी मौर्वी राजन्यगामिनी।
बाल्वजी ह्येव वैश्यस्य धर्म एष युधिष्ठिर ॥ ४० ॥

हे भरतर्षभ! श्राद्धकी समाप्ति होनेपर जो ब्राह्मण "अस्तु स्वधा" इत्यादि वचन नहीं कहते, उन्हें गोशपथ पापके समान अधर्म हुआ करता है। हे युधिष्ठिर! अमावास्या, ब्राह्मण, दही, घृत और जङ्गली हरिनका मांस जब प्राप्त हो, वही श्राद्धका समय है। श्राद्धकी समाप्तिके समय प्रदाताके "स्वधोच्यताम्" वचन कहने पर ब्राह्मण यदि "अस्तु स्वधा" कहे, तो वह वचन पितरोंको प्रीतिकर होता है। क्षत्रियको भी श्राद्ध समाप्त होनेके समय "पितृगण प्रसन्न होइये" ऐसा वचन कहना होगा। हे भारत! वैश्यका श्राद्धकर्म समाप्त होनेके समय "अक्षय्य" उच्चारण और शूद्रके श्राद्ध समाप्त होनेके समय "स्वस्ति" शब्दका प्रयोग करना चाहिये। (३३-३६)

ब्राह्मणके दैवकार्यमें ओंकारयुक्त पुण्याहवाचन विहित है, क्षत्रियोंके पक्षमें ओंकाररहित पुण्याहवाचन करना चाहिये और वैश्यके दैव कर्ममें केवल "देवतावृन्द प्रसन्न होवें" इतनाही कहना योग्य है। कर्मोंके आनुपूर्वी क्रमसे भी विधिपूर्वक जो कार्य करना होता है, उसे सुनो। हे भारत! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके विषयमें ऊपर कही हुई सब क्रिया मन्त्रोक्त कहके निर्दिष्ट

दातुः प्रतिग्रहीतुश्च धर्माधर्माविमौ शृणु ।
ब्राह्मणस्यानृतेऽधर्मः प्रोक्तः पातकसंज्ञितः ।
चतुर्गुणः क्षत्रियस्य वैश्यस्याष्टगुणः स्मृतः ॥ ४१ ॥
नान्यत्र ब्राह्मणोऽश्नीयात्पूर्वं विप्रेण केतितः ।
यवीयान्पशुहिंसायां तुल्यधर्मो भवेत्स हि ॥ ४२ ॥
तथा राजन्यवैश्याभ्यां यद्यश्नीयात्तु केतितः ।
यवीयान्पशुहिंसायां भागार्धं समवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥
दैवं वाऽप्यथ वा पित्र्यं योऽश्नीयाद्ब्राह्मणादिषु ।
अस्नातो ब्राह्मणो राजंस्तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४४ ॥
आशौचो ब्राह्मणो राजन् योऽश्नीयाद्ब्राह्मणादिषु ।
ज्ञानपूर्वमथो लोभात्तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४५ ॥
अर्थेनान्येन यो लिप्सेत्कर्मार्थं चैव भारत ।
आमन्त्रयति राजेन्द्र तस्याधर्मोऽनृतं स्मृतम् ॥ ४६ ॥

हैं। हे युधिष्ठिर! ब्राह्मणोंकी रशना मुञ्जमयी, क्षत्रियोंकी रशना मौर्वी और वैश्योंकी रशना बल्वज तृणमयी कही जाती है, यही धर्म है। अब दाता और प्रतिग्रहीताके धर्माधर्म सुनो। (३७—४१)

एक कार्षापणके निमित्त मिथ्यावादी ब्राह्मणको जितने परिमाणसे पातक संज्ञित-अधर्म होता है, क्षत्रियको उस विषयमें चौगुना और वैश्यको आठगुणा हुआ करता है। ब्राह्मणको उचित है, कि विप्रके द्वारा पहले निमन्त्रित होकर दूसरेके यहां भोजन न करे, यदि करे, तो पहले-निमन्त्रण देनेवालेके निकट वह निकृष्ट होता है, और पशुहिंसासे जो पाप हुआ करता है, उसे भी वही पाप लगता है। क्षत्रिय भी वैश्यसे यदि निमन्त्रित होके दूसरेके यहां भोजन करे, तो उसके समीप निन्दित होके पशुहिंसाके पापका अर्द्ध-भाग पाता है। हे राजन्! ब्राह्मण आदिके दैव अथवा पितृकार्यमें जो ब्राह्मण विना स्नान किये भोजन करता है, उसे मिथ्यावचन और गोवध-जनित अधर्म हुआ करता है। (४१—४४)

हे महाराज! जो ब्राह्मण जन्म मृत्यु आदिके आशौचसे युक्त होकर दूसरेके दैव और पितृकार्यमें जानके अथवा लोभवशसे भोजन करता है, उसे गोवध और मिथ्याभाषण जनित अधर्म हुआ करता है। हे भारत! जो पुरुष तीर्थयात्रा आदिके मिषसे-जीविकार्थी होकर अर्थ-

अवेदव्रतचारित्रास्त्रिभिर्वर्णैर्युधिष्ठिर ।
मन्त्रवत्परिविष्यन्ते तस्याधर्मो गवानृतम् ॥ ४७ ॥
युधिष्ठिर उवाच- पित्र्यं वाऽप्यथवा दैवं दीयते यत्पितामह ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं दत्तं केषु महाफलम् ॥ ४८ ॥
भीष्म उवाच- येषां दाराः प्रतीक्षन्ते सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
उच्छेषपरिशेषं हि तान्भोजय युधिष्ठिर ॥ ४९ ॥
चारित्रनिरता राजन्ये कृशाः कृशवृत्तयः ।
अर्थिनश्चोपगच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५० ॥
तद्भक्तास्तद्गृहा राजंस्तद्बलास्तदपाश्रयाः ।
अर्थिनश्च भवन्त्यर्थे तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५१ ॥
तस्करेभ्यः परेभ्यो वा ये भयार्ता युधिष्ठिर ।

लाभकी इच्छा करता अथवा कार्यके लिये दाताके निकट धन मांगता है, हे राजेन्द्र ! उसे भी गोहत्या और मिथ्या भाषण जनित अधर्म होता है। जो पुरुष वेदाध्ययन, व्रताचरण और चरित्र-संशोधन नहीं करता, उसे यदि ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण मन्त्रोच्चारणपूर्वक परिवेषण करें तो उन्हें भी गोवध और मिथ्यावचनजनित अधर्म हुआ करता है। (४५—४७)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! पित्र्य और दैवकार्यमें जो कुछ दान किया जाता है, वह दानकी वस्तु कैसे पुरुषों-को दान करनेसे महत् फल हुआ करता है ? मैं इसे ही जाननेकी अभिलाष करता हूं। (४८)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर ! जैसे कृषक लोग उत्तम वृष्टिकी प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही जिन लोगोंकी स्त्रियें भोजन-पात्रके शेष बचे हुए अन्नके सहित थालीमें स्थित परिशिष्ट अन्नकी प्रतीक्षा किया करती हैं, उन लोगोंको भोजन करावे। हे महाराज ! जो लोग चरित-निरत कृश और कृश वृत्तिवाले हैं, और जिनके निकट अतिथि गमन किया करते हैं, उन्हें दान करनेसे महत् फल होता है। हे राजन् ! चरित ही जिनका उपजीव्य है, चरित्र ही जिनका स्त्रीपुत्र आदि परिवारवर्ग है, चरित्र ही जिनका बल और परलोकगमनका अवलम्ब है, जो लोग अर्थका प्रयोजन होनेपर ही अर्थी बनते हैं, केवल अर्थसंग्रहके लिये नहीं जांचते, उन्हें दान करनेसे महत् फल हुआ करता है। (४९-५१)

हे युधिष्ठिर ! जो तस्कर अथवा शत्रुसे भयार्त्त होके याचक बनते अथवा

अर्थिनो भोक्तुमिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५२ ॥
अकल्कस्य विप्रस्य रौक्ष्यात्करकृतात्मनः ।
बटवो यस्य भिक्षन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५३ ॥
हृतस्वा हृतदाराश्च ये विप्रा देशसंप्लवे ।
अर्थार्थमभिगच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५४ ॥
व्रतिनो नियमस्थाश्च ये विप्राः श्रुतसंमताः ।
तत्समाप्त्यर्थमिच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥५५॥
अत्युत्क्रान्ताश्च धर्मेषु पाषण्डसमयेषु च ।
कृशप्राणाः कृशधनास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ ५६ ॥
कृतसर्वस्वहरणा निर्दोषाः प्रभविष्णुभिः ।
स्पृहयन्ति च भुक्त्वाऽन्नं तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५७ ॥
तपस्विनस्तपोनिष्ठास्तेषां भैक्षचराश्च ये ।
अर्थिनः किंचिदिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥ ५८ ॥
महाफलविधिर्दाने श्रुतस्ते भरतर्षभ ।

भोजन करनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें दान करनेसे महाफल हुआ करता है। निष्पाप ब्राह्मण दरिद्रतावशसे हाथमें अन्न लिये हो और कोई भूखा ब्राह्मण उससे मांगे, तो उसे दान करनेसे महाफल होता है। जो ब्राह्मण देश-संप्लवके समय स्त्री आदि सर्वस्व हरे जानेपर धनके लिये सम्मुख आवे, तो उसे दान करनेसे महत् फल हुआ करता है। जो ब्राह्मण व्रतनिष्ठ, नियमस्थ और श्रुतिसम्मत होकर व्रतादि-समाप्तिके निमित्त धनकी इच्छा करते हैं, उन्हें दान करनेसे महत् फल होता है। (५२—५५)

जो लोग पाषण्डमर्यादासे युक्त धर्मसे बहुत दूर निवास किया करते हैं, जो दुर्बल और धनहीन हैं, उन्हें दान करनेसे महाफल होता है। प्रभविष्णुगणने जिनका सर्वस्व हरण किया है, जो लोग निर्दोष हैं तथा जो किसी प्रकारसे पेट भरनेके लिये भोजनकी अभिलाष करते हैं, उन्हें दान करनेसे महत् फल होता है। जो लोग तपस्वी और तपमें निष्ठावान् हैं, जो पुरुष उनके निमित्त भैक्षचर्य किया करते हैं, तथा जो याचक होके किञ्चित् भीख मांगते हैं, उन्हें दान देनेसे महाफल होता है। हे भरतश्रेष्ठ! दान विषयमें यह महाफलकी विधि तुमने सुनी, अब जिसके द्वारा लोग नरक

निरयं येन गच्छन्ति स्वर्गं चैव हि तच्छृणु ॥ ५९ ॥
गुर्वर्थमभयार्थं वा वर्जयित्वा युधिष्ठिर ।
येऽनृतं कथयन्ति स्म ते वै निरयगामिनः ॥ ६० ॥
परदाराभिहर्तारः परदाराभिमर्शिनः ।
परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥ ६१ ॥
ये परस्वापहर्तारः परस्वानां च नाशकाः ।
सूचकाश्च परेषां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ६२ ॥
प्रपाणां च सभानां च संक्रमाणां च भारत ।
अगाराणां च भेत्तारो नरा निरयगामिनः ॥ ६३ ॥
अनाथां प्रमदां बालां वृद्धां भीतां तपस्विनीम् ।
वञ्चयन्ति नरा ये च ते वै निरयगामिनः ॥ ६४ ॥
वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं दारच्छेदं च भारत ।
मित्रच्छेदं तथाऽऽशायास्ते वै निरयगामिनः ॥ ६५ ॥
सूचकाः सेतुभेत्तारः परवृत्त्युपजीवकाः ।
अकृतज्ञाश्च मित्राणां ते वै निरयगामिनः ॥ ६६ ॥
पाषण्डा दूषकाश्चैव समयानां च दूषकाः ।

और स्वर्गमें गमन करते हैं, उसे सुनो। (५६—५९)

हे युधिष्ठिर! गुरुके लिये अथवा अभयदानके निमित्त, इन दो प्रकारके प्रयोजनोंके अतिरिक्त जो लोग मिथ्या कहते हैं, वे नरकगामी होते हैं। जो परायी स्त्री हरता है, अथवा परस्त्री-गमन करता है, वा परनारी हरनेमें सहायता वा प्रस्ताव करता है, वह नरकगामी होता है। जो परस्वापहारी अर्थात् परस्वनाश करता है, वह दूसरेके दोषोंकी सूचना करता है, वह नरकमें पडता है। हे भारत! जो मनुष्य पानीयशाला सभासंक्रमण अर्थात् सेतु और गृहभेद करते हैं; जो मनुष्य अनाथ, बाला, वर्षीयसी, डरी हुई और दुःखिनी स्त्रीको ठगते हैं, वे नरकगामी हुआ करते हैं। (६०—६४)

हे भारत! जो लोग वृत्तिच्छेद, दारच्छेद, मित्रच्छेद करते और आशा तोडते हैं, वे भी नरकमें गमन किया करते हैं। जो दूसरेके निकट राजाकी चुगली करते हैं, श्रेष्ठ पुरुषोंकी मर्यादा तोडते हैं, परवृत्तिको उपजीव्य किया करते और मित्रोंके निकट अकृतज्ञ हुआ करते हैं; जो लोग वेदविरोधी और

ये प्रत्यवसिताश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ६७ ॥
विषमव्यवहाराश्च विषमाश्चैव वृद्धिषु ।
लाभेषु विषमाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ६८ ॥
द्यूतसंव्यवहाराश्च निष्परीक्षाश्च मानवाः ।
प्राणिहिंसाप्रवृत्ताश्च ते वै निरयगामिनः ॥ ६९ ॥
कृताशं कृतनिर्देशं कृतभक्तं कृतश्रमम् ।
भेदैर्ये व्यपकर्षन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७० ॥
पर्यश्नन्ति च ये दारानग्निभृत्यातिथींस्तथा ।
उत्सन्नपितृदेवेज्यास्ते वै निरयगामिनः ॥ ७१ ॥
वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः ।
वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७२ ॥
चातुराश्रम्यबाह्याश्च श्रुतिबाह्याश्च ये नराः ।
विकर्मभिश्च जीवन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७३ ॥
केशविक्रयिका राजन् विषविक्रयिकाश्च ये ।
क्षीरविक्रयिकाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७४ ॥
ब्राह्मणानां गवां चैव कन्यानां च युधिष्ठिर ।

पाखण्डी हैं, और जो साधुओंकी निन्दा करते तथा धर्मसङ्केतकी भी निन्दा किया करते हैं, जो सन्मार्गसे पतित हैं, वे सभी नरकमें गमन किया करते हैं। जो लोग सबके विरोधी विषयोंका व्यवहार करते, जो परीक्षारहित हैं, तथा जो प्राणिहिंसामें प्रवृत्त रहते हैं, वे भी नरकमें गमन करते हैं। (६५-६९)

जो लोग आशावान, कृतनिर्देश, वेतनयुक्त और परिश्रम किये हुए पुरुषोंको भेदित करके स्वामीके समीपसे दूर कर देते हैं, वे नरकगामी हुआ करते हैं; जो पत्नी, अग्नि, सेवक और अतिथियोंको परित्याग करते हैं, तथा जिन लोगोंमें पितृपूजा और देवार्चना नष्ट हुई है, वे भी नरकमें जाते हैं। जो वेदोंको बेचते हैं, वेदोंके दोष वर्णन करते हैं और जो वेदलेखक हैं, वेभी नरकगामी होते हैं। जो मनुष्य चारों आश्रमोंसे बाहर होके वेदविरुद्ध अकर्मके सहारे जीवन बिताते हैं, वे भी नरकमें गमन किया करते हैं। हे राजन्! जो लोग केश, विष और क्षीर बेचते हैं, वे भी नरकमें गमन करते हैं। (७०—७४)

हे युधिष्ठिर! ब्राह्मण, गऊ और

येऽन्तरं यान्ति कार्येषु ते वै निरयगामिनः ॥ ७५ ॥
शस्त्रविक्रयिकाश्चैव कर्तारश्च युधिष्ठिर ।
शल्यानां धनुषां चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ७६ ॥
शिलाभिः शङ्कुभिर्वापि श्वभ्रैर्वा भरतर्षभ ।
ये मार्गमनुरुन्धन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ७७ ॥
उपाध्यायांश्च भृत्यांश्च भक्तांश्च भरतर्षभ ।
ये त्यजन्त्यविकारां स्त्रींस्ते वै निरयगामिनः ॥ ७८ ॥
अप्राप्तदमकाश्चैव नासानां वेधकाश्च ये ।
बन्धकाश्च पशूनां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ७९ ॥
अगोप्तारश्च राजानो बलिषड्भागतस्कराः ।
समर्थाश्चाप्यदातारस्ते वै निरयगामिनः ॥ ८० ॥
क्षान्तान् दान्तांस्तथा प्राज्ञान् दीर्घकालं सहोषितान् ।
त्यजन्ति कृतकृत्या ये ते वै निरयगामिनः ॥ ८१ ॥
बालानामथ वृद्धानां दासानां चैव ये नराः ।
अदत्त्वा भक्षयन्त्यग्रे ते वै निरयगामिनः ॥ ८२ ॥
एते पूर्वं विनिर्दिष्टाः प्रोक्ता निरयगामिनः ।

कन्यागणके कार्य विषयमें जो विघ्नकारी होता है, वह नरकमें गमन करता है। हे धर्मराज ! जो लोग शस्त्र बेचते और बनाते हैं, तथा शल्य और धनुषको बनाते तथा बेचते हैं, वे भी नरकगामी होते हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! जो शिला, शंकु अथवा गढेके सहारे मार्ग रोकता है, वह नरकगामी होता है। हे भरतश्रेष्ठ जो उपाध्याय, सेवक, भक्त और निरपराधिनी स्त्रीका परित्याग करता है, वह नरकगामी हुआ करता है, जो अप्राप्त दम्यावस्थामें पशुओंकी नाक छेदता है और अण्डकोषको मर्दन करके उनके बलवीर्यको नष्ट करता है, वह भी नरकगामी होता है। (७५—७९)

जो राजा प्रजाकी रक्षा न करके छठवां भाग कर लेता है और समर्थ होके दान नहीं करता, वह भी नरकगामी हुआ करता है। जो कृतकार्य होकर क्षमाशील, दान्त, बुद्धिमान और बहुत समयके सहवासी मनुष्यको परित्याग करता है, वह भी नरकमें पडता है। जो मनुष्य बालक, बूढे और सेवकोंको अन्न न देकर स्वयं अगाडी भोजन करते हैं, वे नरकगामी होते हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! जो लोग नरकमें

भागिनः स्वर्गलोकस्य वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ ८३ ॥
सर्वेष्वेव तु कार्येषु दैवपूर्वेषु भारत।
हन्ति पुत्रान् पशून्कृत्स्नान्ब्राह्मणातिक्रमः कृतः ॥८४॥
दानेन तपसा चैव सत्येन च युधिष्ठिर।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८५ ॥
शुश्रूषाभिस्तपोभिश्च विद्यामादाय भारत।
ये प्रतिग्रहनिःस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८६ ॥
भयात्पापात्तथा बाधाद्दारिद्र्याद्व्याधिधर्षणात्।
यत्कृते प्रतिमुच्यन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८७ ॥
क्षमावन्तश्च धीराश्च धर्मकार्येषु चोत्थिताः।
मङ्गलाचारसंपन्नाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ८८ ॥
निवृत्ता मधुमांसेभ्यः परदारेभ्य एव च।
निवृत्ताश्चैव मद्येभ्यस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ८९ ॥
आश्रमाणां च कर्तारः कुलानां चैव भारत।
देशानां नगराणां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९० ॥
वस्त्राभरणदातारो भक्षपानान्नदास्तथा।

जाते हैं, उनका विषय कहा गया; अब जो मनुष्य स्वर्गलोकमें गमन करते हैं, उनका विषय कहता हूं। (८०-८३)

हे भारत! दैव आदि समस्त कार्योंमें ब्राह्मणोंको अतिक्रम करनेसे पुत्र, पशु प्रभृति विनष्ट होते हैं, इसलिये जो ब्राह्मणातिक्रम नहीं करते, वे स्वर्गगामी होते हैं, हे युधिष्ठिर! जो मनुष्य दान, तपस्या और सत्यके सहारे धर्मपूर्वक कार्य करते हैं, वे स्वर्गगामी हुआ करते हैं। जो मनुष्य गुरुसेवा और तपस्यासे विद्या उपार्जन करके प्रतिग्रहसे निवृत्त रहते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं। जिसके द्वारा लोग भय, पाप, सङ्कट, दरिद्रता और व्याधिसे मुक्त होते हैं, वे पुरुष भी स्वर्गगामी होते हैं। क्षमावान, धीर, सब कार्योंमें उद्यत रहनेवाले और मङ्गलाचारयुक्त पुरुष स्वर्गगामी होते हैं। (८४-८८)

जो पुरुष मधु, मांस और परस्त्रीगमनसे निवृत्त रहते तथा मद्यपान करनेमें प्रवृत्त नहीं होते, वे मनुष्य स्वर्गमें गमन करते हैं। हे भारत! जो सब आश्रमोंको पालन करनेवाले कुल, देश तथा नगरोंके रक्षाकर्ता हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं। जो लोग

कुटुम्बानां च दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ९१ ॥
सर्वहिंसानिवृत्ताश्च नराः सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९२ ॥
मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति जितेन्द्रियाः ।
भ्रातृणां चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९३ ॥
आढ्याश्च बलवन्तश्च यौवनस्थाश्च भारत ।
ये वै जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९४ ॥
अपराधिषु सस्नेहा मृदवो मृदुवत्सलाः ।
आराधनसुखाश्चापि पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ ९५ ॥
सहस्रपरिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः ।
त्रातारश्च सहस्राणां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९६ ॥
सुवर्णस्य च दातारो गवां च भरतर्षभ ।
यानानां वाहनानां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९७ ॥
वैवाहिकानां द्रव्याणां प्रेष्याणां च युधिष्ठिर ।
दातारो वाससां चैव ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९८ ॥
विहारावसथोद्यानकूपारामसभाप्रपाः ।

वस्त्र और आभूषण दान करते, अन्न, जल वितरण करते और कुटुम्बका प्रतिपालन करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं । जो मनुष्य सर्वहिंसासे निवृत्त होकर सब कुछ सहते हैं और सबके अवलम्ब हैं, वे भी स्वर्गमें गमन करते हैं । जो सब मनुष्य जितेन्द्रिय होकर मातापिताकी सेवा करते हैं और भाइयोंके विषयमें स्नेहवान रहते हैं, वेभी स्वर्गमें गमन करते हैं । (८९-९३)

हे भारत ! जो मनुष्य बलवान, यौवनसम्पन्न, आढ्य, जितेन्द्रिय और वीर होते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं । जो अपराधी पुरुषके ऊपर भी स्नेहयुक्त, कोमल स्वभाव और मृदुवत्सल होते हैं, तथा आराधनासे दूसरोंको सुखी करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं। जो मनुष्य सहस्र पुरुषोंको परिवेशन करते तथा उनका त्राण करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं । हे भरतश्रेष्ठ ! जो लोग सुवर्ण और गऊ दान करते हैं, तथा यान और वाहन प्रदान किया करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं। हे युधिष्ठिर ! जो लोग वैवाहिक वस्तु वस्त्र, आभरण आदि तथा दास दासी प्रभृति दान करते हैं, वे भी स्वर्गगामी

वप्राणां चैव कर्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ९९ ॥
निवेशनानां क्षेत्राणां वसतीनां च भारत ।
दातारः प्रार्थितानां च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१००॥
रसानां चाथ बीजानां धान्यानां च युधिष्ठिर ।
स्वयमुत्पाद्य दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ १०१ ॥
यस्मिंस्तस्मिन् कुले जाता बहुपुत्राः शतायुषः ।
सानुक्रोशा जितक्रोधाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥१०२॥
एतदुक्तममुत्रार्थं दैवं पित्र्यं च भारत ।
दानधर्मं च दानस्य यत्पूर्वमृषिभिः कृतम् ॥ १०३ ॥ [१६५५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे स्वर्गनरकगामिवर्णने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच— इदं मे तत्त्वतो राजन् वक्तुमर्हसि भारत ।
अहिंसयित्वाऽपि कथं ब्रह्महत्या विधीयते ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— व्यासमामन्त्र्य राजेन्द्र पुरा यत्पृष्टवानहम् ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

होते हैं । (९४—९८)

जो लोग विहार स्थान, आश्रम, बगीचा, कूप, आराम, सभा, पानीयशाला और क्षेत्र आदि निर्माण करते हैं, वे पुरुष स्वर्गगामी होते हैं । हे भारत ! जो मनुष्य निवेशगृहक्षेत्र और वासगृह दान तथा प्रार्थित विषय प्रदान करते हैं, वेभी स्वर्गगामी होते हैं । हे युधिष्ठिर ! जो पुरुष रस, बीज और धान्य आदि स्वयं उत्पन्न करके दान करते हैं, वेभी स्वर्गगामी होते हैं। जो पुरुष सत्कुलमें उत्पन्न होकर बहु पुत्रसे युक्त और शतायु होकर दयावान् तथा क्रोधजयी होते हैं, वे स्वर्ग में गमन करते हैं । हे भारत ! परलोकके निमित्त पहले ऋषियोंके द्वारा देव वा पितृकार्यमें जो दानधर्म वर्णित हुआ था, उसे ही मैंने कहा है । (९९-१०३)

अनुशासनपर्वमें २३ अध्याय समाप्त ।

अनुशासनपर्वमें २४ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत ! हिंसा न करनेपर भी किस प्रकारसे ब्रह्महत्या विहित हुई है ? इसे आप मेरे निकट यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये । (१)

भीष्म बोले, हे राजेन्द्र ! पहले समयमें व्यासदेवको आमन्त्रण करके मैंने जो पूछा था, इस समय वह विषय तुमसे कहता हूं, तुम एकाग्रचित्त होकर

चतुर्थस्त्वं वसिष्ठस्य तत्त्वमाख्याहि मे मुने ।
अहिंसयित्वा केनेह ब्रह्महत्या विधीयते ॥ ३ ॥
इति पृष्टो मया राजन् पराशरशरीरजः ।
अब्रवीन्निपुणो धर्मे निःसंशयमनुत्तमम् ॥ ४ ॥
ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थे कृशवृत्तिनम् ।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात्तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ५ ॥
मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचानस्य भारत ।
वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ६ ॥
गोकुलस्य तृषार्तस्य जलार्थे वसुधाधिप ।
उत्पादयति यो विघ्नं तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ७ ॥
यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक् शास्त्रं वा मुनिभिः कृतम् ।
दूषयत्यनभिज्ञाय तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ८ ॥
आत्मजां रूपसंपन्नां महतीं सदृशे वरे ।
न प्रयच्छति यः कन्यां तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ९ ॥
अधर्मनिरतो मूढो मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
दद्यान्मर्मातिगं शोकं तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ १० ॥

सुनो । (२)

मैंने व्यासदेवसे पूछा, हे मुनि ! आप वसिष्ठके प्रपौत्र हैं, इसलिये यथार्थ विषय वर्णन करिये, कि हिंसा न करनेपर भी किस प्रकारसे ब्रह्महत्या विहित होती है ? हे राजन् ! पराशर-पुत्र व्यासदेव मेरा प्रश्न सुनके धर्म विषयमें निपुणभाव और निःसंशय रूपसे उत्तम वचन कहने लगे । जो मनुष्य गुणशाली ब्राह्मणको भिक्षा देनेके लिये स्वयं आह्वान करके फिर "नहीं" कहके लौटा देता है, उसे ब्रह्मघाती जानो । (३-५)

हे भारत ! जो दुर्बुद्धिवाला पुरुष अङ्गसहित वेद पढनेवाले मध्यस्थ ब्राह्मणकी वृत्ति हरता है, उसे ब्रह्मघाती जानना चाहिये, तृषार्त, जलकी इच्छा करनेवाले गोसमूहको जल पीनेमें जो विघ्न करता है उसे ब्रह्मघ्न जानना चाहिये । जो मनुष्य समुच्चार्यमाण श्रुति अथवा मुनियोंके द्वारा पूर्ण रीतिसे बने हुए शास्त्रोंको अनभिज्ञ लोगोंके निमित्त दूषित करता है, उसे भी ब्रह्मघाती जानना होगा । जो पुरुष रूपवान बडी कन्या, सदृश वरको नहीं दान करता, उसे ब्रह्मघाती जानना

चक्षुषा विप्रहीणस्य पङ्गुलस्य जडस्य वा ।
हरेत यो वै सर्वस्वं तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ ११ ॥
आश्रमे वा वने वाऽपि ग्रामे वा यदि वा पुरे ।
अग्निं समुत्सृजेन्मोहात्तं विद्याद्ब्रह्मघातिनम् ॥ १२ ॥ [१६६७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे ब्रह्मघ्नकथने चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच- तीर्थानां दर्शनं श्रेयः स्नानं च भरतर्षभ ।
श्रवणं च महाप्राज्ञ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यानि भरतर्षभ ।
वक्तुमर्हसि मे तानि श्रोताऽस्मि नियतं प्रभो ॥ २ ॥

भीष्म उवाच- इममङ्गिरसा प्रोक्तं तीर्थवंशं महाद्युते ।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ॥ ३ ॥
तपोवनगतं विप्रमभिगम्य महामुनिम् ।
पप्रच्छाङ्गिरसं धीरं गौतमः संशितव्रतः ॥ ४ ॥
अस्ति मे भगवन्कश्चित्तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः ।

चाहिये । जो अधर्ममें रत रहनेवाला मूढ मनुष्य द्विजातियोंको निरर्थक मर्मान्तिक शोक प्रदान करता है, उसे ब्रह्मघाती जानो । जो पुरुष नेत्रहीन जड और पंगुओंका सर्वस्व धन हरण करता है, उसे भी ब्रह्मघाती जानो । आश्रम, वन, ग्राम वा पुरमें जो अज्ञानसे अग्निको त्यागता है उसे ब्रह्मघाती समझो । (६—१२)

अनुशासनपर्वमें २४ अध्याय समाप्त ।

अनुशासनपर्वमें २५ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे महाप्राज्ञ भरतश्रेष्ठ ! तीर्थदर्शन, तीर्थस्नान और तीर्थमाहात्म्य सुनना अत्यन्त कल्याणकारी है, इसलिये मैं उसे यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं । हे प्रभु भरतर्षभ ! पृथिवीपर जो सब तीर्थ पवित्र हों, वह आप मेरे समीप वर्णन करिये, मैं सदा उसके सुननेका अभिलाषी हूं । (१-२)

भीष्म बोले, हे महातेजस्वी ! इस तीर्थ प्रसङ्गको अङ्गिरा मुनिने कहा है, उसे सुननेसे तुम्हारा कल्याण होगा तथा तुम्हें उत्तम धर्म प्राप्त होगा । संशितव्रती गौतमने तपोवनमें स्थित, धीर विप्र महामुनि अङ्गिराके निकट आके प्रश्न किया, हे भगवान् महामुनि ! मुझे तीर्थविषयक धर्ममें कुछ सन्देह

तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि तन्मे शंस महामुने ॥ ५ ॥
उपस्पृश्य फलं किं स्यात्तेषु तीर्थेषु वै मुने ।
प्रेत्यभावे महाप्राज्ञ तद्यथाऽस्ति तथा वद ॥ ६ ॥
अङ्गिरा उवाच- सप्ताहं चन्द्रभागां वै वितस्तामूर्मिमालिनीम् ।
विगाह्य वै निराहारो निर्मलो मुनिवद्भवेत् ॥ ७ ॥
काश्मीरमण्डले नद्यो याः पतन्ति महानदम् ।
ता नदीः सिन्धुमासाद्य शीलवान्स्वर्गमाप्नुयात् ॥८॥
पुष्करं च प्रभासं च नैमिषं सागरोदकम् ।
देविकामिन्द्रमार्गं च स्वर्णबिन्दुं विगाह्य च ॥ ९ ॥
विबोध्यते विमानस्थः सोऽप्सरोभिरभिष्टुतः ।
हिरण्यबिन्दुं विक्षोभ्य प्रयतश्चाभिवाद्य च ॥ १० ॥
कुशेशयं च देवं तं धूयते तस्य किल्बिषम् ।
इन्द्रतोयां समासाद्य गन्धमादनसन्निधौ ॥ ११ ॥
करतोयां कुरङ्गे च त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति विगाह्य प्रयतः शुचिः ॥ १२ ॥
गङ्गाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते ।

है, इसलिये उसे सुननेकी इच्छा करता हूं, आप इस विषयको मेरे समीप वर्णन करिये। हे महाप्राज्ञ मुनिश्रेष्ठ! तीर्थोंमें स्नान करनेसे परलोकमें क्या फल मिलता है, आप मुझसे वही कहिये। (२—६)

अङ्गिरा बोले, सप्ताहभर निराहार रहके चन्द्रभागा और तरङ्गमालायुक्त वितस्ता नदीमें स्नान करनेसे मनुष्य मुनियोंकी भांति पवित्र होता है। काश्मीर राज्यसे जो नदियें महानद सिन्धुमें गिरती हैं, उनमें जाके स्नान करनेसे स्वर्ग प्राप्त होता है। पुष्कर, प्रभास, नैमिष, सागरोदक, देविका, इन्द्रमार्ग और स्वर्णबिन्दुमें स्नान करनेसे पुरुष विमानपर चढके अप्सराओंसे स्तुत और विबोधित होता है। हिरण्य बिन्दुमें स्नान करके प्रयत होकर उसे प्रणाम करने और कुशेशय नदमें स्नान करनेसे सब पाप नष्ट होजाते हैं। गन्धमादनके निकट इन्द्रतोया और कुरङ्ग देशकी करतोया नदीमें त्रिरात्र उपवास करके प्रयत और पवित्र होकर स्नान करनेसे मनुष्यको अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। (७-१२)

गङ्गाद्वार, कुशावर्त, बिल्वक नील-

तथा कनखले स्नात्वा धूतपाप्मा दिवं व्रजेत् ॥ १३ ॥
अपां ह्रद उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत् ।
ब्रह्मचारी जितक्रोधः सत्यसंधस्त्वहिंसकः ॥ १४ ॥
यत्र भागीरथी गङ्गा पतते दिशमुत्तराम् ।
महेश्वरस्य त्रिस्थाने यो नरस्त्वभिषिच्यते ॥ १५ ॥
एकमासं निराहारः स पश्यति हि देवताः ।
सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च इन्द्रमार्गे च तर्पयन् ॥ १६ ॥
सुधां वै लभते भोक्तुं यो नरो जायते पुनः ।
महाश्रम उपस्पृश्य योऽग्निहोत्रपरः शुचिः ॥ १७ ॥
एकमासं निराहारः सिद्धिं मासेन स व्रजेत् ।
महाह्रद उपस्पृश्य भृगुतुङ्गे त्वलोलुपः ॥ १८ ॥
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ।
कन्याकूप उपस्पृश्य बलाकायां कृतोदकः ॥ १९ ॥
देवेषु लभते कीर्त्तिं यशसा च विराजते ॥ २० ॥
देविकायामुपस्पृश्य तथा सुन्दरिकाह्रदे ।
अश्विन्यां रूपवर्चस्कं प्रेत्य वै लभते नरः ॥ २१ ॥

पर्वत और कनखलमें स्नान करनेसे मनुष्य पापरहित होकर सुरलोकमें गमन करता है। ब्रह्मचारी, जितक्रोध, सत्यसन्ध और अहिंसक मनुष्य जलह्रदमें स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल पाते हैं। जिस स्थानमें भागीरथी गङ्गा उत्तर दिशामें गिरती हैं, जो मनुष्य निराहार रहके एक महीनेतक उस महेश्वरके स्वर्ग, मर्त्य और पाताल, तीनों स्थानोंमें अभिषिक्त होता है, वह सब देवताओंका दर्शन करता है। सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग और इन्द्रमार्गमें तर्पण करके जो मनुष्य फिर जन्म ग्रहण करते हैं, वे सुधा भोजन करनेमें समर्थ होते हैं। जो लोग अग्निहोत्रपरायण, पवित्र और एक महीनेतक निराहारी होके महाश्रममें अभिषिक्त होते हैं, वे एक महीनेके बीच सिद्धि लाभ कर सकते हैं। जो पुरुष त्रिरात्र उपवास करके अलोलुप होकर महाह्रद भृगुतुण्डमें स्नान करता है, वह ब्रह्महत्यासे छूट जाता है। कन्याकूप और बलाकामें स्नान करनेसे देवताओंके बीच कीर्तिमान होकर मनुष्य यशोराशिसे विभूषित होता है। (१३-२०)

देविका और सुन्दरिका ह्रदमें

महागङ्गामुपस्पृश्य कृत्तिकाङ्गारके तथा ।
पक्षमेकं निराहारः स्वर्गमाप्नोति निर्मलः ॥ २२ ॥
वैमानिक उपस्पृश्य किङ्किणीकाश्रमे तथा ।
निवासेऽप्सरसां दिव्ये कामचारी महीयते ॥ २३ ॥
कालिकाश्रममासाद्य विपाशायां कृतोदकः ।
ब्रह्मचारी जितक्रोधस्त्रिरात्रं मुच्यते भवात् ॥ २४ ॥
आश्रमे कृत्तिकानां तु स्नात्वा यस्तर्पयेत्पितॄन् ।
तोषयित्वा महादेवं निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ २५ ॥
महापुर उपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितः शुचिः ।
त्रसानां स्थावराणां च द्विपदानां भयं त्यजेत् ॥ २६ ॥
देवदारुवने स्नात्वा धूतपाप्मा कृतोदकः ।
देवलोकमवाप्नोति सप्तरात्रोषितः शुचिः ॥ २७ ॥
शरस्तम्बे कुशस्तम्बे द्रोणशर्मपदे तथा ।
अपां प्रपतनासेवी सेव्यते सोऽप्सरोगणैः ॥ २८ ॥
चित्रकूटे जनस्थाने तथा मन्दाकिनीजले ।
विगाह्य वै निराहारो राजलक्ष्म्या निषेव्यते ॥ २९ ॥

अश्विनी नक्षत्रमें स्नान करनेसे मनुष्य परलोकमें रूप और तेजोयुक्त हुआ करता है । एक पक्षतक निराहार रहके महागङ्गा और कृत्तिकाङ्गारकमें स्नान करनेसे मनुष्य पवित्र होकर स्वर्गमें जाते हैं, वैमानिक तथा किङ्किणीकाश्रममें स्नान करनेसे मनुष्य अप्सराओंके दिव्य निवासमें कामचारी होकर वास करता है । कालिकाश्रममें जाके विपाशा नदीमें त्रिरात्र स्नान करनेसे ब्रह्मचारी और जितक्रोध होकर मनुष्य संसारसे विमुक्त होता है । जो पुरुष कृत्तिकाश्रममें स्नान करके पितृतर्पण करता है, वह महादेवको सन्तुष्ट करके निर्मल होकर स्वर्गमें गमन किया करता है । (२१-२५)

त्रिरात्र उपवास करके पवित्र होकर महापुरमें स्नान करनेसे स्थावर, जंगम और द्विपदोंके भयसे छूटता है । सप्तरात्र उपवास करके देवदारुवनमें स्नान करके पवित्र होनेसे मनुष्य पापरहित और कृतोदक होकर देवलोक पाता है । शरस्तम्ब, कुशस्तम्ब और द्रोणशर्म पदमें जो मनुष्य जल गिरनेके समय स्नान करते हैं, वे अप्सराओंसे सेवित होते हैं । चित्रकूट, जनस्थान और

श्यामायास्त्वाश्रमं गत्वा उषित्वा चाभिषिच्य च।
एकपक्षं निराहारस्त्वन्तर्धानफलं लभेत् ॥ ३० ॥
कौशिकीं तु समासाद्य वायुभक्षस्त्वलोलुपः।
एकविंशतिरात्रेण स्वर्गमारोहते नरः ॥ ३१ ॥
मतङ्गवाप्यां यः स्नायादेकरात्रेण सिध्यति।
विगाहति ह्यनालम्बमन्धकं वै सनातनम् ॥ ३२ ॥
नैमिषे स्वर्गतीर्थे च उपस्पृश्य जितेन्द्रियः।
फलं पुरुषमेधस्य लभेन्मासं कृतोदकः ॥ ३३ ॥
गङ्गाह्रद उपस्पृश्य तथा चैवोत्पलावने।
अश्वमेधमवाप्नोति तत्र मासं कृतोदकः ॥ ३४ ॥
गंगायमुनयोस्तीर्थे तथा कालंजरे गिरौ।
दशाश्वमेधानाप्नोति तत्र मासं कृतोदकः ॥ ३५ ॥
षष्टिह्रद उपस्पृश्य चान्नदानाद्विशिष्यते।
दश तीर्थसहस्राणि तिस्रः कोट्यस्तथाऽपराः ॥ ३६ ॥
समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ।
माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः ॥ ३७ ॥

मन्दाकिनीके जलमें निराहारी होकर स्नान करनेसे मनुष्य राजलक्ष्मीके द्वारा निषेवित होता है। श्यामाके आश्रममें आगमन करके निराहारी होकर एक पक्ष वहां निवास करके जो पुरुष अभिषिक्त होता है, वह अन्तर्द्धानका फल अर्थात् गन्धर्वादि लोकोंको भोगता है। (२९-३०)

कौषिकी नदीमें जाके वायुभक्षी और अलोलुप होकर इक्कीस रात्रिमें स्वर्गलोकमें जा सकता है। जो पुरुष मतङ्गवापीमें एक रात्र स्नान करता है, वह सिद्ध होकर सहजमें ही सनातन अन्धक लोक पाता है। जितेन्द्रिय पुरुष नैमिष और स्वर्गतीर्थमें जलस्पर्श करके एक महीनेतक स्नान करनेसे पुरुषमेधका फल पानेमें समर्थ होता है। गङ्गाह्रद और उत्पलावनमें एक महीनेतक स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। गंगा यमुनाके तीर्थमें और कालञ्जर पर्वतपर एक महीनेतक स्नान करनेसे दश अश्वमेधका फल प्राप्त होता है। षष्टिह्रदमें स्नान करना अन्नदानसे भी श्रेष्ठ है। (३१—३६)

हे भरतश्रेष्ठ! माघके महीनेमें

स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ।
मरुद्गण उपस्पृश्य पितॄणामाश्रमे शुचिः ॥ ३८ ॥
वैवस्वतस्य तीर्थे च तीर्थभूतो भवेन्नरः ।
तथा ब्रह्मसरो गत्वा भागीरथ्यां कृतोदकः ॥ ३९ ॥
एकमासं निराहारः सोमलोकमवाप्नुयात् ॥ ४० ॥
उत्पातके नरः स्नात्वा अष्टावक्रे कृतोदकः ।
द्वादशाहं निराहारो नरमेधफलं लभेत् ॥ ४१ ॥
अश्मपृष्ठे गयायां च निरविन्दे च पर्वते ।
तृतीयां क्रौञ्चपद्यां च ब्रह्महत्यां विशुध्यते ॥ ४२ ॥
कलविङ्क उपस्पृश्य विद्याच्च बहुशो जलम् ।
अग्नेः पुरे नरः स्नात्वा अग्निकन्यापुरे वसेत् ॥ ४३ ॥
करवीरपुरे स्नात्वा विशालायां कृतोदकः ।
देवहृद उपस्पृश्य ब्रह्मभूतो विराजते ॥ ४४ ॥
पुनरावर्तनन्दां च महानन्दां च सेव्य वै ।
नन्दने सेव्यते दान्तस्त्वप्सरोभिरहिंसकः ॥ ४५ ॥

प्रयागमें तीन करोड दस हजार तीर्थ इकट्ठे होते हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! माघमासमें प्रयागमें सदा संशितव्रत होकर स्नान करनेसे मनुष्य निष्पाप होकर स्वर्गलोक पाता है। मरुद्गण और पितृगणके आश्रम तथा वैवस्वत तीर्थमें पवित्र होकर स्नान करनेसे मनुष्य तीर्थ स्वरूप होता है। ब्रह्मसरोवर तथा भागीरथीमें जाकर निराहारी होकर एक महीनेतक स्नान करनेसे चन्द्रलोक प्राप्त होता है। (३६-४०)

उत्पातक और अष्टावक्र तीर्थमें बारह दिन अनाहारी होकर स्नान करनेसे मनुष्यको नरमेध यज्ञका फल मिलता है। गयाके अन्तर्गत अश्मपृष्ठमें स्नान करनेसे पहली ब्रह्महत्या, निरविन्द पर्वत पर दूसरी ब्रह्महत्या और क्रौञ्चपदीमें स्नान करनेसे मनुष्य तीसरी ब्रह्महत्यासे भी छूट जाता है। कलविंकमें स्नान करनेसे भूरि वारि विदित हो सकती है। अग्निपुरमें स्नान करनेसे मनुष्य अग्निकन्यापुरीमें निवास करता है। करवीरपुर और विशाला नदीमें स्नान करके देवह्रदमें स्नान करनेसे मनुष्य ब्रह्म होके विराजता है। फिर आवर्तनंदा और महानंदामें स्नान करनेसे मनुष्य नन्दनवनमें अप्सराओंसे सेवित और अहिंसक

उर्वशीं कृत्तिकायोगे गत्वा चैव समाहितः।
लौहित्ये विधिवत्स्नात्वा पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ४६ ॥
रामह्रद उपस्पृश्य विपाशायां कृतोदकः।
द्वादशाहं निराहारः कल्मषाद्विप्रमुच्यते ॥ ४७ ॥
महाह्रद उपस्पृश्य शुद्धेन मनसा नरः।
एकमासं निराहारो जमदग्निगतिं लभेत् ॥ ४८ ॥
विन्ध्ये संताप्य चात्मानं सत्यसन्धस्त्वहिंसकः।
विनयात्तप आस्थाय मासेनैकेन सिध्यति ॥ ४९ ॥
नर्मदायामुपस्पृश्य तथा शूर्पारकोदके।
एकपक्षं निराहारो राजपुत्रो विधीयते ॥ ५० ॥
जम्बूमार्गे त्रिभिर्मासैः संयतः सुसमाहितः।
अहोरात्रेण चैकेन सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ५१ ॥
कोकामुखे विगाह्याथ गत्वा चाञ्जलिकाश्रमम्।
शाकभक्षश्चीरवासाः कुमारीर्विन्दते दश ॥ ५२ ॥
वैवस्वतस्य सदनं न स गच्छेत्कदाचन।
यस्य कन्याह्रदे वासो देवलोकं स गच्छति ॥ ५३ ॥

होता है। कार्त्तिकी पूर्णमासीको समाहित होकर उर्वशीतीर्थमें जाके लौहित्य नदमें विधिपूर्वक स्नान करनेसे मनुष्य पुण्डरीकफल पा सकता है। (४१-४६)

बारह दिन निराहार रहके राम-ह्रद और विपाशा नदीमें स्नान करनेसे मनुष्य पापोंसे छूट जाता है। मनुष्य एक महीनेतक निराहारी रहके शुद्धचित्त से महाह्रदमें स्नान करे, तो जमदग्निकी गति पानेमें समर्थ होवे। सत्यसन्ध, अहिंसक मनुष्य विन्ध्य-तीर्थमें आत्मा को सन्तप्त करके विनयके सहित तपस्या अवलम्बन करनेसे एक महीनेमें सिद्धि लाभ कर सकता है। नर्मदा और शूर्पारकोदकमें एक पक्षतक निराहारी रहके स्नान करनेसे मनुष्य राजपुत्र होता है। जम्बूमार्गमें तीन महीनेतक संयत और उत्तम रीतिसे समाहित होकर रहनेसे मनुष्य एक दिनरातमें सिद्धिलाभ करता है।(४७—५१)

मनुष्य शाकभक्षी और चीरवासा होकर कोकामुखमें स्नान करके चाण्डालिकाश्रममें जानेसे कुमारीसंज्ञक दश तीर्थोंको पाता है, वह पुरुष कदापि यमपुरीमें नहीं जाता। कन्या-ह्रदमें वास करनेवाले देवलोकमें जाते हैं। हे

प्रभासे त्वेकरात्रेण अमावास्यां समाहितः।
सिध्यते तु महाबाहो यो नरो जायतेऽमरः ॥ ५४ ॥
उज्जानक उपस्पृश्य आर्ष्टिषेणस्य चाश्रमे।
पिङ्गायाश्चाश्रमे स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५५ ॥
कुल्यायां समुपस्पृश्य जप्त्वा चैवाघमर्षणम्।
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ ५६ ॥
पिण्डारक उपस्पृश्य एकरात्रोषितो नरः।
अग्निष्टोममवाप्नोति प्रभातां शर्वरीं शुचिः ॥ ५७ ॥
तथा ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम्।
पुण्डरीकमवाप्नोति उपस्पृश्य नरः शुचिः ॥ ५८ ॥
मैनाके पर्वते स्नात्वा तथा संध्यामुपास्य च।
कामं जित्वा च वै मासं सर्वयज्ञफलं लभेत ॥ ५९ ॥
कालोदकं नन्दिकुण्डं तथा चोत्तरमानसम्।
अभ्येत्य योजनशताद् भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ ६० ॥
नन्दीश्वरस्य मूर्तिं तु दृष्ट्वा मुच्येत किल्बिषैः।
स्वर्गमार्गे नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ ६१ ॥

महाबाहो! प्रभास तीर्थमें अमावास्या तिथिकी एक रात्रि समाहित चित्तसे निवास करके जो लोग सिद्धि लाभ करते हैं, वे अमर होते हैं। आर्ष्टिषेणके आश्रम, उज्जानक और पिङ्गाके आश्रम-में स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त होता है। कुल्या तीर्थमें स्नान कर तीन रात्र उपवास करके अघमर्षण मन्त्रका जप करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है। (५२-५६)

पिण्डारकमें स्नान करके एक रात्र उपवास करनेसे मनुष्य पवित्र होकर रात्रि बीतनेपर अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है। धर्मारण्यमें शोभित ब्रह्मसरो-वरमें जाके स्नान करनेसे मनुष्य पवित्र होके पुण्डरीकफल पाता है। मैनाक पर्वतपर स्नान करके सन्ध्याकी उपासना करनेसे मनुष्य एक महीनेमें कामको जीतकर सर्वमेध यज्ञका फल पाता है। भ्रूणहत्या करनेवाला पुरुष एक सौ योजनसे कालोदक, नन्दिकुण्ड और उत्तरमानसमें जानेसे उक्त पापसे मुक्त होता है। नन्दीश्वरकी मूर्तिका दर्शन करनेसे पापसे छुटकारा मिलता है। मनुष्य स्वर्गमार्गमें स्नान करनेसे ब्रह्मलोकमें गमन करता है। (५७-६१)

विख्यातो हिमवान्पुण्यः शंकरश्वशुरो गिरिः ।
आकरः सर्वरत्नानां सिद्धचारणसेवितः ॥ ६२ ॥
शरीरमुत्सृजेत्तत्र विधिपूर्वमनाशके ।
अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा यो वै वेदान्तगो द्विजः ॥ ६३ ॥
अभ्यर्च्य देवतास्तत्र नमस्कृत्य मुनींस्तथा ।
ततः सिद्धो दिवं गच्छेद्ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ ६४ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च यो जित्वा तीर्थमावसेत् ।
न तेन किंचिन्न प्राप्तं तीर्थाभिगमनाद्भवेत् ॥ ६५ ॥
यान्यगम्यानि तीर्थानि दुर्गाणि विषमाणि च ।
मनसा तानि गम्यानि सर्वतीर्थसमीक्षया ॥ ६६ ॥
इदं मेध्यमिदं पुण्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
इदं रहस्यं वेदानामाप्लाव्यं पावनं तथा ॥ ६७ ॥
इदं दद्याद् द्विजातीनां साधोरात्महितस्य च ।
सुहृदां च जपेत्कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च ॥ ६८ ॥
दत्तवान् गौतमस्यैतदङ्गिरा वै महातपाः ।
अङ्गिराः समनुज्ञातः काश्यपेन च धीमता ॥ ६९ ॥

महादेवका श्वशुर हिमवान् नाम विख्यात पर्वत सब रत्नोंकी खान तथा सिद्धचारणोंसे निषेवित है, उस स्थानमें अनशन व्रत अवलम्बन करके जो वेदान्तपारदर्शी ब्राह्मण जीवनको अनित्य समझकर विधिपूर्वक देवताओं और मुनियोंकी पूजा तथा उन्हें नमस्कार करके शरीर छोडते हैं, वे सिद्ध होकर स्वर्गमें गमन करते हैं और अन्तमें सनातन ब्रह्मलोकमें जाते हैं। जो पुरुष काम, क्रोध और लोभको जीतके तीर्थमें वास करता है, तीर्थगमन निबन्धनसे उसके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता। जो सब तीर्थ अगम्य, दुर्गम और विषम हैं,सर्वतीर्थोंकी समीक्षाके हेतु मनके सहारे उन तीर्थोंमें गमन करे; यही मेध्य, पवित्र और यही उत्तम स्वर्गजनक है; यह देवताओंका रहस्य है, इसलिये आप्लाव्य तथा अत्यन्त पावन है। (६२—६७)

यह द्विजातियोंको दान करे, आत्महितकर, साधु, सुहृद और अनुयायी शिष्योंके कानमें इसका जप करे। महातपस्वी अङ्गिरा मुनिने इसे गौतमको दान किया था, अङ्गिरा धीमान् काश्यपके द्वारा पूर्णरीतिसे अनुज्ञात हुए

महर्षीणामिदं जप्यं पावनानां तथोत्तमम्।
जपंश्चाभ्युत्थितः शश्वन्निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥ ७० ॥
इदं यश्चापि शृणुयाद्रहस्यं त्वङ्गिरोमतम्।
उत्तमे च कुले जन्म लभेज्जातीश्च संस्मरेत् ॥ ७१ ॥ [१७३८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे आंगिरसतीर्थयात्रायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच- बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया ब्रह्मणः समम्।
पराक्रमे शक्रसममादित्यसमतेजसम् ॥ १ ॥
गाङ्गेयमर्जुनेनाजौ निहतं भूरितेजसम्।
भ्रातृभिः सहितोऽन्यैश्च पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ २ ॥
शयानं वीरशयने कालाकाङ्क्षिणमच्युतम्।
आजग्मुर्भरतश्रेष्ठं द्रष्टुकामा महर्षयः ॥ ३ ॥
अत्रिर्वसिष्ठोऽथ भृगुः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
अङ्गिरा गौतमोऽगस्त्यः सुमतिः सुयतात्मवान् ॥ ४ ॥
विश्वामित्रः स्थूलशिराः संवर्तः प्रमतिर्दमः।
बृहस्पत्युशनोव्यासाश्च्यवनः काश्यपो ध्रुवः ॥ ५ ॥
दुर्वासा जमदग्निश्च मार्कण्डेयोऽथ गालवः।

थे; यह महर्षियोंका जप्य है, समस्त पवित्र वस्तुओंके बीच उत्तम है; मनुष्य उठकर नित्य इसे जपनेसे पापरहित होके स्वर्गलोक पाते हैं। जो लोग अंगिरासम्मत इस रहस्यको सुनते हैं, वे उत्तम कुलमें जन्म लेकर निज जातिस्मर हुआ करते हैं। (६८-७१)

अनुशासनपर्वमें २५ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें २६ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, बुद्धिमें बृहस्पति, क्षमामें ब्रह्मा, पराक्रममें इन्द्र और तेजमें सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी भीष्म जब युद्धक्षेत्रमें अर्जुनके द्वारा घायल होकर शरशय्यापर शयन करते थे, जिस समय युधिष्ठिर भाइयों तथा अन्य पुरुषोंके सहित उनसे धर्मविषय पूछ रहे थे, उस समयमें उस कालाकांक्षी भरतश्रेष्ठको देखनेकी इच्छा करके महर्षि अत्रि, वसिष्ठ, भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, गौतम, अगस्त्य, सुयतात्मवान् सुमति, विश्वामित्र, स्थूलशिरा, संवर्त्त, प्रमति, दम, बृहस्पति, उशना, व्यास, च्यवन, काश्यप, ध्रुव, दुर्वासा, जमदग्नि,

भरद्वाजोऽथ रैभ्यश्च यवक्रीतस्त्रितस्तथा ॥ ६ ॥
स्थूलाक्षः शबलाक्षश्च कण्वो मेधातिथिः कृशः।
नारदः पर्वतश्चैव सुधन्वाथैकतो द्विजः ॥ ७ ॥
नितंभूर्भुवनो धौम्यः शतानन्दोऽकृतव्रणः।
जामदग्न्यस्तथा रामः कचश्चेत्येवमादयः ॥ ८ ॥
समागता महात्मानो भीष्मं द्रष्टुं महर्षयः।
तेषां महात्मनां पूजामागतानां युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
भ्रातृभिः सहितश्चक्रे यथावदनुपूर्वशः।
ते पूजिताः सुखासीनाः कथाश्चक्रुर्महर्षयः ॥ १० ॥
भीष्माश्रिताः सुमधुराः सर्वेन्द्रियमनोहराः।
भीष्मस्तेषां कथाः श्रुत्वा ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥११॥
मेने दिविष्ठमात्मानं तुष्ट्या परमया युतः।
ततस्ते भीष्ममामन्त्र्य पाण्डवांश्च महर्षयः ॥ १२ ॥
अन्तर्धानं गताः सर्वे सर्वेषामेव पश्यताम्।
तानृषीन्सुमहाभागानन्तर्धानगतानपि ॥ १३ ॥
पाण्डवास्तुष्टुवुः सर्वे प्रणेमुश्च मुहुर्मुहुः।
प्रसन्नमनसः सर्वे गाङ्गेयं कुरुसत्तमम् ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, रैभ्य, यवक्रीत, त्रित, स्थूलाक्ष, शबलाक्ष, कण्व, मेधातिथि, कृश, नारद, पर्वत, सुधन्वा, एकत, द्वित, नितम्भू, भुवन, धौम्य, शतानन्द, अकृतव्रण जामदग्न्य राम और कच आदि महात्मा महर्षि लोग भीष्मको देखनेके लिये वहांपर उपस्थित हुए। भाइयोंके सहित युधिष्ठिरने उन आये हुए महानुभाव महर्षियोंकी विधिपूर्वक पूजा की। महर्षि लोग पूजित होकर सुखसे बैठके भीष्माश्रित, उत्तम, मधुर, सर्वेन्द्रियमनोहर कथा कहने लगे। भीष्मने उन भावितात्मा ऋषियोंका वचन सुनकर परम सन्तुष्ट होकर अपनेको स्वर्गमें पहुंचा हुआ समझा। (१—१२)

अनन्तर वे महर्षिवृन्द भीष्म और पाण्डवोंको आमन्त्रण करके सबके सम्मुखमें ही अन्तर्धान होगये। महाभाग महर्षियोंके अन्तर्हित होनेपर भी पाण्डवगण वारंवार उनकी स्तुति तथा प्रणति करने लगे। अनन्तर वे सब प्रसन्न होकर कुरुसत्तम गंगानन्दनके निकट इस प्रकार उपस्थित हुए, जैसे

उपतस्थुर्यथोद्यन्तमादित्यं मन्त्रकोविदाः ।
प्रभावात्तपसस्तेषामृषीणां वीक्ष्य पाण्डवाः ॥ १५ ॥
प्रकाशन्तो दिशः सर्वा विस्मयं परमं ययुः ।
महाभाग्यं परं तेषामृषीणामनुचिन्त्य ते ।
पाण्डवाः सह भीष्मेण कथाश्चक्रुस्तदाश्रयाः ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच– कथान्ते शिरसा पादौ स्पृष्ट्वा भीष्मस्य पाण्डवः ।
धर्म्यं धर्मसुतः प्रश्नं पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर उवाच– के देशाः के जनपदा आश्रमाः के च पर्वताः ।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यः पितामह ॥ १८ ॥
भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शिलोञ्छवृत्तेः संवादं सिद्धस्य च युधिष्ठिर ॥ १९ ॥
इमां कश्चित्परिक्रम्य पृथिवीं शैलभूषणाम् ।
असकृद् द्विपदां श्रेष्ठः श्रेष्ठस्य गृहमेधिनः ॥ २० ॥
शिलवृत्तेर्गृहं प्राप्तः स तेन विधिनाऽर्चितः ।
उवास रजनीं तत्र सुमुखः सुखभागृषिः ॥ २१ ॥
शिलवृत्तिस्तु यत् कृत्यं प्रातस्तत्कृतवाञ्छुचिः ।

मन्त्रकोविद ब्राह्मण उदयशील सूर्यके सम्मुख उपस्थित होते हैं। पाण्डव लोग ऋषियोंके प्रभावसे सब दिशाओंको प्रकाशमान देखके परम विस्मित हुए। उन लोगोंने ऋषियोंके योग ऐश्वर्य अर्थात् आकाशगमन और अन्तर्द्धान आदि महामहिमाके विषयकी चिन्ता करके भीष्मके संग उनके अवलम्बनकी कथाका प्रस्ताव किया। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कथा समाप्त होनेपर धर्म-नन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने भीष्मके दोनों चरणोंको मस्तकसे स्पर्श करके धर्मयुक्त प्रश्न किया। (१२—१७)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! कौन देश, जनपद, आश्रम, पर्वत और नदियें पुण्यप्रभावमें प्रकृष्ट तथा जानने योग्य हैं ? (१८)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें प्राचीन लोग शिलोञ्छवृत्ति और सिद्धके संवादयुक्त इस पुराने इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। कोई श्रेष्ठ पुरुष इस शैलभूषित पृथिवी की वारंवार परिक्रमा करके एक उत्तम शिलवृत्ति गृहस्थके गृहमें उपस्थित हुआ। वह सुमुख सुखभाक् नाम ऋषिने वहां उपस्थित होते ही उससे

कृतकृत्यमुपातिष्ठत् सिद्धं तमतिथिं तदा ॥ २२ ॥
तौ समेत्य महात्मानौ सुखासीनौ कथाः शुभाः ।
चक्रतुर्वेदसंबद्धास्तच्छेषकृतलक्षणाः ॥ २३ ॥
शिलवृत्तिः कथान्ते तु सिद्धमामन्त्र्य यत्नतः ।
प्रश्नं पप्रच्छ मेधावी यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २४ ॥
शिलवृत्तिरुवाच- के देशाः के जनपदाः केऽऽश्रमाः के च पर्वताः ।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यस्तदुच्यताम् ॥ २५ ॥
सिद्ध उवाच- ते देशास्ते जनपदास्तेऽऽश्रमास्ते च पर्वताः ।
येषां भागीरथी गङ्गा मध्येनैति सरिद्वरा ॥ २६ ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण यज्ञैस्त्यागेन वा पुनः ।
गतिं तां न लभेज्जन्तुर्गङ्गां संसेव्य यां लभेत् ॥ २७ ॥
स्पृष्टानि येषां गाङ्गेयैस्तोयैर्गात्राणि देहिनाम् ।
न्यस्तानि न पुनस्तेषां त्यागः स्वर्गाद्विधीयते ॥ २८ ॥
सर्वाणि येषां गाङ्गेयैस्तोयैः कार्याणि देहिनाम् ।
गां त्यक्त्वा मानवा विप्र दिवि तिष्ठन्ति ते जनाः ॥२९॥

विधिपूर्वक पूजित होकर एक रात्रि उस स्थानमें वास किया। शिलवृत्ति दूसरे दिन भोरके समय कर्त्तव्य कार्यौंको समाप्त कर पवित्र होकर उस कृतकृत्य सिद्ध अतिथिके निकट उपस्थित हुआ। वे दोनों महात्मा सुखसे एकत्र बैठके वेद उपनिषत् सम्बन्धीय कथा कहने लगे। कथा शेष होनेपर बुद्धिमान् शिलवृत्तिने यत्नपूर्वक सिद्धको आमन्त्रण करके वही विषय पूछा, जो कि तुम मुझसे पूछ रहे हो। (१९-२४)

शिलवृत्ति बोला, कौन कौनसे देश, जनपद, आश्रम, पर्वत और नदियें पुण्यप्रभावमें उत्कृष्ट हैं, तथा किन्हें विशेष रूपसे जानना होता है? उसेही आप वर्णन करिये। (२५)

सिद्ध बोला, वेही देश, जनपद, आश्रम और पर्वत उत्तम हैं, जिनके बीचसे नदियोंमें श्रेष्ठ भागीरथी गंगा गमन करती है; तपस्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ और दानसे जीवको जो गति प्राप्त होती है, गंगाको सेवन करनेसे लोग उस ही गतिको पानेमें समर्थ होते हैं। जिन देहधारियोंका शरीर गंगाजलसे स्पर्श होके नष्ट होता है, उनके उस देहत्यागसे स्वर्गलोक विहित हुआ करता है। हे विप्र! जिन लोगोंके सब कार्य गंगाजलसे सम्पन्न होते हैं, वे

पूर्वे वयसि कर्माणि कृत्वा पापानि ये नराः।
पश्चाद्गङ्गां निषेवन्ते तेऽपि यान्त्युत्तमां गतिम् ॥ ३० ॥
स्नातानां शुचिभिस्तोयैर्गाङ्गेयैः प्रयतात्मनाम्।
व्युष्टिर्भवति या पुंसां न सा क्रतुशतैरपि ॥ ३१ ॥
यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ ३२ ॥
अपहृत्य तमस्तीव्रं यथा भात्युदये रविः।
तथाऽपहृत्य पाप्मानं भाति गङ्गाजलोक्षितः ॥ ३३ ॥
विसोमा इव शर्वर्यो विपुष्पास्तरवो यथा।
तद्वद्देशा दिशश्चैव हीना गङ्गाजलैः शिवैः ॥ ३४ ॥
वर्णाश्रमा यथा सर्वे धर्मज्ञानविवर्जिताः।
क्रतवश्च यथाऽसोमास्तथा गङ्गां विना जगत् ॥ ३५ ॥
यथा हीनं नभोऽर्केण भूः शैलैः खं च वायुना।
तथा देशा दिशश्चैव गङ्गाहीना न संशयः ॥ ३६ ॥
त्रिषु लोकेषु ये केचित्प्राणिनः सर्वे एव ते।
तर्प्यमाणाः परां तृप्तिं यान्ति गंगाजलैः शुभैः ॥ ३७ ॥

मनुष्य पृथिवीको त्यागके स्वर्गमें निवास करते हैं। जो मनुष्य पहली अवस्थामें पापकार्य करके पीछे गंगातीरपर वास करते हैं, वे भी उत्तम गति पासकते हैं, पवित्र गंगाजलमें स्नान करके जो लोग प्रसन्नचित्त हुए हैं, उन मनुष्यों-का जितना पुण्य बढता है, सैकडों यज्ञोंसे भी वैसा पुण्य लाभ नहीं होता। (२६-३१)

मनुष्यकी हड्डी जितने समयतक गंगाजलमें स्थित रहती है, उतने सहस्र वर्षतक वह स्वर्गलोकमें वास किया करता है। जैसे सूर्य उदय होनेके समय घोर अन्धकारका नाश करके शोभित होता है, गंगाजलमें स्नान करनेवाले मनुष्य भी उस ही प्रकार पापोंको नष्ट करके प्रकाशित होते हैं। चन्द्रमासे रहित रात्रि और पुष्पहीन वृक्षोंकी भांति कल्याणकारी गंगाजलसे रहित दिशा और देश शोभाहीन हुआ करते हैं। धर्मज्ञानरहित आश्रम और सोम-रसरहित यज्ञकी भांति गंगाके विना जगत् शोभा नहीं पाता। सूर्यरहित आकाशमण्डल, पहाडरहित पृथ्वी तथा वायुहीन आकाशकी भांति सब देश और सब दिशा निःसन्देह प्रभाहीन

यस्तु सूर्येण निष्टप्तं गाङ्गेयं पिबते जलम् ।
गवां निर्हारनिर्मुक्तायावकात्तद्विशिष्यते ॥ ३८ ॥
इन्दुव्रतसहस्रं तु यश्चरेत्कायशोधनम् ।
पिबेद्यश्चापि गंगाम्भः समौ स्यातां न वा समौ ॥ ३९ ॥
तिष्ठेद्युगसहस्रं तु पदेनैकेन यः पुमान् ।
मासमेकं तु गंगायां समौ स्यातां न वा समौ ॥४० ॥
लम्बतेऽवाक्शिरा यस्तु युगानामयुतं पुमान् ।
तिष्ठेद्यथेष्टं यश्चापि गंगायां स विशिष्यते ॥ ४१ ॥
अग्नौ प्रास्तं प्रधूयेत यथा तूलं द्विजोत्तम ।
तथा गंगावगाढस्य सर्वपापं प्रधूयते ॥ ४२ ॥
भूतानामिह सर्वेषां दुःखोपहतचेतसाम् ।
गतिमन्वेषमाणानां न गंगासदृशी गतिः ॥ ४३ ॥
भवन्ति निर्विषाः सर्पा यथा तार्क्ष्यस्य दर्शनात् ।
गंगाया दर्शनात्तद्वत्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

होती हैं। तीनों लोकोंके बीच जो सब प्राणी हैं, वे पवित्र गंगाजलसे तर्पित होकर परम तृप्ति लाभ करते हैं। (३१—३७)

जो पुरुष सूर्यसन्तप्त गंगाजल पीता है, उसे गौवोंके गोवरसे बाहर हुए यव विकारके भक्षण करने तथा यावकव्रताचरणसे भी अधिक फल प्राप्त होता है। जो पुरुष शरीर शुद्ध करनेके लिये सहस्र चान्द्रायण व्रत करता है और जो मनुष्य गंगाजल पीता है; नहीं कह सकते, कि वे दोनों समान होते हैं या नहीं; यदि कोई पुरुष सहस्र युग पर्यन्त एक पदसे निवास करे और दूसरा पुरुष यदि एक महीनेतक गंगाके तीरपर वास करे, तो वे दोनों समान होसकते हैं और नहीं भी होसकते। जो पुरुष दश हजार युगतक अवाक्शिरा होकर लटकता रहता है और जो पुरुष गंगाके तटपर वास करता है वह पहले कहे हुए पुरुषसे श्रेष्ठ होता है। हे द्विजोत्तम! जैसे अग्निमें पड़ी हुई रुई भस्म होजाती है, वैसे ही जो पुरुष गंगामें स्नान करते हैं, उनके सब पाप नष्ट होते हैं। (३८—४२)

इस लोकमें दुःखयुक्त चित्त और उपायकी खोज करनेवाले प्राणियोंके लिये गंगाके समान और कोई भी गति नहीं है। जैसे सर्प तार्क्ष्यदर्शन निबन्धनसे विषरहित होते हैं, वैसेही मनुष्य भी

अप्रतिष्ठाश्च ये केचिद्धर्मशरणाश्च ये ।
तेषां प्रतिष्ठा गंगेह शरणं शर्म वर्म च ॥ ४५ ॥
प्रकृष्टैरशुभैर्ग्रस्तानेकैः पुरुषाधमान् ।
पततो नरके गंगासंश्रितान्प्रेत्य तारयेत् ॥ ४६ ॥
ते संविभक्ता मुनिभिर्नूनं देवैः सवासवैः ।
येऽभिगच्छन्ति सततं गंगां मतिमतां वर ॥ ४७ ॥
विनयाचारहीनाश्च अशिवाश्च नराधमाः ।
ते भवन्ति शिवा विप्र ये वै गंगामुपाश्रिताः ॥ ४८ ॥
यथा सुराणाममृतं पितॄणां च यथा स्वधा ।
सुधा यथा च नागानां तथा गंगाजलं नृणाम् ॥ ४९ ॥
उपासते यथा बाला मातरं क्षुधयाऽर्दिताः ।
श्रेयस्कामास्तथा गंगामुपासन्तीह देहिनः ॥ ५० ॥
स्वायंभुवं यथा स्थानं सर्वेषां श्रेष्ठमुच्यते ।
स्नातानां सरितां श्रेष्ठा गंगा तद्वदिहोच्यते ॥ ५१ ॥
यथोपजीविनां धेनुर्देवादीनां धरा स्मृता ।

गंगाका दर्शन करते ही पापोंसे छूट जाते हैं। जो लोग प्रतिष्ठारहित होके अधर्मको अवलम्बन किया करते हैं, इस लोकमें गंगा ही उन लोगोंके लिये सहारा है, गंगाही सुख और संरक्षण धर्मस्वरूप है। अनेक प्रकारके प्रकृष्ट, पापग्रस्त, अधम पुरुष नरकमें पडते पडते भी यदि गंगाका आश्रय करें, तो गंगा उन्हें परलोकमें भी उत्तीर्ण करती है। हे मतिमतांवर! जो लोग सदा गंगाकी ओर गमन करते हैं, इन्द्रके सहित देवताओं और मुनियोंके द्वारा निश्चय ही वे संविभक्त हुआ करते हैं। (४३—४७)

हे विप्र! जो सब विनयाचार और कल्याणरहित अधम पुरुष भी गंगाके निकट आश्रित हुआ करते हैं, वे शिवस्वरूप हैं। जैसे देवताओंको अमृत, पितरोंको स्वधा और नागोंके लिये सुधा है, मनुष्योंके लिये गंगाजल भी वैसे ही है। जैसे भूखे बालक माताकी उपासना करते हैं; इस लोकमें कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुष भी उस ही भांति गंगाकी आराधना किया करते हैं। जैसे स्वायम्भुव पद सबसे श्रेष्ठ कहा गया है, वैसे ही इस लोकमें स्नातक लोगोंके लिये नदियोंमें श्रेष्ठ गंगा ही सबसे उत्तम कहके वर्णित

तथोपजीविनां गंगा सर्वप्राणभृतामिह ॥ ५२ ॥
देवाः सोमार्कसंस्थानि यथा सत्रादिभिर्मखैः ।
अमृतान्युपजीवन्ति तथा गंगाजलं नराः ॥ ५३ ॥
जाह्नवीपुलिनोत्थाभिः सिकताभिः समुक्षितम् ।
आत्मानं मन्यते लोको दिविष्ठमिव शोभितम् ॥५४॥
जाह्नवीतीरसंभूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्ति यः ।
बिभर्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय निर्मलम् ॥ ५५ ॥
गंगोर्मिभिरथो दिग्धः पुरुषं पवनो यदा ।
स्पृशते सोऽस्य पाप्मानं सद्य एवापकर्षति ॥ ५६ ॥
व्यसनैरभितप्तस्य नरस्य विनशिष्यतः ।
गंगादर्शनजा प्रीतिर्व्यसनान्यपकर्षति ॥ ५७ ॥
हंसारावैः कोकरवै रवैरन्यैश्च पक्षिणाम् ।
पस्पर्ध गंगा गन्धर्वान् पुलिनैश्च शिलोच्चयान् ॥ ५८ ॥
हंसादिभिः सुबहुभिर्विविधैः पक्षिभिर्वृताम् ।
गंगां गोकुलसंबाधां दृष्ट्वा स्वर्गोऽपि विस्मृतः ॥ ५९ ॥
न सा प्रीतिर्दिविष्ठस्य सर्वकामानुपाश्नतः ।

हुआ करती है। जैसे उपजीवी लोगोंके लिये गऊ और देवताओंके लिये पृथ्वी है, वैसे ही प्राणियोंके पक्षमें गंगा है। जैसे देववृन्द सोम-सूर्य संस्थ-सत्रादिके सहारे अमृत उपभोग किया करते हैं, वैसे ही मनुष्य गंगाजलको उपजीव्य करके जीवन बिताते हैं। जान्हवीपुलिनमें उडते हुए वालूकणसे पूरित शरीरको लोग स्वर्गस्थके समान शोभित समझते हैं। (४८-५४)

जो लोग गंगाके तीरकी मृत्तिका सिर पर चढाते हैं, वे अन्धकारनाशके निमित्त सूर्यकी भांति निर्मल रूप लाभ करते हैं। गंगाकी तरंगसे युक्त वायु पुरुषको स्पर्श करते ही उसका पाप हरण किया करती है। विपदमें पडके जो मनुष्य विनष्ट होते हों, उनकी गंगादर्शन-जनित प्रीति विपदको नष्ट करती है। हंस, चक्रवाक और अन्य पक्षियोंके शब्दके सहारे गंगाने गन्धर्वों और पुलिनके द्वारा शिलासमूहकी स्पर्धा की है। हंस प्रभृति अनेक भांतिके पक्षीव्यूहसे परिपूरित और गोकुल सम्बाधशालिनी गंगाका दर्शन करनेसे स्वर्ग भी भूल जाता है। (५५-५९)

गंगातीरमें मनुष्योंको जैसी प्रीति

संभवेद्या परा प्रीतिर्गंगायाः पुलिने नृणाम् ॥ ६० ॥
वाङ्मनःकर्मजैर्ग्रस्तः पापैरपि पुमानिह ।
वीक्ष्य गंगां भवेत्पूतो अत्र मे नास्ति संशयः ॥६१॥
सप्तावरान् सप्त परान् पितॄंस्तेभ्यश्च ये परे ।
पुमांस्तारयते गंगां वीक्ष्य स्पृष्ट्वाऽवगाह्य च ॥ ६२ ॥
श्रुताऽभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टावगाहिता ।
गंगा तारयते नृणामुभौ वंशौ विशेषतः ॥ ६३ ॥
दर्शनात्स्पर्शनात्पानात्तथा गंगेति कीर्तनात् ।
पुनात्यपुण्यान्पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६४ ॥
य इच्छेत्सफलं जन्म जीवितं श्रुतमेव च ।
स पितॄंस्तर्पयेद्गंगामभिगम्य सुरांस्तथा ॥ ६५ ॥
न सुतैर्न च वित्तेन कर्मणा न च तत्फलम् ।
प्राप्नुयात्पुरुषोऽत्यन्तं गंगां प्राप्य यदाप्नुयात् ॥ ६६ ॥
जात्यन्धैरिह तुल्यास्ते मृतैः पंगुभिरेव च ।
समर्था ये न पश्यन्ति गंगां पुण्यजलां शिवाम् ॥ ६७ ॥
भूतभव्यभविष्यज्ञैर्महर्षिभिरुपस्थिताम् ।

उत्पन्न होती है, सर्वकामफल भोगनेवाले स्वर्गवासी पुरुषोंकी भी वैसी प्रीति नहीं होती। वचन, मन और कर्मज पापग्रस्त मनुष्य इस लोकमें गंगाका दर्शन करनेसे ही पवित्र होते हैं, इसमें कुछभी सन्देह नहीं है। जो पुरुष गंगाका दर्शन करता, गंगाजल स्पर्श करता तथा उसमें स्नान करता है, वह पहलेके सात और पीछेके सात पुरुषों तथा इसके अतिरिक्त जो सब पितर हैं, उन्हें भी उत्तीर्ण करता है। विशेष रीतिसे गंगामहात्म्य सुनना, गंगातीरमें जानेकी अभिलाष, गंगाजल पीने, स्पर्श करने, देखने तथा उसमें स्नान करनेसे मनुष्य पितृकुल और मातृकुल, दोनोंकाही उद्धार करता है। (६०-६३)

देखने, स्पर्श करने, पीने और गंगाका नाम लेनेसे भी वह एक सौ पुरुषोंको पवित्र करता है। जो लोग जन्म, जीवन और शास्त्रपाठ सफल करनेकी इच्छा करें, वे गंगामें जाकर पितरों और देवताओंका तर्पण करें। गंगामें गमन करनेसे पुरुष जो फल पाता है; पुत्र, वित्त और कर्मसे वह फल नहीं मिलता। जो समर्थ होके भी पुण्यजलवाली कल्याणदायिनी गंगाका दर्शन

देवैः सेन्द्रैश्च को गंगां नोपसेवेत मानवः ॥ ६८ ॥
वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च यतिभिर्ब्रह्मचारिभिः ।
विद्यावद्भिः श्रितां गंगां पुमान्को नाम नाश्रयेत् ॥६९॥
उत्क्रामद्भिश्च यः प्राणैः प्रयतः शिष्टसंमतः ।
चिन्तयेन्मनसा गंगां स गतिं परमां लभेत् ॥ ७० ॥
न भयेभ्यो भयं तस्य न पापेभ्यो न राजतः ।
आदेहपतनाद्गंगामुपास्ते यः पुमानिह ॥ ७१ ॥
महापुण्यां च गगनात्पतन्तीं वै महेश्वरः ।
दधार शिरसा गंगां तामेव दिवि सेविते ॥ ७२ ॥
अलंकृतास्त्रयो लोकाः पथिभिर्विमलैस्त्रिभिः ।
यस्तु तस्या जलं सेवेत्कृतकृत्यः पुमान् भवेत ॥ ७३ ॥
दिवि ज्योतिर्यथाऽऽदित्यः पितॄणां चैव चन्द्रमाः ।
देवेशश्च यथा नृणां गंगा च सरितां तथा ॥ ७४ ॥
मात्रा पित्रा सुतैर्दारैर्विमुक्तस्य धनेन वा ।
न भवेद्धि तथा दुःखं यथा गंगावियोगजम् ॥ ७५ ॥

नहीं करता, वह जन्मान्ध मृतक और पंगुके समान है। भूत-भविष्यको जाननेवाले महर्षियों और इन्द्र आदि देवताओंसे पूजित गंगाकी कौन मनुष्य सेवा न करेगा? वानप्रस्थ, गृहस्थ, यति, ब्रह्मचारी और विद्यावान् पुरुषोंसे अवलम्बित गंगाका कौन मनुष्य आश्रय न करेगा? (६४—६९)

प्राण निकलनेके समय जो मनुष्य एकाग्र और शिष्टसंमत होकर मन ही मन गंगाका ध्यान करता है, उसे परम गति प्राप्त होती है। इस लोकमें जो मनुष्य शरीर छूटनेतक गंगाकी उपासना करता है, उसे पाप तथा व्याघ्र आदि अथवा राजासे भी भय नहीं होता। आकाशसे पतनशील जिस महापवित्र गंगाको महेश्वरने सिर पर धारण किया था, स्वर्गमें सब कोई उसकी ही सेवा किया करते हैं। जिसके तीनों पवित्र मार्गसे त्रिभुवन अलंकृत होरहा है, जो पुरुष उस गंगाजलको सेवन करता है, वह कृतकृत्य होता है। जैसे देवताओंमें आदित्य, पितरोंमें चन्द्रमा और मनुष्योंमें राजा श्रेष्ठ है, नदियोंके बीच गंगाभी वैसी ही उत्तम है। (७०—७४)

गंगाके वियोगसे जैसा दुःख होता है, माता, पिता, पत्नी और धनके विर-

नारण्यैर्नेष्टविषयैर्न सुतैर्न धनागमैः।
तथा प्रसादो भवति गंगां वीक्ष्य यथा भवेत् ॥ ७६॥
पूर्णमिन्दुं यथा दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति।
तथा त्रिपथगां दृष्ट्वा नृणां दृष्टिः प्रसीदति ॥ ७७॥
तद्भावस्तद्गतमनास्तन्निष्ठस्तत्परायणः।
गंगां योऽनुगतो भक्त्या स तस्याः प्रियतां व्रजेत् ॥७८॥
भूस्थैः खस्थैर्दिविष्ठैश्च भूतैरुच्चावचैरपि।
गंगा विगाह्या सततमेतत्कार्यतमं सताम् ॥ ७९॥
विश्वलोकेषु पुण्यत्वाद्गंगायाः प्रथितं यशः।
यत्पुत्रान्सगरस्यैतो भस्माख्यानंनयद्दिवम् ॥ ८०॥
वाय्वीरिताभिः सुमनोहराभिर्द्रुताभिरत्यर्थसमुत्थिताभिः।
गंगोर्मिभिर्भानुमतीभिरिद्धाः सहस्ररश्मिप्रतिमा भवन्ति ॥ ८१॥
पयस्विनीं घृतिनीमत्युदारां समृद्धिनीं वेगिनीं दुर्विगाह्याम्।
गंगां गत्वा यैः शरीरं विसृष्टं गता धीरास्ते विबुधैः समत्वम् ॥८२॥
अन्धान् जडान्द्रव्यहीनांश्च गंगा यशस्विनी बृहती विश्वरूपा।

हमें वैसा दुःख नहीं होता। गंगाके दर्शनसे जैसी प्रसन्नता होती है, अरण्य, अभिलषित विषय, पुत्र और धन प्राप्तिसे वैसी प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती। जैसे पूर्ण चन्द्रमाके दर्शनसे मनुष्योंके नेत्र प्रसन्न होते हैं, वैसे ही पृथ्वीगामिनी गंगाका दर्शन करनेसे नेत्र प्रसन्न हुआ करते हैं। जो लोग गंगाहीमें भावना करते, उसहीमें चित्त लगाके तथा उसीमें निष्ठावान् होके भक्तिपूर्वक गंगाके अनुगत होते हैं, वे लोग उसे प्रिय हुआ करते हैं। भूमिचर आकाशचर और स्वर्गवासी अनेक प्रकारके प्राणियोंको गंगामें सदा स्नान करना चाहिये; यह साधुओंका अवश्य कर्त्तव्य कार्य है। सब लोकोंमें गंगाकी कीर्त्ति विख्यात है, क्यों कि उन्होंने सगरके भस्मीभूत पुत्रोंको इस लोकसे स्वर्गमें भेजा था। (७६—८०)

वायुके बहनेसे उत्तम मनोहर अत्यन्त वेगसे उठती हुई तरंगोंसे युक्त होकर गंगामें निर्दोष रूपसे प्रकाशमान मनुष्य सहस्ररश्मिके सदृश होते हैं। पयस्विनी, घृतशालिनी, अत्यन्त उदार, वेगवती और दुर्विगाह्य गंगामें जाकर जो लोग शरीर परित्याग करते हैं, वे धीर पुरुष देवताओंकी समता लाभ करते हैं। इन्द्रके सहित देवताओं, मुनियों और

देवैः सेन्द्रैर्मुनिभिर्मानवैश्च निषेविता सर्वकामैर्युनक्ति ॥ ८३ ॥
ऊर्जावतीं महापुण्यां मधुमतीं त्रिवर्त्मगाम् ।
त्रिलोकगोप्त्रीं ये गंगां संश्रितास्ते दिवं गताः ॥८४॥
यो वत्स्यति द्रक्ष्यति वापि मर्त्यस्तस्मै प्रयच्छन्ति सुखानि देवाः ।
तद्भाविताः स्पर्शनदर्शनेन इष्टां गतिं तस्य सुरा दिशन्ति ॥८५॥
दक्षां पृश्निं बृहतीं विप्रकृष्टां शिवामृद्धां भागिनीं सुप्रसन्नाम् ।
विभावरीं सर्वभूतप्रतिष्ठां गंगां गता ये त्रिदिवं गतास्ते ॥ ८६ ॥
ख्यातिर्यस्याः खं दिवं गां च नित्यं पुरा दिशो विदिशश्चावतस्थे ।
तस्या जलं सेव्य सरिद्वराया मर्त्याः सर्वे कृतकृत्या भवन्ति ॥८७॥
इयं गंगेति नियतं प्रतिष्ठा गुहस्य रुक्मस्य च गर्भयोषा ।
प्रातस्त्रिवर्गा घृतवहा विपाप्मा गंगावतीर्णा वियतो विश्वतोया ॥८८॥

मनुष्योंसे सेवित यशस्विनी, बृहती, विश्वरूपा गंगा अन्धे, जड, और धन-हीन पुरुषोंकी सब कामना पूरी करती है। (८१-८३)

जो लोग ऊर्जावती अर्थात् अन्न पश्वादिशालिनी, महापुण्य, मधुमती अर्थात् कर्म फलवती, त्रिपथगामिनी, त्रिलोकपावनी गंगाका आसरा करते हैं, वे स्वर्गमें गमन किया करते हैं। जो मनुष्य श्रीगंगाके तटपर निवास करते अथवा गङ्गाका दर्शन करते हैं, गंगाके दर्शन और उसके जलको स्पर्श करनेसे महत्त्व पाये हुए देवतावृन्द उसे समस्त सुख प्रदान करते. तथा उसकी अभि-लषित गति प्रदान किया करते हैं। तारनेमें समर्थ विष्णुजननी, वाक्यरूपसे बृहती, विप्रकृष्टा, कल्याणदायिनी, छहों ऐश्वर्योंसे युक्त, अत्यन्त प्रसन्न, प्रकाशात्मिका और सर्वभूत-प्रतिष्ठा गंगामें जिन्होंने गमन किया है, वे स्वर्ग लोक पाते हैं। (८४-८६)

जिसकी ख्याति अर्थात् पवित्र कीर्त्ति आकाशमण्डल, द्युलोक और दिशा विदिशामें सर्वत्र निवास करती है, गंगाजलको सेवन करके मनुष्य कृतकृत्य हुआ करते हैं। गंगाका दर्शन करके जो पुरुष दूसरेको "यह गंगा" इस वचनसे गंगाको दिखा देते हैं, उनके लिये गंगा ही मुक्तिका हेतु हुआ करती है। जो कार्त्तिकेय और सुवर्णकी गर्भधारिणी है, भोरके समय जिसमें स्नानकरनेसे त्रिवर्ग लाभ होता है; जो घृतस्वरूप जलसे युक्त होकर बहती है, वह पापसम्पर्कसे रहित जगत्के प्राणियोंके लिये प्रियजलवाली गंगा स्वर्गसे उतरी है। हे महाराज!

सुतावनीध्रस्य हरस्य भार्या दिवो भुवश्चापि कृतानुरूपा ।
भव्या पृथिव्यां भागिनी चापि राजन् गंगा लोकानां पुण्यदा वै त्रयाणाम् ८९
मधुस्रवा घृतधारा घृतार्चिर्महोर्मिभिः शोभिता ब्राह्मणैश्च ।
दिवश्च्युता शिरसाऽऽप्ता शिवेन गंगाऽवनीध्रात्त्रिदिवस्य माता ॥९०॥
योनिर्वरिष्ठा विरजा वितन्वी शय्या चिरा वारिवहा यशोदा ।
विश्वावती चाकृतिरिष्टसिद्धा गंगोक्षितानां भुवनस्य पन्थाः ॥९१॥
क्षान्त्या मह्या गोपने धारणे च दीप्त्या कृशानोस्तपनस्य चैव ।
तुल्या गंगा संमता ब्राह्मणानां गुहस्य ब्रह्मण्यतया च नित्यम् ॥९२॥
ऋषिष्टुतां विष्णुपदीं पुराणां सुपुण्यतोयां मनसाऽपि लोके ।
सर्वात्मना जाह्नवीं ये प्रपन्नास्ते ब्रह्मणः सदनं संप्रयाताः ॥ ९३ ॥
लोकानवेक्ष्य जननीव पुत्रान् सर्वात्मना सर्वगुणोपपन्नान् ।
तत्स्थानकं ब्राह्ममभीप्समानैर्गंगा सदैवात्मवशैरुपास्या ॥ ९४ ॥

जो मेरु और हिमालय पर्वतकी पुत्री, महादेवकी पत्नी और स्वर्ग अथवा पृथ्वीमण्डलकी भूषण रूपी है, पृथिवीमें कल्याणदायिनी, ऐश्वर्यशालिनी वह भागीरथी तीनों लोकोंकी पवित्रताका विधान करती है । (८७—८९)

धर्मद्रवमयी रूपसे मधु झरनेवाली घृतधारा अर्थात् तेजप्रवाहयुक्त घृतकी भाँति जलमयी महातरङ्गमाला और ब्राह्मणोंसे शोभित गंगा स्वर्गसे महादेवके सिरपर भ्रमित होके हिमालय पर्वतसे पृथ्वीपर उतरकर त्रिदिवनिवासी देवताओंकी माता हुई । परमकारण-स्वरूपिणी, निर्मल, सूक्ष्म रूपवाली, मृत्युशय्यारूपिणी शीघ्रगामिनी जलवहा, यशोदा, विश्वपालन-कर्त्री, सत्ता, सामान्य-स्वरूपिणी और सिद्धगणकी अभिलषित गंगा, स्नान करनेवाले मनुष्योंके लिये स्वर्गमें गमन करनेका पथस्वरूप है । (९०—९१)

क्षमा, गोपन और धारणा विषयमें पृथ्वीके समान, तेजमें अग्नि और सूर्य-सदृश गंगा ब्राह्मण जातिके विषयमें कृपा करके निषादों तथा ब्राह्मणोंमें अत्यन्त सम्मत हुई हैं । ऋषियोंमें स्तुतिसे युक्त, पवित्र, जलमयी, विष्णुके चरणसे उत्पन्न जन्हुपुत्रीका इस लोकमें प्रत्यक्ष दर्शन तो दूर रहे, शुद्धचित्तसे यदि मनुष्य मनसे भी गंगाका आसरा करें, तो वे ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं । जैसे माता सन्तानोंको देखती है, वैसे ही गंगा सब गुणोंसे युक्त लोकोंको सब प्रकारसे नाशवान अवलोकन करती है, इसीसे ब्रह्मपदकी अभिलाष करने-

उस्रां पुष्टां मिषतीं विश्वभोज्यामिरावतीं धारिणीं भूधराणाम् ।
शिष्टाश्रयाममृतां ब्रह्मकान्तां गंगां श्रयेदात्मवान् सिद्धिकामः ॥९५॥
प्रसाद्य देवान् सविभून्समस्तान् भगीरथस्तपसोग्रेण गंगाम् ।
गामानयत्तामभिगम्य शश्वत्पुंसां भयं नेह चामुत्र विद्यात् ॥९६॥
उदाहृतः सर्वथा ते गुणानां मयैकदेशः प्रसमीक्ष्य बुद्ध्या ।
शक्तिर्न मे काचिदिहास्ति वक्तुं गुणान्सर्वान्परिमातुं तथैव ॥९७॥
मेरोः समुद्रस्य च सर्वरत्नैः संख्योपलानामुदकस्य चापि ।
शक्यं वक्तुं नेह गंगाजलानां गुणाख्यानां परिमातुं तथैव ॥९८॥
तस्मादेतान्परया श्रद्धयोक्तान् गुणान् सर्वान् जाह्नवीयान् सदैव ।
भवेद्वाचा मनसा कर्मणा च भक्त्या युक्तः श्रद्धया श्रद्दधानः ॥९९॥
लोकानिमांस्त्रीन्यशसा वितत्य सिद्धिं प्राप्य महतीं तां दुरापाम् ।
गंगाकृतानचिरेणैव लोकान्यथेष्टमिष्टान् विहरिष्यसि त्वम् ॥१००॥
तव मम च गुणैर्महानुभावा जुषतु मतिं सततं स्वधर्मयुक्तैः ।
अभिमतजनवत्सला हि गंगा जगति युनक्ति सुखैश्च भक्तिमन्तम् १०१॥

वाले चित्तजयी पुरुष सदा उसकी उपासना किया करते हैं। सिद्धिकाम आत्मवान मनुष्य पुष्टि करनेवाली अमृतदुघा, सर्वज्ञा, अन्नवती, विश्वभोज्या शैलजननी शिष्टोंसे अवलम्बित अपरिमित ब्रह्माके मनको हरनेवाली गंगाका आसरा करते हैं। (९२-९५)

भागीरथी उग्र तपस्यासे ईश्वरके सहित समस्त देवताओंको प्रसन्न करके तब गंगाके संमुख जाकर उसे पृथ्वीपर लाये हैं, उनके समीपमें सदाके लिये मनुष्योंको कुछ भय नहीं है। मैंने बुद्धिसे सब प्रकार आलोचना करके तुम्हारे गुणोंका एक ही भाग वर्णन किया है, तुम्हारे गुणोंका वर्णन और परिमाण करनेमें मुझे कुछ भी सामर्थ्य नहीं है। वरन सुमेरुके पत्थरों और समुद्रके जलकी यत्नपूर्वक संख्या हो-सकती है, परन्तु गंगाजलके गुणोंको वर्णन और परिमाण करनेकी शक्ति नहीं होती। (९६—९८)

इस लिये मैंने परम श्रद्धाके सहित यह जो जान्हवीके गुणोंका वर्णन किया है, उसे सदा सुनके वचन, मन और कर्मके द्वारा अभियुक्त तथा श्रद्धावान् होना चाहिये। इन तीनों लोकोंमें यश फैलाकर दुष्प्राप्य महती श्री पाके तुम गंगाविनिर्मित लोकोंमें थोडे ही समय-के बीच विहार करोगे। महानुभावा गंगा स्वधर्मयुक्त गुणोंसे तुम्हारी और

भीष्म उवाच- इति परममतिर्गुणानशेषान् शिलरतये त्रिपथानुयोगरूपान्।
बहुविधमनुशास्य तथ्यरूपान् गगनतलं द्युतिमान् विवेश सिद्धः १०२॥
शिलवृत्तिस्तु सिद्धस्य वाक्यैः संबोधितस्तदा।
गंगामुपास्य विधिवत्सिद्धिं प्राप सुदुर्लभाम् ॥१०३॥
तथा त्वमपि कौन्तेय भक्त्या परमया युतः।
गंगामभ्येहि सततं प्राप्स्यसे सिद्धिमुत्तमाम् ॥१०४॥
वैशम्पायन उवाच- श्रुत्वेतिहासं भीष्मोक्तं गंगायाः स्तवसंयुतम्।
युधिष्ठिरः परां प्रीतिमगच्छद्भ्रातृभिः सह ॥ १०५ ॥
इतिहासमिमं पुण्यं शृणुयाद्यः पठेत वा।
गंगायाः स्तवसंयुक्तं स मुच्येत्सर्वकिल्बिषैः ॥१०६॥ [१८४४]
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे गंगामाहात्म्यकथने षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच- प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च यथा भवान्।
गुणैश्च विविधैः सर्वैर्वयसा च समन्वितः ॥ १ ॥
भवान् विशिष्टो बुद्ध्या च प्रज्ञया तपसा तथा।

मेरी बुद्धिको सदा संयुक्त करें, क्यों कि वह भक्तजनवत्सला भक्तिमान् पुरुषोंको सुखयुक्त किया करती है। (९९-१०१)

भीष्म बोले, द्युतिमान्,विद्वान्, परम बुद्धिमान् सिद्धने शिलवृत्तिको इस ही प्रकार गंगानुगत यथार्थ गुणोंको विस्तारपूर्वक वर्णन करके पृथ्वीपर प्रकाशित किया। शिलवृत्तिने उस समय सिद्धका वचन सुनकर विधिपूर्वक गंगा की उपासना करके दुर्लभ सिद्धि प्राप्त की। हे कौन्तेय! तुम उस ही भांति परम भक्तियुक्त होकर नित्य गंगाके निकट गमन करके परम सिद्धि प्राप्त करोगे। (१०२-१०४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा युधिष्ठिर भाइयोंके सहित भीष्मके कहे हुए भागीरथीका स्तवसंयुक्त इतिहास सुनके परम प्रसन्न हुए। जो मनुष्य गंगाके स्तवयुक्त इस पवित्र इतिहासको सुनता अथवा पाठ करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है। (१०५-१०६)

अनुशासनपर्वमें २६ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें २७ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे धार्मिकप्रवर! आप जैसे प्रज्ञा, शास्त्रज्ञान, चरित्र, सद्वृत्त, विविध गुणों और अवस्थाक्रमसे संयुक्त हैं; वैसे ही बुद्धि, प्रज्ञा

तस्माद्भवन्तं पृच्छामि धर्मं धर्मभृतां वर ॥ २ ॥
नान्यस्त्वदन्यो लोकेषु प्रष्टव्योऽस्ति नराधिप।
क्षत्रियो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ॥ ३ ॥
ब्राह्मण्यं प्राप्नुयाद्येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ४ ॥
भीष्म उवाच- ब्राह्मण्यं तात दुष्प्राप्यं वर्णैः क्षत्रादिभिस्त्रिभिः।
परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद्युधिष्ठिर ॥ ५ ॥
बह्वीस्तु संसरन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः।
पर्याये तात कस्मिंश्चिद्ब्राह्मणो नाम जायते ॥ ६ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मतङ्गस्य च संवादं गर्दभ्याश्च युधिष्ठिर ॥ ७ ॥
द्विजातेः कस्यचित्तात तुल्यवर्णः सुतस्त्वभूत।
मतंगो नाम नाम्ना वै सर्वैः समुदितो गुणैः ॥ ८ ॥
स यज्ञकारः कौन्तेय पित्रोत्सृष्टः परन्तप।

और तपस्या विषयमें भी विशिष्ट हैं, इस लिये मैं आपसे धर्मविषय पूछता हूं। हे नरनाथ! हे राजसत्तम! तीनों लोकोंमें क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्रके बीच आपके समान ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है, जिससे धर्मजिज्ञासा किया जाय। इसलिये जिस धर्मके सहारे ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है, आप मेरे निकट उसकी ही व्याख्या करिये। अत्यन्त महत् तपस्या, कर्म अथवा शास्त्रज्ञानसे यदि ब्राह्मणत्वकी इच्छा की जाय, तो वह किस प्रकार प्राप्त हो? हे पितामह! आप मुझसे वही कहिये। (१-४)

भीष्म बोले, हे तात युधिष्ठिर! क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंके द्वारा ब्राह्मणत्वप्राप्ति अत्यन्त दुष्प्राप्य है, परन्तु वह ब्राह्मणत्व सब प्राणियोंका अवलम्ब है। हे तात! जीव अनेक योनियोंमें भ्रमण करते हुए बार बार जन्म लेकर उसके अनन्तर किसी जन्ममें ब्राह्मण होकर जन्मता है। हे युधिष्ठिर! इस विषयमें प्राचीन लोग मतङ्ग और गर्दभीके संवादयुक्त पुराना इतिहास कहा करते हैं। किसी द्विजातिके मतंग नाम उत्तम विख्यात सब गुणोंसे युक्त और अन्य-वर्णज होके भी जातकर्मादि संस्कार निबन्धनसे तुल्यवर्ण एक पुत्र था। हे शत्रुतापन युधिष्ठिर! उस

प्रायाद्गर्दभयुक्तेन रथेनाप्याशुगामिना ॥ ९ ॥
स बालं गर्दभं राजन् वहन्तं मातुरन्तिके।
निरविध्यत्प्रतोदेन नासिकायां पुनः पुनः ॥ १० ॥
तत्र तीव्रं व्रणं दृष्ट्वा गर्दभी पुत्रगृद्धिनी।
उवाच मा शुचः पुत्र चाण्डालस्त्वधितिष्ठति ॥ ११ ॥
ब्राह्मणे दारुणं नास्ति मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
आचार्यः सर्वभूतानां शास्ता किं प्रहरिष्यति ॥ १२ ॥
अयं तु पापप्रकृतिर्बाले न कुरुते दयाम्।
स्वयोनिं मानयत्येष भावो भावं नियच्छति ॥ १३ ॥
एतच्छ्रुत्वा मतङ्गस्तु दारुणं रासभीवचः।
अवतीर्य रथात्तूर्णं रासभीं प्रत्यभाषत ॥ १४ ॥
ब्रूहि रासभि कल्याणि माता मे येन दूषिता।
कथं मा वेत्सि चण्डालं क्षिप्रं रासभि शंस मे ॥ १५ ॥
कथं मां वेत्सि चण्डालं ब्राह्मण्यं येन नश्यते।
तत्त्वेनैतन्महाप्राज्ञे ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ १६ ॥

पुत्रने यज्ञमें ऋत्विक्कर्म करते हुए पिताकी आज्ञासे शीघ्रगामी गर्दभयुक्त रथपर चढके अग्नि लानेके निमित्त प्रस्थान किया। हे महाराज! उसने माताके संग रथ खींचनेवाले अशिक्षित गधेकी नाकमें कोडा मारा। (५-१०)

पुत्रवत्सला गर्दभी पुत्रकी नाकमें तीव्र घाव देखकर उससे बोली, हे पुत्र! तुम शोक मत करो, तुम्हारे ऊपर चाण्डाल चढा हुआ है, ब्राह्मण दारुण कर्म नहीं करते, ब्राह्मण सब प्राणियोंके मित्र हैं, सब भूतोंके शास्ता आचार्य क्या कभी प्रहार किया करते हैं? यह पापप्रकृतिवाला बालकपर दया नहीं करता, यह स्वयोनिका समादर करता है, जातिस्वभाव बुद्धिको मार्गान्तरसे आकर्षण किया करता है। (११-१३)

मतंग गधीका ऐसा वचन सुनके शीघ्र ही रथसे उतरकर उससे बोला, हे कल्याणि रासभी! मेरी माता किसके द्वारा दूषित हुई है? तथा तुमने मुझे चाण्डाल किस प्रकार जाना? यह मुझसे शीघ्र कहो। लोकदृष्ट ब्राह्मणत्व जिसके द्वारा विनष्ट होता है, मैं वही चाण्डाल हूं, तुम्हें यह विषय किस प्रकार मालूम हुआ? हे महाबुद्धिमति! तुम यह विषय विशेष रूपसे यथार्थ कहो। (१४-१६)

गर्दभ्युवाच— ब्राह्मण्यां वृषलेन त्वं मत्तायां नापितेन ह।
जातस्त्वमसि चाण्डालो ब्राह्मण्यं तेन तेऽनशत् ॥१७॥
एवमुक्तो मतङ्गस्तु प्रतिप्रायाद्गृहं प्रति।
तमागतमभिप्रेक्ष्य पिता वाक्यमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥
मया त्वं यज्ञसंसिद्धौ नियुक्तो गुरुकर्मणि।
कस्मात्प्रतिनिवृत्तोऽसि कच्चिन्न कुशलं तव ॥ १९ ॥
मतङ्ग उवाच— अन्त्ययोनिरयोनिर्वा कथं स कुशली भवेत्।
कुशलं तु कुतस्तस्य यस्येयं जननी पितः ॥ २० ॥
ब्राह्मण्यां वृषलाज्जातं पितर्वेदयतीव माम्।
अमानुषी गर्दभीयं तस्मात्तप्स्ये तपो महत् ॥ २१ ॥
एवमुक्त्वा स पितरं प्रतस्थे कृतनिश्चयः।
ततो गत्वा महारण्यमतपत्सुमहत्तपः ॥ २२ ॥
ततः स तापयामास विबुधांस्तपसाऽन्वितः।
मतङ्गः सुखसंप्रेप्सुः स्थानं सुचरितादपि ॥ २३ ॥
तं तथा तपसा युक्तमुवाच हरिवाहनः।

गर्दभी बोली, तुम प्रमत्ता ब्राह्मणीके गर्भसे चाण्डाल नाईके द्वारा उत्पन्न हुए हो, इसलिये तुम चाण्डाल हो, इस ही कारण तुम्हारा ब्राह्मणत्व विनष्ट हुआ है। (१७)

भीष्म बोले, मतंग गर्दभीका वचन सुनके घरमें लौट आया, पिताने उसे लौटा हुआ देखके कहा, मैंने यज्ञ-सिद्धिके निमित्त तुम्हें गुरुतर कार्यमें नियुक्त किया है, तब तुम किस कारणसे लौट आये? क्या तुम्हारा कुशल नहीं है? (१८–१९)

मतंग बोला, जो पुरुष अन्त्यज योनि अथवा अत्यन्त हीन योनिका होता है, वह किस प्रकार कुशली होसकता है? हे पिता! यह जिसकी माता है, उसे कुशल कहां? हे पिता! यह अमानुषी गर्दभी मुझे ब्राह्मणीमें चाण्डालसे उत्पन्न हुआ कहती है, इसलिये मैं अत्यन्त महत् तपस्या करूंगा। उसने पितासे ऐसा कहकर निश्चय करके प्रस्थान किया। (२०—२२)

अनन्तर महारण्यमें जाके अत्यन्त महत् तपस्या करने लगा। कालक्रमसे मतंगने उत्तम रीतिसे आचरित तपोबलसे अनायासही ब्राह्मणत्व लाभके निमित्त घोर तपस्यासे युक्त होकर देवताओंको सन्तापित किया। देवराज

मतङ्ग तप्स्यसे किं त्वं भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥ २४ ॥
वरं ददामि ते हन्त वृणीष्व त्वं यदिच्छसि ।
यच्चाप्यवाप्यं हृदि ते सर्वं तद् ब्रूहि मा चिरम् ॥२५॥

मतङ्ग उवाच– ब्राह्मण्यं कामयानोऽहमिदमारब्धवांस्तपः ।
गच्छेयं तदवाप्येह वर एष वृतो मया ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच– एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तमुवाच पुरन्दरः ।
मतङ्ग दुर्लभमिदं विप्रत्वं प्रार्थ्यते त्वया ॥ २७ ॥
ब्राह्मण्यं प्रार्थयानस्त्वमप्राप्यमकृतात्मभिः ।
विनशिष्यसि दुर्बुद्धे तदुपारम मा चिरम् ॥ २८ ॥
श्रेष्ठतां सर्वभूतेषु तपोऽर्थं नातिवर्त्तते ।
तदग्र्यं प्रार्थयानस्त्वमचिराद्विनशिष्यसि ॥ २९ ॥
देवतासुरमर्त्येषु यत्पवित्रं परं स्मृतम् ।
चण्डालयोनौ जातेन न तत्प्राप्यं कथञ्चन ॥ ३० ॥ [१८७४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे इन्द्रमतंगसंवादे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इन्द्र उसे इस प्रकार तपयुक्त देखके बोले, हे मतंग ! तुम मनुष्यभोग परित्याग करके किस निमित्त तपस्या करते हो ? अच्छा, मैं तुम्हें वरदान करता हूं, तुम्हारी जो इच्छा हो, वह मांगो, तुम्हारे अन्तःकरणमें जो अप्राप्य मालूम होता है, वह सब कहो, विलम्ब मत करो। (२२—२५)

मतंग बोला, मैंने ब्राह्मणत्वकी कामना करके यह तपस्या आरम्भ की है, वह प्राप्त होनेसे ही इस स्थानसे गमन करूंगा, मैं यही वर मांगता हूं। (२६)

भीष्म बोले, इन्द्रने उसका वचन सुनके कहा, रे नीचबुद्धिवाले ! तू अकृतात्मा पुरुषोंसे अप्राप्य ब्राह्मणत्वकी इच्छा करता है, इसलिये विनष्ट होगा, इस कारण तू विरत होगा, देरी मत कर। तपस्या सब प्राणियोंके श्रेष्ठत्वको वशीभूत नहीं कर सकती। तू उस श्रेष्ठत्वकी इच्छा करनेसे शीघ्र ही नष्ट होगा। देवता, असुर और मनुष्योंके बीच जो परम पवित्र कहके वर्णित हुआ है, चण्डालयोनिमें उत्पन्न हुआ पुरुष उसे किसी प्रकार नहीं पा-सकता। (२७-३०)

अनुशासनपर्वमें २७ अध्याय समाप्त।

भीष्म उवाच- एवमुक्तो मतङ्गस्तु संशितात्मा यतव्रतः ।
अतिष्ठदेकपादेन वर्षाणां शतमच्युत ॥ १ ॥
तमुवाच ततः शक्रः पुनरेव महायशाः ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं तात प्रार्थयानो न लप्स्यसे ॥ २ ॥
मतङ्ग परमं स्थानं प्रार्थयन्विनशिष्यसि ।
मा कृथाः साहसं पुत्र नैष धर्मपथस्तव ॥ ३ ॥
न हि शक्यं त्वया प्राप्तुं ब्राह्मण्यमिह दुर्मते ।
अप्राप्यं प्रार्थयानो हि न चिराद्विनशिष्यसि ॥ ४ ॥
मतङ्ग परमं स्थानं वार्यमाणोऽसकृन्मया ।
चिकीर्षस्येव तपसा सर्वथा न भविष्यसि ॥ ५ ॥
तिर्यग्योनिगतः सर्वो मानुष्यं यदि गच्छति ।
स जायते पुल्कसो वा चाण्डालो ह्यप्यसंशयः ॥ ६ ॥
पुल्कसः पापयोनिर्वा यः कश्चिदिह लक्ष्यते ।
स तस्यामेव सुचिरं मतङ्ग परिवर्तते ॥ ७ ॥
ततो दशशते काले लभते शूद्रतामपि ।

अनुशासनपर्वमें २८ अध्याय ।

भीष्म बोले, हे अच्युत ! संशितात्मा यतव्रती मतंग इन्द्रका ऐसा वचन सुनके एक सौ वर्षतक एक पांवसे खडा होकर निवास करने लगा । अनन्तर महायशस्वी पाकशासन इन्द्र फिर उससे बोले, हे तात ! ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है, तुम कोटिशः प्रार्थना करने पर भी उसे नहीं पाओगे । हे मतंग ! तुम परम स्थानकी प्रार्थना करके विनष्ट होगे । हे पुत्र ! तुम साहस मत करो, यह तुम्हारे धर्मका पथ नहीं है । रे नीचबुद्धिवाले ! तू इस लोकमें ब्राह्मणत्व लाभ करनेमें समर्थ न होगा, अप्राप्य विषयकी प्रार्थना करनेसे थोडे ही समयमें नष्ट होगा । हे मतङ्ग ! तू बार बार मेरे निवारण करने पर भी सब प्रकारसे तपस्याके सहारे परम पद पानेकी इच्छा करता है, परन्तु उस विषयमें कृतकार्य न होसकेगा । १-५

तिर्यक्योनिके समस्त जीव यदि मनुष्यत्व प्राप्त करें, तो वे पहले पुल्कश अथवा चाण्डाल होके जन्म ग्रहण करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है । हे मतङ्ग ! इस लोकमें पुल्कश अथवा पापयोनिमें जो कोई जीव जन्मता है, वह उस ही योनिमें बहुत समय तक बार बार भ्रमण किया करता है । फिर सहस्र

शूद्रयोनावपि ततो बहुशः परिवर्तते ॥ ८ ॥
ततस्त्रिंशद्गुणे काले लभते वैश्यतामपि ।
वैश्यतायां चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ ९ ॥
ततः षष्टिगुणे काले राजन्यो नाम जायते ।
ततः षष्टिगुणे काले लभते ब्रह्मबन्धुताम् ॥ १० ॥
ब्रह्मबन्धुश्चिरं कालं ततस्तु परिवर्तते ।
ततस्तु द्विशते काले लभते काण्डपृष्ठताम् ॥ ११ ॥
काण्डपृष्ठश्चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ।
ततस्तु त्रिशते काले लभते जपतामपि ॥ १२ ॥
तं च प्राप्य चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ।
ततश्चतुःशते काले श्रोत्रियो नाम जायते ।
श्रोत्रियत्वे चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते ॥ १३ ॥
तदेवं शोकहर्षौ तु कामद्वेषौ च पुत्रक ।
अतिमानातिवादौ च प्रविशेते द्विजाधमम् ॥ १४ ॥

वर्षके अनन्तर शूद्रत्व लाभ करता है। शूद्रयोनिमें भी वह अनेक बार परिभ्रमण करता है, फिर तीस गुण समय बीतने पर वैश्यत्व प्राप्त होता है, वैश्ययोनिमें भी बहुत समयतक उसे बार बार जन्म लेना पडता है। अनन्तर साठगुण समय बीतनेपर क्षत्रिय होकर जन्म लेता है, क्षत्रिययोनिमें भी बहुत समयतक उसे परिभ्रमण करना होता है। (९-१०)

अनन्तर षष्टिगुण समय बीतनेपर ब्रह्मबन्धुता प्राप्त होती है, ब्रह्मबन्धु होनेपर भी उस ही योनिमें बहुत समय तक घूमना पडता है। अनन्तर उससे दो सौगुण समय बीतनेपर शस्त्रजीवित्व लाभ होती है। शस्त्रजीवी होके भी उसही योनिमें बहुत समय तक परिभ्रमण करता है। अनन्तर उससे तीन सौगुण समय बीतनेपर गायत्रीमात्र जप करनेवालोंके वंशमें जन्म लेता है, वैसा जन्म पाने पर भी उसे बहुत समयतक उस ही कुलमें बार बार उत्पन्न होना पडता है। अनन्तर चार सौ वर्ष बीतनेपर श्रोत्रियकुलमें जन्म होता है, श्रोत्रिय अर्थात् वेदाध्ययनशील होकर बहुत समयतक उस ही योनिमें परिभ्रमण करता है। (१०-१३)

हे तात ! इसलिये इस ही प्रकार काम, द्वेष, शोक, हर्ष, अभिमान और अतिवाद उस द्विजाधममें प्रविष्ट होते

तांश्चेज्जयति शत्रून्स तदा प्राप्नोति सद्गतिम्।
अथ ते वै जयन्त्येनं तालाग्रादिव पात्यते ॥ १५ ॥
मतङ्ग संप्रधार्यैवं यदहं त्वामचूचुदम्।
वृणीष्व काममन्यं त्वं ब्राह्मण्यं हि सुदुर्लभम् ॥१६॥ [१८९०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे इन्द्रमतङ्गसंवादे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच- एवमुक्तो मतङ्गस्तु संशितात्मा यतव्रतः।
सहस्रमेकपादेन ततो ध्याने व्यतिष्ठत ॥ १ ॥
तं सहस्रवरे काले शक्रो द्रष्टुमुपागमत्।
तदेव च पुनर्वाक्यमुवाच बलवृत्रहा ॥ २ ॥
मतङ्ग उवाच- इदं वर्षसहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहितः।
अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्यं नाप्नुयां कथम् ॥ ३ ॥
शक्र उवाच— चण्डालयोनौ जातेन नावाप्यं वै कथञ्चन।
अन्यं कामं वृणीष्व त्वं मा वृथा तेऽस्त्वयं श्रमः ॥४॥
एवमुक्तो मतङ्गस्तु भृशं शोकपरायणः।

हैं; यदि वह उन शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ हो, तो सद्गति लाभ कर सकता है और यदि काम, द्वेष प्रभृति शत्रुगण उसे जय करें, तो वे तालवृक्षकी चोटीसे गिरनेकी भांति उसे अत्यन्त नीच योनिमें डाल देते हैं, हे मतंग! मैंने तुमसे जो कहा है, तुम उसकी भली भांति आलोचना करके दूसरे अभीष्ट विषयकी प्रार्थना करो। क्यों कि ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है। (१४-१६)

अनुशासनपर्वमें २८ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें २९ अध्याय।

भीष्म बोले, संशितात्मा, यतव्रती मतंग देवराजका ऐसा वचन सुनके सहस्र वर्षतक एक पदसे निवास करके ध्यान करनेमें प्रवृत्त हुआ। इन्द्रने फिर उसे देखनेके लिये आगमन करके पुनर्वार उससे पूर्वोक्त वचन कहा। (१-२)

मतंग बोला, सहस्र वर्षतक मैंने समाहित तथा ब्रह्मचारी होकर एक पदसे निवास किया; परन्तु किस लिये ब्राह्मणत्व न पाया? (३)

इन्द्र बोले, जिस पुरुषने चाण्डालयोनिमें जन्म लिया है, उसे ब्राह्मणत्व किसी प्रकार भी नहीं प्राप्त हो सकता, तुम दूसरा वर मांगो, जिससे तुम्हारा यह परिश्रम निष्फल न हो। (४)

जब देवराजने ऐसा कहा, तब

अथ्यतिष्ठद्गयां गत्वा सोऽङ्गुष्ठेन शतं समाः ॥ ५ ॥
सुदुर्वहं वहन्योगं कृशो धमनिसंततः ।
त्वगस्थिभूतो धर्मात्मा स पपातेति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥
तं पतन्तमभिद्रुत्य परिजग्राह वासवः ।
वराणामीश्वरो दाता सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥
शक्र उवाच— मतङ्ग ब्राह्मणत्वं ते विरुद्धमिह दृश्यते ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभतरं संवृतं परिपन्थिभिः ॥ ८ ॥
पूजयन्सुखमाप्नोति दुःखमाप्नोत्यपूजयन् ।
ब्राह्मणः सर्वभूतानां योगक्षेमसमर्पिता ॥ ९ ॥
ब्राह्मणेभ्योऽनुतृप्यन्ते पितरो देवतास्तथा ।
ब्राह्मणः सर्वभूतानां मतङ्ग पर उच्यते ॥ १० ॥
ब्राह्मणः कुरुते तद्धि यथा यद्यच्च वाञ्छति ।
बह्वीस्तु संविशन्योनीर्जायमानः पुनः पुनः ॥ ११ ॥
पर्याये तात कस्मिंश्चिद्ब्राह्मण्यमिह विन्दति ।
तदुत्सृज्येह दुष्प्रापं ब्राह्मण्यमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥

मतंग शोकयुक्त होकर गया तीर्थमें जाके एक सौ वर्ष पर्यन्त अंगूठेके सहारे निवास करने लगा। मैंने सुना है, कि वह धर्मात्मा दुर्वह योग अवलम्बन करके धमनिसन्तत और अस्थिचर्म-सार होकर गिर पडा। सर्वभूतोंके हितमें रत रहनेवाले भगवान् इन्द्र उसे गिरा हुआ देखके दौडे और वहांपर जाके उसे धारण किया। (५–७)

इन्द्र बोले, हे मतंग ! इस समय तुम्हारे पक्षमें ब्राह्मणत्व अत्यन्त विरुद्ध भावसे युक्त दीख पडता है, दुर्लभ ब्राह्मणत्व कामादि परिपन्थी गुणोंसे संवृत होरहा है। ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे सुखभोग प्राप्त होता है, पूजा न करनेसे दुःख हुआ करता है। ब्राह्मण ही सर्वभूतोंको योगक्षेम समर्पण करनेवाले हैं। पितर और देव-वृन्द ब्राह्मणोंसेही परितृप्त होते हैं। हे मतंग ! ब्राह्मण सब भूतोंमें श्रेष्ठ कहके वर्णित हुआ करते हैं, क्योंकि जैसी इच्छा की जाती है, ब्राह्मण ही वह वाञ्छित सिद्धि करते हैं। हे तात ! जीव अनेक योनिमें प्रवेश करते हुए बार बार जन्म ग्रहण करके इस लोकमें किसी पर्यायमें ब्राह्मणत्व लाभ करता है; इसलिये तुम अकृतात्मा पुरुषोंसे दुष्प्राप्य ब्राह्मणत्वलाभकी वासना

अन्यं वरं वृणीष्व त्वं दुर्लभोऽयं हि ते वरः ।
मतङ्ग उवाच- किं मां तुदसि दुःखार्तं मृतं मारयसे च माम् ॥१३॥
त्वां तु शोचामि यो लब्ध्वा ब्राह्मण्यं न बुभूषसे ।
ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्रापं त्रिभिर्वर्णैः शतक्रतो ॥ १४ ॥
सुदुर्लभं सदाऽवाप्य नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।
यः पापेभ्यः पापतमस्तेषामधम एव सः ॥ १५ ॥
ब्राह्मण्यं यो न जानीते धनं लब्ध्वेव दुर्लभम् ।
दुष्प्रापं खलु विप्रत्वं प्राप्तं दुरनुपालनम् ॥ १६ ॥
दुरवापमवाप्यैतन्नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।
एकारामो ह्यहं शक्र निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ १७ ॥
अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम् ।
दैवं तु कथमेतद्वै यदहं मातृदोषतः ॥ १८ ॥
एतामवस्थां संप्राप्तो धर्मज्ञः सन्पुरन्दर ।

परित्याग करके अब दूसरा वर मांगो, क्यों कि यह वर तुम्हारे पक्षमें अत्यन्त दुर्लभ है। (८—१३)

मतंग बोला, मैं दुःखसे आर्त्त हुआ हूं, मुझे क्यों दुःखित करते हो ? मरे हुएको मारते हो ! जो पुरुष ब्राह्मणत्व लाभ करके भी मेरे समान तपस्वी पुरुषके विषयमें करुणा नहीं करता, उसने ब्राह्मणत्व पाके भी नहीं पाया है, इसलिये मैं तुम्हारे निमित्त शोक नहीं करता। हे इन्द्र ! यदि क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंके लिये ब्राह्मणत्व दुष्प्राप्य हुआ है, तथापि मनुष्य उस अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मणत्वको पाके भी सदा उसका अनुष्ठान नहीं करते अर्थात् ब्राह्मणके योग्य शम, दम, तप, पवित्रता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य यह सब धर्माचरण नहीं करते। धन-सदृश दुर्लभ ब्राह्मणत्व लाभ करके जो पुरुष उसका अनुष्ठान करना नहीं जानता, वह पापियोंसे भी पापी तथा उससे भी अधम है। पहले तो ब्राह्मणत्व ही अत्यन्त दुष्प्राप्य है, प्राप्त होनेपर भी उसका अनुष्ठान करना अत्यन्त कठिन है। (१३—१६)

इस दुःखापह विषयको पाके भी मनुष्य इसका अनुष्ठान नहीं करते। हे इन्द्र ! मैं एकाराम, निर्द्वन्द्व निष्परिग्रह अहिंसा और इन्द्रियदमन अवलम्बन करके भी किस निमित्त ब्राह्मणत्व पानेके योग्य नहीं हूं ? हे पुरन्दर ! मैं धर्मज्ञ होके भी मातृदोषके कारण ऐसी

नूनं दैवं न शक्यं हि पौरुषेणातिवर्तितुम् ॥ १९ ॥
यदर्थं यत्नवानेव न लभे विप्रतां विभो।
एवंगते तु धर्मज्ञ दातुमर्हसि मे वरम् ॥ २० ॥
यदि तेऽहमनुग्राह्यः किंचिद्वा सुकृतं मम।
वैशम्पायन उवाच– वृणीष्वेति तदा प्राह ततस्तं बलवृत्रहा ॥ २१ ॥
चोदितस्तु महेन्द्रेण मतङ्गः प्राब्रवीदिदम्।
यथाकामविहारी स्यां कामरूपी विहङ्गमः ॥ २२ ॥
ब्रह्मक्षत्राविरोधेन पूजां च प्राप्नुयामहम्।
यथा ममाक्षया कीर्तिर्भवेच्चापि पुरन्दर ॥ २३ ॥
कर्तुमर्हसि तद्देव शिरसा त्वां प्रसादये।
शक्र उवाच— छन्दोदेव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि ॥२४॥
कीर्तिश्च तेऽतुला वत्स त्रिषु लोकेषु यास्यति।
एवं तस्मै वरं दत्त्वा वासवोऽन्तरधीयत ॥ २५ ॥
प्राणांस्त्यक्त्वा मतङ्गोऽपि संप्राप्तः स्थानमुत्तमम्।
एवमेतत्परं स्थानं ब्राह्मण्यं नाम भारत।
तच्च दुष्प्रापमिह वै महेन्द्रवचनं यथा ॥ २६ ॥ [१९१६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे इन्द्रमतङ्गसंवादे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अवस्थामें पडा हूं, यह कैसा पूर्वकर्म है ? हे प्रभु ! पुरुषार्थसे दैवको अतिक्रम नहीं किया जासकता, जिसके निमित्त इस प्रकार यत्नवान होके भी कोई विप्रत्व लाभ नहीं कर सकता है। हे धर्मज्ञ ! यदि ऐसा ही होवे और मैं तुम्हारा कृपापात्र होऊं, यदि मेरा कुछ सुकृत हो, तो आप मुझे वरदान कर सकते हैं। (१७--२१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर बलवृत्रहन्ता इन्द्रने उस समय उससे कहा " वर मांगो " तब मतङ्ग इन्द्रकी आज्ञा पाके यह वचन कहने लगा। मैं कामरूपी पक्षी होकर स्वेच्छापूर्वक विहार करूं और मुझे ब्राह्मण क्षत्रियोंके अविरुद्ध पूजा प्राप्त होवे। हे पुरन्दर ! हे देव ! जिस प्रकार मेरी अक्षय कीर्ति हो, आप वैसा ही करिये, मैं प्रणत होके आपको प्रसन्न करता हूं। (२१–२४)

इन्द्र बोले, हे तात ! तुम छन्दोदेव नामसे विख्यात होकर स्त्रियोंके पूजनीय होगे, और तुम्हारी अतुल कीर्त्ति तीनों

युधिष्ठिर उवाच- श्रुतं मे महदाख्यानमेतत्कुरुकुलोद्वह ।
सुदुष्प्रापं यद्ब्रवीषि ब्राह्मण्यं वदतां वर ॥ १ ॥
विश्वामित्रेण च पुरा ब्राह्मण्यं प्राप्तमित्युत ।
श्रूयते वदसे तच्च दुष्प्रापमिति सत्तम ॥ २ ॥
वीतहव्यश्च नृपतिः श्रुतो मे विप्रतां गतः ।
तदेव तावद्गाङ्गेय श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ॥ ३ ॥
स केन कर्मणा प्राप्तो ब्राह्मण्यं राजसत्तमः ।
वरेण तपसा वापि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥
भीष्म उवाच— शृणु राजन् यथा राजा वीतहव्यो महायशाः ।
राजर्षिर्दुर्लभं प्राप्तो ब्राह्मण्यं लोकसत्कृतम् ॥ ५ ॥
मनोर्महात्मनस्तात प्रजा धर्मेण शासतः ।
बभूव पुत्रो धर्मात्मा शर्यातिरिति विश्रुतः ॥ ६ ॥
तस्यान्ववाये द्वौ राजन् राजानौ संबभूवतुः ।

लोकोंके बीच व्याप्त होगी । इन्द्र उसे ऐसा वर दान करके अन्तर्द्धान हुए । मतङ्गने भी प्राण त्यागके परम पद पाया । हे भारत ! ब्राह्मणत्व अत्यन्त श्रेष्ठपद है, महेन्द्रके वचनानुसार दूसरे वर्णोंके लिये दुष्प्राप्य जानना चाहिये । (२४—२६)

अनुशासनपर्वमें २९ अध्याय समाप्त ।

अनुशासनपर्वमें ३० अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे कुरुकुलधुरन्धर वक्तृवर ! आपने ब्राह्मणत्वको अत्यन्त दुष्प्राप्य कहा और यह महत् आख्यान मैंने आपके समीप सुना । हे सत्तम ! आप ब्राह्मणत्वको दुष्प्राप्य कहते हैं, परन्तु ऐसा सुननेमें आता है, कि पहले समयमें विश्वामित्रने ब्राह्मणत्व लाभ किया था और मैंने सुना है, कि वीतहव्य राजाने भी ब्राह्मणत्व लाभ किया है । हे प्रभु गंगानन्दन ! इसलिये मैं इस विषयको सुननेकी अभिलाष करता हूं, वे राजसत्तम वर अथवा तपस्यासे भी परे किस कर्मसे ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए ? उसे आप मेरे समीप वर्णन करिये । (१-४)

भीष्म बोले, महायशस्वी राजा राजर्षि वीतहव्यने किस प्रकार लोकसत्कृत दुर्लभ ब्राह्मणत्व पाया था, उसे सुनो, हे तात ! धर्मपूर्वक प्रजापालक महात्मा मनुके शर्याति नामक एक पुत्र था । हे महाराज ! उस ही वत्सराज शर्यातिके वंशमें विजयी हैहय और तालजङ्घ नामक दो राजा हुए थे । हे

हैहयस्तालजङ्घश्च वत्सस्य जयतां वर ॥ ७ ॥
हैहयस्य तु राजेन्द्र दशसु स्त्रीषु भारत ।
शतं बभूव पुत्राणां शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥
तुल्यरूपप्रभावानां बलिनां युद्धशालिनाम् ।
धनुर्वेदे च वेदे च सर्वत्रैव कृतश्रमाः ॥ ९ ॥
काशिष्वपि नृपो राजन् दिवोदासपितामहः ।
हर्यश्व इति विख्यातो बभूव जयतां वरः ॥ १० ॥
स वीतहव्यदायादैरागत्य पुरुषर्षभ ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये संग्रामे विनिपातितः ॥ ११ ॥
तं तु हत्वा नरपतिं हैहयास्ते महारथाः ।
प्रतिजग्मुः पुरीं रम्यां वत्सानामकुतोभयाः ॥ १२ ॥
हर्यश्वस्य च दायादः काशिराजोऽभ्यषिच्यत ।
सुदेवो देवसंकाशः साक्षाद्धर्म इवापरः ॥ १३ ॥
स पालयामास महीं धर्मात्मा काशिनन्दनः ।
तैर्वीतहव्यैरागत्य युधि सर्वैर्विनिर्जितः ॥ १४ ॥
तमथाजौ विनिर्जित्य प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
सौदेवस्त्वथ काशीशो दिवोदासोऽभ्यषिच्यत॥ १५ ॥
दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम् ।

भरतवंशावतंस राजेन्द्र ! हैहयकी दश पत्नियोंसे एक सौ पुत्र हुए, वे सभी शूर, युद्धमें अपराजित, तुल्यरूप, तुल्यप्रभाव, बलवान, युद्धशाली, धनुर्वेद और वेदमें सर्वत्र परिश्रम किये हुए थे। (७-९)

हे महाराज ! काशी-राज्यमें भी दिवोदासके पितामह विजयीप्रवर हर्यश्व नामक एक राजा था ! हे पुरुषश्रेष्ठ ! वह वीतहव्यके वंशधरोंके हाथसे गंगा-यमुनाके बीच युद्धमें मारा गया, भयसे रहित महारथ हैहयगणने उस राजाको मारके वत्सराजकी रमणीय पुरीमें प्रवेश किया। हर्यश्वके उत्तराधिकारी साक्षात् धर्मसदृश, देवसङ्काश काशिराज सुदेव उस राज्यपर अभिषिक्त हुआ। वह धर्मात्मा काशिराजका पुत्र पृथ्वी-पालन करने लगा। वीतहव्यके वंशवालोंने आके उसे भी पराजित किया, वे लोग उसे युद्धमें पराजित करके निज स्थान-पर लौट गये। अनन्तर काशिराज सुदेवका पुत्र दिवोदास उस राज्यपर

वाराणसीं महातेजा निर्ममे शक्रशासनात् ॥ १६ ॥
विप्रक्षत्रियसंबाधां वैश्यशूद्रसमाकुलाम् ।
नैकद्रव्योच्चयवतीं समृद्धविपणापणाम् ॥ १७ ॥
गङ्गाया उत्तरे कूले वप्रान्ते राजसत्तम ।
गोमत्या दक्षिणे कूले शक्रस्येवामरावतीम् ॥ १८ ॥
तत्र तं राजशार्दूलं निवसन्तं महीपतिम् ।
आगत्य हैहया भूयः पर्यधावन्त भारत ॥ १९ ॥
स निष्क्रम्य ददौ युद्धं तेभ्यो राजा महाबलः ।
देवासुरसमं घोरं दिवोदासो महाद्युतिः ॥ २० ॥
स तु युद्धे महाराज दिनानां दशतीर्दश ।
हतवाहनभूयिष्ठस्ततो दैन्यमुपागमत् ॥ २१ ॥
हतयोधस्ततो राजन् क्षीणकोशश्च भूमिपः ।
दिवोदासः पुरीं त्यक्त्वा पलायनपरोऽभवत् ॥ २२ ॥
गत्वाऽऽश्रमपदं रम्यं भरद्वाजस्य धीमतः ।
जगाम शरणं राजा कृताञ्जलिररिन्दम ॥ २३ ॥
तमुवाच भरद्वाजो ज्येष्ठः पुत्रो बृहस्पतेः ।

अभिषिक्त हुआ। (१०—१५)

महातेजस्वी दिवोदासने हैहयवंशियोंके बलको जानके इन्द्रकी आज्ञानुसार वाराणसी पुरी बसाई। वह पुरी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीनों वर्णों तथा अनेक प्रकारकी समृद्ध विपणि और आपणयुक्त गंगाके उत्तर तटके निकट तथा गोमतीके दक्षिण तटपर राजसत्तम दिवोदासके द्वारा इन्द्रकी अमरावतीकी भांति निर्मित हुई। हे भारत! पृथ्वीपति राजश्रेष्ठ दिवोदास जब वाराणसीमें वास करने लगे, तब हैहयगणने फिर आके उन्हें आक्रमण किया, महाबलवान महातेजस्वी दिवोदास पुरीसे निकलके हैहयगणके सङ्ग देवासुर सदृश घोर संग्राम करने लगे। (१६—२०)

हे महाराज! उन्होंने उस युद्धमें एक हजार दिनतक संग्राम करके अनेक वाहनोंके मारे जाने पर स्वयं दीनता अवलम्बन किया। हे महाराज! वह पृथ्वीपति दिवोदास सेना और कोष नष्ट होनेपर पुरी परित्याग करके भाग गये। हे शत्रुदमन! उस समय वह राजा बुद्धिशक्तिसे युक्त भरद्वाजके आश्रममें जाकर हाथ जोडके उनके

पुरोधाः शीलसंपन्नो दिवोदासं महीपतिम् ॥ २४ ॥
किमागमनकृत्यं ते सर्वं प्रब्रूहि मे नृप।
यत्ते प्रियं तत्करिष्ये न मेऽस्त्यत्र विचारणा ॥ २५ ॥

राजोवाच— भगवन्वैतहव्यैर्मे युद्धे वंशः प्रणाशितः।
अहमेकः परिद्यूनो भवन्तं शरणं गतः ॥ २६ ॥
शिष्यस्नेहेन भगवंस्त्वं मां रक्षितुमर्हसि।
एकशेषः कृतो वंशो मम तैः पापकर्मभिः ॥ २७ ॥
तमुवाच महाभागो भरद्वाजः प्रतापवान्।
न भेतव्यं न भेतव्यं सौदेव व्येतु ते भयम् ॥ २८ ॥
अहमिष्टिं करिष्यामि पुत्रार्थं ते विशाम्पते।
वीतहव्यसहस्राणि येन त्वं प्रहरिष्यसि ॥ २९ ॥
तत इष्टिं चकारर्षिस्तस्य वै पुत्रकामिकीम्।
अथास्य तनयो जज्ञे प्रतर्दन इति श्रुतः ॥ ३० ॥
स जातमात्रो ववृधे समाः सद्यस्त्रयोदश।
वेदं चापि जगौ कृत्स्नं धनुर्वेदं च भारत ॥ ३१ ॥
योगेन च समाविष्टो भरद्वाजेन धीमता।

शरणागत हुआ। बृहस्पतिके ज्येष्ठपुत्र शीलसम्पन्न पुरोधा भरद्वाज राजा दिवोदाससे बोले, हे महाराज! तुम्हारे आगमनका क्या कारण है, वह सब मेरे निकट वर्णन करो। जो तुम्हें प्रिय होगा, मैं वही करूंगा, मुझे इस विषयमें विचार नहीं है। (२१-२५)

राजा बोला, हे भगवन्! वीतहव्यवंशीय शूरगणके द्वारा मेरा वंश नष्ट हुआ है, अकेला मैं अत्यन्त निराश होकर आपकी शरणमें आया हूं। हे भगवन्! आप शिष्यस्नेहवशसे मेरी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, उन पापकर्मियोंने मेरे वंशको एक बारही शेष किया है। प्रतापवान महाभाग भरद्वाज ऋषि उससे बोले, "भय नहीं है! भय नहीं है।" हे सुदेवपुत्र! तुम्हारा भय दूर होवे। हे नरनाथ! मैं तुम्हारे पुत्रके निमित्त यज्ञ करूंगा, उसके द्वारा तुम सहस्र वीतहव्यको पराजित करोगे। अनन्तर भरद्वाज ऋषिने उसके लिये पुत्रकामनासे यज्ञ किया। उस यज्ञके प्रभावसे दिवोदासके प्रतर्दन नाम प्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न हुआ। (२६—३०)

वह पुत्र उत्पन्न होते ही तेरह वर्षीय पुरुषकी भांति वर्द्धित हुआ। हे भारत!

तेजो लोकयं स संगृह्य तस्मिन्देशे समाविशत् ॥३२॥
ततः स कवची धन्वी स्तूयमानः सुरर्षिभिः।
वन्दिभिर्वन्द्यमानश्च बभौ सूर्य इवोदितः ॥ ३३ ॥
स रथी बद्धनिस्त्रिंशो बभौ दीप्त इवानलः।
प्रययौ स धनुर्धुन्वन् खड्गी चर्मी शरासनी ॥ ३४ ॥
तं दृष्ट्वा परमं हर्षं सुदेवतनयो ययौ।
मेने च मनसा दग्धान् वैतहव्यान्स पार्थिवः ॥ ३५ ॥
ततोऽसौ यौवराज्ये च स्थापयित्वा प्रतर्दनम्।
कृतकृत्यं तदाऽऽत्मानं स राजा अभ्यनन्दत ॥ ३६ ॥
ततस्तु वैतहव्यानां वधाय स महीपतिः।
पुत्रं प्रस्थापयामास प्रतर्दनमरिन्दमम् ॥ ३७ ॥
स रथः स तु संतीर्य गङ्गामाशु पराक्रमी।
प्रययौ वीतहव्यानां पुरीं परपुरञ्जयः ॥ ३८ ॥
वैतहव्यास्तु संश्रुत्य रथघोषं समुद्धतम्।
निर्ययुर्नगराकारै रथैः पररथारुजैः ॥ ३९ ॥
निष्क्रम्य ते नरव्याघ्रा दंशिताश्चित्रयोधिनः।

उसने जब सब वेद और धनुर्वेद पढ लिया, तब बुद्धिमान भरद्वाज योगबलसे उसके शरीरमें प्रविष्ट हुए, उन्होंने सार्व-लौकिक तेजसंग्रह करके प्रतर्दन के शरीरमें प्रवेश किया। अनन्तर प्रतर्दन कवच और धनुष्य धारण करके देवर्षियोंसे स्तूयमान तथा वन्दीगणसे वन्दित होकर उदित सूर्यकी भांति शोभित हुए। वह बद्धपरिकर होकर रथपर चढके अग्निकी भांति प्रकाशित होने लगे; तलवार, ढाल और शरासन धारण करके धनुष्य कंपाते हुए गमन करनेमें प्रवृत्त हुए। सुदेवपुत्र राजा दिवोदास पुत्रको देखके परम हर्षित हुए और मनहीमन वीतहव्यके पुत्रोंको जले हुए जाना। (३१—३५)

अनन्तर राजा प्रतर्दनको युवराज-पदपर स्थापित करके अपनेको कृतकृत्य समझके अभिनन्दन किया। फिर मही-पति वीतहव्यका वध करनेके लिये निज पुत्र शत्रुदमन प्रतर्दनको भेजा। वह पराक्रमी परपुरविजयी प्रतर्दन रथके सहित शीघ्र ही गङ्गासे पार होके वीतहव्यकी पुरीमें जा पहुंचे। वीतह-व्यके पुत्रोंने समुद्धत रथका शब्द सुनके पराये रथको पीडित करनेमें समर्थ

प्रतर्दनं समाजग्मुः शरवर्षैरुदायुधाः ॥ ४० ॥
शस्त्रैश्च विविधाकारै रथौघैश्च युधिष्ठिर ।
अभ्यवर्षन्त राजानं हिमवन्तमिवाम्बुदाः ॥ ४१ ॥
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां राजा प्रतर्दनः ।
जघान तान्महातेजा वज्रानलसमैः शरैः ॥ ४२ ॥
कृत्तोत्तमाङ्गास्ते राजन् भल्लैः शतसहस्रशः ।
अपतन् रुधिरार्द्राङ्गा निकृत्ता इव किंशुकाः ॥ ४३ ॥
हतेषु तेषु सर्वेषु वीतहव्यः सुतेष्वथ ।
प्राद्रवन्नगरं हित्वा भृगोराश्रममप्युत ॥ ४४ ॥
ययौ भृगुं च शरणं वीतहव्यो नराधिपः ।
अभयं च ददौ तस्मै राज्ञे राजन् भृगुस्तदा ॥ ४५ ॥
अथानुपदमेवाशु तत्रागच्छत्प्रतर्दनः ।
स प्राप्य चाश्रमपदं दिवोदासात्मजोऽब्रवीत् ॥ ४६ ॥
भो भोः केऽत्राश्रमे सन्ति भृगोः शिष्या महात्मनः ।
द्रष्टुमिच्छे मुनिमहं तस्याचक्षत मामिति ॥ ४७ ॥

नगराकार रथोंके द्वारा बाहर हुए। वे विचित्रयोधी, कवचधारी नरपुङ्गवगण नगरसे निकलकर बाणोंकी वर्षा करते हुए प्रतर्दनकी ओर गमन करनेमें प्रवृत्त हुए। हे युधिष्ठिर जैसे बादल हिमवान पर्वतपर जलकी वर्षा करते हैं, वैसे ही वे लोग प्रतर्दनके ऊपर अनेक प्रकारके शस्त्र चलाने लगे। (३९–४१)

महातेजस्वी राजा प्रतर्दनने निज अस्त्रोंसे उनके सब शस्त्रोंको निवारण करके वज्रानल सदृश बाणोंसे उनके शरीरमें प्रहार किया। हे महाराज! वे लोगभी सौ हजार भल्लास्त्रके द्वारा सिररहित होके तथा रुधिरसे भींगके कटे हुए फूले पलाशवृक्षकी भांति पृथ्वीपर गिर गये, उन समस्त पुत्रोंके मारे जानेपर राजा वीतहव्य नगर छोडके भागकर भृगुके आश्रममें जा छिपे। वह वीतहव्य राजा भृगुको शरण गया। हे महाराज! भृगु मुनिने भी उस राजाको अभय दान किया। (४१–४५)

अनन्तर उनके पश्चात् ही प्रतर्दनभी उस आश्रममें आके उपस्थित हुए। प्रतर्दन उस आश्रमपर पहुंचके बोले, महानुभाव भृगुके शिष्योंमेंसे कौन कौन इस आश्रममें हैं? मैं उस मुनिके दर्शनकी अभिलाष करता हूं। उनके

स तं विदित्वा तु भृगुर्निश्चक्रामाश्रमात्तदा।
पूजयामास च ततो विधिना नृपसत्तमम् ॥ ४८ ॥
उवाच चैनं राजेन्द्र किं कार्यं ब्रूहि पार्थिव।
स चोवाच नृपस्तस्मै यदागमनकारणम् ॥ ४९ ॥
राजोवाच— अयं ब्रह्मन्नितो राजा वीतहव्यो विसर्ज्यताम्।
तस्य पुत्रैर्हि मे कृत्स्नो ब्रह्मन्वंशः प्रणाशितः ॥ ५० ॥
उत्सादितश्च विषयः काशीनां रत्नसञ्चयः।
एतस्य वीर्यदृप्तस्य हतं पुत्रशतं मया ॥ ५१ ॥
अस्येदानीं वधादद्य भविष्याम्यनृणः पितुः।
तमुवाच कृपाविष्टो भृगुर्धर्मभृतां वरः ॥ ५२ ॥
नेहास्ति क्षत्रियः कश्चित्सर्वे हीमे द्विजातयः।
एतत्तु वचनं श्रुत्वा भृगोस्तथ्यं प्रतर्दनः ॥ ५३ ॥
पादावुपस्पृश्य शनैः प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्।
एवमप्यस्मि भगवन् कृतकृत्यो न संशयः ॥ ५४ ॥
य एष राजवीर्येण स्वजातिं त्याजितो मया।
अनुजानीहि मां ब्रह्मन् ध्यायस्व च शिवेन माम् ॥५५॥

समीप मेरी प्रार्थना निवेदन करो। भृगु मुनिने प्रतर्दनका आना सुनके उस ही समय आश्रमसे निकलकर उस राजसत्तमका विधिपूर्वक सत्कार किया। हे राजेन्द्र! भृगुने उनसे कहा, महाराज! किस प्रयोजनके निमित्त तुम इस स्थानमें आये हो? तब वह अपने आनेका कारण कहने लगे। (४८-४९)

राजा प्रतर्दन बोले, हे ब्रह्मन्! राजा वीतहव्य इस स्थानमें निवास कर रहे हैं, इसलिये आप उन्हें परित्याग करिये। हे ब्रह्मन्! उनके पुत्रोंके द्वारा मेरा समस्त वंश और काशीपुरीका राज्य तथा रत्नसंचय नष्ट हुआ है। इस वीर्यदृप्त राजाके एक सौ पुत्र मेरे हाथसे मारे गये हैं, अब इसका वध करके मैं पिताके समीप अऋण होऊंगा। (५०-५२)

धार्मिकश्रेष्ठ भृगु मुनि कृपायुक्त होकर उनसे बोले, यहांपर कोई क्षत्रिय नहीं है, क्यों कि ये सभी ब्राह्मण हैं। प्रतर्दन धीरे धीरे भृगु मुनिका सत्य वचन सुनके मुनिके दोनों चरण छूके प्रसन्न होकर बोले हे भगवन्! ऐसा होनेपर भी मैं निःसन्देह कृतकृत्य हुआ। क्यों कि यह राजा मेरे पर-

त्याजितो हि मया जातिमेव राजा भृगूद्वह ।
ततस्तेनाभ्यनुज्ञातो ययौ राजा प्रतर्दनः ॥ ५६ ॥
यथागतं महाराजमुक्त्वा विषमिवोरगः ।
भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः ॥ ५७ ॥
वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमेव च ।
तस्य गृत्समदः पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ ५८ ॥
शक्रस्त्वमिति यो दैत्यैर्निगृहीतः किलाभवत् ।
ऋग्वेदे वर्तते चाग्र्या श्रुतिर्यस्य महात्मनः ॥ ५९ ॥
यत्र गृत्समदो राजन् ब्राह्मणैः स महीयते ।
स ब्रह्मचारी विप्रर्षिः श्रीमान् गृत्समदोऽभवत् ॥६०॥
पुत्रो गृत्समदस्यापि सुतेजा अभवद् द्विजः ।
वर्चाः सुतेजसः पुत्रो विहव्यस्तस्य चात्मजः ॥ ६१ ॥
विहव्यस्य तु पुत्रस्तु वितत्यस्तस्य चात्मजः ।
वितत्यस्य सुतः सत्यः सन्तः सत्यस्य चात्मजः ॥६२ ॥
श्रवास्तस्य सुतश्चर्षिः श्रवसश्चाभवत्तमः ।
तमसश्च प्रकाशोऽभूत्तनयो द्विजसत्तमः ।
प्रकाशस्य च वागिन्द्रो बभूव जयतां वरः ॥ ६३ ॥

क्रमके द्वारा स्वजातिसे च्युत हुआ । हे ब्रह्मन् ! अब मुझे आज्ञा करिये मेरे कल्याणकी चिन्ता कीजिये। हे भृगुवंश-धुरन्धर ! इस राजाको मैंने जातित्याग कराई है । हे महाराज ! अनन्तर राजा प्रतर्दन भृगुकी आज्ञा पाके इस प्रकार निज स्थानपर चले गये, जैसे सांप विष उगलके चल देता है । हे राजन् ! वीतहव्यने भी भृगुके वचन मात्रसे ही ब्रह्मर्षित्व और ब्रह्मवादित्व लाभ किया । सुंदराईमें दूसरे इन्द्रके समान गृत्समद नाम उनका पुत्र था, जो कि इन्द्रके भ्रमसे दैत्योंके द्वारा निगृहीत हुआ था, हे ब्रह्मन् ! ऋग्वेदमें जिस महात्माकी श्रुति वर्त्तमान है, वह गृत्स-मद जिसके समीप रहते थे, वहां ही ब्राह्मणोंसे पूजित होते थे। ब्रह्मचारी श्रीमान् गृत्समद ब्रह्मर्षि हुए थे । गृत्समदका पुत्र सुतेजा भी ब्राह्मण हुआ था। (५२-६०)

सुतेजाका पुत्र वर्चा, वर्चाका पुत्र विहव्य, विहव्यका पुत्र वितत्य, वितत्यका पुत्र सत्य, सत्यका पुत्र सन्त, सन्तका पुत्र श्रवा ऋषि, श्रवाका पुत्र

तस्यात्मजश्च प्रमितिर्वेदवेदाङ्गपारगः ।
घृताच्यां तस्य पुत्रस्तु रुरुर्नामोदपद्यत ॥ ६४ ॥
प्रमद्वरायां तु रुरोः पुत्रः समुदपद्यत ।
शुनको नाम विप्रर्षिर्यस्य पुत्रोऽथ शौनकः ॥ ६५ ॥
एवं विप्रत्वमगमद्वीतहव्यो नराधिपः ।
भृगोः प्रसादाद्राजेन्द्र क्षत्रियः क्षत्रियर्षभ ॥ ६६ ॥
तथैव कथितो वंशो मया गार्त्समदस्तव ।
विस्तरेण महाराज किमन्यदनुपृच्छसि ॥ ६७ ॥ [१९८३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे वीतहव्योपाख्यानं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच- के पूज्या वै त्रिलोकेऽस्मिन्मानवा भरतर्षभ ।
विस्तरेण तदाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥ १ ॥
भीष्म उवाच-अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं वासुदेवस्य चोभयोः ॥ २ ॥
नारदं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा पूजयानं द्विजर्षभान् ।
केशवः परिपप्रच्छ भगवन् कान्नमस्यसि ॥ ३ ॥

तम, तमका पुत्र द्विजसत्तम प्रकाश, प्रकाशका पुत्र जापकश्रेष्ठ वागिन्द्र, वागिन्द्रका पुत्र प्रमिति जो कि वेद-वेदाङ्ग पारग थे। घृताची अप्सराके गर्भमें प्रमितिसे रुरु नामक विप्रर्षि पुत्र उत्पन्न हुआ था। प्रमद्वरासे रुरुके शुनक नाम विप्रर्षि पुत्र हुआ, जिसका पुत्र शौनक नामसे विख्यात है। हे क्षत्रिय-श्रेष्ठ! नरनाथ वीतहव्यने इस ही प्रकार भृगुकी कृपासे विप्रत्व लाभ किया था। हे महाराज! यह तुम्हारे समीप मैंने गृत्समदके वंशका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया। अब और क्या पूछनेकी इच्छा है? (६०—६७)

अनुशासनपर्वमें ३० अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ३१ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ! इन तीनों लोकोंके बीच कौन कौनसे मनुष्य पूज्य हैं? आप मेरे समीप इसे ही विस्तारपूर्वक वर्णन करिये। आपके वचन सुनके मुझे किसी प्रकार तृप्ति नहीं होता है। (१)

भीष्म बोले, प्राचीन लोग नारद ऋषि और श्रीकृष्णके संवादयुक्त यह इतिहास कहा करते हैं। ब्राह्मणोंकी पूजाके हेतु नारदको हाथ जोडे हुए

बहुमानपरस्तेषु भगवन्यान्नमस्यसि ।
शक्यं चेच्छ्रोतुमस्माभिर्ब्रूह्येतद्धर्मवित्तम ॥ ४ ॥

नारद उवाच- शृणु गोविन्द यानेतान् पूजयाम्यरिमर्दन ।
त्वत्तोऽन्यः कः पुमाँल्लोके श्रोतुमेतदिहार्हति ॥ ५ ॥
वरुणं वायुमादित्यं पर्जन्यं जातवेदसम् ।
स्थाणुं स्कन्दं तथा लक्ष्मीं विष्णुं ब्रह्माणमेव च ॥ ६ ॥
वाचस्पतिं चन्द्रमसमपः पृथ्वीं सरस्वतीम् ।
सततं ये नमस्यन्ति तान्नमस्याम्यहं विभो ॥ ७ ॥
तपोधनान्वेदविदो नित्यं वेदपरायणान् ।
महार्हान्वृष्णिशार्दूल सदा संपूजयाम्यहम् ॥ ८ ॥
अभुक्त्वा देवकार्याणि कुर्वते येऽविकत्थनाः ।
संतुष्टाश्च क्षमायुक्तास्तान्नमस्याम्यहं विभो ॥ ९ ॥
सम्यग्यजन्ति ये चेष्टीः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः ।
सत्यं धर्मं क्षितिं गाश्च तान्नमस्यामि यादव ॥ १० ॥

देखकर श्रीकृष्णने पूछा। हे भगवन्! आप किसे नमस्कार करते हैं? हे भगवन्! आप ब्राह्मणोंका बहुमान करते हुए किन लोगोंको नमस्कार करते हैं? हे धर्मवित्तम! यदि यह विषय मेरे सुननेके योग्य हो, तो मैं सुननेकी इच्छा करता हूं, आप वर्णन करिये। (१—४)

नारद मुनि बोले, हे अरिंदमन गोविन्द! मैं जिनकी पूजा करता हूं, वह कहता हूं, सुनो। इस लोकमें तुम्हारे अतिरिक्त और कौन पुरुष यह विषय सुननेके योग्य होगा? जो लोग वरुण, वायु, आदित्य, पर्जन्य, अग्नि, स्थाणु, स्कन्द, लक्ष्मी, विष्णु, ब्रह्मा, वाचस्पति, चन्द्रमा, जल, पृथिवी और सरस्वतीको सदा नमस्कार करते हैं, हे विभु! मैं उन्हीं लोगोंको नमस्कार किया करता हूं। हे वृष्णिशार्दूल! तपोधन, वेद जाननेवाले, सदा वेद पढनेवाले श्रेष्ठ लोगोंकी मैं सदा पूजा करता हूं। हे प्रभु! जो अनात्मश्लाघापरायण मनुष्य अभुक्त रहके देवकार्य करते तथा जो सन्तुष्ट और क्षमायुक्त हैं, मैं उन्हींको नमस्कार किया करता हूं। हे यादव! जो लोग क्षमाशील, दान्त और जितेन्द्रिय होकर पूर्णरीतिसे यज्ञ करते, सत्य और धर्मकी पूजा करते तथा ब्राह्मणोंको भूमि और गऊ दान करते हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार करता हूं। (५—१०)

ये वै तपसि वर्तन्ते वने मूलफलाशनाः।
असंचयाः क्रियावन्तस्तान्नमस्यामि यादव ॥ ११ ॥
ये भृत्यभरणे शक्ताः सततं चातिथिव्रताः।
भुञ्जते देवशेषाणि तान्नमस्यामि यादव ॥ १२ ॥
ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मचारिणः।
याजनाध्यापने युक्ता नित्यं तान्पूजयाम्यहम् ॥ १३ ॥
प्रसन्नहृदयाश्चैव सर्वसत्त्वेषु नित्यशः।
आपृष्ठतापात्स्वाध्याये युक्तास्तान्पूजयाम्यहम् ॥ १४ ॥
गुरुप्रसादे स्वाध्याये यतन्तो ये स्थिरव्रताः।
शुश्रूषवोऽनसूयन्तस्तान्नमस्यामि यादव ॥ १५ ॥
सुव्रता मुनयो ये च ब्राह्मणाः सत्यसङ्गराः।
वोढारो हव्यकव्यानां तान्नमस्यामि यादव ॥ १६ ॥
भैक्ष्यचर्यासु निरताः कृशा गुरुकुलाश्रयाः।
निःसुखा निर्धना ये तु तान्नमस्यामि यादव ॥ १७ ॥

जो लोग वनके बीच फलमूल भोजन करके तपस्या करते और सञ्चय न करके कर्म किया करते हैं, हे यादव! मैं उन्हें ही नमस्कार किया करता हूं, जो सेवकोंको भरण करनेमें समर्थ हैं, सदा अतिथिव्रत और देवताओंसे शेष बचा हुआ अन्न आदि भोजन करते हैं, मैं उन्हींको नमस्कार किया करता हूं। जो सब वाग्मट ब्रह्मचारी वेदज्ञान लाभ करके अनभिभवनीय होते और जो लोग सदा याजन और अध्यापन कार्यमें नियुक्त रहते हैं, मैं उन्हींकी पूजा करता हूं। (११—१३)

जो सब जीवोंके विषयमें सदा प्रसन्नचित्त रहते और मध्यान्ह पर्यन्त स्वाध्याय पाठ तथा मन्त्रजप करनेमें नियुक्त रहते हैं, मैं उन लोगोंकी पूजा करता हूं। हे यादव! जो सब स्थिर-व्रती मनुष्य गुरुके प्रसादसे स्वाध्याय-पाठमें यत्नवान रहते, गुरुकी सेवा करते और किसीकी निन्दा नहीं करते, मैं उन्हें ही नमस्कार किया करता हूं। हे यादव! जो सब उत्तम व्रतवाले मुनि और सत्यप्रतिज्ञ ब्राह्मणगण हव्य-कव्य वहन किया करते हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार करता हूं। हे यादव! जो लोग भैक्ष्यचर्य्यमें तत्पर रहते, कृश, गुरुकुलाश्रय, सुखरहित और निर्द्धन हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार करता हूं। (१४-१७)

निर्ममा निष्प्रतिद्वन्द्वा निर्ह्रीका निष्प्रयोजनाः।
ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मवादिनः ॥ १८ ॥
अहिंसानिरता ये च ये च सत्यव्रता नराः।
दान्ताः शमपराश्चैव तान्नमस्यामि केशव ॥ १९ ॥
देवतातिथिपूजायां युक्ता ये गृहमेधिनः।
कपोतवृत्तयो नित्यं तान्नमस्यामि यादव ॥ २० ॥
येषां त्रिवर्गः कृत्येषु वर्तते नोपहीयते।
शिष्टाचारप्रवृत्ताश्च तान्नमस्याम्यहं सदा ॥ २१ ॥
ब्राह्मणाः श्रुतसंपन्ना ये त्रिवर्गमनुष्ठिताः।
अलोलुपाः पुण्यशीलास्तान्नमस्यामि केशव ॥ २२ ॥
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च सुधाभक्षाश्च ये सदा।
व्रतैश्च विविधैर्युक्तास्तान्नमस्यामि माधव ॥ २३ ॥
अयोनीनग्नियोनींश्च ब्रह्मयोनींस्तथैव च।
सर्वभूतात्मयोनींश्च तान्नमस्याम्यहं सदा ॥ २४ ॥

जो सब मनुष्य ममतारहित, निष्प्रतिद्वन्द्व, दिगम्बर, निष्प्रयोजन और और वेदलाभ करके अनभिभवनीय, वाग्मी, ब्रह्मवादी, अहिंसारत, सत्यव्रत, दान्त और शमपरायण हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार किया करता हूं। जो सब गृहस्थ पुरुष देवता तथा अतिथि पूजामें नियुक्त रहते और सदा कपोतवृत्ति अर्थात् कणग्रहणपूर्वक सञ्चय न करके जीवन व्यतीत करते हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार किया करता हूं। जो लोग धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्ग कार्योंमें वर्त्तमान रहते हैं, कदापि परित्यक्त नहीं होते तथा जो शिष्टाचारमें प्रवृत्त रहते हैं, मैं उन्हें ही सदा नमस्कार किया करता हूं। (१८-२१)

हे केशव! जो ब्राह्मण शास्त्रज्ञानसे युक्त होकर धर्म, अर्थ और कामका अनुष्ठान करते हैं, जो अलोलुप और और पुण्यशील हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार करता हूं, जो लोग जल तथा वायु पीके निवास करते और जो सुधा अर्थात् वैश्वदेवसे अवशिष्ट अन्न भक्षण किया करते हैं, सदा विविध व्रतोंसे युक्त रहते हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार करता हूं। जो लोग अकृतदार और जो स्त्रीके सहित अग्निहोत्र वा वेदके आश्रय तथा सर्वभूतात्मयोनि हैं, मैं उन्हें ही नमस्कार किया करता हूं। (२२-२४)

नित्यमेतान्नमस्यामि कृष्ण लोककरानृषीन्।
लोकज्येष्ठान् कुलज्येष्ठांस्तमोघ्नान् लोकभास्करान् ॥२५॥
तस्मात्त्वमपि वार्ष्णेय द्विजान् पूजय नित्यदा।
पूजिताः पूजनार्हा हि सुखं दास्यन्ति तेऽनघ ॥ २६ ॥
अस्मिन् लोके सदा ह्येते परत्र च सुखप्रदाः।
चरन्ते मान्यमाना वै प्रदास्यन्ति सुखं तव ॥ २७ ॥
ये सर्वातिथयो नित्यं गोषु च ब्राह्मणेषु च।
नित्यं सत्ये चाभिरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २८ ॥
नित्यं शमपरा ये च तथा ये चानसूयकाः।
नित्यस्वाध्यायिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २९ ॥
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति ये चैकं वेदमाश्रिताः।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३० ॥
तथैव विप्रप्रवरान्नमस्कृत्य यतव्रताः।
भवन्ति ये दानरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३१ ॥
तपस्विनश्च ये नित्यं कौमारब्रह्मचारिणः।
तपसा भावितात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३२ ॥
देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चार्चने रताः।

हे कृष्ण! जो लोकज्येष्ठ, कुलज्येष्ठ, तमोघ्न और लोकसत्तम हैं, मैं उन्हीं लोकप्रकाशक ऋषियोंको नमस्कार किया करता हूं। हे वार्ष्णेय! इसलिये तुम भी सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करो। हे अनघ! वे पूजनीय पुरुष पूजित होनेसे सुख सम्पत्ति प्रदान किया करते हैं। इस लोक और परलोकमें ये लोग सुखप्रद होकर सदा विचरते रहते हैं, ये मान्ययुक्त होनेसे तुम्हारा उत्तम विधान करेंगे। (२५-२७)

जो लोग सदा सब लोगोंका आतिथ्य किया करते हैं, गऊ-ब्राह्मण और सत्यवचन कहनेमें रत रहते हैं, वे सब क्लेशोंसे पार होसकते हैं। जो लोग सदा शमपरायण, अनसूयक और नित्य स्वाध्यायशील हैं, वे क्लेशोंसे उत्तीर्ण होसकते हैं। जो श्रद्धावान सब देवोंकी पूजा करते, एक वेदका आसरा करते, इंद्रियनिग्रह करते हैं तथा विप्रश्रेष्ठोंको नमस्कार करके व्रताचरण करते, दानमें रत होते हैं वे सब क्लेशोंसे पार होसकते हैं। जिस तपस्वी तथा कुमार ब्रह्मचारीने सदा तपस्यामें रत रहके आत्माको

शिष्टान्नभोजिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३३ ॥
अग्निमाधाय विधिवत्प्रणता धारयन्ति ये ।
प्राप्ताः सोमाहुतिं चैव दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३४ ॥
मातापित्रोर्गुरुषु च सम्यग्वर्तन्ति ये सदा ।
यथा त्वं वृष्णिशार्दूलेत्युक्त्वैवं विरराम सः ॥ ३५ ॥
तस्मात्त्वमपि कौन्तेय पितृदेवद्विजातिथीन् ।
सम्यक् पूजयसे नित्यं गतिमिष्टामवाप्स्यसि ॥ ३६ ॥ [१०१९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे कृष्णनारदसंवादे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच-पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि धर्मं भरतसत्तम ॥ १ ॥
शरणागतं ये रक्षन्ति भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
किं तस्य भरतश्रेष्ठ फलं भवति तत्त्वतः ॥ २ ॥
भीष्म उवाच-इदं शृणु महाप्राज्ञ धर्मपुत्र महायशः ।
इतिहासं पुरावृत्तं शरणार्थं महाफलम् ॥ ३ ॥

जाना है, वह क्लेशोंसे पार हो सकता है। जो लोग देवता, अतिथि, पितर और सेवकोंकी अर्चनामें अनुरक्त तथा शिष्टान्नभोजी हैं, वेभी क्लेशोंसे छूट जाते हैं। (२८-३३)

जो अग्नि लाकर प्रणत होके उसे धारण करते और सोम आहुति प्राप्त करते हैं, वे क्लेशोंसे उत्तीर्ण होसकते हैं। हे वृष्णिशार्दूल! जो लोग तुम्हारी भांति माता, पिता और गुरुके निकट सदा पूर्णरूपसे निवास करते हैं, इतनी कथा कहके ही नारद मुनि चुप होगये। हे कौन्तेय! इसलिये तुम भी पितरों, देवताओं, ब्राह्मणों और अतिथियोंकी सदा पूरी रीतिसे पूजा करते हो, इससे अभिलषित गति पाओगे। (३४—३६)

अनुशासनपर्वमें ३१ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ३२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे सर्वशास्त्रविशारद महाप्राज्ञ भरतसत्तम पितामह! मैं आपके समीप धर्म सुननेकी इच्छा करता हूं। हे भरतश्रेष्ठ! जो लोग स्वेदज, उद्भिज, अण्डज और जरायुज आदिके बीचसे किसीको शरणागत होनेपर उसकी रक्षा करते हैं, उस शरणागतकी रक्षा करनेका यथार्थ फल क्या है? (१-२)

प्रपात्यमानः श्येनेन कपोतः प्रियदर्शनः ।
वृषदर्भं महाभागं नरेन्द्रं शरणं गतः ॥ ४ ॥
स तं दृष्ट्वा विशुद्धात्मा त्रासादङ्कमुपागतम् ।
आश्वास्याश्वसिहीत्याह न तेऽस्ति भयमण्डज ॥ ५ ॥
भयं ते सुमहत्कस्मात्कुत्र किं वा कृतं त्वया ।
येन त्वमिह संप्राप्तो विसंज्ञो भ्रान्तचेतनः ॥ ६ ॥
नवनीलोत्पलापीड चारुवर्ण सुदर्शन ।
दाडिमाशोकपुष्पाक्ष मा त्रसस्वाभयं तव ॥ ७ ॥
मत्सकाशमनुप्राप्तं न त्वां कश्चित्समुत्सहेत् ।
मनसा ग्रहणं कर्तुं रक्षाध्यक्षपुरस्कृतम् ॥ ८ ॥
काशिराज्यं तदद्यैव त्वदर्थं जीवितं तथा ।
त्यजेयं भव विस्रब्धः कपोत न भयं तव ॥ ९ ॥
श्येन उवाच—ममैतद्विहितं भक्ष्यं न राजंस्त्रातुमर्हसि ।
अतिक्रान्तं च प्राप्तं च प्रयत्नाच्चोपपादितम् ॥ १० ॥

भीष्म बोले, हे महाप्राज्ञ महायशस्वी धर्मनन्दन ! शरणागतकी रक्षाके विषयमें यह महाफलजनक प्राचीन इतिहास सुनो । कोई प्रियदर्शन कपोत बाजपक्षीके झपटनेसे आकाशसे गिरके महा भाग वृषदर्भ राजाके शरणमें गया । उस विशुद्धात्मा राजाने उसे भयवशसे निज गोदीमें छिपा हुआ देखके धीरज देके कहा । हे अण्डज ! तुम्हें भय नहीं है, तुम धीरज धरो, किस निमित्त तुम्हें महत् भय हुआ है; कहांपर तुमने कैसा कार्य किया है, जिससे संज्ञारहित और भ्रान्तचित्त होकर इस स्थानमें आये हो ? (३—६)

हे सुदर्शन ! हे नवनीलोत्पलनिर्मितभूषण सदृश उत्तम रूपवाले ! हे दाडिम और अशोक पुष्पसदृश नेत्रवाले! तुम भय मत करो, तुम्हें यहांपर कुछ भय नहीं है । जब तुम रक्षाध्यक्षपुरस्कृत मेरे समीप उपस्थित हुए हो, तब कोई पुरुष तुम्हें मनसे भी ग्रहण करनेका उत्साह न कर सकेगा । हे कपोत ! मैं आज ही तुम्हारे लिये काशिराज्य तथा जीवन परित्याग करूंगा, तुम विश्वासी होके रहो, तुम्हें कुछ भय नहीं है । (७—९)

बाज बोला, हे राजन् ! विधाताके द्वारा यह नष्टजीवितप्राय पक्षी मेरे भक्ष्यरूपसे विहित तथा प्रयत्नपूर्वक प्राप्त हुआ है, इसलिये आप इसका परित्राण

मांसं च रुधिरं चास्य मज्जा मेदश्च मेहितम् ।
परितोषकरो ह्येष मम माऽस्याग्रतो भव ॥ ११ ॥
तृष्णा मे बाधतेऽत्युग्रा क्षुधा निर्दहतीव माम् ।
मुञ्चैनं न हि शक्ष्यामि राजन्मन्दयितुं क्षुधाम् ॥१२॥
मया ह्यनुसृतो ह्येष मत्पक्षनखविक्षतः ।
किंचिदुच्छ्वासनिःश्वासं न राजन् गोप्तुमर्हसि ॥१३॥
यदि स्वविषये राजन् प्रभुस्त्वं रक्षणे नृणाम् ।
खेचरस्य तृषार्तस्य न त्वं प्रभुरथोत्तम ॥ १४ ॥
यदि वैरिषु भृत्येषु स्वजनव्यवहारयोः ।
विषयेष्विन्द्रियाणां च आकाशे मा पराक्रम ॥ १५ ॥
प्रभुत्वं हि पराक्रम्य सम्यक् पक्षहरेषु ते ।
यदि त्वमिह धर्मार्थी मामपि द्रष्टुमर्हसि ॥ १६ ॥
भीष्म उवाच—श्रुत्वा श्येनस्य तद्वाक्यं राजर्षिर्विस्मयं गतः ।
संभाव्य चैनं तद्वाक्यं तदर्थी प्रत्यभाषत ॥ १७ ॥

न कर सकेंगे । इसका रक्त, मांस, मज्जा, मेद मेरा हितकर है, यह मुझे परितोषकर है, इसलिये आप इसके अगाडी न आवें । हे राजन् ! अत्यन्त उग्र तृष्णा मुझे पीडित और क्षुधा मानो निःशेष करके भस्म किया चाहती है । इसलिये आप इसे परित्याग करिये, मैं क्षुधाकी मन्दता नहीं कर सकता हूं । मेरे पंख और नखसे यह पक्षी घायल हुआ है, मैंने इसका अनुसरण किया है । इसका थोडासा श्वास वा निश्वास चल रहा है; हे राजन् ! इसलिये आप इसकी रक्षा न कर सकेंगे । (१०—१३)

हे महाराज ! आप निज राज्यमें मनुष्योंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, परन्तु तृषासे आर्त्त खेचरोंके रक्षाकार्यमें उत्तम रीतिसे प्रभु नहीं है । आप शत्रु, सेवक, स्वजन, व्यवहारविषय और इन्द्रियविषयमें विक्रम प्रकाश करिये, आकाशचारियोंके ऊपर पराक्रम न कीजिये । आज्ञा भङ्ग करनेवाले, शत्रुओंके विषयमें आपको पूरी रीतिसे पराक्रम प्रकाश करके प्रभुता करना उचित है, आप यदि इस समय धर्मार्थी हों, तो मेरी ओर भी दृष्टि करनी योग्य है । भीष्म बोले, हे राजर्षि! बाजपक्षीका ऐसा वचन सुनके विस्मित हुए और उसके वचनका आदर करके उत्तर देने लगे । (१४—१७)

राजोवाच—गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा।
त्वदर्थमद्य क्रियतां क्षुधाप्रशमनाय ते ॥ १८ ॥
शरणागतं न त्यजेयमिति मे व्रतमाहितम्।
न मुञ्चति ममाङ्गानि द्विजोऽयं पश्य वै द्विज ॥ १९ ॥
श्येन उवाच—न वराहं न चोक्षाणं नचान्यान्विविधान् द्विजान्।
भक्षयामि महाराज किमन्नाद्येन तेन मे ॥ २० ॥
यस्तु मे विहितो भक्ष्यः स्वयं देवैः सनातनः।
श्येनाः कपोतान् खादन्ति स्थितिरेषा सनातनी ॥२१॥
उशीनर कपोते तु यदि स्नेहस्तवानघ।
ततस्त्वं मे प्रयच्छाद्य स्वमांसं तुलया धृतम् ॥ २२ ॥
राजोवाच— महाननुग्रहो मेऽद्य यस्त्वमेवमिहात्थ माम्।
बाढमेव करिष्यामीत्युक्त्वाऽसौ राजसत्तमः ॥ २३ ॥
उत्कृत्योत्कृत्य मांसानि तुलया समतोलयत्।
अन्तःपुरे ततस्तस्य स्त्रियो रत्नविभूषिताः ॥ २४ ॥
हाहाभूता विनिष्क्रान्ताः श्रुत्वा परमदुःखिताः।
तासां रुदितशब्देन मन्त्रिभृत्यजनस्य च ॥ २५ ॥

राजा बोला, गऊ, बैल, वराह, हरिन अथवा भैंसे आज तुम्हारी क्षुधाको शान्त करें, मैं शरणागतको परित्याग नहीं करता; यही मेरा निश्चित व्रत है। हे विहङ्ग! देखो, यह कपोत मेरा अंग परित्याग नहीं करता है। (१८–१९)

बाज बोला, हे महाराज! मैं वृष, वराह अथवा दूसरे विविध पक्षियोंको भक्षण न करूंगा, मुझे इन सब अन्न आदिसे क्या प्रयोजन है? स्वयं देवताओंने मेरे सनातन भक्ष्यका जो कुछ विधान किया है, उसे ही भक्षण करूंगा। "बाजपक्षी कबूतरोंको भक्षण करते हैं, यह सनातन मर्यादा है।" हे पापरहित उशीनर! इस कपोतके विषयमें यदि आप स्नेह करते हो, तो तुलादण्डपर इसहीके परिमाणसे निज मांस मुझे प्रदान करिये। (२०—२२)

राजा बोला, मुझपर तुम्हारी बहुत ही कृपा दीख पडती है, क्यों कि अब तुम मुझसे ऐसा कहते हो, बहुत अच्छा, मैं इस ही प्रकार करूंगा। उस राजसत्तमने ऐसा वचन कहके अपना मांस काटके तराजूपर तौला। अनन्तर उनके अंतःपुरनिवासकी रत्नभूषित स्त्रियें यह वृत्तान्त सुनके अत्यन्त दुःखित होकर

बभूव सुमहान्नादो मेघगम्भीरनिःस्वनः।
निरुद्धं गगनं सर्वं ह्यभ्रं मेघैः समन्ततः ॥ २६ ॥
मही प्रचलिता चासीत्तस्य सत्येन कर्मणा।
स राजा पार्श्वतश्चैव बाहुभ्यामूरुतश्च यत् ॥ २७ ॥
तानि मांसानि संछिद्य तुलां पूरयतेऽशनैः।
तथापि न समस्तेन कपोतेन बभूव ह ॥ २८ ॥
अस्थिभूतो यदा राजा निर्मांसो रुधिरस्रवः।
तुलां ततः समारूढः स्वं मांसक्षयमुत्सृजन् ॥ २९ ॥
ततः सेन्द्रास्त्रयो लोकास्तं नरेन्द्रमुपस्थिताः।
भेर्यश्चाकाशगैस्तत्र वादिता देवदुन्दुभिः ॥ ३० ॥
अमृतेनावसिक्तश्च वृषदर्भो नरेश्वरः।
दिव्यैश्च सुसुखैर्माल्यैरभिवृष्टः पुनः पुनः ॥ ३१ ॥
देवगन्धर्वसंघातैरप्सरोभिश्च सर्वतः।
नृत्तश्चैवोपगीतश्च पितामह इव प्रभुः ॥ ३२ ॥
हेमप्रासादसंबाधं मणिकाञ्चनतोरणम्।
सवैदूर्यमणिस्तम्भं विमानं समधिष्ठितः ॥ ३३ ॥

हाहाकार करती हुई बाहर निकलीं। उन स्त्रियों, मन्त्रियों और सेवकोंके रोदनसे बादल गर्जनेकी भांति महान् शब्द होने लगा। निर्मल आकाश बादलोंसे परिपूरित होगया। उस राजाके सत्यकार्यसे पृथ्वी हिलने लगी। राजाने दोनों कोखे, दोनों भुजा और छातीका मांस काटके शीघ्र ही तराजूको पूरित किया, तौभी वह सारा मांस कपोतके सङ्ग न तुला। (२३—२८)

जब राजाका शरीर मांसरहित हुआ, केवल हड्डी ही रह गई और लोहू झरने लगा। तब वह निज मांस स्थान शरीरको छोडके कपोतके संग तुल्य-भावसे तराजूपर चढे, अनन्तर इन्द्रके सहित तीनों लोकके सब प्राणी उस राजाके निकट उपस्थित हुए। आकाश-चारी प्राणी भेरी और दुन्दुभी बजाने लगे। राजा वृषदर्भ अमृतसे अभिषिक्त हुए और उनके शरीरपर अत्यन्त सुख-कर दिव्य मालाकी बार बार वर्षा होने लगी। जैसे देवता, गन्धर्व और अप्सरा पितामहके निकट नृत्यगीत आरम्भ करती हैं, वैसेही उनके समीप नाच और गीत होने लगा। तब वह राजर्षि निज कर्मसे सुवर्णभूषित मणिकाञ्चनतोरण

स राजर्षिर्गतः स्वर्गं कर्मणा तेन शाश्वतम् ।
शरणागतेषु चैवं त्वं कुरु सर्वं युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥
भक्तानामनुरक्तानामाश्रितानां च रक्षिता ।
दयावान्सर्वभूतेषु परत्र सुखमेधते ॥ ३५ ॥
साधुवृत्तो हि यो राजा सद्वृत्तमनुतिष्ठति ।
किं न प्राप्तं भवेत्तेन स्वव्याजेनेह कर्मणा ॥ ३६ ॥
स राजर्षिर्विशुद्धात्मा धीरः सत्यपराक्रमः ।
काशीनामीश्वरः ख्यातस्त्रिषु लोकेषु कर्मणा ॥ ३७ ॥
योऽप्यन्यः कारयेदेवं शरणागतरक्षणम् ।
सोऽपि गच्छेत तामेव गतिं भरतसत्तम ॥ ३८ ॥
इदं वृत्तं हि राजर्षे वृषदर्भस्य कीर्तयन् ।
पूतात्मा वै भवेल्लोके शृणुयाद्यश्च नित्यशः ॥ ३९ ॥ [२०५८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे श्येनकपोताख्याने द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच- किं राज्ञः सर्वकृत्यानां गरीयः स्यात्पितामह ।
कुर्वन् किं कर्म नृपतिरुभौ लोकौ समश्नुते ॥ १ ॥

और वैदूर्य मणिके स्तम्भोंसे युक्त विमानपर चढके नित्य स्वर्गमें गये।(२९-३४)

हे युधिष्ठिर ! तुम भी शरणागत पुरुषोंके विषयमें ऐसा ही व्यवहार करो। भक्त, अनुरक्त और आश्रितोंकी जो मनुष्य रक्षा करते तथा जो लोग सब जीवोंके विषयमें दयावान् होते हैं, उन्हें परलोकमें सुख मिलता है। जो राजा सुशील होकर इस लोकमें सदाचारका अनुष्ठान करता है, उसे उस अनुष्ठित निष्कपट कर्मके सहारे कौन विषय नहीं प्राप्त होता। वह शुद्ध चित्तवाला, धीर और सत्यपराक्रमी काशिराज राजर्षि निज कर्मसे तीनों लोकमें विख्यात हुआ है। हे भरतसत्तम ! दूसरा जो पुरुष इस ही प्रकार शरणागत लोगोंकी रक्षा करता है, उसे भी सद्गति प्राप्त होती है। जो पुरुष राजर्षि वृषदर्भका यह चरित्र प्रतिदिन पाठ करता वा सुनता है, इस लोकमें उसका चित्त पवित्र होता है।(३४-३९)

अनुशासनपर्वमें ३२ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ३३ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! सब प्राणियोंके विषयमें राजाका गुरुतरकार्य क्या है और कैसा कार्य करनेसे राजा

भीष्म उवाच- एतद्राज्ञः कृत्यतममभिषिक्तस्य भारत।
ब्राह्मणानामनुष्ठानमत्यन्तं सुखमिच्छता ॥ २ ॥
कर्तव्यं पार्थिवेन्द्रेण तथैव भरतर्षभ।
श्रोत्रियान्ब्राह्मणान् वृद्धान्नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥ ३ ॥
पौरजानपदांश्चापि ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान्।
सान्त्वेन भोगदानेन नमस्कारैस्तथाऽर्चयेत् ॥ ४ ॥
एतत्कृत्यतमं राज्ञो नित्यमेवोपलक्षयेत।
यथाऽऽत्मानं यथा पुत्रांस्तथैतान्प्रतिपालयेत् ॥ ५ ॥
ये चाप्येषां पूज्यतमास्तान् दृढं प्रतिपूजयेत्।
तेषु शान्तेषु तद्राष्ट्रं सर्वमेव विराजते ॥ ६ ॥
ते पूज्यास्ते नमस्कार्या मान्यास्ते पितरो यथा।
तेष्वेव यात्रा लोकानां भूतानामिव वासवे ॥ ७ ॥
अभिचारैरुपायैश्च दहेयुरपि चेतसा।
निःशेषं कुपिताः कुर्युरुग्राः सत्यपराक्रमाः ॥ ८ ॥
नान्तमेषां प्रपश्यामि न दिशश्चाप्यपावृताः।

इस लोकमें तथा परलोकमें सुख भोग करता है? (१)

भीष्म बोले, हे भारत! अत्यन्त सुखकी इच्छा करनेवाले अभिषिक्त हुए राजाके लिये ब्राह्मणोंकी आराधना ही मुख्य कार्य है। हे नरेन्द्र! राजाको जो करना योग्य है, उसे तुम सुनो। राजा पूजनीय ब्राह्मणोंकी प्रतिदिन पूजा करे, पुरवासी और जनपदवासी बहुविद्याविशिष्ट ब्राह्मणोंकी सान्त्वना-वचन, भोगदान तथा नमस्कारके सहारे अर्चना करे। राजाका यह अवश्य कर्त्तव्य है, इसका सदा विचार करना चाहिये; जैसे राजा अपने पुत्रोंका प्रतिपालन करता है, वैसे ही ब्राह्मणोंका प्रतिपालन करे, उन लोगोंके बीच जो पूजनीय हों, उनकी दृढरूपसे पूजा करनी योग्य है, वे लोग जिस जिस राज्यमें शान्त रहते हैं, वही राज्य सब भांतिसे स्थिर रहता है। (२—६)

ये लोग पितरोंकी भांति पूजनीय, माननीय और नमस्कारके योग्य हैं। जैसे वर्षासे प्राणियोंकी जीवनयात्रा निभती है, वैसे ही ब्राह्मणोंसे समस्त लोकयात्रा हुआ करती है। सत्यपराक्रमी ब्राह्मण लोग कुपित तथा उग्रता अवलम्बन करके सङ्कल्पसे ही लौकिक शास्त्रसिद्ध श्येनादि अभिचार उपायके सहारे

कुपिताः समुदीक्षन्ते दावेष्वग्निशिखा इव ॥ ९ ॥
बिभ्यत्येषां साहसिका गुणास्तेषामतीव हि ।
कूपा इव तृणच्छन्ना विशुद्धा द्यौरिवापरे ॥ १० ॥
प्रसह्यकारिणः केचित्कार्पासमृदवो परे ।
सन्ति चैषामतिशठास्तथैवान्ये तपस्विनः ॥ ११ ॥
कृषिगोरक्ष्यमप्येके भैक्ष्यमन्येऽप्यनुष्ठिताः ।
चौराश्चान्येऽनृताश्चान्ये तथान्ये नटनर्तकाः ॥ १२ ॥
सर्वकर्मसहाश्चान्ये पार्थिवेष्वितरेषु च ।
विविधाकारयुक्ताश्च ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ १३ ॥
नानाकर्मसु रक्तानां बहुकर्मोपजीविनाम् ।
धर्मज्ञानां सतां तेषां नित्यमेवानुकीर्तयेत् ॥ १४ ॥
पितॄणां देवतानां च मनुष्योरगरक्षसाम् ।

सबको जलाते तथा सभीको निःशेष कर सकते हैं, इनका अन्तःकरण जाना नहीं जाता, सब दिशा इनके निमित्त अनावृत हैं, ये क्रुद्ध होनेपर दावानलके मध्यमें स्थित अग्निशिखाकी भांति दीख पडते हैं। (७—९)

साहसिक पुरुष भी इनसे डरते हैं, इनके गुणकी सीमा नहीं है; इनके बीच कोई जडभरत आदिकी भांति तृणसे छिपे हुए कूएंके सदृश और कोई वसिष्ठ आदिकी भांति आकाशवत् विशुद्ध हैं,कोईकोई दुर्वासा आदिकी भांति असह्य पीडा देनेवाले और कोई गौतम आदिकी भांति कार्पासवत् मृदुता अवलम्बन करनेवाले हैं, इनके बीच बहुतेरे अगस्त्यकी भांति अत्यन्त शठ और बहुतेरे तपस्वी भी हुआ करते हैं,कितने ही कृषिकार्य और गोपालन करते हैं कोई कोई भिक्षावृत्ति अवलम्बन किया करते हैं। कोई कोई वाल्मीकि और विश्वामित्र आदिकी भांति चौर्यवृत्तिमें रत रहते और कितने ही नारद प्रभृतिकी भांति मिथ्या कलहप्रिय और कितने ही भरत आदि मुनियोंकी भांति नट नर्त्तक हैं। (१०—१२)

हे भरतश्रेष्ठ ! दूसरे अनेक प्रकारके ब्राह्मणवृन्द राजा तथा अन्य लोगोंके समीप समस्त कार्य कर सकते हैं,अधिक क्या कहें वे लोग समुद्र सोखनेमें भी समर्थ हैं। शरीरप्रच्छादनके निमित्त अथवा लोकरक्षाके लिये निषिद्ध कर्मके सहारे अनेक विषयोंमें अनुरक्त तथा बहुतेरे कर्मोपजीवि, धर्मज्ञ, साधु ब्राह्मणोंका सदा नाम लेना उचित है। हे

पुराप्येते महाभागा ब्राह्मणा वै जनाधिप ॥ १५ ॥
नैते देवैर्न पितृभिर्न गन्धर्वैर्न राक्षसैः।
नासुरैर्न पिशाचैश्च शक्या जेतुं द्विजातयः ॥ १६ ॥
अदैवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम्।
यमिच्छेयुः स राजा स्याद्यो नेष्टः स पराभवेत् ॥ १७ ॥
परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः।
सत्यं ब्रवीमि ते राजन्विनश्येयुर्न संशयः ॥ १८ ॥
निन्दाप्रशंसाकुशलाः कीर्त्यकीर्तिपरायणाः।
परिकुप्यन्ति ते राजन्सततं द्विषतां द्विजाः ॥ १९ ॥
ब्राह्मणा यं प्रशंसन्ति पुरुषः स प्रवर्धते।
ब्राह्मणैर्यः पराकृष्टः पराभूयात्क्षणाद्धि सः ॥ २० ॥
शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ २१ ॥
द्राविडाश्च कलिङ्गाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः।
कोलिसर्पा माहिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ॥ २२ ॥
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्।

जननाथ! पहले समयमें महाभाग ब्राह्मण लोग पितर, देवता, मनुष्य, उरग और राक्षसोंके भी पूज्य थे। देवगण, पितर, गन्धर्व, राक्षस, असुर और पिशाचोंसे द्विजातिवृन्द कदापि पराजित नहीं होसकते, ये लोग अदैवको दैव और दैवको अदैव कर सकते हैं, ये जिसके निमित्त इच्छा करें, वह राजा होजावे, जो इनका इष्ट नहीं है वह पराभूत होता है। (१३—१७)

हे महाराज! जो अज्ञानी मनुष्य ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, मैं सत्य ही कहता हूं, कि वे लोग निःसन्देह विनष्ट होवे हैं। हे राजन्! जो लोग निन्दा और प्रशंसा करनेमें निपुण तथा कीर्त्ति-अकीर्त्तिपरायण हैं, वे ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले पुरुषोंके ऊपर सदा कोपित हुआ करते हैं। ब्राह्मण लोग जिसकी प्रशंसा करते हैं, वह पुरुष वर्द्धित होता है और जिसको ब्राह्मण लोग निकृष्ट समझते हैं, वह क्षणभरमें पतित होता है। शक, यवन, काम्बोज आदि क्षत्रिय जाति ब्राह्मणोंके अननुग्रह निबन्धनसे चाण्डालत्वको प्राप्त हुई हैं। (१८—२१)

द्राविड, कलिङ्ग, पुलिन्द, उशीनर,

श्रेयान्पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर ॥ २३ ॥
यस्तु सर्वमिदं हन्याद्ब्राह्मणं च न तत्समम् ।
ब्रह्मवध्या महान्दोष इत्याहुः परमर्षयः ॥ २४ ॥
परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथंचन ।
आसीताधोमुखस्तूष्णीं समुत्थाय व्रजेद्व वा ॥ २५ ॥
न स जातोऽजनिष्यद्वा पृथिव्यामिह कश्चन ।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत् ॥ २६ ॥
दुर्ग्राह्यो मुष्टिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी ।
दुर्धरा पृथिवी राजन्दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥ २७ ॥ [२०८२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे ब्राह्मणप्रशंसा नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच- ब्राह्मणानेव सततं भृशं संपरिपूजयेत् ।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥ १ ॥
एते भोगैरलंकारैरन्यैश्चैव किमिच्छकैः ।
सदा पूज्या नमस्कारै रक्ष्याश्च पितृवन्नृपैः ॥ २ ॥

कोलिसर्प और माहिषक प्रभृति क्षत्रिय जाति ब्राह्मणोंकी कृपाके अभावसे वृषलत्वको प्राप्त हुई हैं। हे विजयिवर! उनके निकट पराजय होना उत्तम है, जय कल्याणकारी नहीं है। इन समस्त प्राणियोंको मारना एक ब्राह्मणके तुल्य नहीं है, महर्षियोंने कहा है, कि ब्रह्महत्या महादोष है। द्विजातियोंकी निन्दा न सुननी चाहिये, उस समय सिर नीचा करके बैठा रहे अथवा मौनावलम्बन करके उठके दूसरे स्थानमें चला जावे। जो ब्राह्मणोंके सङ्ग विरोध करके सहजमें जीनेका उत्साह करता, इस भूमण्डलपर ऐसा कोई पुरुष नहीं उत्पन्न हुआ और न होगा। हे महाराज! जैसे वायु मुट्ठीमें ग्रहण नहीं की जाती, जैसे चन्द्रमाको हाथसे स्पर्श करना सम्भव नहीं है और जैसे पृथिवीको धारण नहीं किया जा सकता, वैसे ही इस पृथ्वीमण्डलपर ब्राह्मणोंको भी कोई जीतनेमें समर्थ नहीं होता। (२२-२७)

अनुशासनपर्वमें ३३ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ३४ अध्याय।

भीष्म बोले, ब्राह्मणोंकी सदा पूरी रीतिसे पूजा करे, येही सुखदुःखके नियन्ता और चन्द्रमा ही इनके राजा हैं। हे महाराज! ये लोग भोग, नमस्कार, आभूषण तथा दूसरे अभिलषित

ततो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात् ।
जायतां ब्राह्मवर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः ॥ ३ ॥
महारथश्च राजन्य एष्टव्यः शत्रुतापनः ।
ब्राह्मणं जातिसंपन्नं धर्मज्ञं संशितव्रतम् ॥ ४ ॥
वासयेत गृहे राजन्न तस्मात्परमस्ति वै ।
ब्राह्मणेभ्यो हविर्दत्तं प्रतिगृह्णन्ति देवताः ॥ ५ ॥
पितरं सर्वभूतानां नैतेभ्यो विद्यते परम् ।
आदित्यश्चन्द्रमा वायुरापो भूरम्बरं दिशः ॥ ६ ॥
सर्वे ब्राह्मणमाविश्य सदाऽन्नमुपभुञ्जते ।
न तस्याश्नन्ति पितरो यस्य विप्रा न भुञ्जते ॥ ७ ॥
देवाश्चाप्यस्य नाश्नन्ति पापस्य ब्राह्मणद्विषः ।
ब्राह्मणेषु तु तुष्टेषु प्रीयन्ते पितरः सदा ॥ ८ ॥
तथैव देवता राजन्नात्र कार्या विचारणा ।
तथैव तेऽपि प्रीयन्ते येषां भवति तद्धविः ॥ ९ ॥
न च प्रेत्य विनश्यन्ति गच्छन्ति च परां गतिम् ।

विषयोंसे सदा पूजनीय और पितृवत् रक्षणीय हैं। जैसे इन्द्रके सहारे भूतोंकी शान्ति होती है, वैसे ही ब्राह्मणोंके द्वारा राज्यमें शान्ति हुआ करती है। राज्यमें पवित्र ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी होकर उत्पन्न हो और क्षत्रिय महारथ तथा शत्रुतापन होवें। हे महाराज! सबके ऐश्वर्यके निमित्त गृहके बीच संशितव्रती, धर्म जाननेवाले, जातियुक्त ब्राह्मणोंका वास करावे, उससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। ब्राह्मणोंको जो हवि दिया जाता है देवता और पितर उसे ही ग्रहण करते हैं, सब प्राणियोंके बीच ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है ऐसा जानो। (१-६)

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल, आकाश, पृथ्वी और सब दिशा ब्राह्मणोंसे आविष्ट होकर सदा अन्न उपभोग करती हैं। जिसके घरमें कोई ब्राह्मण भोजन नहीं करता, उसके पितर और देवतावृन्द भी उस पापाचारी ब्राह्मणद्वेषीका अन्न ग्रहण नहीं करते। ब्राह्मणोंके सन्तुष्ट रहनेसे पितर लोग सदा प्रसन्न रहते हैं और देवता लोग भी उसी भांति प्रसन्न होते हैं, हे महाराज! इस विषयमें विचार करना उचित नहीं है। जिनकी दान की हुई वस्तुओंको देवता और पितरवृन्द ग्रहण करते हैं,

येन येनैव हविषा ब्राह्मणांस्तर्पयेन्नरः ॥ १० ॥
तेन तेनैव प्रीयन्ते पितरो देवतास्तथा ।
ब्राह्मणादेव तद्भूतं प्रभवन्ति यतः प्रजाः ॥ ११ ॥
यतश्चायं प्रभवति प्रेत्य यत्र च गच्छति ।
वेदैष मार्गं स्वर्गस्य तथैव नरकस्य च ॥ १२ ॥
आगतानागते चोभे ब्राह्मणो द्विपदां वरः ।
ब्राह्मणो भरतश्रेष्ठ स्वधर्मं चैव वेद यः ॥ १३ ॥
ये चैनमनुवर्तन्ते ते न यान्ति पराभवम् ।
न ते प्रेत्य विनश्यन्ति गच्छन्ति न पराभवम् ॥ १४ ॥
यद्ब्राह्मणमुखात्प्राप्तं प्रतिगृह्णन्ति वै वचः ।
भूतात्मानो महात्मानस्ते न यान्ति पराभवम् ॥ १५ ॥
क्षत्रियाणां प्रतपतां तेजसा च बलेन च ।
ब्राह्मणेष्वेव शाम्यन्ति तेजांसि च बलानि च ॥ १६ ॥
भृगवस्तालजङ्घांश्च नीपानाङ्गिरसोऽजयन् ।
भरद्वाजो वैतहव्यानैलांश्च भरतर्षभ ॥ १७ ॥

वे लोग भी प्रसन्न हुआ करते हैं, वेही परलोकमें जाके विनष्ट नहीं होते, बल्कि परम शान्ति पाते हैं। मनुष्य जिन जिन वस्तुओंसे ब्राह्मणोंको तृप्त करता है, देवता और पितृगण उन्हीं वस्तुओंसे तृप्तिलाभ किया करते हैं। (७—११)

जिससे प्रजासमूहकी उत्पत्ति होती है, ब्राह्मणोंसे ही वे यज्ञादि उत्पन्न हुए हैं। यह जीव जिससे उत्पन्न होता है और परलोकमें जिस स्थानमें जाता है, उसे ही स्वर्ग और नरकका मार्ग जानो। हे भरतश्रेष्ठ! द्विपदोंके बीच ब्राह्मण ही श्रेष्ठ हैं, जो लोग आगत और अनागत विषयोंको जाननेमें समर्थ हैं तथा जो अपना धर्म जानते हैं, वेही ब्राह्मण हैं, जो निज धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे पतित नहीं होते, परलोकमें जाकर विनष्ट नहीं होते और न उनकी पराभव होती है। जो सब चित्तविजयी महात्मा लोग ब्राह्मणके मुखसे बाहिर हुए वचनको प्रतिग्रह करते हैं, उनका पराभव नहीं होता। (११—१५)

अपने तेज और बलसे दूसरोंको तपानेवाले क्षत्रियका बल और तेज ब्राह्मणके समीपही पराजित होता है। हे भरतश्रेष्ठ! भृगुवंशीय ब्राह्मणोंने काले हरिणकी छाल पहरकर भी ताल-जङ्घ नामक क्षत्रियोंको जीता था।

चित्रायुधांश्चाप्यजयन्नेते कृष्णाजिनध्वजाः ।
प्रक्षिप्याथ च कुम्भान्वै पारगामिनमारभेत् ॥ १८ ॥
यत्किंचित्कथ्यते लोके श्रूयते पठ्यतेऽपि वा ।
सर्वं तद्ब्राह्मणेष्वेव गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ १९ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं वासुदेवस्य पृथ्व्याश्च भरतर्षभ ॥ २० ॥
वासुदेव उवाच- मातरं सर्वभूतानां पृच्छे त्वां संशयं शुभे ।
केनस्वित्कर्मणा पापं व्यपोहति नरो गृही ॥ २१ ॥
पृथिव्युवाच- ब्राह्मणानेव सेवेत पवित्रं ह्येतदुत्तमम् ।
ब्राह्मणान्सेवमानस्य रजः सर्वं प्रणश्यति ।
अतो भूतिरतः कीर्तिरतो बुद्धिः प्रजायते ॥ २२ ॥
महारथश्च राजन्य एष्टव्यः शत्रुतापनः ।
इति मां नारदः प्राह सततं सर्वभूतये ॥ २३ ॥
ब्राह्मणं जातिसंपन्नं धर्मज्ञं संशितं शुचिम् ।
अपरेषां परेषां च परेभ्यश्चैव येऽपरे ॥ २४ ॥

अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिने नीपवंशीय क्षत्रियोंको जय किया और भरद्वाजने वैतहव्य, ऐल तथा चित्रायुध आदि राजाओंको जीता था, इसलिये पार गये हुए पुरुषको परित्याग करके जिसके सहारे पार जा सके, उसे ही अवलम्बन करे। इस लोकमें जो कुछ कहा, सुना वा पढा जाता है, वह सब लकडीके बीच छिपी हुई अग्निकी भांति ब्राह्मणोंमें विद्यमान है। हे भरतश्रेष्ठ! इस विषयमें श्रीकृष्ण और पृथ्वीके संवादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया जाता है। (१९-२०)

श्रीकृष्ण बोले, हे शुभे! तुम सब प्राणियोंकी जननी हो, इसलिये तुमसे मैं यह सन्देहका विषय पूछता हूं, कि गृहस्थ मनुष्य किस कर्मके सहारे पापसे छूटते हैं? (२१)

पृथ्वी बोली, ब्राह्मणकीही सेवा करे, यही उत्तम और पवित्र कर्म है, जो लोग ब्राह्मणोंकी सेवा करते हैं, उनके सब पाप नष्ट होते हैं। ब्राह्मणकी सेवा करनेसे ऐश्वर्य, कीर्त्ति और आत्मज्ञान प्राप्त होता है। शत्रुतापन महारथ क्षत्रिय वाञ्छनीय हैं। नारद मुनिने मुझसे यह कहा था, कि जाति-सम्पन्न संशितव्रती धर्मज्ञ ब्राह्मणको सबके ऐश्वर्यके निमित्त इच्छा करनी उचित

ब्राह्मणा यं प्रशंसन्ति स मनुष्यः प्रवर्धते।
अथ यो ब्राह्मणान् क्रुष्टः पराभवति सोऽचिरात् ॥२५॥
यथा महार्णवे क्षिप्ता सीतानेष्टुर्विनश्यति।
तथा दुश्चरितं सर्वं पराभावाय कल्पते ॥ २६ ॥
पश्य चन्द्रे कृतं लक्ष्म समुद्रो लवणोदकः।
तथा भगसहस्रेण महेन्द्रः परिचिह्नितः ॥ २७ ॥
तेषामेव प्रभावेन सहस्रनयनो ह्यसौ।
शतक्रतुः समभवत्पश्य माधव यादृशम् ॥ २८ ॥
इच्छन् कीर्तिं च भूतिं च लोकांश्च मधुसूदन।
ब्राह्मणानुमते तिष्ठेत्पुरुषः शुचिरात्मवान् ॥ २९ ॥
भीष्म उवाच—इत्येतद्वचनं श्रुत्वा मेदिन्या मधुसूदनः।
साधु साध्विति कौरव्य मेदिनीं प्रत्यपूजयत् ॥ ३० ॥
एतां श्रुत्वोपमां पार्थ प्रयतो ब्राह्मणर्षभान्।
सततं पूजयेथास्त्वं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ ३१ ॥ [२११६]

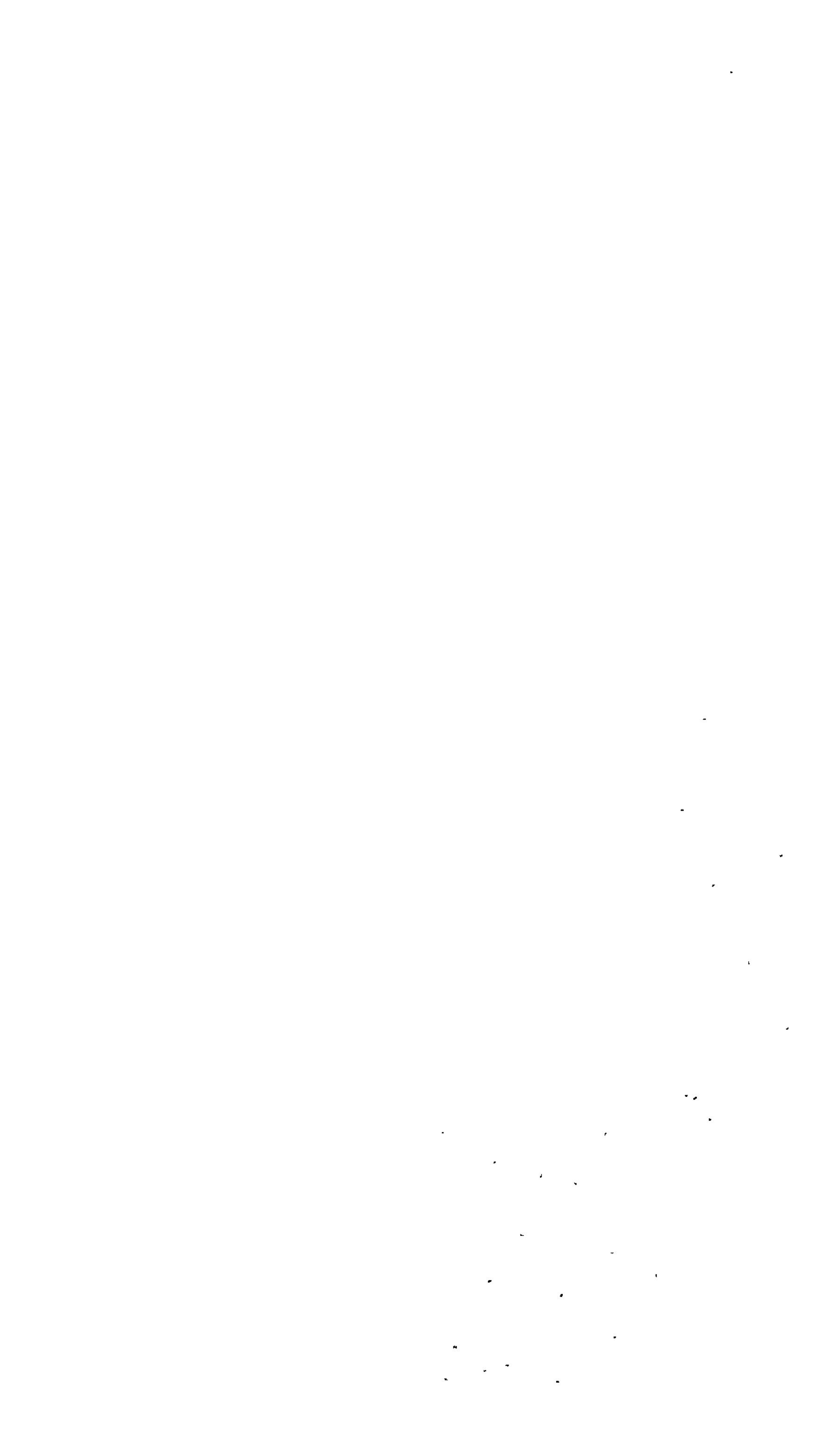
इति श्रीमहाभारते०आनुशासनिकेपर्वणि दानधर्मे पृथिवीवासुदेवसंवादे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ३४

है। श्रेष्ठ और निकृष्टके बीच जो लोग श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ हैं, वे ब्राह्मण जिसकी प्रशंसा करते हैं, वह मनुष्य वर्द्धित होता है और जो पुरुष ब्राह्मणोंकी निन्दा करता है, वह शीघ्रही नष्ट हुआ करता है। (२२-२५)

जैसे महासागरमें फेंकनेसे कच्चे ढेले विनष्ट होते हैं, वैसे ही ब्राह्मणोंके निकट दुश्चरित्र पुरुषोंका पराभव हुआ करता है। देखिये, चन्द्रमा कलङ्कसे और समुद्र खारे पानीसे युक्त है और महेन्द्र सहस्र भगचिन्हसम्पन्न होकर फिर ब्राह्मणोंके प्रभावसे सहस्रनयवाले हुए हैं। उन लोगोंके प्रभावसे ही देवराज शतक्रतु हुए हैं। हे माधव! द्विजगणका समान प्रभाव अवलोकन करो। हे मधुसूदन! जो पुरुष कीर्त्ति, ऐश्वर्य और शुभ लोककी कामना करता है वह पवित्र तथा शुद्धचित्त होकर ब्राह्मणोंके अनुज्ञावर्त्ती होवे। (२६-२९)

भीष्म बोले, हे कुरुनन्दन! मधुसूदनने पृथ्वीका यह सब वचन सुनके साधु साधु कहके उसे अभिनन्दित किया। हे कुरुनन्दन! तुम इस ही उपमाको सुनके सावधान होकर ब्राह्मणोंकी सदा पूजा करो, तो तुम्हारा कल्याण होगा। (३०-३१)

अनुशासनपर्वमें ३४ अध्याय समाप्त।



R.No.B.1819

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२१	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	॥।) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व ।					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)

कुल मूल्य ५२।) कुल डा. व्य. ९।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क १०० ॥ ॐ ॥ [अनुशासनपर्व ४]

महाभारत ।

भाषा--भाष्य--समेत

संपादक- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

महाभारत ।

प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रसिद्ध होता है।

१२ अंकोंका अर्थात् १२०० पृष्ठोंका मूल्य म० आ० से ६) रु० और वी. पी. से ७) रु० है।

मंत्री- स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी. पी. से. ७) विदेशके लिये ८)

भीष्म उवाच–जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते ।
नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक् ॥ १ ॥
सर्वार्थाः सुहृदस्तात ब्राह्मणाः सुमनोमुखाः ।
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिरनुध्यायन्ति पूजिताः ॥ २ ॥
सर्वान्नो द्विषतस्तात ब्राह्मणा जातमन्यवः ।
गीर्भिर्दारुणयुक्ताभिरभिध्युरपूजिताः ॥ ३ ॥
अत्र गाथाः पुरा गीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
सृष्ट्वा द्विजातीन् धाता हि यथापूर्वं समादधत् ॥ ४ ॥
न चान्यदिह कर्तव्यं किंचिदूर्ध्वं यथाविधि ।
गुप्तो गोपायते ब्रह्म श्रेयो वस्तेन शोभनम् ॥ ५ ॥
स्वमेव कुर्वतां कर्म श्रीवो ब्राह्मी भविष्यति ।
प्रमाणं सर्वभूतानां प्रग्रहाश्च भविष्यथ ॥ ६ ॥
न शौद्रं कर्म कर्तव्यं ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
शौद्रं हि कुर्वतः कर्म धर्मः समुपरुध्यते ॥ ७ ॥

अनुशासनपर्वमें ३५ अध्याय ।

भीष्म बोले, महानुभाव ब्राह्मणवृन्द संस्कार आदि न होनेपर भी जन्मतः ही सब प्राणियोंके नमस्य और अतिथि होकर भली भांति पके हुए अन्न आदिके प्रथम भोक्ता हैं । हे तात ! देवताओंके मुखस्वरूप ब्राह्मण लोग सबके ही मित्र हैं और उनके प्रभावसे ही धर्मादि अर्थ सिद्ध होते हैं, वे मङ्गलयुक्त वचनव्यूहसे पूजित होनेपर कल्याणकी कामना करते हैं । हे तात ! ब्राह्मणोंने हम लोगोंके विपक्षव्यूहके द्वारा कठोर वाक्यसे असम्मानित होनेपर क्रुद्ध होकर उन्हें अभिशाप दिया है । पुराण जाननेवाले, पण्डित लोग इस विषयमें जिस प्रकार पहले विधाताने द्विजातियोंको उत्पन्न करके नियमित किया था, उस ही प्रथम कही हुई अपूर्व गाथाको गाया करते हैं । (१-४)

इस लोकमें ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक निर्दिष्ट कर्मके अतिरिक्त और कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है । हे ब्राह्मणवृन्द ! तुम लोग रक्षित होकर सबकी रक्षा करो, उससे तुम्हारा उत्तम कल्याण होगा । अपना कर्म करनेसे तुम लोगोंको ब्राह्मी श्री प्राप्त होगी, तुम लोग सब भूतोंके कर्त्तव्यके निश्चय करनेवाले और नियंता होगे । विद्वान् ब्राह्मणको शूद्रका कर्म करना उचित नहीं है । ब्राह्मण यदि शूद्रका कर्म करे, तो उसका धर्म नष्ट

श्रीश्च बुद्धिश्च तेजश्च विभूतिश्च प्रतापिनी ।
स्वाध्याये चैव माहात्म्यं विपुलं प्रतिपत्स्यते ॥ ८ ॥
हुत्वा चाहवनीयस्थं महाभाग्ये प्रतिष्ठिताः ।
अग्रभोज्याः प्रसूतीनां श्रिया ब्राह्म्याऽनुकल्पिताः ॥९॥
श्रद्धया परया युक्ता ह्यनभिद्रोहलब्धया ।
दमस्वाध्यायनिरताः सर्वान्कामानवाप्स्यथ ॥ १० ॥
यच्चैव मानुषे लोके यच्च देवेषु किंचन ।
सर्वं तु तपसा साध्यं ज्ञानेन नियमेन च ॥ ११ ॥
इत्येवं ब्रह्मगीतास्ते समाख्याता मयाऽनघ ।
विप्राणामनुकम्पार्थं तेन प्रोक्तं हि धीमता ॥ १२ ॥
भूयस्तेषां बलं मन्ये यथा राज्ञस्तपस्विनः ।
दुरासदाश्च चण्डाश्च रभसाः क्षिप्रकारिणः ॥ १३ ॥
सन्त्येषां सिंहसत्त्वाश्च व्याघ्रसत्त्वास्तथापरे ।
वराहमृगसत्त्वाश्च जलसत्त्वास्तथापरे ॥ १४ ॥
सर्पस्पर्शसमाः केचित्तथान्ये मकरस्पृशः ।
विभाष्य घातिनः केचित्तथा चक्षुर्हणोऽपरे ॥ १५ ॥

हुआ करता है। तुम लोग श्री, बुद्धि, तेज, प्रतापशालिनी विभूति और निज शास्त्रोक्त वेद पाठमें विपुल माहात्म्यको प्राप्त होगे। (५-८)

महाऐश्वर्य प्रतिष्ठा लाभ करके आहवनीयस्थ देवताओंको आहुति देकर माता के निकट शिशु सन्तानोंकी भांति सब अग्रभोज्य और ब्राह्मी श्रीके पात्र होगे। अनभिद्रोहसे प्राप्त परम श्रद्धायुक्त और दम स्वाध्यायमें रत होकर समस्त काम्यवस्तु पाओगे। मनुष्यलोक और देवलोकमें जो कुछ है, वह सब ज्ञान, नियम और तपस्याके सहारे सिद्ध होता है। हे पापरहित! यह मैंने ब्रह्मगीत समस्त वचन कहा है; ब्राह्मणोंके विषयमें अनुग्रहके लिये बुद्धिशक्तिसे युक्त प्रजापतिने यह गाथा कही थी। जैसा राजाका बल है, तपस्वियोंका भी वैसा ही बल समझा जाता है। ब्राह्मण लोग दुरासद, प्रचण्ड वेगशाली और क्षिप्रकारी होनेपर भी पूजनीय हैं। (९-१३)

इनके बीच कोई कोई सिंहके समान बलशाली हैं, कोई कोई शार्दूलके सदृश पराक्रमी हैं, कोई वराहके समान तेजस्वी, कोई मृगसदृश बलसे युक्त हैं, कितने ही जलसदृश बलसे सम्पन्न हैं, कोई कोई

सन्ति चाशीविषसमाः सन्ति मन्दास्तथा परे ।
विविधानीह वृत्तानि ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ॥ १६ ॥
मेकला द्राविडा लाटाः पौण्ड्राः काण्वशिरास्तथा ।
शौण्डिका दरदा दार्वाश्चौराः शबरबर्बराः ॥ १७ ॥
किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानाममर्षणात् ॥ १८ ॥
ब्राह्मणानां परिभवादसुराः सलिलेशयाः ।
ब्राह्मणानां प्रसादाच्च देवाः स्वर्गनिवासिनः ॥ १९ ॥
अशक्यं स्प्रष्टुमाकाशमचाल्यो हिमवान् गिरिः ।
अधार्या सेतुना गङ्गा दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥ २० ॥
न ब्राह्मणविरोधेन शक्या शास्तुं वसुंधरा ।
ब्राह्मणा हि महात्मानो देवानामपि देवताः ॥ २१ ॥
तान्पूजयस्व सततं दानेन परिचर्यया ।
यदीच्छसि महीं भोक्तुमिमां सागरमेखलाम् ॥ २२ ॥
प्रतिग्रहेण तेजो हि विप्राणां शाम्यतेऽनघ ।

सर्पस्पर्श सदृश हैं, कोई मकरके समान स्पर्शमात्रसे ग्रहण करनेवाले,कोई वाक्यके सहारे नष्ट करते और कोई नेत्रसे ही जलाया करते हैं । कोई कोई विषधर सर्पके समान हैं और कोई कोई मन्द प्रभाववाले भी हैं । हे युधिष्ठिर ! इस लोकमें द्विजोंका चरित्र अनेक प्रकार का है । (१४—१६)

मेकल, द्रविड, लाट, पौण्ड्र, काण्वशिरा, शौण्डिक, दरद, दार्व, चौर, शबर, बर्बर, किरात और यवन प्रभृति सब क्षत्रिय जाति ब्राह्मणोंके कोपको सहनेमें असमर्थ होनेसे चाण्डालत्वको प्राप्त हुई हैं । ब्राह्मणोंके सङ्ग द्वेष करनेसे असुरवृन्द पातालमें निवास करते हैं और देवगण ब्राह्मणोंकी कृपासे स्वर्गनिवासी हुए हैं । आकाशको स्पर्श नहीं किया जा सकता, हिमालय पहाडको हटानेमें किसीकी सामर्थ्य नहीं है, पुलसे गंगाको धारण नहीं किया जाता और इस भूमण्डलमें ब्राह्मणोंको जय नहीं किया जा सकता (१७-२०)

ब्राह्मणोंके सङ्ग विरोध करके इस पृथ्वीको शासन करनेमें किसीकी भी सामर्थ्य नहीं है । महानुभाव ब्राह्मणगण देवताओंके भी देवता हैं, इसलिये यदि इस सागरमेखला पृथ्वीको भोग करनेकी इच्छा करते हो, तो दान और

प्रतिग्रहं ये नेच्छेयुस्तेभ्यो रक्ष्यं त्वया नृप ॥ २३ ॥ [२१३९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे ब्राह्मणप्रशंसायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शक्रशम्बरसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १ ॥
शक्रो ह्यज्ञातरूपेण जटी भूत्वा रजोगुणः।
विरूपं रथमास्थाय प्रश्नं पप्रच्छ शम्बरम् ॥ २ ॥

शक्र उवाच- केन शम्बर वृत्तेन स्वजात्यानधितिष्ठसि।
श्रेष्ठं त्वां केन मन्यन्ते तन्मे प्रब्रूहि तत्त्वतः ॥ ३ ॥

शम्बर उवाच- नासूयामि यदा विप्रान्ब्राह्ममेव च मे मतम्।
शास्त्राणि वदतो विप्रान्संमन्यामि यथासुखम् ॥ ४ ॥
श्रुत्वा च नावजानामि नापराध्यामि कर्हिचित्।
अभ्यर्चाभ्यनुपृच्छामि पादौ गृह्णामि धीमताम् ॥ ५ ॥
ते विश्रब्धाः प्रभाषन्ते संपृच्छन्ते च मां सदा।

सेवासे सदा उन लोगोंकी पूजा किया करो। हे पापरहित! प्रतिग्रहके द्वारा ब्राह्मणोंका तेज शान्त होता है। हे महाराज! इस लिये जो प्रतिग्रह करनेकी इच्छा न करें, उनकी तुम रक्षा करना। (२१-२३)

अनुशासनपर्वमें ३५ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ३६ अध्याय।

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! इस विषयमें प्राचीन लोग इन्द्र और शम्बरके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं, तुम सुनो। देवराजने वेष बदलके तथा जटी, रजोगुण होकर निकृष्ट रथपर चढके शम्बरसे प्रश्न किया था। (१—२)

इन्द्र बोले, हे शम्बर! तुम कैसे व्यवहारसे अपनी जातिके बीच श्रेष्ठ रूपसे निवास करते हो? किस लिये तुम्हें सब कोई श्रेष्ठ समझते हैं? इस विषयको यथार्थ रीतिसे वर्णन करो। (३)

शम्बर बोला, मैं ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करता, मेरा मत ब्राह्मणोंके अनुगत है, जो सब ब्राह्मण शास्त्रीय कथा कहते हैं, मैं सुखपूर्वक उनका संमान किया करता हूं। शास्त्र सुनके मैं अवज्ञा नहीं करता, कभी किसीके समीप अपराधी नहीं होता, बुद्धिमान् द्विजातियोंकी पूजा करता, उनके चरण ग्रहण करता, तथा उन लोगोंके समीप प्रश्न

प्रमत्तेष्वप्रमत्तोऽस्मि सदा सुप्तेषु जागृमि ॥ ६ ॥
ते मां शास्त्रपथे युक्तं ब्रह्मण्यमनसूयकम्।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः ॥ ७ ॥
यच्च भाषन्ति संतुष्टास्तच्च गृह्णामि मेधया।
समाधिमात्मनो नित्यमनुलोममचिन्तयम् ॥ ८ ॥
सोऽहं वागग्रमृष्टानां रसानामवलेहकः।
स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ९ ॥
एतत्पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम्।
यद्ब्राह्मणमुखाच्छास्त्रमिह श्रुत्वा प्रवर्तते ॥ १० ॥
एतत्कारणमाज्ञाय दृष्ट्वा देवासुरं पुरा।
युद्धं पिता मे हृष्टात्मा विस्मितः समपद्यत ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा च ब्राह्मणानां तु महिमानं महात्मनाम्।
पर्यपृच्छत्कथममी सिद्धा इति निशाकरम् ॥ १२ ॥
सोम उवाच- ब्राह्मणास्तपसा सर्वे सिध्यन्ते वाग्बलाः सदा।

किया करता हूं। वे लोग विश्वासी होकर कहते और मुझसे सदा प्रश्न किया करते हैं, उनके असावधान रहनेपर भी मैं अप्रमत्त तथा उनके शयन करनेपर भी मैं सदा जाग्रत रहता हूं। जैसे मधुमक्खियें अपने छत्ते में मधु इकट्ठा करती हैं, वैसे ही वे नियन्ता ब्राह्मण शास्त्रपथमें सदा नियुक्त रहनेवाले मुक्त ब्रह्मनिष्ठ, अनसूयक पूर्ण रीतिसे अमृतसमान विद्यासेचन किया करते हैं। (४—७)

वे लोग सन्तुष्ट होकर जो कुछ कहते हैं, मैं बुद्धिके सहारे उसे ग्रहण करता हूं, सदा अनुलोम भावसे अपनी ब्रह्मनिष्ठा सोचा करता हूं। जैसे चन्द्रमा नक्षत्रमण्डलीका स्वामी है, वैसे ही जिन लोगोंके वाग्यन्त्रके अग्रभाग जिह्वामें विद्यारूपी अमृत है, उस ही विद्यारूपी रसका पान करते हुए निज-जातिके बीच श्रेष्ठरूपसे निवास करता हूं। ब्राह्मणोंके मुखसे शास्त्र सुनके उसके अनुसार जैसा अनुष्ठान किया जाता है, इस लोकमें वही अमृत है और वही उत्तम नेत्रस्वरूप है। पहले समयमें मेरे पिता इस कारणको जानके तथा देवासुर युद्धको देखकर प्रसन्नचित्त और विस्मित हुए थे। उन्होंने महानुभाव ब्राह्मणोंकी महिमा देखकर चन्द्रमासे पूछा था, कि ये लोग किस प्रकार सिद्ध हुए हैं? (८—१२)

भुजवीर्याश्च राजानो वागस्त्राश्च द्विजातयः ॥ १३ ॥
प्रणवं चाप्यधीयीत ब्राह्मीर्दुर्वसतीर्वसन् ।
निर्मन्युरपि निर्वाणो यतिः स्यात्समदर्शनः ॥ १४ ॥
अपि च ज्ञानसंपन्नः सर्वान्वेदान्पितुर्गृहे ।
श्लाघमान इवाधीयाद् ग्राम्य इत्येव तं विदुः ॥ १५ ॥
भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाप्ययोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १६ ॥
अभिमानः श्रियं हन्ति पुरुषस्याल्पमेधसः ।
गर्भेण दुष्यते कन्या गृहवासेन च द्विजः ॥ १७ ॥
इत्येतन्मे पिता श्रुत्वा सोमादद्भुतदर्शनात् ।
ब्राह्मणान्पूजयामास तथैवाहं महाव्रतान् ॥ १८ ॥
भीष्म उवाच– श्रुत्वैतद्वचनं शक्रो दानवेन्द्रमुखाच्च्युतम् ।
द्विजान्संपूजयामास महेन्द्रत्वमवाप च ॥ १९ ॥ [२१५८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे ब्राह्मणप्रशंसायां इन्द्रशम्बरसंवादे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

चन्द्रमा बोले, ब्राह्मणोंको तपस्याके सहारे सदा वाग्बल सिद्ध होता है, राजा लोग बाहुबलशाली और ब्राह्मण लोग वाक्यरूपी बलसे सम्पन्न हैं। ब्राह्मण लोग गुरुके गृहमें निवास करके क्लेश सहते हुए वेदाध्ययन करें। निर्मन्यु, निर्वाण और समदर्शी होकर परिव्राजक धर्माचरण करे। यदि ज्ञान-सम्पन्न ब्राह्मण पितृगृहोंमें श्लाघनीय होकर समस्त वेद पढे, तौभी लोग ग्राम्य कहके उसकी निन्दा करते हैं। जैसे सर्प बिलमें रहनेवाले जीवोंको ग्रास करता है, वैसे ही भूमिका तेज युद्धकलारहित राजा और अप्रवासी ब्राह्मणको ग्रास किया करता है। अभिमान अल्पबुद्धि पुरुषकी श्री नष्ट करता है, गर्भके कारण कन्या दूषित होती है और गृहवास निबन्धनसे ब्राह्मण दूषित होता है। जैसे मेरे पिता अद्भुतदर्शन चन्द्रमाके निकट यह वृत्तान्त सुनकर महाव्रती ब्राह्मणोंकी जिस प्रकार पूजा करते थे, मैं भी उस ही भांति उन लोगोंकी पूजा किया करता हूं। १३–१८

भीष्म बोले, देवराजने दानवेन्द्र शम्बरके मुखसे निकले हुए सब वचन सुनकर पूर्णरीतिसे ब्राह्मणोंकी पूजा की थी, उसहीसे महेन्द्रत्व पाया है। (१९)

अनुशासनपर्वमें ३६ अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच– अपूर्वश्च भवेत्पात्रमथवापि चिरोषितः।
दूरादभ्यागतं चापि किं पात्रं स्यात्पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— क्रिया भवति केषांचिदुपांशुव्रतमुत्तमम्।
यो यो याचेत यत्किंचित्सर्वं दद्याम इत्यपि ॥ २ ॥
अपीडयन्भृत्यवर्गमित्येवमनुशुश्रुम।
पीडयन्भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति ॥ ३ ॥
अपूर्वं भावयेत्पात्रं यच्चापि स्याच्चिरोषितम्।
दूरादभ्यागतं चापि तत्पात्रं च विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥
युधिष्ठिर उवाच– अपीडया च भूतानां धर्मस्याहिंसया तथा।
पात्रं विद्यात्तु तत्त्वेन यस्मै दत्तं न संतपेत् ॥ ५ ॥
भीष्म उवाच– ऋत्विक्पुरोहिताचार्याः शिष्यसंबन्धिबान्धवाः।
सर्वे पूज्याश्च मान्याश्च श्रुतवन्तोऽनसूयकाः ॥ ६ ॥
अतोऽन्यथा वर्तमानाः सर्वे नार्हन्ति सत्क्रियाम्।

अनुशासनपर्वमें ३७ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! पहले का परिचित, चिरोषित और दूरदेशका अभ्यागत, इन तीनों पात्रोंके बीच कौन पात्र उत्तम है? (१)

भीष्म बोले, अपूर्व, चिरोषित और दूरसे आया हुआ अभ्यागत, इन तीन प्रकारके पात्रोंमेंसे कोई कोई यज्ञ करने के निमित्त, कोई परिवारको पालन करनेके लिये जांचते हैं; कोई मौनव्रत वा संन्यास धर्म अवलम्बन किया करते हैं, उनके बीच जो जिस वस्तुके निमित्त प्रार्थना करें, सेवकोंको पीडित न करके उन्हें वही प्रदान करूंगा, ऐसाही अंगीकार करना चाहिये किसीको भी प्रत्याख्यान करना उचित नहीं है; मैंने ऐसा सुना है, कि सेवकोंको पीडित करनेसे अपनी ही बुराई होती है। यज्ञादि कर्म और मौनव्रत आदिके तारतम्यके अनुसार पात्रमें भी तारतम्य हुआ करता है। चिरोषित और दूरदेशके अभ्यागत पात्रके लिये अपूर्ववत् भावना करनी चाहिये, पण्डितोंने इस ही प्रकार पात्र कहे हैं। (२—४)

युधिष्ठिर बोले, जीवोंके अपीडन और धर्मकी अहिंसाके सहारे यथार्थ रीतिसे ऐसा पात्र निर्णय करे, जिसे दान करनेसे प्रदेयवस्त्वभिमानी देवता सन्तापित न हों, इसलिये वैसा पात्र कौन है? (५)

भीष्म बोले, ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव,

तस्मान्नित्यं परीक्षेत पुरुषान्प्रणिधाय वै ॥ ७ ॥
अक्रोधः सत्यवचनमहिंसा दम आर्जवम् ।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ८ ॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते न चाकार्याणि भारत ।
स्वभावतो निविष्टानि तत्पात्रं मानमर्हति ॥ ९ ॥
तथा चिरोषितं चापि संप्रत्यागतमेव च ।
अपूर्वं चैव पूर्वं च तत्पात्रं मानमर्हति ॥ १० ॥
अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलङ्घनम् ।
अव्यवस्था च सर्वत्र एतन्नाशनमात्मनः ॥ ११ ॥
भवेत्पण्डितमानीयो ब्राह्मणो वेदनिन्दकः ।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥ १२ ॥
हेतुवादान् ब्रुवन्सत्सु विजेताऽहेतुवादिकः ।
अक्रोष्टा चातिवक्ता च ब्राह्मणानां सदैव हि ॥ १३ ॥
सर्वाभिशङ्की मूढश्च बालः कटुकवागपि ।
बोद्धव्यस्तादृशस्तात नरं श्वानं हि तं विदुः ॥ १४ ॥

शास्त्रज्ञ और निन्दारहित पुरुष मात्र ही पूज्य और माननीय हैं और जो लोग इनके विपरीत हैं, वे सत्कारके योग्य नहीं हैं; इसलिये सदा प्रणिधानपूर्वक पुरुषोंकी परीक्षा करनी उचित है। हे भारत ! जिस पुरुषमें अक्रोध, सत्य-वचन, अहिंसा, तपस्या, सरलता, अन-भिमान, लज्जा, तितिक्षा, शम और दम दीखते हैं और स्वभावसे ही समस्त अकार्य निविष्ट नहीं होते, वही पात्र संमानका भाजन है, चिरोषित, सम्प्रति आगत, पूर्वपरिचित और अपूर्व पात्र भी वैसे ही सम्मानका भाजन है। (६-१०)

वेदोंको अप्रमाणित करना, शास्त्रोंको उल्लङ्घन और सब विषयोंकी अव्यवस्था ही निज अपात्रताका लक्षण है। जो ब्राह्मण वेदनिन्दक और पाण्डित्याभि-मानी होकर निरर्थक श्रुतिविरोधी मोक्षकी अनुपयोगी आन्वीक्षिकी तर्क-विद्यामें अनुरक्त रहता है और साधुओंके बीच समस्त हेतुवाद प्रकट करते हुए शास्त्रसम्मत हेतुवादिक न होके भी विजेता बनता है, सदा ब्राह्मणोंके विषयमें ईर्षा किया करता है, तथा जो पुरुष अतिवक्ता, सर्वशङ्की, मूढ, बाल-स्वभाव और कटुभाषी हों, उन्हें श्वानसम जानना योग्य है, हे तात ! क्यों कि

यथा श्वा भषितुं चैव हन्तुं चैवावसज्जते ।
एवं संभाषणार्थाय सर्वशास्त्रवधाय च ॥ १५ ॥
लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च ।
एवं नरो वर्तमानः शाश्वतीर्वर्धते समाः ॥ १६ ॥
ऋणमुन्मुच्य देवानामृषीणां च तथैव च ।
पितॄणामथ विप्राणामतिथीनां च पञ्चमम् ॥ १७ ॥
पर्यायेण विशुद्धेन सुविनीतेन कर्मणा ।
एवं गृहस्थः कर्माणि कुर्वन्धर्मान्न हीयते ॥ १८ ॥ [२१७६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे पात्रपरीक्षायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि श्रोतुं भरतसत्तम ।
स्त्रियो हि मूलं दोषाणां लघुचित्ता हि ताः स्मृताः ॥ १ ॥
भीष्म उवाच—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं पुंश्चल्या पञ्चचूडया ॥ २ ॥

वैसे पुरुषको बुद्धिमान लोग कुत्तेके समान समझते हैं। (११-१४)

जैसे कुत्ता काटने और भक्षण करनेके लिये सदा उद्यत रहता है, उस ही भांति सम्भाषण और सर्व शास्त्र विनष्ट करनेके लिये मूर्ख मनुष्य उद्योगी हुआ रहता है। लोकयात्रा निबाहनेके लिये शिष्टाचार आदि व्यवहार, श्रुति स्मृतिके द्वारा नियमित धर्म और आत्महितकर शम, दम आदिके विषयमें पुरुषको दृष्टि रखनी उचित है। जो पुरुष इस ही प्रकार जीवन व्यतीत करता है, वह सदा वर्द्धित होता है। यज्ञके सहारे देवऋण, वेदपाठसे ऋषिऋण, पुत्र उत्पन्न करनेसे पितृऋण, दान और मानके द्वारा विप्रऋण और वैश्वदेवके अन्तमें उपस्थित पुरुषोंका सत्कार करनेसे अतिथिऋण, इन पांचों ऋणोंसे अऋण होकर यथारीतिसे पवित्र और उत्तम विनीत कर्मके सहारे गृहस्थके कार्योंको निबाहनेसे पुरुष धर्महीन नहीं होता। (१५—१८)

अनुशासनपर्वमें ३७ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ३८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतसत्तम! मैं स्त्रियोंका स्वभाव सुननेकी इच्छा करता हूं, क्यों कि स्त्रियें सब दोषोंकी मूल हैं, वे वायुतुल्य लघुचित्तवाली कहके वर्णित हुआ करती हैं। (१)

भीष्म बोले, प्राचीन लोग इस

लोकाननुचरन् सर्वान् देवर्षिर्नारदः पुरा।
ददर्शाप्सरसं ब्राह्मीं पञ्चचूडामनिन्दिताम् ॥ ३ ॥
तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं पप्रच्छाप्सरसं मुनिः।
संशयो हृदि कश्चिन्मे ब्रूहि तन्मे सुमध्यमे ॥ ४ ॥
भीष्म उवाच- एवमुक्ताऽथ सा विप्रं प्रत्युवाचाथ नारदम्।
विषये सति वक्ष्यामि समर्थां मन्यसे च माम् ॥ ५ ॥
नारद उवाच- न त्वामविषये भद्रे नियोक्ष्यामि कथंचन।
स्त्रीणां स्वभावमिच्छामि त्वत्तः श्रोतुं वरानने ॥ ६ ॥
भीष्म उवाच- एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य देवर्षेरप्सरोत्तमा।
प्रत्युवाच न शक्ष्यामि स्त्री सती निन्दितुं स्त्रियः ॥७॥
विदितास्ते स्त्रियो याश्च यादृशाश्च स्वभावतः।
न मामर्हसि देवर्षे नियोक्तुं कार्य ईदृशे ॥ ८ ॥
तामुवाच स देवर्षिः सत्यं वद सुमध्यमे।
मृषावादे भवेद्दोषः सत्ये दोषो न विद्यते ॥ ९ ॥

विषयमें पञ्चचूडा पुंश्चलीके सङ्ग नारद मुनिके संवादयुक्त यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। (२)

पहिले समय में देवर्षि नारदने सब लोकोंमें विचरते हुए ब्रह्मलोकवासिनी पञ्चचूडा नाम अप्सराको देखा,मुनिने उस सर्वाङ्गसुन्दरी अप्सराको देखकर पूछा;—हे सुमध्यमे! मेरे अन्तःकरण में कुछ संशय है, उसे तुम दूर करो। (३—४)

भीष्म बोले, उसने कहा, कि आप मुझे समर्थ समझते हैं, परन्तु यदि मुझमें कहनेकी योग्यता रहेगी तो अवश्य कहूंगी। (५)

नारद मुनि बोले, हे भद्रे! तुममें योग्यता न रहनेसे मैं कदापि तुम्हें इस विषयमें नियुक्त न करूंगा। हे वरानने! मैं तुम्हारे समीप स्त्रियोंके स्वभावका विषय सुननेकी इच्छा करता हूं। (६)

भीष्म बोले, अप्सराओंमें मुख्य पञ्चचूडाने देवर्षिका वचन सुनके उत्तर दिया, कि मैं स्त्री होकर किस प्रकार स्त्रियोंकी निन्दा कर सकूंगी। हे देवर्षि! स्त्रियें जैसी हैं और जैसा उनका स्वभाव है, वह आपको अविदित नहीं है; इसलिये मुझे ऐसे कार्यपर नियुक्त करना तुम्हें उचित नहीं है। (७-८)

देवर्षि नारदमुनिने उससे फिर कहा, हे सुमध्यमे! तुम जो कहती हो, वह सत्य है, परन्तु मिथ्या बोलनेमें ही

इत्युक्ता सा कृतमतिरभवच्चारुहासिनी ।
स्त्रीदोषाञ्छाश्वतान् सत्यान् भाषितुं संप्रचक्रमे ॥ १० ॥

पञ्चचूडोवाच- कुलीना रूपवत्यश्च नाथवत्यश्च योषितः ।
मर्यादासु न तिष्ठन्ति स दोषः स्त्रीषु नारद ॥ ११ ॥
न स्त्रीभ्यः किंचिदन्यद्वै पापीयस्तरमस्ति वै ।
स्त्रियो हि मूलं दोषाणां तथा त्वमपि वेत्थ ह ॥ १२ ॥
समाज्ञातानृद्धिमतः प्रतिरूपान्वशे स्थितान् ।
पतीनन्तरमासाद्य नालं नार्यः प्रतीक्षितुम् ॥ १३ ॥
असद्धर्मस्त्वयं स्त्रीणामस्माकं भवति प्रभो ।
पापीयसो नरान् यद्वै लज्जां त्यक्त्वा भजामहे ॥ १४ ॥
स्त्रियं हि यः प्रार्थयते सन्निकर्षं च गच्छति ।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥ १५ ॥
अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च ।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ १६ ॥
नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासां वयसि निश्चयः ।

दोष हुआ करता है, सत्य कहनेमें दोष नहीं है। चारुहासिनी पञ्चचूडा देवर्षि का ऐसा वचन सुनकर निश्चय करके स्त्रियोंका शाश्वत सत्य दोष कहनेके निमित्त उद्यत हुई। (९—१०)

पञ्चचूडा बोली, हे नारद! सत्कुल में उत्पन्न हुई रूपवती और नाथवती जो स्त्रियें मर्यादाका अतिक्रम करती हैं, वही स्त्रियोंका दोष है। स्त्रियोंसे पापी और दूसरा कोई भी नहीं है, यह तुम जान रखो, कि स्त्रियें ही सब दोषोंकी मूल हैं। स्त्रियां आज्ञाकारी, समृद्धि-शाली, रूपवान और वशीभूत पतिको भी अवकाश पानेपर प्रतीक्षा करनेमें समर्थ नहीं होतीं। हे प्रभु! हम स्त्री जाति हैं, इसलिये हमारा यह धर्म उत्तम नहीं है। हम जो लज्जा छोडके पापी पुरुषोंकी सेवा करती हैं, यह अत्यन्त ही असद्धर्म है। जो पुरुष स्त्रियोंकी प्रार्थना करता है और स्त्रियोंके निकट जाता है वा अधिक सेवा करता है, स्त्रियें उस पुरुषकी ही अभि-लाष किया करती हैं। पुरुषोंके प्रार्थना-भाव और परिजनोंके भयनिबन्धनसे मर्यादारहित स्त्रियें पतिके निकट मर्या-दाकी रक्षा करती हैं। (११-१६)

स्त्रियोंके लिये अगम्य कोई भी नहीं है, इन्हें आयुपर निश्चय नहीं

विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १७ ॥
न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थहेतोः कथञ्चन ।
न ज्ञातिकुलसंबन्धात्स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ १८ ॥
यौवने वर्तमानानां मृष्टाभरणवाससाम् ।
नारीणां स्वैरवृत्तीनां स्पृहयन्ति कुलस्त्रियः ॥ १९ ॥
याश्च शश्वद्बहुमता रक्ष्यन्ते दयिताः स्त्रियः ।
अपि ताः संप्रसज्जन्ते कुब्जान्धजडवामनैः ॥ २० ॥
पङ्गुष्वथ च देवर्षे ये चान्ये कुत्सिता नराः ।
स्त्रीणामगम्यो लोकेऽस्मिन्नास्ति कश्चिन्महामुने ॥२१॥
यदि पुंसां गतिर्ब्रह्मन् कथंचिन्नोपपद्यते ।
अप्यन्योऽन्यं प्रवर्तन्ते न हि तिष्ठन्ति भर्तृषु ॥ २२ ॥
अलाभात्पुरुषाणां हि भयात्परिजनस्य च ।
वधबन्धभयाच्चापि स्वयं गुप्ता भवन्ति ताः ॥ २३ ॥
चलस्वभावा दुःसेव्या दुर्ग्राह्या भावतस्तथा ।
प्राज्ञस्य पुरुषस्येह यथा वाचस्तथा स्त्रियः ॥ २४ ॥
नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।

है, कुरूप हो अथवा रूपवान् ही होवे, पुरुषको पानेसे ही उसे भोग किया करती हैं। स्त्रियें भय, दया, अर्थहेतु अथवा ज्ञातिकुल सम्बन्धसे पतिके निकट अनुगत नहीं रहतीं। यौवनवती, उत्तम वस्त्र आभूषणोंसे भूषित, स्वैरचारिणी स्त्रियोंकी कुलकामिनीवृन्द स्पृहा किया करती हैं। जो सब बहुमता स्त्रियें सदा रक्षिता होती हैं, वे भी कूबरे, अन्धे, जड और वामनोंके सङ्ग पूरीरीतिसे आसक्त हुआ करती हैं। हे देवर्षि! हे महामुनि! पंगुओंके बीच जो लोग कुत्सित मनुष्य हैं और दूसरे जो लोग चाहे कैसे ही बुरे क्यों न हों इस लोकमें स्त्रियोंके लिये उनके बीच कोई भी अगम्य नहीं है। (१७-२१)

हे ब्रह्मन्! यदि स्त्रियें किसी प्रकार पुरुषको नहीं पातीं, तो परस्पर ही स्त्री-पुरुष रूपसे प्रसक्त हुआ करती हैं, तथापि पतिके बहुत दूर रहनेपर उसकी उपेक्षा करके धीरज नहीं धरतीं। पुरुषको न पानेपर, परिजनोंके डर और वध बन्धनके भयसे स्त्रियें स्वयं रक्षित हुआ करती हैं। इस लोकमें बुद्धिमान् पुरुषोंके वचनकी भांति स्त्रियें चलस्वभाव, दुःसेव्य और स्वाभाविक दुर्ग्राह्य

नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ २५ ॥
इदमन्यच्च देवर्षे रहस्यं सर्वयोषिताम् ।
दृष्ट्वैव पुरुषं हृद्यं योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रियाः ॥ २६ ॥
कामानामपि दातारं कर्तारं मनसां प्रियम् ।
रक्षितारं न मृष्यन्ति स्वभर्तारमलं स्त्रियः ॥ २७ ॥
न कामभोगान्विपुलान्नालंकारान्न संश्रयान् ।
तथैव बहु मन्यन्ते यथा रत्यामनुग्रहम् ॥ २८ ॥
अन्तकः पवनो मृत्युः पातालं वडवामुखम् ।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ॥ २९ ॥
यतश्च भूतानि महान्ति पञ्च यतश्च लोका विहिता विधात्रा ।
यतः पुमांसः प्रमदाश्च निर्मितास्तदैव दोषाः प्रमदासु नारद ॥३०॥ [२२०६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे पञ्चचूडानारदसंवादे अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिर उवाच— इमे वै मानवा लोके स्त्रीषु सज्जन्त्यभीक्ष्णशः ।
मोहेन परमाविष्टा दैवसृष्टेन पार्थिव ॥ १ ॥
स्त्रियश्च पुरुषेष्वेव प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम् ।

हैं अर्थात् उनका अभिप्राय जाना नहीं जाता। काठसे अग्नि, जलसे समुद्र, समस्त भूतोंसे मृत्यु और पुरुषोंसे स्त्रियें तृप्त नहीं होतीं। हे देवर्षि! सारी स्त्रियों का यह भी एक रहस्य-विषय है, कि मनोहर पुरुषको देखतेही उनकी योनि क्लेदयुक्त होती है। २२-२६

स्त्रियें कामदाता, मनको प्रसन्न करने वाले अपने पतिसे रक्षित होनेपर भी उसके विषयमें क्षमा नहीं करतीं। जैसे स्त्रियें रतिविषयमें पतिके अनुग्रहकी अभिलाष करती हैं, विपुल कामभोग, आभूषण और निवास स्थानका वैसा आदर नहीं करती। यम, पवन, मृत्यु, पाताल, वडवामुख, क्षुरधारा, विष और अग्निकी भांति अकेली स्त्री, विनाश साधन करती है। हे नारद! जिससे पञ्चमहाभूत विहित हुए हैं, जिससे विधाताने लोकरचना की है, जिससे पुरुष और स्त्रियें उत्पन्न हुई हैं; उसही स्वभावके द्वारा स्त्रियोंमें सब दोष विहित हुए हैं। (२७-३०)

अनुशासनपर्वमें ३८ अध्याय समाप्त

अनुशासनपर्वमें ३९ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे राजन्! जगत्के बीच ये सब मनुष्य देवसृष्ट मोहसे

अत्र मे संशयस्तीव्रो हृदि संपरिवर्तते ॥ २ ॥
कथमासां नराः सङ्गं कुर्वते कुरुनन्दन ।
स्त्रियो वा केषु रज्यन्ते विरज्यन्ते च ताः पुनः ॥ ३ ॥
इति ताः पुरुषव्याघ्र कथं शक्यास्तु रक्षितुम् ।
प्रमदाः पुरुषेणेह तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४ ॥
एता हि रममाणास्तु वञ्चयन्तीह मानवान् ।
न चासां मुच्यते कश्चित्पुरुषो हस्तमागतः ॥ ५ ॥
गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम् ।
शम्बरस्य च या माया माया या नमुचेरपि ॥ ६ ॥
बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदुः ।
हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्ति च ॥ ७ ॥
अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णते कालयोगतः ।
उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ॥ ८ ॥
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येत तास्तु रक्ष्याः कथं नरैः ।
अनृतं सत्यमित्याहुः सत्यं चापि तथाऽनृतम् ॥ ९ ॥

अत्यन्त आविष्ट होकर स्त्रियोंमें बहुत ही आसक्त होते हैं और स्त्रियें भी पुरुषोंमें अत्यन्त अनुरक्त हुआ करती हैं, यह लोकसाक्षिक और प्रत्यक्ष है; इसलिये इस विषयमें मेरे हृदयमें तीव्र संशय विद्यमान है। हे कुरुनन्दन! पुरुष किस कारणसे इनका सङ्ग करते हैं और स्त्रियें किस पर अनुरक्त रहती हैं तथा फिर क्यों विरक्त होती हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! किस प्रकारसे पुरुषवृन्द उनकी रक्षा नहीं कर सकते, मुझसे यह विषय वर्णन करना आपको उचित है। ये स्वयं रममाण होके भी पुरुषोंको भी फंसाती हैं। इनके हाथमें पडा हुआ कोई भी पुरुष इनके हाथसे नहीं छूटता। जैसे गौवें नये नये तृणको ग्रहण करती हैं, ये भी वैसे ही नवीन नवीन पुरुषोंको अवलम्बन किया करती हैं। (१—६)

शम्बरासुर, नमुचि, बलि और कुम्भीनसी की जो माया थी, ये भी, काल क्रमसे उस ही मायाको अवलम्बन किया करती हैं। हंसनेवालेकी ओर देखके ये हंसती हैं। अप्रिय पुरुषकोभी मीठे वाक्योंसे वश करती हैं। शुक्राचार्य और बृहस्पति जो शास्त्र जानते हैं, स्त्रियोंकी बुद्धिसे वह श्रेष्ठ नहीं है, इसलिये मनुष्य ऐसी स्त्रियोंकी किस

इति यास्ताः कथं वीर संरक्ष्याः पुरुषैरिह ।
स्त्रीणां बुद्ध्यर्थनिष्कर्षादर्थशास्त्राणि शत्रुहन् ॥ १० ॥
बृहस्पतिप्रभृतिभिर्मन्ये सद्भिः कृतानि वै ।
संपूज्यमानाः पुरुषैर्विकुर्वन्ति मनो नृषु ॥ ११ ॥
अपास्ताश्च तथा राजन् विकुर्वन्ति मनः स्त्रियः ।
इमाः प्रजा महाबाहो धार्मिक्य इति नः श्रुतम् ॥१२॥
सत्कृतासत्कृताश्चापि विकुर्वन्ति मनः सदा ।
कस्ताः शक्तो रक्षितुं स्यादिति मे संशयो महान् ॥१३॥
तथा ब्रूहि महाभाग कुरूणां वंशवर्धन ।
यदि शक्या कुरुश्रेष्ठ रक्षा तासां कदाचन ।
कर्तुं वा कृतपूर्वं वा तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १४ ॥ [२२१०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे स्त्रीस्वभावकथने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

भीष्म उवाच- एवमेव महाबाहो नात्र मिथ्याऽस्ति किंचन ।
यथा ब्रवीषि कौरव्य नारीं प्रति जनाधिप ॥ १ ॥

प्रकार रक्षा करेगा ? हे वीर ! जो मिथ्याको सत्य कहती और सत्यको मिथ्या कहती है, उसकी पुरुष किस प्रकार रक्षा करेगा ? हे शत्रुनाशन ! बोध होता है, बृहस्पति आदि साधु पुरुषोंने स्त्रियोंकी ही शक्तिके अर्थ-निष्कर्षसे अर्थशास्त्रोंकी रचना की है। (६—१०)

स्त्रियें पुरुषोंसे पूरी रीतिसे सत्कृत वा समादृत होनेपर भी उनका मन विकृत करती है और पुरुष जब स्त्रीको परित्याग करता है, तब उसके लिये भी चित्त विकृत किया करती हैं। हे महाबाहो ! हमने यह सुना है, कि स्त्रीरूपी प्रजावृन्द धार्मिक हैं, ये सत्कृत वा असत्कृत होनेपर सदा मन विकृत करती हैं। हे कुरुवंशवर्धन महाभाग ! कौन उनकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है ? इसमें मुझे अत्यन्त संशय है, इस लिये आप इसही विषयको वर्णन करिये, हे कुरुश्रेष्ठ ! कदाचित् यदि उनकी रक्षा की जा सके, अथवा पहले यदि किसीने उनकी रक्षा की हो, तो आप मेरे समीप उसकी व्याख्या करिये। ११-१४

अनुशासनपर्वमें ३९ अध्याय समाप्त ।

अनुशासपर्वमें ४० अध्याय ।

भीष्म बोले, हे कुरुकुलधुरन्धर प्रजानाथ ! तुमने स्त्रियोंके विषयमें जो कहा,

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
यथा रक्षा कृता पूर्वं विपुलेन महात्मना ॥ २ ॥
प्रमदाश्च यथा सृष्टा ब्रह्मणा भरतर्षभ ।
यदर्थं तच्च ते तात प्रवक्ष्यामि नराधिप ॥ ३ ॥
न हि स्त्रीभ्यः परं पुत्र पापीयः किंचिदस्ति वै ।
अग्निर्हि प्रमदा दीप्तो मायाश्च मयजा विभो ॥ ४ ॥
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ।
प्रजा इमा महाबाहो धार्मिक्य इति नः श्रुतम् ॥ ५ ॥
स्वयं गच्छन्ति देवत्वं ततो देवानियाद्भयम् ।
अथाभ्यगच्छन् देवास्ते पितामहमरिन्दम ॥ ६ ॥
निवेद्य मानसं चापि तूष्णीमासन्नधोमुखाः ।
तेषामन्तर्गतं ज्ञात्वा देवानां स पितामहः ॥ ७ ॥
मानवानां प्रमोहार्थं कृत्या नार्योऽसृजत्प्रभुः ।
पूर्वसर्गे तु कौन्तेय साध्व्यो नार्य इहाभवन् ॥ ८ ॥
असाध्व्यस्तु समुत्पन्नाः कृत्याः सर्गात्प्रजापतेः ।
ताभ्यः कामान्यथाकामं प्रादाद्धि स पितामहः ॥ ९ ॥

वह सब यथार्थ है, इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है, पहले समयमें महात्मा विपुलने जिस प्रकार स्त्रीकी रक्षा की थी, इस विषयमें तुम्हारे समीप वही पुराना इतिहास वर्णन करूंगा। हे भरतश्रेष्ठ नरनाथ! प्रजापतिने जिस प्रकार और जिस लिये प्रजासमूहको उत्पन्न किया है, तुमसे वह भी कहता हूं। (१—३)

हे तात! स्त्रियोंसे पापी और कोई भी नहीं है। हे विभु! स्त्री जलती हुई अग्नि अथवा मायास्वरूप हैं, एकमात्र स्त्री ही क्षुरधारा, विष, सर्प और अग्नि स्वरूप है। हे महाबाहो! हमने सुना है, कि स्त्रीरूपी प्रजावृन्द पहले धार्मिक थीं, ये स्वयं देवत्व लाभ करती थीं, उस समय देवतावृन्द भयभीत हुए, हे शत्रुदमन! अनन्तर वे देववृन्द पितामहके निकट गये और अभिप्राय सुनाकर सिर नीचा करके खडे रहे। सर्वशक्तिमान् प्रजापतिने देवताओंका अन्तर्गत अभिप्राय जानके मनुष्योंके विनोदके लिये कृत्यारूपी स्त्रियोंको उत्पन्न किया। हे कुन्तीनन्दन! पहले स्वर्गमें स्त्रियें साध्वी थीं; फिर प्रजापतिकी कृत्यासृष्टिके अनन्तर असाध्वी

ताः कामलुब्धाः प्रमदाः प्रबाधन्ते नरान्सदा ।
क्रोधं कामस्य देवेशः सहायं चासृजत्प्रभुः ॥ १० ॥
असज्जन्त प्रजाः सर्वाः कामक्रोधवशं गताः ।
न च स्त्रीणां क्रियाः काश्चिदिति धर्मो व्यवस्थितः ॥११॥
निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुतिः ।
शय्यासनमलंकारमन्नपानमनार्यताम् ॥ १२ ॥
दुर्वाग्भावं रतिं चैव ददौ स्त्रीभ्यः प्रजापतिः ।
न तासां रक्षणं शक्यं कर्तुं पुंसा कथञ्चन ॥ १३ ॥
अपि विश्वकृता तात कुतस्तु पुरुषैरिह ।
वाचा च वधबन्धैर्वा क्लेशैर्वा विविधैस्तथा ॥ १४ ॥
न शक्या रक्षितुं नार्यस्ता हि नित्यमसंयताः ।
इदं तु पुरुषव्याघ्र पुरस्ताच्छ्रुतवानहम् ॥ १५ ॥
यथा रक्षा कृता पूर्वं विपुलेन गुरुस्त्रियाः ।
ऋषिरासीन्महाभागो देवशर्मेति विश्रुतः ॥ १६ ॥
तस्य भार्या रुचिर्नाम रूपेणाऽसदृशी भुवि ।

रूपसे उत्पन्न हुईं । पितामहने इच्छानुसार उनकी सब कामना पूरी की । वे कामलुब्ध स्त्रियें सदा पुरुषोंको बाधित करने लगीं । सर्वशक्तिमान् देवेशने क्रोधको कामकी सहायताके लिये उत्पन्न किया है । (४-१०)

प्रजासमूह काम क्रोधके वशमें होकर धर्माचरणमें असमर्थ हुईं । स्त्रियोंके लिये कोई क्रिया नहीं है, ऐसा ही धर्म व्यवस्थित हुआ । ऐसी जनश्रुति है, कि निरिन्द्रिय, शास्त्रवर्जित स्त्रियें मिथ्या स्वरूप है । प्रजापतिने स्त्रियोंको शय्या, आसन, आभूषण, अन्न, पान, अनार्यता, दुर्वाक्य और रति प्रदान किया । पुरुषगण किसी प्रकारसे भी उनकी रक्षा करनेमें समर्थ न होंगे । हे तात ! जब जगत्कर्ता स्वयं ही रक्षा नहीं कर सकते, तब इस लोकमें दूसरे पुरुष वाक्य, वध, बन्धन और विविधक्लेशके द्वारा किस प्रकार स्त्रियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ होंगे ? क्यों कि वे सब सदा ही असंयत हैं । हे पुरुषश्रेष्ठ ! पहले समयमें विपुल नामक महर्षिने जिस प्रकार गुरुपत्नीकी रक्षा की थी, वह वृत्तान्त मैंने सुना है । (११—१६)

देवशर्मा नामसे विख्यात एक महाभाग ऋषि थे, उनकी भार्याका नाम रुचि था; पृथ्वीमण्डलमें उसके

तस्या रूपेण संमत्ता देवगन्धर्वदानवाः ॥ १७ ॥
विशेषेण तु राजेन्द्र वृत्रहा पाकशासनः ।
नारीणां चरितज्ञश्च देवशर्मा महामुनिः ॥ १८ ॥
यथाशक्ति यथोत्साहं भार्यां तामभ्यरक्षत ।
पुरन्दरं च जानीते परस्त्रीकामचारिणम् ॥ १९ ॥
तस्माद्बलेन भार्याया रक्षणं स चकार ह ।
स कदाचिदृषिस्तात यज्ञं कर्तुमनास्तदा ॥ २० ॥
भार्यासंरक्षणं कार्यं कथं स्यादित्यचिन्तयत् ।
रक्षाविधानं मनसा स संचिन्त्य महातपाः ॥ २१ ॥
आहूय दयितं शिष्यं विपुलं प्राह भार्गवम् ।
देवशर्मोवाच- यज्ञकारो गमिष्यामि रुचिं चेमां सुरेश्वरः ॥ २२ ॥
यतः प्रार्थयते नित्यं तां रक्षस्व यथाबलम् ।
अप्रमत्तेन ते भाव्यं सदा प्रति पुरन्दरम् ॥ २३ ॥
स हि रूपाणि कुरुते विविधानि भृगूत्तम ।
भीष्म उवाच- इत्युक्तो विपुलस्तेन तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥ २४ ॥
सदैवोग्रतपा राजन्नग्न्यर्कसदृशद्युतिः ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च तथेति प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥

समान सुन्दरी कोई न थी। हे राजेन्द्र! देव, गन्धर्व, दानव, तथा विशेष करके वृत्रहन्ता इन्द्र उसकी सुघराई देखके मत्त हुए थे। स्त्रीचरित जाननेवाले महामुनि देवशर्मा शक्ति और उत्साहके अनुसार अपनी भार्याकी सब भांतिसे रक्षा करते थे। वह इन्द्रको परस्त्रीगामी जानते थे, इस ही निमित्त बलपूर्वक भार्याकी रक्षा करनेमें यत्नवान् थे। हे तात! किसी समय उस ऋषिने यज्ञ करनेकी इच्छा करके उस समय विचारा कि किस प्रकार भार्याकी रक्षा करनी चाहिये। उस महातपस्वीने मनही मन भार्याकी रक्षाका उपाय निश्चय करके भार्गवगोत्री निज शिष्य विपुलको आह्वान करके कहा। (१६-२२)

देवशर्मा बोले, हे भृगूत्तम! मैं यज्ञ करनेके लिये गमन करूंगा, इन्द्र सदा इस रुचिको चाहता है, इसलिये तुम शक्तिके अनुसार इसकी रक्षा करना; इन्द्रके विषयमें तुम सदा अप्रमत्त रहना, क्यों कि वह विविध रूप धारण किया करता है। (२२-२४)

भीष्म बोले, हे राजन्! अग्नि और

पुनश्चेदं महाराज पप्रच्छ प्रस्थितं गुरुम् ।
विपुल उवाच- कानि रूपाणि शक्रस्य भवन्त्यागच्छतो मुने ॥ २६ ॥
वपुस्तेजश्च कीदृग्वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
भीष्म उवाच- ततः स भगवांस्तस्मै विपुलाय महात्मने ॥ २७ ॥
आचचक्षे यथातत्त्वं मायां शक्रस्य भारत ।
देवशर्मोवाच- बहुमायः स विप्रर्षे भगवान्पाकशासनः ॥ २८ ॥
तांस्तान्विकुरुते भावान्बहूनथ मुहुर्मुहुः ।
किरीटवज्रधृग्धन्वी मुकुटी बद्धकुण्डलः ॥ २९ ॥
भवत्यथ मुहूर्तेन चण्डालसमदर्शनः ।
शिखी जटी चीरवासाः पुनर्भवति पुत्रक ॥ ३० ॥
बृहच्छरीरश्च पुनश्चीरवासाः पुनः कृशः ।
गौरं श्यामं च कृष्णं च वर्णं विकुरुते पुनः ॥ ३१ ॥
विरूपो रूपवांश्चैव युवा वृद्धस्तथैव च ।
ब्राह्मणः क्षत्रियश्चैव वैश्यः शूद्रस्तथैव च ॥ ३२ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी, सदा उग्र तप करनेवाले, नियतेन्द्रिय धर्मज्ञ, सत्यवादी तपस्वी विपुलने गुरुका वचन सुनके उत्तर दिया, कि ऐसा ही करूंगा। हे महाराज ! जब गुरु चलनेको उद्यत हुए, तब उन्होंने उनसे फिर पूछा। (२४—२६)

विपुल बोले, हे मुनि ! देवराजके आगमन करनेपर उनका कैसा रूप होता है, उनका शरीर और तेज कैसा है ? आप मेरे निकट इस विषयकी व्याख्या करिये। (२६-२७)

भीष्म बोले, हे भारत ! अनन्तर भगवान् देवशर्मा महानुभाव विपुलसे इन्द्रकी मायाका यथार्थ तत्व कहने लगे। (२७-२८)

देवशर्मा बोले, हे विप्रर्षि ! भगवान् इन्द्र अनेक प्रकारकी माया जानते हैं, वह बार बार अनेक प्रकारके भाव उत्पन्न करते हैं; कभी किरीटी, वज्रधारी, धन्वी, मुकुटी और बद्धकुण्डली होते तथा मुहूर्त भरके बीच चाण्डालके सदृश दीख पडते हैं। हे तात ! वह कभी शिखावान् कभी जटावान् होते, कभी चीरवसन पहरते, कभी विपुलशरीर और कृश हुआ करते हैं। वह श्वेत, श्याम तथा कृष्ण प्रभृति विविध वर्ण धारण करते हैं। वह कभी कुरूप कभी रूपवान्, कभी युवा, कभी वृद्ध कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य

प्रतिलोमोऽनुलोमश्च भवत्यथ शतक्रतुः ।
शुकवायसरूपी च हंसकोकिलरूपवान् ॥ ३३ ॥
सिंहव्याघ्रगजानां च रूपं धारयते पुनः ।
दैवं दैत्यमथो राज्ञां वपुर्धारयतेऽपि च ॥ ३४ ॥
अकृशो वायुभग्नाङ्गः शकुनिर्विकृतस्तथा ।
चतुष्पाद्बहुरूपश्च पुनर्भवति बालिशः ॥ ३५ ॥
मक्षिकामशकादीनां वपुर्धारयतेऽपि च ।
न शक्यमस्य ग्रहणं कर्तुं विपुल केनचित् ॥ ३६ ॥
अपि विश्वकृता तात येन सृष्टमिदं जगत् ।
पुनरन्तर्हितः शक्रो दृश्यते ज्ञानचक्षुषा ॥ ३७ ॥
वायुभूतश्च स पुनर्देवराजो भवत्युत ।
एवं रूपाणि सततं कुरुते पाकशासनः ॥ ३८ ॥
तस्माद्विपुल यत्नेन रक्षेमां तनुमध्यमाम् ।
यथा रुचिं नावलिहेद्देवेन्द्रो भृगुसत्तम ॥ ३९ ॥
क्रतावुपहिते न्यस्तं हविः श्वेव दुरात्मवान् ।
एवमाख्याय स मुनिर्यज्ञकारोऽगमत्तदा ॥ ४० ॥

और कभी शूद्र होते हैं; शतक्रतु समस्त प्रतिलोम तथा अनुलोम होसकते हैं। वह शुक और कौवाका रूप धारण करते, कोकिल तथा हंसका रूप धारण कर सकते और सिंह, बाघ तथा हाथी आदिका रूप भी धारण किया करते हैं। (२८-३४)

देव, दैत्य और राजाओंका शरीर धारण करते तथा वह अकृश, वायु-भग्नाङ्ग, शकुनि, विकृत, चतुष्पाद, बहुरूप और पुनर्वार मूर्ख होते तथा मक्षिका मशक आदिका शरीर धारण करते हैं। हे विपुल! दूसरेकी बात तो दूर है, जिसने इस जगत्की रचना की है, वह विश्वकर्ता भी उसे जाननेमें समर्थ नहीं होते। इन्द्र अन्तर्हित होनेपर ज्ञाननेत्रसे दीख पडते और फिर वायु-रूप होकर देवराज होते। हे विपुल! इन्द्र इस ही भांति समस्त रूप धारण किया करते हैं, इसलिये इस क्षीणमध्या की यत्नपूर्वक रक्षा करो। हे भृगुसत्तम! उपस्थित यज्ञकी हविको कुत्ता खाता है, उसी भांति देवेन्द्र रुचिको अवलेहन न करे। (३४—४०)

हे भरतसत्तम अनन्तर उस महाभाग यज्ञकारी देवशर्मा मुनिने ऐसा वचन

देवशर्मा महाभागस्ततो भरतसत्तम।
विपुलस्तु वचः श्रुत्वा गुरोश्चिन्तामुपेयिवान् ॥ ४१ ॥
रक्षां च परमां चक्रे देवराजान्महाबलात्।
किं नु शक्यं मया कर्तुं गुरुदाराभिरक्षणे ॥ ४२ ॥
मायावी हि सुरेन्द्रोऽसौ दुर्धर्षश्चापि वीर्यवान्।
नापिधायाश्रमं शक्यो रक्षितुं पाकशासनः ॥ ४३ ॥
उटजं वा तथा ह्यस्य नानाविधसरूपता।
वायुरूपेण वा शक्रो गुरुपत्नीं प्रधर्षयेत् ॥ ४४ ॥
तस्मादिमां संप्रविश्य रुचिं स्थास्येऽहमद्य वै।
अथवा पौरुषेणेयं न शक्या रक्षितुं मया ॥ ४५ ॥
बहुरूपो हि भगवाञ्छ्रूयते पाकशासनः।
सोऽहं योगबलादेनां रक्षिष्ये पाकशासनात् ॥ ४६ ॥
गात्राणि गात्रैरस्याहं संप्रवेक्ष्ये हि रक्षितुम्।
यद्युच्छिष्टामिमां पत्नीमद्य पश्यति मे गुरुः ॥ ४७ ॥
शप्स्यत्यसंशयं कोपाद्दिव्यज्ञानो महातपाः।
न चेयं रक्षितुं शक्या यथाऽन्या प्रमदा नृभिः ॥४८॥

कहके गमन किया। विपुल भी गुरुका वचन सुनके चिन्ता करने लगे और महाबलवान् देवराजसे गुरुपत्नीकी रक्षा रक्षा करनेके लिये यत्नवान् रहे। उन्होंने सोचा कि सुरराज अत्यन्त वीर्यवान्, दुरभिभवनीय और मायावी है, इसलिये क्या मैं उससे गुरुपत्नीकी रक्षा कर सकूंगा? आश्रम अथवा कुटीको विना बन्द किये इन्द्रको निवारण करना दुःसाध्य है; क्यों कि उसमें अनेक प्रकारके रूप धारण करनेकी योग्यता है, अथवा यदि देवराज वायुरूपसे गुरुपत्नीको धर्षण करे! इसलिये मैं आजसे इसके शरीरमें प्रवेश करके रहूंगा नहीं तो मैं पौरुषसे इसकी रक्षा न कर सकूंगा। क्यों कि सुना है भगवान् इन्द्र अनेक प्रकारका रूप धारण किया करते हैं। इसलिये इसकी रक्षा करनेके लिये योगबलसे इसके शरीरमें प्रवेश करूंगा, तब इन्द्रसे इसकी रक्षा कर सकूंगा। (४०—४७)

दिव्य ज्ञानसे युक्त महातपस्वी मेरे गुरु यदि आज अपनी भार्याको उच्छिष्टा देखेंगे, तो क्रुद्ध होके निःसन्देह शाप देंगे। जैसे मनुष्य दूसरी स्त्रीकी रक्षा नहीं कर सकते, वैसे ही इसकी

मायावी हि सुरेन्द्रोऽसावहो प्राप्तोऽस्मि संशयम् ।
अवश्यं करणीयं हि गुरोरिह हि शासनम् ॥ ४९ ॥
यदि त्वेतदहं कुर्यामाश्चर्यं स्यात्कृतं मया ।
योगेनाथ प्रवेशो हि गुरुपत्न्याः कलेवरे ।
एवमेव शरीरेऽस्या निवत्स्यामि समाहितः ॥ ५० ॥
असक्तः पद्मपत्रस्थो जलबिन्दुर्यथा चलः ॥ ५१ ॥
निर्मुक्तस्य रजोरूपान्नापराधो भवेन्मम ।
यथा हि शून्यां पथिकः सभामध्यावसेत्पथि ॥ ५२ ॥
तथाद्यावासयिष्यामि गुरुपत्न्याः कलेवरम् ।
एवमेव शरीरेऽस्या निवत्स्यामि समाहितः ॥ ५३ ॥
इत्येवं धर्ममालोक्य वेदवेदांश्च सर्वशः ।
तपश्च विपुलं दृष्ट्वा गुरोरात्मन एव च ॥ ५४ ॥
इति निश्चित्य मनसा रक्षां प्रति स भार्गवः ।
अन्वतिष्ठत्परं यत्नं यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ ५५ ॥
गुरुपत्नीं समासीनो विपुलः स महातपाः ।
उपासीनामनिन्द्याङ्गीं यथार्थै समलोभयत् ॥ ५६ ॥

रक्षा करनी मेरे लिये असाध्य कार्य है; क्यों कि देवेन्द्र अत्यन्त ही मायावी है। हाय ! मैं क्या ही संशयमें पडा हूं। इस समय गुरुकी आज्ञा मुझे अवश्य ही प्रतिपालन करनी उचित है, यदि मैं इसे प्रतिपालन कर सकूं, तो महत् आश्चर्यका कार्य होगा। योगबलसे मैं गुरुपत्नीके शरीरमें प्रवेश करूं और कमलके पत्तेपर स्थित जलकी बूंदकी भांति चञ्चल होकर भी आसक्त न होऊं। रजोरूपसे निर्मुक्त रहनेपर मेरा कुछ अपराध न होगा। जैसे पथिक मार्गमें सूने स्थानमें वास करता है, आज मैं उस ही भांति गुरुपत्नीके शरीरको वासस्थान करूंगा; इस ही भांति सावधान होकर मैं इसके शरीरमें स्थित रहूंगा। (४७-५३)

हे राजन् ! भृगुवंशीय विपुलने इस ही प्रकार धर्मकी आलोचना वा सब भांतिसे वेदार्थकी पर्यालोचना की और गुरु तथा अपनी तपस्याको अवलोकन करनेपर निश्चय करके जिस रीतिसे अत्यन्त यत्नका अनुष्ठान किया था, वह सुनो। उस महातपस्वी विपुलने बैठकर समीपमें बैठी हुई अनिन्दिताङ्गी गुरुपत्नी-को यथार्थ विषयमें लाभ प्रदर्शित किया

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्या रश्मिं संयोज्य रश्मिभिः ।
विवेश विपुलः कायमाकाशं पवनो यथा ॥ ५७ ॥
लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च ।
अविचेष्टन्नतिष्ठद्वै छायेवान्तर्हितो मुनिः ॥ ५८ ॥
ततो विष्टभ्य विपुलो गुरुपत्न्याः कलेवरम् ।
उवास रक्षणे युक्तो न च सा तमबुद्ध्यत ॥ ५९ ॥
यं कालं नागतो राजन् गुरुस्तस्य महात्मनः ।
क्रतुं समाप्य स्वगृहं तं कालं सोऽभ्यरक्षत ॥ ६० ॥ [२२८०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे विपुलोपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

भीष्म उवाच– ततः कदाचिद्देवेन्द्रो दिव्यरूपवपुर्धरः ।
इदमन्तरमित्येवमभ्यगात्तमथाश्रमम् ॥ १ ॥
रूपमप्रतिमं कृत्वा लोभनीयं जनाधिप ।
दर्शनीयतमो भूत्वा प्रविवेश तमाश्रमम् ॥ २ ॥
स ददर्श तमासीनं विपुलस्य कलेवरम् ।
निश्चेष्टं स्तब्धनयनं यथाऽऽलेख्यगतं तथा ॥ ३ ॥
रुचिं च रुचिरापाङ्गीं पीनश्रोणिपयोधराम् ।

था। विपुलने अपने नेत्रके तेजसे उसके दोनों नेत्रोंका तेज संयोजित करके इस प्रकार उसके शरीरमें प्रवेश किया, जैसे पवन आकाशमें प्रवेश करता है। मुनि छायाकी भांति अन्तर्हित होकर लक्षणसे लक्षण और शरीरसे शरीरको चेष्टारहित करके निवास करने लगे। अनन्तर विपुल गुरुपत्नीके शरीरको स्तम्भित करके उसकी रक्षामें नियुक्त होकर स्थित रहे, वह उन्हें न जान सकी। हे महाराज! जबतक उस महात्माके गुरु यज्ञ समाप्त करके अपने गृहपर नहीं आये, तबतक वह सब भांतिसे गुरुपत्नीकी रक्षा करनेमें प्रवृत्त रहे। (५४-६०)

अनुशासनपर्वमें ४० अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ४१ अध्याय।

अनन्तर किसी समयमें इन्द्रने दिव्य सौन्दर्ययुक्त शरीर धारण करके अव-काशका समय विचारके उस आश्रमकी ओर आगमन किया। हे प्रजानाथ! वह परछांई रहित सुन्दर रूप धारण करके अत्यन्त दर्शनीय होकर उस आश्रममें प्रविष्ट हुए। उन्होंने उस समय चित्रलिखितकी भांति स्तब्धनेत्र

पद्मपत्रविशालाक्षीं संपूर्णेन्दुनिभाननाम् ॥ ४ ॥
सा तमालोक्य सहसा प्रत्युत्थातुमियेष ह ।
रूपेण विस्मिता कोऽसीत्यथ वक्तुमिवेच्छती ॥ ५ ॥
उत्थातुकामा तु सती विष्टब्धा विपुलेन सा ।
निगृहीता मनुष्येन्द्र न शशाक विचेष्टितुम् ॥ ६ ॥
तामाबभाषे देवेन्द्रः साम्ना परमवल्गुना ।
त्वदर्थमागतं विद्धि देवेन्द्रं मां शुचिस्मिते ॥ ७ ॥
क्लिश्यमानमनङ्गेन त्वत्संकल्पभवेन ह ।
तत्संप्राप्तं हि मां सुभ्रु पुरा कालोऽतिवर्तते ॥ ८ ॥
तमेवंवादिनं शक्रं शुश्राव विपुलो मुनिः ।
गुरुपत्न्याः शरीरस्थो ददर्श त्रिदशाधिपम् ॥ ९ ॥
न शशाक च सा राजन्प्रत्युत्थातुमनिन्दिता ।
वक्तुं च नाशकद्राजन्विष्टब्धा विपुलेन सा ॥ १० ॥
आकारं गुरुपत्न्यास्तु स विज्ञाय भृगूद्वहः ।
निजग्राह महातेजा योगेन बलवत्प्रभो ॥ ११ ॥

और चेष्टारहित होकर बैठा विपुलका शरीर देखा तथा निविडनितम्ब, और पीन-पयोधर, पद्मपत्रके समान विशालनयनी, पूर्णचन्द्रसदृश मुख और उत्तम अंगवाली रुचिको अवलोकन किया। (१—४)

रुचिने इन्द्रको देखते ही सहसा उठनेकी इच्छा की और उनके रूपसे विस्मित होकर तुम कौन हो, मानो ऐसा वचन कहनेकी अभिलाषी हुई। हे नरनाथ! वह सती विपुलके द्वारा विष्टब्ध और निगृहीत रहनेसे उठनेकी इच्छा करके भी न उठ सकी। तब इन्द्रने उससे परम मनोहर प्रिय वचन कहे। हे शुचिस्मिते! मैं देवेन्द्र हूं, तुम्हारे ही निमित्त यहां आया हूं। हे सुभ्रु! मैं तुम्हारे संकल्पजनित कामसे क्लेशित होकर आया हूं, तुम समागत समझो; समय बीता जाता है। इन्द्र ऐसा कहरहे थे, उसे विपुलमुनिने सुना और गुरुपत्नीके शरीरमें रहके ही उन्हें देख लिया। (५—९)

हे महाराज! वह अनिन्दिता विपुलके द्वारा विष्टब्ध रहनेसे उठने अथवा कुछ कहने न सकी। हे प्रभु! उस भृगुकुलधुरन्धर महातेजस्वी विपुलने गुरुपत्नीका आशय जानके भली भांति बलपूर्वक योगके सहारे उसे निग्रह कर

ववन्ध योगवन्धैश्च तस्याः सर्वेन्द्रियाणि सः ।
तां निर्विकारां दृष्ट्वा तु पुनरेव शचीपतिः ॥ १२ ॥
उवाच व्रीडितो राजंस्तां योगबलमोहिताम् ।
एह्येहीति ततः सा तु प्रतिवक्तुमियेष तम् ॥ १३ ॥
स तां वाचं गुरोः पत्न्या विपुलः पर्यवर्तयत् ।
भोः किमागमने कृत्यमिति तस्यास्तु निःसृता ॥१४॥
वक्त्राच्छशाङ्कसदृशाद्वाणी संस्कारभूषणा ।
व्रीडिता सा तु तद्वाक्यमुक्त्वा परवशा तदा॥ १५ ॥
पुरन्दरश्च तत्रस्थो बभूव विमना भृशम् ।
स तद्वैकृतमालक्ष्य देवराजो विशाम्पते ॥ १६ ॥
अवैक्षत सहस्राक्षस्तदा दिव्येन चक्षुषा ।
स ददर्श मुनिं तस्याः शरीरान्तरगोचरम् ॥ १७ ॥
प्रतिबिम्बमिवादर्शे गुरुपत्न्याः शरीरगम् ।
स तं घोरेण तपसा युक्तं दृष्ट्वा पुरन्दरः ॥ १८ ॥
प्रावेपत सुसंत्रस्तः शापभीतस्तदा विभो ।
विमुच्य गुरुपत्नीं तु विपुलः सुमहातपाः ।
स्वकलेवरमाविश्य शक्रं भीतमथाब्रवीत् ॥ १९ ॥

रखा। हे महाराज! विपुलने उसकी सब इंद्रियां योगबन्धनसे बद्ध करदीं। इन्द्रने उसे योगबलसे मोहित और विकाररहित देखकर व्रीडित होकर फिर उससे कहा कि "आओ! आओ!" अनन्तर रुचिने उन्हें प्रत्युत्तर देनेकी इच्छा की, परन्तु विपुलने गुरुपत्नीका वह वचन परिवर्त्तन कर दिया। रुचिके चन्द्रसदृश वदनसे 'ऐ तुम्हारे आनेका क्या प्रयोजन है?' ऐसा ही संस्कारयुक्त वचन बाहर हुआ (१०-१५)

परवश होनेसे रुचि उस समय ऐसा वचन कहके लज्जित हुई, इन्द्र भी वहांपर अत्यन्त दुःखित होकर स्थित रहे। हे महाराज! देवराज इन्द्रने उसका वह विकृतभाव जानके उस समय दिव्य-दृष्टिके सहारे देखा, उन्होंने दर्पणमें प्रतिबिम्बकी भांति गुरुपत्नीके शरीरमें तथा शरीरान्तरगोचर विपुलका शरीर अवलोकन किया। इन्द्र उसे घोर तपस्यायुक्त देखके बहुत डरे और शापभयसे डरके उस समय कांपते हुए खडे रहे। तब महातपस्वी विपुल गुरुपत्नीको परित्याग करके निज शरीरमें

विपुल उवाच– अजितेन्द्रिय दुर्बुद्धे पापात्मक पुरन्दर।
न चिरं पूजयिष्यन्ति देवास्त्वां मानुषास्तथा ॥ २० ॥
किं नु तद्विस्मृतं शक्र न तन्मनसि ते स्थितम्।
गौतमेनासि यन्मुक्तो भगाङ्कपरिचिह्नितः ॥ २१ ॥
जाने त्वां बालिशमतिमकृतात्मानमस्थिरम्।
मयेयं रक्ष्यते मूढ गच्छ पाप यथागतम् ॥ २२ ॥
नाहं त्वामद्य मूढात्मन्दहेयं हि स्वतेजसा।
कृपायमानस्तु न ते दग्धुमिच्छामि वासव ॥ २३ ॥
स च घोरतमो धीमान्गुरुस्त्वां पापचेतसम्।
दृष्ट्वा त्वां निर्दहेदद्य क्रोधदीप्तेन चक्षुषा ॥ २४ ॥
नैवं तु शक्र कर्तव्यं पुनर्मान्याश्च ते द्विजाः।
मा गमः ससुतामात्यः क्षयं ब्रह्मबलार्दितः ॥ २५ ॥
अमरोऽस्मीति यद् बुद्धिं समास्थाय प्रवर्तसे।
मावमंस्था न तपसा न साध्यं नाम किंचन ॥ २६ ॥
भीष्म उवाच– तच्छ्रुत्वा वचनं शक्रो विपुलस्य महात्मनः।
अकिंचिदुक्त्वा व्रीडार्तस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥

प्रविष्ट होकर डरे हुए इन्द्रसे कहने-लगे। (१५-१९)

विपुल बोले, रे नीचबुद्धिवाले, अजितेन्द्रिय पापी पुरन्दर! देववृन्द और मनुष्य तेरा सदा संमान न करेंगे। हे शक्र! परन्तु गौतमके द्वारा भगाङ्कसे चिन्हित होकर जो तू मुक्त हुआ, क्या वह याद नहीं है? क्या उसे भूल गया? मैं तुझे मूढबुद्धि, अकृतात्मा अस्थिर जानता हूं। रे मूढ! रे पापी! यह मेरे द्वारा रक्षित होरही है, तू जिस स्थानसे आया है, वहां ही चला जा, रे मूढात्मा इन्द्र! आज मैंने अपने तेजसे तुझे नहीं जलाया, मैंने कृपा करके तुझे भस्म करनेकी इच्छा नहीं की; मेरे वह अत्यन्त बुद्धिमान् गुरु तुझ पापीको देखते ही क्रोधयुक्त नेत्रसे इस ही क्षणमें निःशेष करके भस्म करेंगे। हे इन्द्र! तू फिर ऐसा कर्म न करना; ब्राह्मणवृन्द तुम्हारे माननीय हैं, इसलिये ब्रह्मबलसे पीडित होकर पुत्र और सेवकोंके सहित विनष्ट न होना। अपनेको अमर समझके मेरी अवज्ञा मत करो, तपस्यासे कुछ भी असाध्य नहीं है। (२०-२६)

भीष्म बोले, इन्द्र महानुभाव विपुल

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु देवशर्मा महातपाः ।
कृत्वा यज्ञं यथाकाममाजगाम स्वमाश्रमम् ॥ २८ ॥
आगतेऽथ गुरौ राजन्विपुलः प्रियकर्मकृत् ।
रक्षितां गुरवे भार्यां न्यवेदयदनिन्दिताम् ॥ २९ ॥
अभिवाद्य च शान्तात्मा स गुरुं गुरुवत्सलः ।
विपुलः पर्युपातिष्ठद्यथापूर्वमशङ्कितः ॥ ३० ॥
विश्रान्ताय ततस्तस्मै सहासीनाय भार्यया ।
निवेदयामास तदा विपुलः शक्रकर्म तत् ॥ ३१ ॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिस्तुष्टो विपुलस्य प्रतापवान् ।
बभूव शीलवृत्ताभ्यां तपसा नियमेन च ॥ ३२ ॥
विपुलस्य गुरौ वृत्तिं भक्तिमात्मनि तत्प्रभुः ।
धर्मे च स्थिरतां दृष्ट्वा साधु साध्वित्यभाषत ॥ ३३ ॥
प्रतिलभ्य च धर्मात्मा शिष्यं धर्मपरायणम् ।
वरेण च्छन्दयामास देवशर्मा महामतिः ॥ ३४ ॥
स्थितिं च धर्मे जग्राह स तस्माद्गुरुवत्सलः ।
अनुज्ञातश्च गुरुणा चचारानुत्तमं तपः ॥ ३५ ॥
तथैव देवशर्मापि सभार्यः स महातपाः ।

का ऐसा वचन सुनके लज्जासे आर्त्त होकर कुछ भी न कहके उस ही स्थानमें अन्तर्हित हुए। मुहूर्त्त भर समय बीतने-पर महातपस्वी देवशर्मा यज्ञ समाप्त करके इच्छानुसार अपने आश्रमपर आये। हे राजन् ! गुरुके आनेपर प्रियकार्य करनेवाले विपुलने अनिन्दिता गुरुपत्नीकी किस प्रकार रक्षा की थी, वह सब उनके समीप कह सुनाया। वह शान्तचित्त गुरुवत्सल विपुल गुरुको प्रणाम कर पहलेकी भांति अशङ्कित होकर गुरुकी सेवा करने लगे।(२७-३०)

जब वह विश्राम करके भार्याके सहित बैठे, तब विपुलने उनसे इन्द्रका सब कार्य सुना दिया। उस प्रतापवान् मुनिश्रेष्ठने विपुलका वचन सुनके उसका स्वभाव, चरित्र, तपस्या, नियम, गुरु-सेवा और गुरुके विषयमें भक्ति तथा धर्ममें स्थिरता देखकर 'साधु साधु' कहके उसे धन्यवाद दिया। महाबुद्धिमान् धर्मात्मा देवशर्माने शिष्यको धर्मपरायण जानके उससे कहा, कि वर मांगो। गुरुवत्सल विपुलने गुरुके समीप यह वर मांगा, कि धर्ममें मेरी स्थिति रहे,

निर्भयो बलवृत्रघ्नाच्चचार विजने वने ॥ ३६ ॥ [२३१६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे विपुलोपाख्याने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

भीष्म उवाच– विपुलस्त्वकरोत्तीव्रं तपः कृत्वा गुरोर्वचः ।
तपोयुक्तमथात्मानममन्यत स वीर्यवान् ॥ १ ॥
स तेन कर्मणा स्पर्धन्पृथिवीं पृथिवीपते ।
चचार गतभीः प्रीतो लब्धकीर्तिवरो नृप ॥ २ ॥
उभौ लोकौ जितौ चापि तथैवामन्यत प्रभुः ।
कर्मणा तेन कौरव्य तपसा विपुलेन च ॥ ३ ॥
अथ काले व्यतिक्रान्ते कस्मिंश्चित् कुरुनन्दन ।
रुच्या भगिन्या आदानं प्रभूतधनधान्यवत् ॥ ४ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु दिव्या काचिद्वराङ्गना ।
बिभ्रती परमं रूपं जगामाथ विहायसा ॥ ५ ॥
तस्याः शरीरात्पुष्पाणि पतितानि महीतले ।
तस्याश्रमस्याविदूरे दिव्यगन्धानि भारत ॥ ६ ॥
तान्यगृह्णात्ततो राजन् रुचिर्ललितलोचना ।

वर पाके गुरुकी आज्ञासे उत्तम तपस्या करनेमें प्रवृत्त हुए। वह महातपस्वी देवशर्मा भी इन्द्रसे निडर होकर भार्याके सहित निर्जन वनमें विचरने लगे। (३१—३६)

अनुशासनपर्वमें ४१ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ४२ अध्याय।

भीष्म बोले, अनन्तर वीर्यवान् विपुलने गुरुका वचन प्रतिपालन करके तीव्र तपस्याचरणसे अपनेको तपयुक्त समझा। हे महाराज! वह निज कर्मसे कीर्ति और वर लाभ करके प्रसन्न होकर स्पर्द्धा करते हुए निर्भयचित्तसे पृथ्वीमण्डलपर विचरने लगे। हे कौरव्य! उन्होंने पहले कहे हुए कार्य तथा अत्यन्त तपस्याचरणके सहारे जाना, कि मैंने इस लोक और परलोकको जय किया है। हे कुरुनन्दन! अनन्तर कुछ समय बीतनेपर रुचिके भगिनीका बहुतसे धनधान्यसे युक्त पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ, उस ही समय कोई दिव्य वराङ्गनाने परम मनोहर रूप धारण करके आकाशमार्गसे गमन किया। हे भारत! उस आश्रमसे थोडी ही दूरपर उस दिव्याङ्गनाके अङ्गसे दिव्यगन्धयुक्त बहुतसे फूल पृथ्वीपर

तदा निमन्त्रकस्तस्या अङ्गेभ्यः क्षिप्रमागमत् ॥ ७ ॥
तस्या हि भगिनी तात ज्येष्ठा नाम्ना प्रभावती।
भार्या चित्ररथस्याथ बभूवाङ्गेश्वरस्य वै ॥ ८ ॥
पिनह्य तानि पुष्पाणि केशेषु वरवर्णिनी।
आमन्त्रिता ततोऽगच्छद्रुचिरङ्गपतेर्गृहम् ॥ ९ ॥
पुष्पाणि तानि दृष्ट्वा तु तदाङ्गेन्द्रवराङ्गना।
भगिनीं चोदयामास पुष्पार्थे चारुलोचना ॥ १० ॥
सा भर्त्रे सर्वमाचष्ट रुचिः सुरुचिरानना।
भगिन्या भाषितं सर्वमृषिस्तच्चाभ्यनन्दत ॥ ११ ॥
ततो विपुलमानाय्य देवशर्मा महातपाः।
पुष्पार्थे चोदयामास गच्छ गच्छेति भारत ॥ १२ ॥
विपुलस्तु गुरोर्वाक्यमविचार्य महातपाः।
स तथेत्यब्रवीद्राजंस्तं च देशं जगाम ह ॥ १३ ॥
यस्मिन्देशे तु तान्यासन् पतितानि नभस्तलात्।
अम्लानान्यपि तत्रासन् कुसुमान्यपराण्यपि ॥ १४ ॥
स ततस्तानि जग्राह दिव्यानि रुचिराणि च।

गिरे। (१—६)

हे महाराज! अनन्तर ललितनयनी रुचि उन फूलोंको ग्रहणकर रही थीं, उस ही समय अंगदेशसे शीघ्र ही उसके समीप एक निमन्त्रक आया। हे तात! प्रभावती नाम उसकी जेठी, बहिन अंगदेशके राजा चित्ररथकी भार्या थी, वरवर्णिनी रुचि आमन्त्रित होनेपर केशमें उन्हीं फूलोंको गुथके अंगराजके स्थानपर गई। उस समय अंगराजकी उत्तम नेत्रवाली स्त्री उन फूलोंको देखकर अपनी बहिनसे बोली मेरे लिये ऐसे ही फूल मंगा दो। सुन्दर मुखवाली रुचिने भगिनीका वचन पतिके निकट कह सुनाया, ऋषिने उसके वचनका समादर किया। हे भारत! अनन्तर महातपस्वी देव-शर्माने विपुलको आह्वान करके फूल लानेके निमित्त भेजा। (७-१२)

हे महाराज! महातपस्वी विपुल गुरुके वचनमें कुछ भी विचार न करके बोले, कि ऐसा ही करूंगा, फिर उस ही स्थानपर गमन किया। जिस स्थान-पर वे समस्त फूल आकाशसे गिरते थे, वहांपर और भी कितनेही ताजे पुष्प पडे थे। हे भारत! अनन्तर

प्राप्तानि स्वेन तपसा दिव्यगन्धानि भारत ॥ १५ ॥
संप्राप्य तानि प्रीतात्मा गुरोर्वचनकारकः ।
तदा जगाम तूर्णं च चम्पां चम्पकमालिनीम् ॥ १६ ॥
स वने निर्जने तात ददर्श मिथुनं नृणाम् ।
चक्रवत्परिवर्तन्तं गृहीत्वा पाणिना करम् ॥ १७ ॥
तत्रैकस्तूर्णमगमत्तत्पदे च विवर्तयन् ।
एकस्तु न तदा राजंश्चक्रतुः कलहं ततः ॥ १८ ॥
त्वं शीघ्रं गच्छसीत्येकोऽब्रवीन्नेति तथाऽपरः ।
नेति नेति च तौ राजन् परस्परमथोचतुः ॥ १९ ॥
तयोर्विस्पर्धतोरेवं शपथोऽयमभूत्तदा ।
सहसोद्दिश्य विपुलं ततो वाक्यमथोचतुः ॥ २० ॥
आवयोरनृतं प्राह यस्तस्याभूद् द्विजस्य वै ।
विपुलस्य परे लोके या गतिः सा भवेदिति ॥ २१ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु विपुलो विषण्णवदनोऽभवत् ।
एवं तीव्रतपाश्चाहं कष्टश्चायं परिश्रमः ॥ २२ ॥

उन्होंने अपने तपोबलसे उन दिव्य गन्धवाले मनोहर पुष्पोंको पाके ग्रहण किया। गुरुके वचनको पालन करनेवाले विपुलने उस समय उन फूलोंको पाके प्रसन्नचित्त होकर शीघ्र ही चम्पकमालिनी चम्पानगरीकी ओर प्रस्थान किया। हे तात! उन्होंने उस निर्जन वनके बीच पाणिके द्वारा कर ग्रहण करके चक्रकी भांति परिवर्त्तनकारी नर-मिथुन देखा। हे राजन्! उन दोनोंके बीच एक शीघ्र गमन कर रहा था, दूसरा उसके पदमें विषमता प्रतिपादन करते हुए साथमें गमन करता था, अनन्तर उस समय वे दोनों कलह करने लगे। एक कहता था, तुमने शीघ्र गमन किया है, दूसरा कहने लगा, मैंने शीघ्र गमन नहीं किया है। (१३-१९)

हे राजन्! वे दोनों आपसमें नहीं, नहीं, ऐसा ही वचन कहने लगे। उस समय इस ही भांति विवाद होते रहनेपर उन दोनोंने विपुलको उद्देश्य करके यह शपथ किया, कि इस विपुल ब्राह्मणकी परलोकमें जो गति होगी, हम लोगोंके बीच जो मिथ्या कहता है, उसकी भी वही गति होगी। विपुलने ऐसा वचन सुनके खिन्न-वदन होकर सोचा, कि मैं ऐसा तपस्वी हूं, इसलिये मुझे उद्देश्य करके इस मिथुनने जो

मिथुनस्यास्य किं मे स्यात्कृतं पापं यथा गतिः ।
अनिष्टा सर्वभूतानां कीर्तिताऽनेन मेऽद्य वै ॥ २३ ॥
एवं संचिन्तयन्नेव विपुलो राजसत्तम ।
अवाङ्मुखो दीनमना दध्यौ दुष्कृतमात्मनः ॥ २४ ॥
ततः षडन्यान्पुरुषानक्षैः काञ्चनराजतैः ।
अपश्यद्दीव्यमानान्वै लोभहर्षान्वितांस्तथा ॥ २५ ॥
कुर्वतः शपथं तेन यः कृतो मिथुनेन तु ।
विपुलं वै समुद्दिश्य तेऽपि वाक्यमथाब्रुवन् ॥ २६ ॥
लोभमास्थाय योऽस्माकं विषमं कर्तुमुत्सहेत् ।
विपुलस्य परे लोके या गतिस्तामवाप्नुयात् ॥ २७ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु विपुलो नापश्यद्धर्मसंकरम् ।
जन्मप्रभृति कौरव्य कृतपूर्वमथात्मनः ॥ २८ ॥
संप्रदध्यौ तथा राजन्नग्नावग्निरिवाहितः ।
दह्यमानेन मनसा शापं श्रुत्वा तथाविधम् ॥ २९ ॥
तस्य चिन्तयतस्तात बह्व्यो दिननिशा ययुः ।

वचन कहा है, इन दोनोंके लिये वह कष्टकर मात्र है, मैंने ऐसा कौनसा पाप किया है, जो इनकी भी वही गति होगी ? इस समय इन लोगोंने मेरी जिस गतिका विषय कहा है, वह सब प्राणियोंको अनभिलषित है, हे राजसत्तम ! विपुल इस ही भांति चिन्ता करते हुए दीनचित्त होकर सिर नीचा करके अपने दुष्कृति-विषयका ध्यान करने लगे । (१९—२४)

अनन्तर उन्होंने सोने और रूपेसे बने हुए अक्षके सहारे क्रीडा करनेवाले, लोभहर्षसेयुक्त और छः पुरुषोंको अवलोकन किया । पहले कहे हुए मिथुनने विपुलको उल्लेख करके जिस प्रकार शपथ किया था, वे भी उस ही भांति शपथ करते थे। अनन्तर वे लोग विपुलको उद्देश्य करके यह वचन बोले, हम लोगोंके बीच जो लोभवशसे विषम आचरण करेगा, वह उस ही गतिको प्राप्त होगा, जैसी विपुलकी परलोकमें असद्गति होगी। हे कौरव्य ! ऐसा वचन सुनके विपुलने जन्म पर्यन्त विचारके देखा, परन्तु अपनेको धर्मसङ्करकारी नहीं समझा । हे राजन् ! वह इस प्रकार शाप सुनके अग्निमें अर्पित काष्ठकी भांति दह्यमान होके चिन्ता करने लगे । (२५-२९)

इदमासीन्मनसि च रुच्या रक्षणकारितम् ॥ ३० ॥
लक्षणं लक्षणेनैव वदनं वदनेन च ।
विधाय न मया चोक्तं सत्यमेतद्गुरोस्तथा ॥ ३१ ॥
एतदात्मनि कौरव्य दुष्कृतं विपुलस्तदा ।
अमन्यत महाभाग तथा तच्च न संशयः ॥ ३२ ॥
स चम्पां नगरीमेत्य पुष्पाणि गुरवे ददौ ।
पूजयामास च गुरुं विधिवत्स गुरुप्रियः ॥ ३३ ॥ [२१४२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे विपुलोपाख्याने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच— तमागतमभिप्रेक्ष्य शिष्यं वाक्यमथाब्रवीत् ।
देवशर्मा महातेजा यत्तच्छृणु जनाधिप ॥ १ ॥
देवशर्मोवाच- किं ते विपुल दृष्टं वै तस्मिन् शिष्य महावने ।
ते त्वां जानन्ति विपुल आत्मा च रुचिरेव च ॥ २ ॥
विपुल उवाच— ब्रह्मर्षे मिथुनं किं तत्के च ते पुरुषा विभो ।
ये मां जानन्ति तत्त्वेन यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३ ॥

हे तात ! उनके चिन्ता करते रहने-पर अनेक दिन और रात्रि व्यतीत हुई, अनन्तर उनके अन्तःकरणमें गुरुपत्नी रुचिके विषयमें रक्षाजनित व्यवहार उदित हुआ। स्त्रीपुरुषके असाधारण लक्षणको लक्षणसे और शरीरको शरीर-से निगृहीत करके मैंने गुरुके निकट इस विषयको सत्य नहीं कहा है। हे कौरव्य! उस समय महातपस्वी विपुलने अपना ऐसा दुष्कृत जाना और वही निश्चय पाप था, इसमें सन्देह नहीं है। अनन्तर उन्होंने चम्पानगरीमें आकर गुरुको फूल दिया और उस गुरुप्रिय विपुलने विधिपूर्वक उनकी पूजा की। (३०—३३)

अनुशासनपर्वमें ४२ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ४३ अध्याय।

भीष्म बोले, हे प्रजानाथ ! अनन्तर महातेजस्वी देवशर्माने उस शिष्यको आया हुआ देखकर जो वचन कहा था उसे सुनो। (१)

देवशर्मा बोले, हे शिष्य विपुल ! तुमने उस महावनके बीच क्या देखा था ? हे विपुल ! वे मुझे, रुचिको, और तुम्हें जानते हैं ? (२)

विपुल बोले, हे विभु ब्रह्मर्षि ! जो लोग मुझे यथार्थ रीतिसे जानते हैं और जिनका विषय आप मुझसे पूछते हैं, वे

देवशर्मोवाच– यद्वै तन्मिथुनं ब्रह्मन्नहोरात्रं हि विद्धि तत् ।
चक्रवत्परिवर्तेत तत्ते जानाति दुष्कृतम् ॥ ४ ॥
ये च ते पुरुषा विप्र अक्षैर्दीव्यन्ति हृष्टवत् ।
ऋतूंस्तानभिजानीहि ते ते जानन्ति दुष्कृतम् ॥ ५ ॥
न मां कश्चिद्विजानीत इति कृत्वा न विश्वसेत् ।
नरो रहसि पापात्मा पापकं कर्म वै द्विज ॥ ६ ॥
कुर्वाणं हि नरं कर्म पापं रहसि सर्वदा ।
पश्यन्ति ऋतवश्चापि तथा दिननिशेऽप्युत ॥ ७ ॥
तथैव हि भवेयुस्ते लोकाः पापकृतो यथा ।
कृत्वानाचक्षतः कर्म मम तच्च यथा कृतम् ॥ ८ ॥
ते त्वां हर्षस्मितं दृष्ट्वा गुरोः कर्मानिवेदकम् ।
स्मारयन्तस्तथा प्राहुस्ते यथा श्रुतवान् भवान् ॥ ९ ॥
अहोरात्रं विजानाति ऋतवश्चापि नित्यशः ।
पुरुषे पापकं कर्म शुभं वाशुभकर्मिणः ॥ १० ॥
तत्त्वया मम यत्कर्म व्यभिचाराद्भयात्मकम् ।
नाख्यातमिति जानन्तस्ते त्वामाहुस्तथा द्विज ॥ ११ ॥

मिथुन कौन हैं और वे सब पुरुष ही कौन हैं ? (३)

देवशर्मा बोले, हे ब्रह्मन् ! तुमने जो मिथुन देखा है, जो कि चक्रकी भांति भ्रमण कर रहा है, उसे अहोरात्रि जानो; वे तुम्हारे पापककर्मको जानते हैं। हे विप्र ! जो सब पुरुष हर्षितकी भांति अक्षक्रीडा कर रहे हैं, उन्हें ऋतु जानो, वे तुम्हारा दुष्कृत जानते हैं। मुझे कोई नहीं जानता है, ऐसा विचार करके विश्वास करना योग्य नहीं है। पापात्मा मनुष्य निर्जनमें पापाचरण करता है, मनुष्यके सदा निर्जनमें पापाचरण करनेपर ऋतु और अहोरात्रि उसे देखा करती हैं। कर्म करके न कहनेपर तुमने मेरे समीप जैसा किया है, वैसे पाप करनेवालोंकी जैसी गति होती है, उसे भी वे सब अवलोकन करते हैं। (४—८)

ऋतु प्रभृतिने तुम्हें गुरुके निकट निज कर्म निवेदन न करके हर्षसे गर्वित देखके उस विषयको स्मरण करानेके लिये जो कहा है, वह तुमने सुना। अहोरात्र और छहों ऋतु अशुभकर्मशील पुरुषोंके शुभ वा अशुभकर्मोंको सदा जानते हैं। हे द्विज !

तेनैव हि भवेयुस्ते लोकाः पापकृतो यथा ।
कृत्वा नाचक्षतः कर्म मम यच्च त्वया कृतम् ॥ १२ ॥
त्वयाऽशक्या च दुर्वृत्त्या रक्षितुं प्रमदा द्विज ।
न च त्वं कृतवान् किंचिदतः प्रीतोऽस्मि तेन ते ॥१३॥
यदि त्वहं त्वां दुर्वृत्तमद्राक्षं द्विजसत्तम ।
शपेयं त्वामहं क्रोधान्न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १४ ॥
सज्जन्ति पुरुषे नार्यः पुंसां सोऽर्थश्च पुष्कलः ।
अन्यथा रक्षतः शापोऽभविष्यत्ते मतिश्च मे ॥ १५ ॥
रक्षिता च त्वया पुत्र मम चापि निवेदिता ।
अहं ते प्रीतिमांस्तात स्वस्थः स्वर्गं गमिष्यसि ॥१६॥
इत्युक्त्वा विपुलं प्रीतो देवशर्मा महानृषिः ।
मुमोद स्वर्गमास्थाय सहभार्यः सशिष्यकः ॥ १७ ॥
इदमाख्यातवांश्चापि ममाख्यानं महामुनिः ।
मार्कण्डेयः पुरा राजन् गङ्गाकूले कथान्तरे ॥ १८ ॥
तस्माद्ब्रवीमि पार्थ त्वां स्त्रियो रक्ष्याः सदैव च ।

तुमने जो मेरे समीप व्यभिचारवशसे भयात्मक कर्म प्रकाश नहीं किया, उसे ही जानके उन सबने तुमसे ऐसा कहा है। तुमने मेरे समीप जैसा कहा, वैसा कर्म करके न कहनेसे उस पापकारीकी परलोकमें जो गति होती है, तुम्हारी भी उक्त कर्मवशसे वैसी ही गति होगी। (९—१२)

हे द्विज ! तुम दुश्चरित्रा स्त्रीकी रक्षा करनेमें असमर्थ हो, उस विषयमें तुमने कुछ पाप नहीं किया, इस ही निमित्त मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं। हे द्विजसत्तम ! यदि मैं तुम्हें दुर्वृत्त देखता, तो क्रोधवशसे अभिशाप देता; इस विषयमें मुझे विचार नहीं है। स्त्रियें जो पुरुषोंपर अनुरागवती होती हैं, पुरुषोंका वही पुष्कल अर्थ है; यदि तुम अन्यथाचरण करते, तो मैं उसे जानके अवश्य ही तुम्हें अभिशाप देता। हे तात ! तुमने यथार्थ रीतिसे रक्षा की है और वह वृत्तान्त मुझे सुनाया है। हे पुत्र ! इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूं। तुम सुखी रहके स्वर्गमें गमन करोगे। महर्षि देवशर्माने प्रसन्न होकर विपुलसे इतनी कथा कहके भार्या और शिष्यके सहित स्वर्गमें जाकर अतिप्रीति लाभ की थी। (१३—१७)

हे राजन् ! पहले समयमें महामुनि

उभयं दृश्यते तासु सततं साध्वसाधु च ॥ १९ ॥
स्त्रियः साध्व्यो महाभागाः संमता लोकमातरः ।
धारयन्ति महीं राजन्निमां सवनकाननाम् ॥ २० ॥
असाध्व्यश्चापि दुर्वृत्ताः कुलघ्नाः पापनिश्चयाः ।
विज्ञेया लक्षणैर्दुष्टैः स्वगात्रसहजैर्नृप ॥ २१ ॥
एवमेतासु रक्षा वै शक्या कर्तुं महात्मभिः ।
अन्यथा राजशार्दूल न शक्या रक्षितुं स्त्रियः ॥ २२ ॥
एता हि मनुजव्याघ्र तीक्ष्णास्तीक्ष्णपराक्रमाः ।
नासामस्ति प्रियो नाम मैथुने संगमेति यः ॥ २३ ॥
एताः कृत्याश्च कार्याश्च कृताश्च भरतर्षभ ।
न चैकस्मिन् रमन्त्येताः पुरुषे पाण्डुनन्दन ॥ २४ ॥
नासां स्नेहो नरैः कार्यस्तथैवेर्ष्या जनेश्वर ।
खेदमास्थाय भुञ्जीत धर्ममास्थाय चैव ह ॥ २५ ॥
निहन्यादन्यथा कुर्वन्नरः कौरवनन्दन ।

मार्कण्डेयने कथा प्रसङ्गमें मेरे समीप यह उपाख्यान कहा था । हे पार्थ ! इस ही लिये तुमसे कहता हूं, सदा स्त्रियोंकी रक्षा करनी चाहिये । स्त्रियें सदा साधु और दुष्ट दोनोंही दीख पडती हैं । हे महाराज ! महाभाग वधूगण सब लोकोंकी माता हैं, वेही वन और काननके सहित इस पृथ्वीमण्डलको धारण किये हुई हैं । हे नरपाल ! असाध्वी, दुर्वृत्ता, कुलघ्नी, पाप कर्मवाली स्त्रियोंको शरीरमें उत्पन्न हुई हाथ पांवकी रेखा तथा दुष्ट लक्षणसे मालूम करना चाहिये । (१८-२१)

महानुभाव मनुष्य इसही प्रकार स्त्रियोंकी उत्तम रीतिसे रक्षा करनेमें समर्थ हैं । हे नृपश्रेष्ठ ! अन्यथा स्त्रियें रक्षणीय नहीं हैं । हे मनुजश्रेष्ठ ! ये तीक्ष्ण तथा तीक्ष्णपराक्रमशालिनी हैं, मैथुनमें जो इनके साथ सहवास करता है, वही इनके लिये प्रिय है,उसके अतिरिक्त और कोई भी प्रिय नहीं है । हे भरतश्रेष्ठ ! ये कृत्या अर्थात् प्राणघातिनी मृत्युरूपी हैं, व्यभिचारिणी होनेपर प्राण हरण किया करती हैं, कार्यरूपिणी और एक पुरुषकी अङ्गीकृत हैं । हे पाण्डुनन्दन ! ये एक पुरुषमें रत नहीं होती, हे प्रजानाथ ! स्त्रियोंके विषयमें मनुष्योंको स्नेह अथवा ईर्षा करनी उचित नहीं है । ऋतुकालके अनुरोधसे अप्रीतिपूर्वक इन्हें भोग करे । हे कौरव-

सर्वथा राजशार्दूल मुक्तिः सर्वत्र पूज्यते ॥ २६ ॥
तेनैकेन तु रक्षा वै विपुलेन कृता स्त्रियाः।
नान्यः शक्तस्त्रिलोकेऽस्मिन् रक्षितुं नृप योषितम् ॥२७॥२२७६

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे विपुलोपाख्याने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर उवाच- यन्मूलं सर्वधर्माणां स्वजनस्य गृहस्य च।
पितृदेवातिथीनां च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
अयं हि सर्वधर्माणां धर्मश्चिन्त्यतमो मतः।
कीदृशस्य प्रदेया स्यात्कन्येति वसुधाधिप ॥ २ ॥
भीष्म उवाच- शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च।
सद्भिरेवं प्रदातव्या कन्या गुणयुते वरे ॥ ३ ॥
ब्राह्मणानां सतामेष ब्राह्मो धर्मो युधिष्ठिर।
आवाह्यमावहेदेवं यो दद्यादनुकूलतः ॥ ४ ॥
शिष्टानां क्षत्रियाणां च धर्म एष सनातनः।
आत्माभिप्रेतमुत्सृज्य कन्याभिप्रेत एव यः ॥ ५ ॥
अभिप्रेता च या यस्य तस्मै देया युधिष्ठिर।

नन्दन ! मनुष्य इसमें अन्यथा करनेसे निहत हुआ करता है। हे राजश्रेष्ठ ! योग सब भांतिसे सब ठौर समादरणीय है। एकमात्र उस विपुलने ही स्त्री की रक्षा की थी। हे नृप ! तीनों लोकोंके बीच कोई भी स्त्रियोंकी रक्षा करने में समर्थ नहीं है। (२२—२७)

अनुशासनपर्वमें ४३ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ४४ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले हे पितामह ! पितृलोक, देवता, अतिथि, स्वजन, गृह और सब धर्मोंका जो मूल है, आप मुझसे वही कहिये। हे पृथ्वीनाथ ! यही सब धर्मोंके बीच अत्यन्त चिन्तनीय कहके सम्मत है, कि कैसे वरको कन्या दान करे ? (१—२)

भीष्म बोले, स्वभाव, चरित्र, विद्या, योनि अर्थात् मातृकुल और पितृकुलकी शुद्धि तथा कर्मको भली भांति जानके साधु पुरुष गुणवान् वरको कन्यादान करें। उक्तगुणोंसे युक्त विवाहके योग्य वरको बुलाकर धनदानादिसे सन्तुष्ट करके जो कन्या दान की जाती है, साधु ब्राह्मणोंका यही ब्राह्मधर्म है और शिष्ट-क्षत्रियोंका भी यही सनातन क्षात्रधर्म है। हे युधिष्ठिर ! अपने अभिप्रायका

गान्धर्वमिति तं धर्मं प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥ ६ ॥
धनेन बहुधा क्रीत्वा संप्रलोभ्य च बान्धवान्।
असुराणां नृपैतं वै धर्ममाहुर्मनीषिणः ॥ ७ ॥
हत्वा छित्त्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य हरणं तात राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ८ ॥
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कथंचन ॥ ९ ॥
ब्राह्मः क्षात्रोऽथ गान्धर्व एते धर्म्या नरर्षभ।
पृथग्वा यदि वा मिश्राः कर्तव्या नात्र संशयः ॥१०॥
तिस्रो भार्या ब्राह्मणस्य द्वे भार्ये क्षत्रियस्य तु।
वैश्यः स्वजात्यां विन्देत तास्वपत्यं समं भवेत् ॥ ११ ॥
ब्राह्मणी तु भवेज्ज्येष्ठा क्षत्रिया क्षत्रियस्य तु।
रत्यर्थमपि शूद्रा स्यान्नेत्याहुरपरे जनाः ॥ १२ ॥

परित्याग करके जिस वरको कन्या चाहती हो और जो वर कन्याको चाहता हो, उसहीको कन्या दान करने को वेद जाननेवाले पुरुष गान्धर्व विवाह कहा करते हैं। (३-६)

हे महाराज! बान्धवोंको लुभाके अथवा बहुतसे धनके सहारे मोल लेके जो विवाह होता है, पंडित लोग उसे आसुर विवाह कहते हैं। हे तात! रोते हुए मनुष्योंको मारके तथा उनका सिर काटके रोती हुई कन्या को गृहसे जबर्दस्तीसे हरके जो विवाह होता है, वह राक्षस विवाह कहा जाता है। राक्षस विवाहके अन्तर्गत पैशाच विवाह है, इन पांच प्रकारके विवाहोंमेंसे तीन धर्मसङ्गत हैं और दो धर्मविरुद्ध हैं, अर्थात् कन्या हरण करके जो विवाह होता है, वह और आसुर विवाह किसी प्रकार भी न करना चाहिये। (७-९)

हे राजन्! ब्राह्म, क्षात्र और गान्धर्व, ये तीन प्रकारके विवाह ही धर्मसंगत हैं, पृथक् अथवा मिश्रित रीतिसे ये तीन प्रकारके विवाह ही करने योग्य हैं, इस विषयमें सन्देह नहीं है। ब्राह्मणोंके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातीय तीन भार्या, क्षत्रियोंको क्षत्रिय तथा वैश्य जातीय दो भार्या और वैश्यके लिये स्वजातीय भार्या होवे, इन सब स्त्रियोंसे जो सन्तान उत्पन्न हो, वे सब संमानित होंगे। ब्राह्मणोंकी ब्राह्मणी भार्या और क्षत्रियोंकी क्षत्रिया पत्नी ज्येष्ठा कहाती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और

अपत्यजन्म शूद्रायां न प्रशंसन्ति साधवः ।
शूद्रायां जनयन्विप्रः प्रायश्चित्ती विधीयते ॥ १३ ॥
त्रिंशद्वर्षो दशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम् ।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात् ॥ १४ ॥
यस्यास्तु न भवेद्भ्राता पिता वा भरतर्षभ ।
नोपयच्छेत तां जातु पुत्रिकाधर्मिणी हि सा ॥ १५ ॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती ।
चतुर्थे त्वथ संप्राप्ते स्वयं भर्तारमर्जयेत् ॥ १६ ॥
प्रजा न हीयते तस्या रतिश्च भरतर्षभ ।
अतोऽन्यथा वर्तमाना भवेद्वाच्या प्रजापतेः ॥ १७ ॥
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
इत्येतामनुगच्छेत तं धर्मं मनुरब्रवीत् ॥ १८ ॥
युधिष्ठिर उवाच—शुल्कमन्येन दत्तं स्याद्ददानीत्याह चापरः ।
बलादन्यः प्रभाषेत धनमन्यः प्रदर्शयेत् ॥ १९ ॥

वैश्योंको रतिके ही लिये शूद्रा भार्या होगी ऐसा कई लोग कहते हैं। रतिके लिये ब्राह्मणकी शूद्रा भार्या न होगी, ऐसा ही दूसरे लोग कहा करते हैं। शूद्रा स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न करना साधु पुरुषोंके बीच प्रशंसित नहीं है, यदि ब्राह्मण शूद्रा स्त्रीमें पुत्र उत्पन्न करे, तो वह प्रायश्चित्त करनेके योग्य होता है। (१०—१३)

तीस वर्षका पुरुष अजातकुचोद्भव आदि लक्षणवाली दश वर्षकी कन्या और इकीश वर्षकी अवस्थावाला पुरुष सात वर्षकी कन्याको भार्यारूपसे ग्रहण करे। हे भरतश्रेष्ठ! जिस कन्याके भाई अथवा पिता न हो, उसे कदापि न ब्याहे, क्यों कि वह कन्या अपने पिताके पुत्रस्थानीय होसकती है। कन्या ऋतुमती होनेपर तीन वर्षतक उपेक्षा करे, चौथा वर्ष लगनेपर स्वयं स्वामी खोज लेवे। स्वयं पति खोज लेनेसे स्त्री सन्तानरहित वा रतिविहीन नहीं होती। जो नारी इनमें अन्यथा आचरण करती है, वह प्रजापतिके निकट निन्दनीय होती है। जो कन्या माताकी सपिण्ड और पिताकी सगोत्रा न हो, उसे ही ब्याहे, मनुने इसे ही सनातन धर्म कहा है। (१४–१८)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! कोई शुल्क दान करे, दूसरा मैंने दान किया, ऐसा वचन कहे, कोई जबर्दस्तीसे हरनेको

पाणिग्रहीता चान्यः स्यात्कस्य भार्या पितामह ।
तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान् ॥ २० ॥
भीष्म उवाच– यत्किंचित्कर्म मानुष्यं संस्थानाय प्रदृश्यते ।
मन्त्रवन्मन्त्रितं तस्य मृषावादस्तु पातकः ॥ २१ ॥
भार्यापत्यृत्विगाचार्याः शिष्योपाध्याय एव च ।
मृषोक्ते दण्डमर्हन्ति नेत्याहुरपरे जनाः ॥ २२ ॥
न ह्यकामेन संवासं मनुरेवं प्रशंसति ।
अयशस्यमधर्म्यं च यन्मृषा धर्मकोपनम् ॥ २३ ॥
नैकान्तो दोष एकस्मिंस्तदा केनोपपद्यते ।
धर्मतो यां प्रयच्छन्ति यां च क्रीणन्ति भारत ॥ २४॥
बन्धुभिः समनुज्ञाते मन्त्रहोमौ प्रयोजयेत् ।
तथा सिध्यन्ति ते मन्त्रा नादत्तायाः कथंचन ॥२५ ॥
यस्त्वत्र मन्त्रसमयो भार्यापत्योर्मिथः कृतः ।

कहे, कोई पुरुष धन दिखावे, और कोई पाणिग्रहीता हो, तब उनमेंसे वह कन्या किसकी भार्या होगी ? हम तत्वजिज्ञासुओंके पक्षमें आप नेत्रस्वरूप हैं। (१९—२०)

भीष्म बोले, मनुष्योंके हित जनक "यह इसकी भार्या है" इत्यादि व्यवस्थाजनित जो कुछ कर्म मन्त्र जाननेवाले पुरुषोंके द्वारा मन्त्रित दीख पडता है, उसे मिथ्या करनेसे पाप हुआ करता है । भार्या, पुत्र, ऋत्विक्, आचार्य शिष्य और उपाध्याय मिथ्या कहनेपर प्रायश्चित्तके भागी होते हैं, दूसरे नहीं, ऐसाही कहा गया है। अकाम मनुष्योंके सङ्ग सहवास करनेकी मनु प्रशंसा नहीं करते, मिथ्या धर्म प्रकाश करना अयश और अधर्मयुक्त है; एक पुरुषमें एकान्त दोष उत्पन्न नहीं होता। पाणिग्रहण विधिके अनुसार बन्धु जन जो कन्या दान करें उसे हरनेमें दोष नहीं है। (२१-२४)

हे भारत ! बन्धुजन कर्मके अनुसार जो कन्या प्रदान करें, अथवा जिसे बेचें, बान्धवोंकी अनुज्ञा होनेपर उसके सम्बन्धमें मन्त्र और होम प्रयोग करे, तब वे सब मन्त्र सिद्ध होते हैं, बान्धवोंके द्वारा अदत्ता कन्याके सम्बन्धमें मन्त्र प्रयोग करनेसे वह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। यद्यपि स्वजनोंका किया हुआ सम्प्रदान नियम गुरुतर है, परन्तु पण्डित लोग ऐसा कहा करते हैं कि बन्धुजनोंके सम्प्रदानके अनन्तर

तमेवाहुर्गरीयांसं यश्चासौ ज्ञातिभिः कृतः ॥ २६ ॥
देवदत्तां पतिर्भार्यां वेत्ति धर्मस्य शासनात्।
स दैवीं मानुषीं वाचमनृतां पर्युदस्यति ॥ २७ ॥
युधिष्ठिर उवाच-कन्यायां प्राप्तशुल्कायां ज्यायांश्चेदावजेद्वरः।
धर्मकामार्थसम्पन्नो वाच्यमत्रानृतं न वा ॥ २८ ॥
तस्मिन्नुभयतो दोषे कुर्वञ्छ्रेयः समाचरेत्।
अयं नः सर्वधर्माणां धर्मश्चिन्त्यतमो मतः ॥ २९ ॥
तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान्।
तदेतत्सर्वमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यताम् ॥ ३० ॥
भीष्म उवाच-नैव निष्ठाकरं शुल्कं ज्ञात्वाऽऽसीत्तेन नाहृतम्।
न हि शुल्कपराः सन्तः कन्यां ददति कर्हिचित्॥३१॥
अन्यैर्गुणैरुपेतं तु शुल्कं याचन्ति बान्धवाः।
अलंकृत्वा वहस्वेति यो दद्यादनुकूलतः ॥ ३२ ॥

भार्या पति दोनोंके लिये निर्जन में मन्त्रके द्वारा किया हुआ नियम अत्यन्त गुरुतर है। पति धर्मके शासनवशसे भार्याको प्राक्तनकर्मदत्ता अथवा ईश्वरकी दी हुई जानके ग्रहण करता है; वह दैवी और मानुषी वाणीको मिथ्या समझके परित्याग करता है। (२४-२७)

युधिष्ठिर बोले, यदि कन्याके लिये किसी पुरुषने शुल्क दान किया हो, फिर धर्म, काम, अर्थ और कुलशील आदिसे युक्त दूसरा वर यदि उस कन्याको ग्रहण करे, तो वह निन्दनीय होगा, अथवा वह विवाह असिद्ध होगा? शिष्टातिक्रम और बन्धु सम्मतिपूर्वक विक्रयातिक्रम दोनों ओर दोष उपस्थित होनेपर कर्त्ता किस श्रेष्ठ पक्षको कल्याणकारी समझके अवलम्बन करे? यही हम लोगोंको सब धर्मोंके बीच अत्यन्त विचारणीय है। हम तत्व-जिज्ञासा कर रहे हैं आप हमारे नेत्रस्वरूप होइये, इन सब विषयोंको वर्णन करिये, आपका वचन सुनके हम लोगोंकी तृप्तिकी सीमा नहीं होती है। (२८--३०)

भीष्म बोले, शुल्क ग्रहण करनेसेही विवाहकी सिद्धि होती है, कर्त्ता ऐसा जानके कुछ शुल्क ग्रहण नहीं करता और साधु लोग शुल्क ग्रहण करके कदापि कन्या दान नहीं करते, इसलिये याद्दच्छिक क्रयविक्रय व्यवहार कन्यापहरण दोषमें कारण नहीं होता। यदि वर अवस्थामें अधिक होता है, तो बान्धवगण शुल्क मांगते हैं। जो अनु-

यच्च तां च ददत्येवं न शुल्कं विक्रयो न सः।
प्रतिगृह्य भवेद्देयमेष धर्मः सनातनः ॥ ३३ ॥
दास्यामि भवते कन्यामिति पूर्वं न भाषितम्।
ये चाहुर्ये च नाहुर्ये ये चावश्यं वदन्त्युत ॥ ३४ ॥
तस्मादाग्रहणात्पाणेर्याचयन्ति परस्परम्।
कन्यावरः पुरा दत्तो मरुद्भिरिति नः श्रुतम् ॥ ३५ ॥
नानिष्टाय प्रदातव्या कन्या इत्यृषिचोदितम्।
तन्मूलं काममूलस्य प्रजनस्येति मे मतिः ॥ ३६ ॥
समीक्ष्य च बहून्दोषान्संवासाद्विद्धि पाणयोः।
यथा निष्ठाकरं शुल्कं न जात्वासीत्तथा शृणु ॥ ३७ ॥
अहं विचित्रवीर्यस्य द्वे कन्ये समुदावहम्।
जित्वा च मागधान्सर्वान्काशीनथ च कोसलान् ॥ ३८ ॥
गृहीतपाणिरेकाऽऽसीत्प्राप्तशुल्का पराऽभवत्।

कुल भावसे दान करता है वह कन्या को आभूषण देके विवाह करनेको कहता है। जो कन्याको इस प्रकार दान करता है, वैसा विवाह शुल्कग्रहणपूर्वक विक्रय नहीं होता। प्रतिग्रह करनेसे ही दान करना पडता है, यही सनातन धर्म है। (३१—३३)

मैं तुम्हें कन्यादान करूंगा, जो पहले ऐसा वचन कहे और जो पुरुष अवश्य दान करनेकी प्रतिज्ञा करता है, वे सब अनुक्त वचनके समान हैं, इसलिये जबतक पाणिग्रहण नहीं होता, तबतक कन्या और वर परस्पर प्रार्थना किया करते हैं। मैंने ऐसा सुना है, कि जबतक कन्या प्रदान नहीं की जाती, तबतक उसके निमित्त सभी प्रार्थना कर सकते हैं, देवताओंने कन्याके सम्बन्धमें ऐसा ही वरदान किया है, अनिष्ट पात्रको कन्या दान न करे, यह ऋषिवाक्य है। (३४—३६)

कन्या ही काम और अपत्यकी मूल है, इसलिये जो पुरुष उत्तम दौहित्रकी इच्छा करता है, वह कल्याणके निमित्त श्रेष्ठ पात्रको कन्या दान करे, मुझे ऐसा ही निश्चय है। चिरपरिचयवशसे क्रयविक्रयके बहुतेरे दोषोंको देखकर मालूम करे, शुल्क जो कभी विवाहसिद्धिके विषयमें कारण नहीं थी, उसे कहता हूं सुनो। (३६-३७)

पहले जब मैं मगध, काशी और कोसल देशीय राजाओंको जीतके विचित्रवीर्यके लिये दो कन्या हरण की

कन्या गृहीता तत्रैव विसर्ज्या इति मे पिता ॥ ३९ ॥
अब्रवीदितरां कन्यामावहेति स कौरवः ।
अप्यन्यानतुपप्रच्छ शङ्कमानः पितुर्वचः ॥ ४० ॥
अतीव ह्यस्य धर्मेच्छा पितुर्मेऽभ्यधिकाऽभवत् ।
ततोऽहमब्रुवं राजन्नाचारेप्सुरिदं वचः ।
आचारं तत्त्वतो वेत्तुमिच्छामि च पुनः पुनः ॥ ४१ ॥
ततो मयैवमुक्ते तु वाक्ये धर्मभृतां वरः ।
पिता मम महाराज बाल्हीको वाक्यमब्रवीत् ॥४२ ॥
यदि वः शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणात्तथा ।
लाजान्तरमुपासीत प्राप्तशुल्क इति स्मृतिः ॥ ४३ ॥
न हि धर्मविदः प्राहुः प्रमाणं वाक्यतः स्मृतम् ।
येषां वै शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणात्तथा ॥ ४४ ॥
प्रसिद्धं भाषितं दाने नैषां प्रत्यायकं पुनः ।
ये मन्यन्ते क्रयं शुल्कं न ते धर्मविदो नराः ॥ ४५ ॥
न चैतेभ्यः प्रदातव्या न वोढव्या तथाविधा ।

थीं, उनमेंसे एकका पाणिग्रहण हुआ था, दूसरी पराक्रमसे निर्जित होके भी गृहीता नहीं हुई; क्यों कि मेरे तात कुरुवंशीय बाह्लिकने उसे विदा करके दूसरी कन्याके संग विवाह करनेके लिये कहा था। मैंने उनके वचनमें शङ्का करके दूसरे पुरुषोंसे यह विषय पूछा; पितृव्यके समीप धर्म जाननेके लिये मेरी अत्यन्त प्रबल इच्छा हुई थी; हे राजन्! अनन्तर आचार जाननेके लिये अभिलाषी होकर मैंने बार बार कहा, कि मैं यथार्थ रीतिसे आचार जाननेकी इच्छा करता हूं। (३८—४१)

हे महाराज! जब मैंने ऐसा कहा, तब धार्मिक-श्रेष्ठ मेरे पितृव्य बाह्लिक बोले, यदि तुम्हारे मतमें शुल्कसे ही विवाह सिद्ध हो, तो फिर पाणिग्रहणकी क्या आवश्यकता है, जिस कन्याके लिये शुल्क दिया गया है, उसके निमित्त लाजादि वस्तुओंको लानेका क्या प्रयोजन है? धर्म जाननेवाले पुरुष वाग्दानको कन्यादान विषयमें प्रमाण नहीं कहते, जिसका शुल्कदानसे ही विवाह सिद्ध होता हो, उसका पाणिग्रहण वैसा कार्यकारी नहीं है, ऐसा अभिप्राय है, कि दान विषयमें उनके वचन प्रसिद्ध नहीं है और इसमें लोगोंको विश्वास नहीं होता। शुल्कको जो

न ह्येव भार्या क्रेतव्या न विक्रय्या कथंचन ॥ ४६ ॥
ये च क्रीणन्ति दासीं च विक्रीणन्ति तथैव च।
भवेत्तेषां तथा निष्ठा लुब्धानां पापचेतसाम् ॥ ४७ ॥
अस्मिन्नर्थे सत्यवन्तं पर्यपृच्छन्त वै जनाः।
कन्यायाः प्राप्तशुल्कायाः शुल्कदः प्रशमं गतः ॥४८॥
पाणिग्रहीता चान्यः स्यादत्र नो धर्मसंशयः।
तन्नश्छिन्धि महाप्राज्ञ त्वं हि वै प्राज्ञसंमतः ॥ ४९ ॥
तत्त्वं जिज्ञासमानानां चक्षुर्भवतु नो भवान्।
तानेवं ब्रुवतः सर्वान्सत्यवान्वाक्यमब्रवीत् ॥ ५० ॥
यत्रेष्टं तत्र देया स्यान्नात्र कार्या विचारणा।
कुर्वते जीवतोऽप्येवं मृते नैवास्ति संशयः ॥ ५१ ॥
देवरं प्रविशेत्कन्या तप्येद्वाऽपि तपः पुनः।
तमेवानुगता भूत्वा पाणिग्राहस्य काम्यया ॥ ५२ ॥

लोग क्रयमूल्य समझते हैं, वे धर्मज्ञ नहीं हैं, वैसे पुरुषोंको कन्यादान करना उचित नहीं है और इस प्रकारकी कन्याको भी ब्याहना अनुचित है। कदाचित् भार्याको क्रय अथवा विक्रय करना उचित नहीं है। (४२-४६)

जो लोग भार्याको दासीकी भांति क्रय विक्रय करते हैं, उन पापबुद्धि मनुष्योंकी उस ही भांति विवाह निष्पत्ति हुआ करती है, परन्तु उसमें भार्यात्व सिद्ध नहीं होता। पहले समयमें लोगोंने यही विषय सत्यवानसे पूछा था, कि जिस किसी कन्याके निमित्त किसी पुरुषने शुल्क प्रदान किया हो, उसके शरीर त्याग होनेपर दूसरा पुरुष पाणिग्रहण किया करता है, इसलिये इस विषयमें हम लोगोंको धर्ममें सन्देह होता है। हे महाप्राज्ञ! आप प्राज्ञसंमत हैं, इसलिये हम लोगोंका यह सन्देह दूर करिये, हम तत्व जिज्ञासा करते हैं आप हम लोगोंके निमित्त नेत्र स्वरूप होइये। (४७-५०)

उन सब लोगोंके ऐसा कहते रहने-पर सत्यवान बोले, जिसे इच्छा हो, उसे ही कन्या दान करे, इस विषयमें विचार करना उचित नहीं है; जीवित शुल्कदाताको भी अनादर करके शिष्ट लोग इस ही प्रकार इच्छानुसार दान किया करते हैं, इसलिये मरे हुएके विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है। शुल्कदाताके मरनेके पश्चात् कन्या देवरको वरण करे, अथवा उस पाणि-

*

लिखन्त्येव तु केषांचिदपरेषां शनैरपि।
इति ये संवदन्त्यत्र त एतं निश्चयं विदुः ॥ ५३ ॥
तत्पाणिग्रहणात्पूर्वमन्तरं यत्र वर्तते।
सर्वमङ्गलमन्त्रं वै मृषावादस्तु पातकः ॥ ५४ ॥
पाणिग्रहणमन्त्राणां निष्ठा स्यात्सप्तमे पदे।
पाणिग्रहस्य भार्या स्याद्यस्य चाद्भिः प्रदीयते ॥ ५५ ॥
इति देयं वदन्त्यत्र त एनं निश्चयं विदुः।
अनुकूलामनुवंशां भ्रात्रा दत्तामुपाग्निकाम्।
परिक्रम्य यथान्यायं भार्यां विन्देद् द्विजोत्तमः ॥ ५६ ॥ [२४३२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे विवाहधर्मकथने चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

युधिष्ठिर उवाच– कन्यायाः प्राप्तशुल्कायाः पतिश्चेन्नास्ति कश्चन।
तत्र का प्रतिपत्तिः स्यात्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

ग्रहीताकी कामनासे व्रत अवलम्बन करके तपस्याचरण करे। किसी किसी पुरुषके मतमें देवर प्रभृति अनुपभुक्त भ्रातृभार्याको सुरतकार्यमें प्रवृत्त करे, दूसरे लोगोंके मतमें यह प्रवृत्ति मन्थरा अर्थात् यह ऐच्छिकी प्रवृत्ति युक्त नहीं है। (५०—५३)

इस विषयमें जो लोक विवाद करते हैं, वे पूर्वोक्त रीतिसे निश्चय किया करते हैं, इसलिये पाणिग्रहणके पहले अथवा उसके बीच जो सब हरिद्रा-लेपन स्नान प्रभृति मङ्गल कार्य और मन्त्र पाठ आदि जिसमें निष्पन्न होते हैं, वैसा अवकाशकाल जिसमें रहता है, उसमें ही पूर्वोक्त नियम सङ्गत होते हैं और सङ्कल्पपूर्वक प्रदान की हुई कन्याको हरने तथा उसके लिये मिथ्या वचन कहनेसे पाप होता है। सात पद चलनेके अनन्तर पाणिग्रहणके मन्त्रोंकी निष्पत्ति हुआ करती है, जल स्पर्श करके जिसे कन्या दान की जाती है, उस ही पाणिग्रहीताकी भार्या हुआ करती है। वक्ष्यमाण रीतिसे कन्या सम्प्रदान करना योग्य है, पण्डित लोग इसे निश्चय ही जानते हैं, द्विजश्रेष्ठ अनुकूल स्ववंश और अनुरूप भ्रातृदत्ता कन्याको अग्निके निकट न्यायपूर्वक परिक्रमा देकर ग्रहण करे। (५३—५६)

अनुशासनपर्वमें ४४ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ४५ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! यदि कन्याका शुल्कप्रद पति प्रोषित हो,

भीष्म उवाच- याऽपुत्रकस्य ऋद्धस्य प्रतिपाल्या तदा भवेत्।
अथ चेन्नाहरेच्छुल्कं क्रीता शुल्कप्रदस्य सा ॥ २ ॥
तस्यार्थेऽपत्यमीहेत येन न्यायेन शक्नुयात।
न तस्मान्मन्त्रवत्कार्यं कश्चित्कुर्वीत किंचन ॥ ३ ॥
स्वयं वृतेन साऽऽज्ञप्ता पित्रा वै प्रत्यपद्यत।
तत्तस्यान्ये प्रशंसन्ति धर्मज्ञा नेतरे जनाः ॥ ४ ॥
एतत्तु नापरे चक्रुरपरे जातु साधवः।
साधूनां पुनराचारो गरीयान्धर्मलक्षणः ॥ ५ ॥
अस्मिन्नेव प्रकरणे सुक्रतुर्वाक्यमब्रवीत्।
नप्ता विदेहराजस्य जनकस्य महात्मनः ॥ ६ ॥
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम्।
अत्र प्रश्नः संशयो वा सतामेवमुपालभेत् ॥ ७ ॥
असदेव हि धर्मस्य प्रदानं धर्म आसुरः।

तब उस विषयमें उसे कैसा व्यवहार करना योग्य है, आप मुझसे वही कहिये। (१)

भीष्म बोले, समृद्धिशाली अपुत्रक पिताकी प्रतिपालनीय कन्याके लिये जो शुल्क गृहीत हुआ था, यदि वह वरपक्षीय पुरुषोंको प्रत्यर्पित किया जाय, तो वह कन्या पिताकी ही प्रतिपाल्य रहेगी और यदि शुल्क प्रत्यर्पण न किया जाय, तो उसे शुल्कदाताकी मोल ली हुई होकर रहना होगा। उस शुल्कदाताके निमित्त जिस प्रकार होसके, सन्तानोत्पत्तिके लिये चेष्टा करे; इसलिये उस शुल्कदाताके अतिरिक्त और कोई भी उस कन्याके सङ्ग मन्त्र उच्चारण करके विवाह न करे। (२-३)

सावित्रीने पिताकी आज्ञानुसार जिसे स्वयं वरण किया था। उसहीके सङ्ग विवाह किया, उसके वैसे कार्यकी कोई प्रशंसा करते हैं, परन्तु धर्मज्ञ मनुष्य उस विषयका अनुमोदन नहीं करते, क्यों कि दूसरे साधु पुरुषोंने ऐसा आचरण नहीं किया है, साधुओंका आचार ही धर्मका गुरुतर लक्षण है। विदेहराज महाराज जनकके नाती सुक्रतुने इस प्रकरणमें ही वक्ष्यमाण वचन कहा है, कि दुष्टोंके आचरित पथमें किस प्रकार अनुवर्त्तन किया जा सकता है? इस विषयमें साधुओंके निकट प्रश्न अथवा संशय करे। (४-७)

नानुशुश्रुम जात्वेतामिमां पूर्वेषु कर्मसु ॥ ८ ॥
भार्यापत्योर्हि संबन्धः स्त्रीपुंसोः स्वल्प एव तु।
रतिः साधारणो धर्म इति चाह स पार्थिवः ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच- अथ केन प्रमाणेन पुंसामादीयते धनम्।
पुत्रवद्धि पितुस्तस्य कन्या भवितुमर्हति ॥ १० ॥
भीष्म उवाच- यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ ११ ॥
मातुश्च यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः।
दौहित्र एव तद्रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ॥ १२ ॥
ददाति हि स पिण्डान्वै पितुर्मातामहस्य च।
पुत्रदौहित्रयोरेव विशेषो नास्ति धर्मतः ॥ १३ ॥
अन्यत्र जामया सार्धं प्रजानां पुत्र ईहते।

स्त्रियोंके अस्वाधीनता-धर्मको खण्डन करना आसुरधर्म है, पहलेके बूढोंके विवाहकार्यमें स्त्रियोंकी स्वाधीनतापद्धति मैंने कदापि नहीं सुनी है। भार्या और पतिके अदृष्ट सन्धानरूपी धर्म अत्यन्त सूक्ष्म है, वह सर्वाङ्गसुन्दर न होनेपर सिद्ध नहीं होता, इसलिये वैसा सम्बन्ध उपस्थित न होनेपर केवल रतिके निमित्त कदापि दारपरिग्रह करना उचित नहीं है। उस राजाने यह भी कहा था, कि रति साधारण धर्म है। युधिष्ठिर बोले, जब पिताके निकट कन्या भी पुत्रके तुल्य है, तब किस प्रमाणके अनुसार अन्य पुरुष धन ग्रहण करते हैं? (८—१०)

भीष्म बोले जैसी आत्मा है, पुत्र भी वैसा ही है, पुत्री पुत्रके तुल्य है, इसलिये आत्मस्वरूपी पुत्रीके उपस्थित रहते किस प्रकार दूसरा पुरुष धन हरण कर सकता है? पुत्र रहे वा न रहे, माताका जो कुछ यौतक धन रहता है, उसमें कन्याका अधिकार है, उसमें पुत्रोंका अंश नहीं है; अपुत्रक पुरुषके धनको लेनेके लिये दौहित्र ही अधिकारी है, क्यों कि दौहित्र ही अपने पिता और मातामहको पिण्डदान किया करता है, इसलिये धर्मानुसार पुत्र और दौहित्रमें कुछ विशेष नहीं है। पुत्र उत्पन्न होनेके पहले यदि पुत्री उत्पन्न हो, तो वह यदि पुत्रीकरण नियमके अनुसार पुत्रस्थानीय की जावे, तब यदि उसके अनन्तर पुत्र उत्पन्न हो, तो पितृधनको पांच हिस्सेमें बांटके तीन भाग पुत्र ले और दो भाग कन्या

दुहिताऽन्यत्र जातेन पुत्रेणापि विशिष्यते ॥ १४ ॥
दौहित्रकेण धर्मेण नात्र पश्यामि कारणम् ।
विक्रीतासु हि ये पुत्रा भवन्ति पितुरेव ते ॥ १५ ॥
असूयवस्त्वधर्मिष्ठाः परस्वादायिनः शठाः ।
आसुरादधिसंभूता धर्माद्विषमवृत्तयः ॥ १६ ॥
अत्र गाथा यमोद्गीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
धर्मज्ञा धर्मशास्त्रेषु निबद्धा धर्मसेतुषु ॥ १७ ॥
यो मनुष्यः स्वकं पुत्रं विक्रीय धनमिच्छति ।
कन्यां वा जीवितार्थाय यः शुल्केन प्रयच्छति ॥ १८ ॥
सप्तावरे महाघोरे निरये कालसाह्वये ।
स्वेदं मूत्रं पुरीषं च तस्मिन्मूढः समश्नुते ॥ १९ ॥
आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पो वा बहु वा राजन् विक्रयस्तावदेव सः ॥ २० ॥
यद्यप्याचरितः कैश्चिन्नैष धर्मः सनातनः ।
अन्येषामपि दृश्यन्ते लोकतः संप्रवृत्तयः ॥ २१ ॥

ग्रहण करे, दत्तक प्रभृति पुत्रोंसे निज तनुसे उत्पन्न हुई कन्या श्रेष्ठ है, इसलिये पुत्रीकरण धर्ममें कुछ भी कारण नहीं दीख पडता। (११-१५)

औरसके अतिरिक्त कोई पुत्रके वर्त्तमान रहते बेची हुई कन्याके गर्भसे उत्पन्न हुआ पुत्र दायभागी न होगा। कन्याको बेचके जो लोग आसुर विवाह करते हैं, उनके असूयायुक्त अधर्मनिष्ठ और शठ प्रभृति विषम वृत्तिवाले पुत्र उत्पन्न होते हैं। धर्मशास्त्रके जाननेवाले धर्मपाशमें बंधे हुए इतिहासवेत्ता पण्डित लोग आसुर विवाहकी निन्दामें यमकी कही हुई कथा वर्णन किया करते हैं। जो मनुष्य पुत्रको बेचके धन लाभ करते हैं, अथवा जीविकाके लिये शुल्क ग्रहण करके कन्या प्रदान करते हैं, वे मूढ पुरुष कालसूत्र नामक घोर सातवें नरकके परिवर्त्ती निरयमें स्वेद, मूत्र और विष्ठा भोग किया करते हैं। (१५-१९)

हे राजन्! कोई कोई आर्ष विवाहमें गोमिथुन शुल्क कहा करते हैं, वह भी मिथ्या वचन है; क्यों कि चाहे शुल्क थोडा हो वा अधिक हो, लेनेसे ही बेचना सिद्ध होता है; यद्यपि किसी किसी पुरुषोंके द्वारा यह आचरित हुआ है, तौभी यह सनातन धर्म नहीं है। बलपूर्वक कन्या हरनेवाले, राक्षसों

वश्यां कुमारीं बलतो ये तां समुपभुञ्जते।
एते पापस्य कर्तारस्तमस्यन्धे च शेरते ॥ २२ ॥
अन्योऽप्यथ न विक्रेयो मनुष्यः किं पुनः प्रजाः।
अधर्ममूलैर्हि धनैस्तैर्न धर्मोऽथ कश्चन ॥ २३ ॥ [२४५५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे विवाहधर्मे यमगाथा नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५॥

भीष्म उवाच—प्राचेतसस्य वचनं कीर्तयन्ति पुराविदः।
यस्याः किंचिन्नाददते ज्ञातयो न स विक्रयः ॥ १ ॥
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यतमं च तत्।
सर्वं च प्रतिदेयं स्यात्कन्यायै तदशेषतः ॥ २ ॥
पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथ देवरैः।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ३ ॥
यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनो न प्रवर्धते ॥ ४ ॥
पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप।

की भी लोकमें इस ही भांति प्रवृत्ति दीख पडती है। जबरदस्तीसे वशमें करके जो लोग कुमारी कन्या उपभोग करते हैं, वे पापाचारी मनुष्य अन्धतामस नरकमें शयन किया करते हैं। जब कि अन्य पशुओंका बेचना भी योग्य नहीं है,तब मनुष्य-सन्तानका बेचना कदापि धर्म-सङ्गत नहीं हो सकता, कन्याको बेचके अधर्ममूलक धनसे कुछ भी धर्म नहीं होता। (२०-२३)

अनुशासनपर्वमें ४५ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ४६ अध्याय।

भीष्म बोले, पुराण जाननेवाले मनुष्य प्राचेतस दक्षके वचनके अनुसार कहते हैं, कि कन्यादानके समय उसके पक्षवाले जातीय पुरुष यदि कुछ भी धन न लेकर कन्याके लिये आभूषण मांगे, तो कन्याका बेचना नहीं कहा जाता, कन्याके विषयमें नृशंस व्यवहार न करनेसे ही उसका सत्कार होता है, पुत्रीको सभी वस्तु दान करना उचित है। अधिक कल्याणकी इच्छा करने-वाला पिता, भाई, श्वशुर और देवर वृन्द स्त्रियोंका संमान तथा भूषण दान करें। यदि स्त्री पुरुषसे प्रीति नहीं करती, तो उसे प्रमुदित भी नहीं कर सकती, अप्रमोद-निबन्धनसे पुरुषकी प्रजनन शक्ति संकुचित होती है, इसही-

स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ॥ ५ ॥
अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।
तदा चैतत्कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः ॥ ६ ॥
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया ।
नैव भान्ति न वर्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव ॥ ७ ॥
स्त्रियः पुंसां परिददे मनुर्जिगमिषुर्दिवम् ।
अबलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः ॥ ८ ॥
ईर्ष्यवो मानकामाश्च चण्डाश्च सुहृदोऽबुधाः ।
स्त्रियस्तु मानमर्हन्ति ता मानयत मानवाः ॥ ९ ॥
स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मो रतिभोगाश्च केवलाः ।
परिचर्या नमस्कारास्तदायत्ता भवन्तु वः ॥ १० ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रीत्यर्थं लोकयात्रायाः पश्यत स्त्रीनिबन्धनम् ॥ ११ ॥
संमान्यमानाश्चैता हि सर्वकार्याण्यवाप्स्यथ ।
विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत ॥ १२ ॥

से सन्तति नहीं होती । (१–४)

हे जननाथ ! स्त्रियें सदा सत्कार और लालन करने योग्य हैं, जिस गृहमें स्त्रियोंका सत्कार होता है, वहांपर देववृन्द अनुरक्त रहते हैं, और जिन गृहोंमें स्त्रियोंका आदर नहीं होता, वहांपर सब कार्य ही विफल होते हैं। जिस समय स्त्रियें शोक प्रकाश करती हैं, उस ही समय वह कुल विनष्ट होता है, हे राजन् ! जिस कुलको स्त्रियें अभिशाप देती हैं, वे सब गृह विच्छिन्न होते तथा श्रीहीन होके शोभा नहीं पाते और न उनकी वृद्धि ही होती है। स्वर्गमें जानेकी इच्छा करनेवाले मनुने पुरुषोंको स्त्री दान की है, स्त्रियोंके तन ढांपनेका वस्त्र थोडे ही परिश्रमसे छीना जाता है, इसकी सुहृद् तथा सत्यजिष्णु मनुष्य ईर्षायुक्त होकर कामना करते हैं, उग्र स्वभाववाले मनुष्य सुहृदता नहीं करते और कुछ भी नहीं समझते। (५–९)

हे मनुष्यवृन्द ! स्त्रियें संमानभाजन हैं, इसलिये उनका संमान करो। स्त्रीसे ही धर्म और रतिभोग हुआ करता है, तुम्हारी परिचर्या तथा नमस्कार स्त्रियोंके वशमें होवे। देखिये, पुत्र उत्पन्न करने, उत्पन्न हुए पुत्रोंको पालने और लोकयात्राकी प्रीतिके विषयमें स्त्री ही कारण है। इनके सं-

नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।
धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत ॥ १३ ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १४ ॥
श्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता ।
पालिता निगृहिता च श्रीः स्त्री भवति भारत ॥ १५ ॥ [२४७०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे विवाहधर्मे स्त्रीप्रशंसा नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४६॥

युधिष्ठिर उवाच-सर्वशास्त्रविधानज्ञ राजधर्मविदुत्तम ।
अतीव संशयच्छेत्ता भवान्वै प्रथितः क्षितौ ॥ १ ॥
कश्चित्तु संशयो मेऽस्ति तन्मे ब्रूहि पितामह ।
जातेऽस्मिन्संशये राजन्नान्यं पृच्छेम कंचन ॥ २ ॥
यथा नरेण कर्तव्यं धर्ममार्गानुवर्तिना ।
एतत्सर्वं महाबाहो भवान्व्याख्यातुमर्हति ॥ ३ ॥
चतस्रो विहिता भार्या ब्राह्मणस्य पितामह ।

मान करनेसे सब कार्य प्राप्त होंगे, विदेहराजकी दुहिताने इस स्त्री-धर्मके विषयमें श्लोक कहा है, कि स्त्रियोंके लिये कोई यज्ञ, क्रिया, श्राद्ध तथा उपवास नहीं है; स्त्रियोंके लिये निज पतिकी सेवा ही धर्म है, उसहीसे वे स्वर्गको जीतती हैं । (९-१३)

बालकपनमें पिता कन्याकी रक्षा करता है, जवानीमें पति स्त्रीकी रक्षा किया करता है और बुढापेमें पुत्रगण रक्षा करते हैं, इसलिये स्त्रियें कभी स्वाधीनता पानेके योग्य नहीं हैं। स्त्रियें श्रीस्वरूप हैं; ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले पुरुष उनका संमान करें । हे भारत ! स्त्रियें पाली जाने तथा उत्तम रीतिसे रक्षित होनेपर लक्ष्मीस्वरूप होती हैं । (१४—१५)

अनुशासनपर्वमें ४६ अध्याय समाप्त ।

अनुशासपर्वमें ४७ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे सर्वशास्त्रविधानके जाननेवाले राजधर्मज्ञ श्रेष्ठ पितामह ! आप अत्यन्त संशयच्छेता कहके पृथ्वी-पर विख्यात हैं, मुझे कुछ सन्देह है, उसे आप दूर करिये । हे राजन् ! ऐसा संशय उपजनेपर हम लोग दूसरे किससे पूछेंगे ? हे महाबाहो ! धर्ममार्गमें गमन करनेवाले मनुष्यका जो कुछ कर्त्तव्य हो, आपको वह सब वर्णन करना

ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा च रतिमिच्छतः ॥ ४ ॥
तत्र जातेषु पुत्रेषु सर्वासां कुरुसत्तम ।
आनुपूर्व्येण कस्तेषां पित्र्यं दायादमर्हति ॥ ५ ॥
केन वा किं ततो हार्यं पितृवित्तात्पितामह ।
एतदिच्छामि कथितं विभागस्तेषु यः स्मृतः ॥ ६ ॥
भीष्म उवाच- ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
एतेषु विहितो धर्मो ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ ७ ॥
वैषम्यादथ वा लोभात्कामाद्वापि परन्तप ।
ब्राह्मणस्य भवेच्छूद्रा नतु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ८ ॥
शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
प्रायश्चित्तीयते चापि विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ९ ॥
तत्र जातेष्वपत्येषु द्विगुणं स्याद्युधिष्ठिर ।
आपद्यमानमृक्थं तु संप्रवक्ष्यामि भारत ॥ १० ॥
लक्षण्यं गोवृषो यानं यत्प्रधानतमं भवेत् ।
ब्राह्मण्यास्तद्धरेत्पुत्र एकांशं वै पितुर्धनात् ॥ ११ ॥

उचित है। हे पितामह! रतिकी कामनावाले ब्राह्मणके निमित्त ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा, ये चार प्रकारकी भार्या विहित हुई हैं। (१-४)

हे कुरुनन्दन! उन सबसे ही पुत्र उत्पन्न होनेसे उनमेंसे आनुपूर्विक क्रमसे कौन पैतृक अंश पानेके योग्य होगा? हे पितामह! उनके बीच कौन पुत्र कितने परिमाणसे उस पिताका धन लेगा? शास्त्रके अनुसार उन लोगोंका जैसा हिस्सा है, उसे आप वर्णन करिये, मैं यही सुननेकी अभिलाष करता हूं। (५-६)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये तीनों वर्ण द्विजाति हैं, इन सबके लिये ब्राह्मणोंका धर्म विहित हुआ है। हे शत्रुतापन! वैषम्य अथवा लोभ तथा कामवशसे ब्राह्मणकी शूद्रा पत्नी होती है, शास्त्रके अनुसार वह नहीं होसकती। ब्राह्मण शूद्रा स्त्रीको निज शय्यापर सुलानेसे अधोगति पाता है और विधिदृष्ट कर्मके द्वारा प्रायश्चित्ताई हुआ करता है। हे युधिष्ठिर! शूद्रा स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न होनेपर ब्राह्मणको द्विगुण प्रायश्चित्त करना पडता है। हे भारत! जो जैसा अंश पावेगा, वह कहता हूं। लक्षणयुक्त गऊ, वृषभ, सवारी तथा दूसरे जो कुछ

*

शेषं तु दशधा कार्यं ब्राह्मणस्वं युधिष्ठिर ।
तत्र तेनैव हर्तव्याश्चत्वारोंऽशाः पितुर्धनात् ॥ १२ ॥
क्षत्रियायास्तु यः पुत्रो ब्राह्मणः सोऽप्यसंशयः ।
स तु मातुर्विशेषेण त्रीनंशान्हर्तुमर्हति ॥ १३ ॥
वर्णे तृतीये जातस्तु वैश्यायां ब्राह्मणादपि ।
द्विरंशस्तेन हर्तव्यो ब्राह्मणस्वाद्युधिष्ठिर ॥ १४ ॥
शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो नित्यादेयधनः स्मृतः ।
अल्पं चापि प्रदातव्यं शूद्रापुत्राय भारत ॥ १५ ॥
दशधा प्रविभक्तस्य धनस्यैष भवेत्क्रमः ।
सवर्णासु तु जातानां समान् भागान्प्रकल्पयेत् ॥१६॥
अब्राह्मणं तु मन्यन्ते शूद्रापुत्रमनैपुणात् ।
त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद्ब्राह्मणो भवेत् ॥ १७ ॥
स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पञ्चमो नाधिगम्यते ।
हरेच्च दशमं भागं शूद्रापुत्रः पितुर्धनात ॥ १८ ॥

अत्यन्त उत्तम वस्तु रहेगी, ब्राह्मणीका पुत्र पितृधनमेंसे उस ही मुख्य हिस्सेको पावेगा। (७-११)

हे युधिष्ठिर! शेषमें जो कुछ ब्राह्मणस्व रहेगा, वह दस हिस्सेमें बटेगा, ब्राह्मणीका पुत्र उस पितृधनमेंसे चार भाग लेगा क्षत्रिया स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ पुत्र भी निःसन्देह ब्राह्मण है, वह पुत्र माताकी विशिष्टताके अनुसार तीन हिस्सा पावेगा। हे युधिष्ठिर! तृतीय वर्णवाली वैश्या स्त्रीसे जो पुत्र ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न होता है, वह ब्राह्मणस्वमेंसे दो भाग ग्रहण करेगा। ब्राह्मणके द्वारा जो पुत्र शूद्रा स्त्रीसे उत्पन्न होता है, उसे नित्यादेयधन कहा जाता है अर्थात् उसे सब भांतिसे धन अदेय है। हे भारत! शूद्रा स्त्रीके पुत्रको एक अंश धन देना योग्य है। (१२—१५)

दश हिस्सेमें बटे हुए धनके विभाग क्रमसे इस ही प्रकार देना चाहिये और सवर्णा स्त्रीसे उत्पन्न हुए पुत्रोंमें समान हिस्सा देना योग्य है। विना समन्त्रक संस्कार हुए शूद्रा स्त्रीके गर्भसे ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न हुए पुत्रको अब्राह्मण समझा जाता है। ब्राह्मणी, क्षत्रिया और वैश्याके गर्भसे ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न हुए सन्तान ब्राह्मण हुआ करते हैं। चार वर्ण ही शास्त्र सिद्ध हैं, इनसे भिन्न पांचवां वर्ण नहीं है, शूद्राका पुत्र

तत्तु दत्तं हरेत्पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ।
अवश्यं हि धनं देयं शूद्रापुत्राय भारत ॥ १९ ॥
आनृशंस्यं परो धर्म इति तस्मै प्रदीयते ।
यत्र तत्र समुत्पन्नं गुणायैवोपपद्यते ॥ २० ॥
यद्यप्येष सपुत्रः स्यादपुत्रो यदि वा भवेत् ।
नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय भारत ॥ २१ ॥
त्रैवार्षिकाद्यदा भक्तादधिकं स्याद् द्विजस्य तु ।
यजेत तेन द्रव्येण न वृथा साधयेद्धनम् ॥ २२ ॥
त्रिसहस्रपरो दायः स्त्रियै देयो धनस्य वै ।
भर्त्रा तच्च धनं दत्तं यथार्हं भोक्तुमर्हति ॥ २३ ॥
स्त्रीणां तु पतिदायाद्यमुपभोगफलं स्मृतम् ।
नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिवित्तात्कथंचन ॥ २४ ॥
स्त्रियास्तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं युधिष्ठिर ।
ब्राह्मण्यास्तद्धरेत्कन्या यथा पुत्रस्तथा हि सा ॥ २५ ॥
सा हि पुत्रसमा राजन्विहिता कुरुनन्दन ।

पितृधनमेंसे दसवां हिस्सा पावेगा शूद्रापुत्रको पिता जो कुछ दे, वह उसे ही लेवे । बिना दी हुई वस्तुको न ले सकेगा । हे भारत ! शूद्रापुत्रको अवश्य धन दान करना उचित है, अनृशंसता ही परम धर्म है, इस ही निमित्त उसे देना पडता है। अनृशंसता जिस स्थानमें अनुष्ठित होती है, वहांपर ही गुणकी हेतु हुआ करती है। (१९-२०)

हे भारत ! ब्राह्मण चाहे सपुत्र हो अथवा पुत्ररहित ही हो; शूद्रापुत्रको दसवें भागसे अधिक न देवे । ब्राह्मणके समीप त्रैवार्षिक अन्नसे जब अधिक धन इकट्ठा हो, तो उस ही धनसे यज्ञ करना होगा, यज्ञादि प्रयोजनके अतिरिक्त धनको वृथा व्यय करना योग्य नहीं है। अधिक वित्तवाला पुरुष भी स्त्रीको तीन सहस्रसे ज्यादा धन न देवे । पति भार्याको जो धन देता है, पत्नी यदि पतिको उस धनको भोगने न दे, तो वह उसे भोग नहीं कर सकता, स्त्री पतिके धन केवल उपभोग करें, किसी भांति विनष्ट न कर सकेगी । हे युधिष्ठिर ! स्त्रियोंके समीप पिताका दिया हुआ जो धन रहे, ब्राह्मणीका होनेपर उसे कन्या लेगी, क्यों कि जैसा पुत्र है, कन्या भी उस ही भांति है। हे कुरुनन्दन भरतश्रेष्ठ महाराज! कन्या पुत्रके

एवमेव समुद्दिष्टो धर्मो वै भरतर्षभ।
एवं धर्ममनुस्मृत्य न वृथा साधयेद्धनम् ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच– शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो यद्यदेयधनः स्मृतः।
केन प्रतिविशेषेण दशमोऽप्यस्य दीयते ॥ २७ ॥
ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः।
क्षत्रियायां तथैव स्याद्वैश्यायामपि चैव हि ॥ २८ ॥
कस्मात्तु विषमं भागं भजेरन्नृपसत्तम।
यदा सर्वे त्रयो वर्णास्त्वयोक्ता ब्राह्मणा इति ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच– दारा इत्युच्यते लोके नाम्नैकेन परन्तप।
प्रोक्तेन चैव नाम्नाऽयं विशेषः सुमहान्भवेत् ॥ ३० ॥
तिस्रः कृत्वा पुरो भार्याः पश्चाद्विन्देत ब्राह्मणीम्।
सा ज्येष्ठा सा च पूज्या स्यात्सा च भार्या गरीयसी ॥३१॥
स्नानं प्रसाधनं भर्तुर्दन्तधावनमञ्जनम्।
हव्यं कव्यं च यच्चान्यद्धर्मयुक्तं गृहे भवेत् ॥ ३२ ॥
न तस्यां जातु तिष्ठन्त्यामन्या तत्कर्तुमर्हति।

समान कही गई है और ऐसा ही धर्म पूरी रीतिसे निर्दिष्ट है, इसलिये इस धर्मको स्मरण करके धनको वृथा संपादन न करे। (२१-२६)

युधिष्ठिर बोले, शूद्राके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्रको यदि धन अदेय है, तो किस प्रकारकी विशेषतासे उसे दसवां हिस्सा दिया जाता है। ब्राह्मणी स्त्रीमें ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ पुत्र निःसन्देह ब्राह्मण होता है, क्षत्रिया और वैश्याके गर्भसे ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न हुआ सन्तान भी वैसा ही है। हे नृपसत्तम! इससे जब आपने इन तीनों वर्णोंको ब्राह्मण कहा है, तब ये किस लिये न्यून हिस्सा भोग करेंगे? (२७—२९)

भीष्म बोले, हे परन्तप! लोकसमाजके बीच धर्म कामकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके आदरकी पात्र दारा हैं, इस ही एक मात्र नामसे भार्या नाम कहा जाता है, पहले कहे हुए नामसे यही अत्यन्त महान् विशेषता होती है, कि यदि ब्राह्मण पहले क्षत्रिया आदि तीन भार्याके साथ पाणिग्रहण करके पश्चात् ब्राह्मणीके सङ्ग विवाह करे, तब वह ब्राह्मणी कनिष्ठा होनेपर भी पितृगौरवके कारण जेठी पूजनीय तथा गरीयसी भार्या होती है। पतिके स्नान, प्रसाधन, दन्तधावन, अञ्जन और हव्य-

ब्राह्मणी त्वेव कुर्याद्वा ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥
अन्नं पानं च माल्यं च वासांस्याभरणानि च ।
ब्राह्मण्यैतानि देयानि भर्तुः सा हि गरीयसी ॥ ३४ ॥
मनुनाभिहितं शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन ।
तत्राप्येष महाराज दृष्टो धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥
अथ चेदन्यथा कुर्याद्यदि कामाद्युधिष्ठिर ।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ३६ ॥
ब्राह्मण्याः सदृशः पुत्रः क्षत्रियायाश्च यो भवेत् ।
राजन्विशेषो यस्त्वत्र वर्णयोरुभयोरपि ॥ ३७ ॥
न तु जात्या समा लोके ब्राह्मण्याः क्षत्रिया भवेत् ।
ब्राह्मण्याः प्रथमः पुत्रो भूयान्स्याद्राजसत्तम ॥ ३८ ॥
भूयो भूयोऽपि संहार्यः पितृवित्ताद्युधिष्ठिर ।
यथा न सदृशी जातु ब्राह्मण्याः क्षत्रिया भवेत् ॥ ३९ ॥
क्षत्रियायास्तथा वैश्या न जातु सदृशी भवेत् ।
श्रीश्च राज्यं च कोशश्च क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ॥ ४० ॥

कृत्य आदि जो कुछ धर्मकार्य गृहमें करना योग्य हो, ब्राह्मणी घरमें उपस्थित रहते, क्षत्रिया प्रभृति दूसरी स्त्रियें उसे कदापि नहीं कर सकतीं। ३०–३३

हे युधिष्ठिर! ब्राह्मणीही ब्राह्मणके उन सब कार्योंको निबाहेगी, ब्राह्मणी ही पतिको अन्न, पान, वस्त्र, आभूषण और माला आदि देगी, क्योंकि वह पतिकी गरीयसी भार्या है। हे कुरुनन्दन महाराज! जो शास्त्र मनुके द्वारा वर्णित हुआ है, उसमें भी यही सनातन धर्म दीख पडता है। हे युधिष्ठिर! यदि कोई इसमें स्वेच्छापूर्वक अन्यथाचरण करे, तो पहले कहे हुए ब्राह्मण-क्षेत्रमें शूद्रसे उत्पन्न हुआ जैसा ब्राह्मण चण्डाल होता है, कर्मवशसे वह भी वैसा ही हो जाता है। (३३-३६)

हे राजन्! क्षत्रियाका पुत्र ब्राह्मणीके पुत्रके समान है, परन्तु दोनोंमें वर्णगत विशेषता रहती है, जगत्के बीच जातिमें क्षत्रिया ब्राह्मणीके समान नहीं होसकती। हे राजसत्तम युधिष्ठिर ब्राह्मणीका पुत्र पहला तथा जेठा होता है और वह पितृधनमेंसे अधिक अंश पानेका अधिकारी है, जैसे क्षत्रिया कभी ब्राह्मणीके समान नहीं होसकती, वैसे ही वैश्याभी कदापि क्षत्रियाके सदृश नहीं है। हे युधिष्ठिर! राज्य, सम्पत्ति,

विहितं दृश्यते राजन्सागरान्तां च मेदिनीम् ।
क्षत्रियो हि स्वधर्मेण श्रियं प्राप्नोति भूयसीम् ॥ ४१ ॥
राजा दण्डधरो राजन् रक्षा नान्यत्र क्षत्रियात् ।
ब्राह्मणा हि महाभागा देवानामपि देवताः ।
तेषु राजन्प्रवर्तेत पूजया विधिपूर्वकम् ॥ ४२ ॥
प्रणीतमृषिभिर्ज्ञात्वा धर्मं शाश्वतमव्ययम् ।
लुप्यमानं स्वधर्मेण क्षत्रियो ह्येष रक्षति ॥ ४३ ॥
दस्युभिर्ह्रियमाणं च धनं दारांश्च सर्वशः ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता भवति पार्थिवः ॥ ४४ ॥
भूयान्स्यात्क्षत्रियापुत्रो वैश्यापुत्रान्न संशयः ।
भूयस्तेनापि हर्तव्यं पितृवित्ताद्युधिष्ठिर ॥ ४५ ॥
युधिष्ठिर उवाच– उक्तं ते विधिवद्राजन्ब्राह्मणस्य पितामह ।
इतरेषां तु वर्णानां कथं वै नियमो भवेत् ॥ ४६ ॥
भीष्म उवाच– क्षत्रियस्यापि भार्ये द्वे विहिते कुरुनन्दन ।
तृतीया च भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ४७ ॥

खजाना और सागरमेखला पृथिवी क्षत्रियोंके ही निमित्त विहित हुई दीख पडती है, क्यों कि क्षत्रिय निज धर्मके सहारे बहुत सी सम्पत्ति प्राप्त करता है। (३७—४१)

हे राजन् ! क्षत्रिय ही राजदण्ड धारण करता है, क्षत्रियके अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुष रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। महाभाग ब्राह्मणवृन्द देवताओंके भी देवता हैं। हे राजन् ! ऋषियोंके प्रणीत शाश्वत अव्यय धर्मकी आलोचना करके विधिपूर्वक ब्राह्मणोंकी पूजा करनेमें प्रवृत्त रहे। डाकुओंसे धन लुटे जाने तथा स्त्री हरी जानेपर क्षत्रिय ही सब भांतिसे उसकी रक्षा किया करता है, राजा ही सब वर्णोंका त्राणकर्त्ता होता है; इसलिये वैश्याके पुत्रसे क्षत्रियाके पुत्रकी श्रेष्ठताके विषयमें सन्देह नहीं है। हे युधिष्ठिर ! पूर्वोक्त कारणसे ही क्षत्रियाका पुत्र पितृधनमेंसे वैश्यापुत्रसे अधिक हिस्सा लेगा। (४२—४५)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! आपने ब्राह्मणके दायविभागके नियम विधिपूर्वक कहे, दूसरे लोगोंके विषयमें उक्त नियम किस प्रकारका होगा ? (४६)

भीष्म बोले, हे कुरुनन्दन ! क्षत्रियके निमित्त क्षत्रिया और वैश्या, येही दो

एष एव क्रमो हि स्यात्क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ।
अष्टधा तु भवेत्कार्यं क्षत्रियस्य जनाधिप ॥ ४८ ॥
क्षत्रियाया हरेत्पुत्रश्चतुरोंऽशान्पितुर्धनात् ।
युद्धावहारिकं यच्च पितुः स्यात्स हरेत्तु तत् ॥ ४९ ॥
वैश्यापुत्रस्तु भागांस्त्रीन् शूद्रापुत्रस्तथाऽष्टमम् ।
सोऽपि दत्तं हरेत्पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ॥ ५० ॥
एकैव हि भवेद्भार्या वैश्यस्य कुरुनन्दन ।
द्वितीया तु भवेच्छूद्रा न तु दृष्टान्ततः स्मृता ॥ ५१ ॥
वैश्यस्य वर्तमानस्य वैश्यायां भरतर्षभ ।
शूद्रायां चापि कौन्तेय तयोर्विनियमः स्मृतः ॥ ५२ ॥
पञ्चधा तु भवेत्कार्यं वैश्यस्वं भरतर्षभ ।
तयोरपत्ये वक्ष्यामि विभागं च जनाधिप ॥ ५३ ॥
वैश्यापुत्रेण हर्तव्याश्चत्वारोंऽशाः पितुर्धनात् ।
पञ्चमस्तु स्मृतो भागः शूद्रापुत्राय भारत ॥ ५४ ॥
सोऽपि दत्तं हरेत्पित्रा नादत्तं हर्तुमर्हति ।

भार्या विहित हैं; तीसरी शूद्रा भार्या शास्त्रके अनुसार सम्भव नहीं होती, तब केवल कामभोगके लिये हुआ करती है। हे प्रजानाथ युधिष्ठिर ! क्षत्रियोंके दायविभागका यह नियम है, कि क्षत्रियस्व आठ हिस्सेमें विभक्त करना होगा, क्षत्रियाका पुत्र उस पितृ-धनमेंसे चार हिस्सा ग्रहण करे और पितासे रथ, हाथी, घोडे आदि जो कुछ युद्धकी उपयोगी वस्तु हों, उन्हें भी वही लेगा। वैश्याका पुत्र तीन भाग और शूद्राका पुत्र एक हिस्सा पावेगा, अन्यथा उसे अदत्त धन ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं है। हे कुरु-नन्दन ! वैश्य जातिके लिये एक ही भार्या विहित है, दूसरी शूद्रा भार्या शास्त्रके अनुसार नहीं होसकती, किन्तु काम क्रीडाके निमित्त हुआ करती है। हे भरतश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र ! वैश्या अथवा शूद्रा पत्नीमें वर्त्तमान वैश्यका समान नियम न होगा। हे प्रजानाथ भरतर्षभ ! वैश्यस्वको पांच हिस्सेमें विभक्त करना होगा। वैश्या और शूद्रा सन्तानके विषयमें जैसा हिस्सा मिलेगा, वह कहता हूं। (४७—५३)

हे भारत ! वैश्यका पुत्र पितृधनमेंसे चार हिस्सा लेगा और शूद्रासन्तानके लिये केवल पांचवां भाग कहा गया

त्रिभिर्वर्णैः सदा जातः शूद्रोऽदेयधनो भवेत् ॥ ५५ ॥
शूद्रस्य स्यात्सवर्णैव भार्या नान्या कथंचन ।
समभागाश्च पुत्राः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ ५६ ॥
जातानां समवर्णायाः पुत्राणामविशेषतः ।
सर्वेषामेव वर्णानां समभागो धनात्स्मृतः ॥ ५७ ॥
ज्येष्ठस्य भागो ज्येष्ठः स्यादेकांशो यः प्रधानतः ।
एष दायविधिः पार्थ पूर्वमुक्तः स्वयंभुवा ॥ ५८ ॥
समवर्णासु जातानां विशेषोऽस्त्यपरो नृप ।
विवाहवैशिष्ट्यकृतः पूर्वपूर्वो विशिष्यते ॥ ५९ ॥
हरेज्ज्येष्ठः प्रधानांशमेकं तुल्यासुतेष्वपि ।
मध्यमो मध्यमं चैव कनीयांस्तु कनीयसम् ॥ ६० ॥
एवं जातिषु सर्वासु सवर्णः श्रेष्ठतां गतः ।
महर्षिरपि चैतद्वै मारीचः काश्यपोऽब्रवीत ॥ ६१ ॥ [२५३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे रिक्थविभागो नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

है। शूद्रापुत्र पिताका दिया हुआ धन ले और यदि पिता उसे न दे तो वह उसे हरण न कर सकेगा, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंके द्वारा उत्पन्न हुआ शूद्रापुत्र पितृधनका अधिकारी नहीं होता, तब पिता इच्छा करनेसे उसे केवल एक हिस्सा दे सकता है। शूद्रके लिये केवल सवर्ण भार्या हुआ करती है, किसी भांति दूसरी भार्या नहीं होती। उसके यदि सौ पुत्र भी हों, तथापि वे समान हिस्सा पावेंगे। (५४—५६)

समान वर्णवाली भार्याके गर्भसे उत्पन्न हुए सब पुत्र ही पितृधनके समभागी होंगे, किन्तु जेठे पुत्रकी प्रधानताके हेतु उसके लिये एक भाग पृथक् देना होगा, हे पार्थ! पहले स्वयम्भुके द्वारा यह विधि वर्णित हुई है। हे राजन्! सवर्णा भार्यासे उत्पन्न हुए पुत्रोंमें अन्य कुछ भी विशेष नहीं है, केवल विवाहकी विशिष्टतानिबन्धनसे पहले पहलेके पुत्रही श्रेष्ठ होते हैं, सवर्णा भार्यासे उत्पन्न हुए पुत्रोंके समान होने पर भी जेठा पुत्र प्रधान हिस्सा लेगा, मझला मध्यम अंश और छोटा पुत्र न्यून हिस्सा पावेगा। इस ही प्रकार सब जातिमें ही सवर्णज सन्तानोंको श्रेष्ठता प्राप्त हुई है, महर्षि

युधिष्ठिर उवाच- अर्थाल्लोभाद्वा कामाद्वा वर्णानां चाप्यनिश्चयात् ।
अज्ञानाद्वापि वर्णानां जायते वर्णसंकरः ॥ १ ॥
तेषामेतेन विधिना जातानां वर्णसंकरे ।
को धर्मः कानि कर्माणि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥
भीष्म उवाच- चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि चातुर्वर्ण्यं च केवलम् ।
असृजत्स हि यज्ञार्थे पूर्वमेव प्रजापतिः ॥ ३ ॥
भार्याश्चतस्रो विप्रस्य द्वयोरात्मा प्रजायते ।
आनुपूर्व्याद् द्वयोर्हीनौ मातृजात्यौ प्रसूयतः ॥ ४ ॥
परं शवाद्ब्राह्मणस्यैव पुत्रः शूद्रापुत्रं पारशवं तमाहुः ।
शुश्रूषकः स्वस्य कुलस्य स स्यात्स्वचारित्रं नित्यमथो न जह्यात् ॥५॥
सर्वानुपायानथ संप्रधार्य समुद्धरेत् स्वस्य कुलस्य तन्त्रम् ।

मरीचिके पुत्र कश्यपने ऐसा ही कहा है। (५७-६१)

अनुशासनपर्वमें ४७ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ४८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! लोभ अथवा कामवशसे तथा सब वर्णोंके निश्चय न होनेपर अर्थात् प्रसिद्ध है कि उत्तम वर्णवाली स्त्री नीचगामिनी होती है, इस ही कारण गूढोत्पत्ति सम्भव निबन्धनसे वर्णका निश्चय नहीं होता, तब वर्णको न जाननेसे वर्ण-संकरकी उत्पत्ति होती है। ऐसी ही विधिके अनुसार सङ्करवर्णमें उत्पन्न हुए पुरुषोंके लिये कौनसे धर्म और कर्म हैं? वह विषय आप मेरे समीप वर्णन करिये। (१-२)

भीष्म बोले, पहले समयमें प्रजापतिने यज्ञके निमित्त चारों वर्णोंके कर्म और केवल चारों वर्णोंको उत्पन्न किया था, तिसके बीच शूद्रके लिये साक्षात् सम्बन्धमें यज्ञकार्य नहीं है, सेवासे ही उसे सिद्धि प्राप्त हुआ करती है। ब्राह्मणोंके लिये चार भार्या हैं, उनमेंसे ब्राह्मणी पत्नीसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, वे ब्राह्मण हैं और क्षत्रिया भार्यासे जो पुत्र होते हैं, वे उनसे किञ्चित् हीन हैं; क्रमसे मातृजातीय वैश्याके पुत्र पहले कहे हुए दोनों पतियोंके पुत्रोंसे हीन कहे गये हैं। (३-४)

ब्राह्मणके द्वारा शूद्राके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह शव अर्थात् शवस्थान श्मशान तुल्य शूद्रसे परे अर्थात् श्रेष्ठ है, इस ही निमित्त पण्डित लोग शूद्रापुत्रको पारशव कहा करते हैं। वह पुत्र अपने कुलका सेवक होवे और सदा अपने चरित्रका परित्याग न करे।

ज्येष्ठो यवीयानपि यो द्विजस्य शुश्रूषया दानपरायणः स्यात् ॥ ६ ॥
तिस्रः क्षत्रियसंबन्धाद् द्वयोरात्माऽस्य जायते ।
हीनवर्णास्तृतीयायां शूद्रा उग्रा इति स्मृतिः ॥ ७ ॥
द्वे चापि भार्ये वैश्यस्य द्वयोरात्माऽस्य जायते ।
शूद्रा शूद्रस्य चाप्येका शूद्रमेव प्रजायते ॥ ८ ॥
अतोऽविशिष्टस्त्वधमो गुरुदारप्रधर्षकः ।
बाह्यं वर्णं जनयति चातुर्वर्ण्यविगर्हितम् ॥ ९ ॥
विप्रायां क्षत्रियो बाह्यं सूतं स्तोमक्रियापरम् ।
वैश्यो वैदेहकं चापि मौद्गल्यमपवर्जितम् ॥ १० ॥
शूद्रश्चाण्डालमत्युग्रं वध्यघ्नं बाह्यवासिनम् ।
ब्राह्मण्यां संप्रजायन्त इत्येते कुलपांसनाः ।
एते मतिमतां श्रेष्ठ वर्णसंकरजाः प्रभो ॥ ११ ॥
बन्दी तु जायते वैश्यान्मागधो वाक्यजीवनः ।

वह सब उपायका निश्चय करके अपने कुलकी सामग्रियोंका पूर्णरीतिसे उद्धार करे, पारशव ब्राह्मणसे अवस्थामें जेठा होनेपर भी ब्राह्मणके निकट कनिष्ठकी भांति व्यवहार करे और सेवाके सहित दानपरायण होवे। क्षत्रियकी तीनों भार्याके बीच क्षत्रिया और वैश्यासे क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न होता है और यह स्मरण है, कि शूद्रा पत्नीसे हीनवर्ण उग्रनाम शूद्रजाति उत्पन्न होती है। वैश्यके लिये दो भार्या हैं, दोनों स्त्रियोंसे ही वैश्यपुत्र जन्मता है। शूद्रके लिये केवल शूद्रा भार्या है, उससे शूद्रजातीय पुत्र उत्पन्न होता है। (५-८)

निज पितासे अविशिष्ट, अधम शूद्र यदि ब्राह्मणीगमन करे, तो चारों वर्णोंसे बहिर्भूत चाण्डाल आदि बाह्यवर्ण उत्पन्न किया करता है। क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे चारों वेदोंसे पृथक् राजाओंकी स्तुति करनेवाला सूत जातीय पुत्र उत्पन्न होता है। वैश्य ब्राह्मणीके गर्भसे अन्तःपुरके रक्षण-कार्य करनेवाले संस्काररहित वैदेह जातीय सन्तान उत्पन्न किया करता है। शूद्रके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे अत्यन्त उग्रस्वभाव वधार्ह चोर प्रभृतिके सिरको काटना प्रभृति कार्योंको करनेवाला और ग्रामके बाहिरी भागमें निवास करनेवाला चाण्डाल सन्तान उत्पन्न होता है, ये प्रतिलोम जात सब जातियें कुलपांसन हैं। (९-११)

हे मतिमान् विभु ! येही वर्णसङ्कर

शूद्रान्निषादो मत्स्यघ्नः क्षत्रियायां व्यतिक्रमात् ॥१२॥
शूद्रादायोगवश्चापि वैश्यायां ग्राम्यधर्मिणः ।
ब्राह्मणैरप्रतिग्राह्यस्तक्षा स्वधनजीवनः ॥ १३ ॥
एतेऽपि सदृशान् वर्णान् जनयन्ति स्वयोनिषु ।
मातृजात्याः प्रसूयन्ते ह्यवरा हीनयोनिषु ॥ १४ ॥
यथा चतुर्षु वर्णेषु द्वयोरात्मास्य जायते ।
आनन्तर्यात्प्रजायन्ते तथा बाह्याः प्रधानतः ॥ १५ ॥
ते चापि सदृशं वर्णं जनयन्ति स्वयोनिषु ।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ १६ ॥
यथा शूद्रोऽपि ब्राह्मण्यां जन्तुं बाह्यं प्रसूयते ।
एवं बाह्यतराद्बाह्यश्चातुर्वर्ण्यात्प्रजायते ॥ १७ ॥
प्रतिलोमं तु वर्धन्ते बाह्याद्बाह्यतरात्पुनः ।
हीनाद्धीनाः प्रसूयन्ते वर्णाः पञ्चदशैव तु ॥ १८ ॥
अगम्यागमनाच्चैव जायते वर्णसंकरः ।

जाति हैं । वैश्यके द्वारा क्षत्रिया स्त्रीसे वाक्यजीवी वन्दी मागध जातीय सन्तान जन्मता है । शूद्रके द्वारा क्षत्रियामें व्यतिक्रम होनेपर मत्स्यघाती निषाद सन्तान उत्पन्न होता है, वैश्यासे ग्राम्यधर्मविशिष्ट सन्तान जन्मता है, उसे अयोगव कहा जाता है, वह स्वधनजीवी तथा ब्राह्मणोंके अप्रतिग्राह्य है । अम्बष्ठ, पारशव, उग्र सूत, वैदेहक, चाण्डाल, मागध, निषाद और अयोगव, ये लोग स्वयोनि और अनन्तर योनि अर्थात् व्यवहित नीच योनिमें सदृशवर्ण तथा मातृजातीय सन्तान उत्पन्न करते हैं । चारों वर्णोंके बीच ब्राह्मणी आदि दो भार्यामें सजातीय सन्तान उत्पन्न होती है, स्वजातिके प्रधानताके अनुसार बाह्य वर्णोंकी उत्पत्ति हुआ करती है, वे भी स्वयोनिसे सदृश वर्णवाले सन्तान उत्पन्न करते हैं और परस्परमें अन्य स्त्रियोंसे निन्दनीय सन्तानोंका जन्म हुआ करता है । (११—१६)

जैसे शूद्रके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे अत्यन्त नीचवर्ण चाण्डाल उत्पन्न होता है, वैसे ही चारों वर्णोंसे पृथक् हीन वर्णोंसे अत्यन्त नीच वर्णों की उत्पत्ति हुआ करती है । हीन वर्णोंसे प्रतिलोमजात वर्णोंकी वृद्धि होती है । नीच वर्णसे दास आदि पन्द्रह निकृष्ट वर्ण उत्पन्न हुआ करते हैं । अगम्या-

वाह्यानामनुजायन्ते सैरन्ध्र्यां मागधेषु च।
प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ॥ १९ ॥
अतश्चायोगवं सूते वागुराबन्धजीवनम्।
मैरेयकं च वैदेहः संप्रसूतेऽथ माधुकम् ॥ २० ॥
निषादो मद्गुरं सूते दासं नावोपजीविनम्।
मृतपं चापि चाण्डालः श्वपाकमिति विश्रुतम् ॥ २१ ॥
चतुरो मागधी सूते क्रूरान्मायोपजीविनः।
मांसं स्वादुकरं क्षौद्रं सौगन्धमिति विश्रुतम् ॥ २२ ॥
वैदेहकाच्च पापिष्ठा क्रूरं मायोपजीविनम्।
निषादान्मद्रनाभं च खरयानप्रयायिनम् ॥ २३ ॥
चाण्डालात्पुल्कसं चापि खराश्वगजभोजिनम्।
मृतचैलप्रतिच्छन्नं भिन्नभाजनभोजिनम् ॥ २४ ॥
आयोगवीषु जायन्ते हीनवर्णास्तु ते त्रयः।

गमन निबन्धनसे वर्णसङ्करोंकी उत्पत्ति होती है। चारों वर्णोंसे पृथक् सब वर्णोंके बीच सैरन्ध्री और मागध जातिसे राजाओंसे प्रसाधन कार्यज्ञ तथा दिव्य अङ्गराग घर्षण और स्तुति आदिसे सन्तुष्ट करनेवाला अदास वा दास-जीवन जाति उत्पन्न होती है। मागध-विशेषसे सैरन्ध्रयोनिमें वागुराबन्धजीवी अयोगव जातिकी उत्पत्ति होती है। मागधीमें वैदेहके द्वारा मद्यकर मैरेयक नामकी सन्तान उत्पन्न हुआ करती है। (१७—२०)

निषाद जातिसे मद्गुर अर्थात् मदगुनाम मत्स्योपजीवी नौकोपजीवी दास सन्तान उत्पन्न होती है और चाण्डाल श्वपाक नामसे विख्यात मृतप अर्थात् श्मशानाधिकारी सन्तान उत्पन्न किया करता है। मागधीसे वागुरोपजीवी चार प्रकारके क्रूर पुत्र उत्पन्न होते हैं, उनका कार्य मांस बेचना है। और मांस संस्कारवशसे उनका मांस तथा स्वादुकर नाम हुआ है। अन्य दो क्षौद्र और सौगन्ध नामसे वर्णित हुए हैं, इसलिये मागध जातिके निमित्त चार प्रकारकी वृत्ति निर्दिष्ट हुई है। (२१—२२)

अयोगवीसे पापी वैदेहके द्वारा मायोपजीवी, क्रूर निषादके द्वारा गधेके सवारी पर चलनेवाले मद्रनाभ और चांडालके द्वारा गऊ घोड़े तथा हाथियोंके मांस खानेवाली पुल्कश जाति उत्पन्न हो-ती है, यह जाति मृतकका वस्त्र पहिरती

क्षुद्रो वैदेहकादन्ध्रो बहिर्ग्रामप्रतिश्रयः ॥ २५ ॥
कारावरो निषाद्यां तु चर्मकारः प्रसूयते ।
चाण्डालात्पाण्डुसौपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ॥२६॥
आहिण्डको निषादेन वैदेह्यां संप्रसूयते ।
चण्डालेन तु सौपाकश्चण्डालसमवृत्तिमान् ॥ २७ ॥
निषादी चापि चाण्डालात्पुत्रमन्तेवसायिनम् ।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यैरपि बहिष्कृतम् ॥ २८ ॥
इत्येते संकरे जाताः पितृमातृव्यतिक्रमात् ।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ।
चतुर्णामेव वर्णानां धर्मो नान्यस्य विद्यते ॥ २९ ॥
वर्णानां धर्महीनेषु संख्या नास्तीह कस्यचित् ॥ ३० ॥

और भिन्न पात्रमें भोजन किया करती है, अयोगवीसे तीन नीच वर्ण उत्पन्न होते हैं। निषादीसे वैदेहके द्वारा क्षुद्र, अन्ध्र और जङ्गली पशुओंके मांससे जीविका निबाहनेवाले कौमार नामक चर्मकार, ये तीन प्रकारके पुत्र उत्पन्न होते हैं, ये लोग ग्रामसे बाहिरी हिस्सेमें निवास किया करते हैं। निषादीके गर्भसे चर्मकारके द्वारा कारावर और चाण्डालसे वेणुव्यवहारोपजीवी पाण्डुसौपाकजाति उत्पन्न होती है। (२२-२६)

वैदेहीके गर्भसे निषादके द्वारा आहिण्डक नाम पुत्र उत्पन्न होता है। चाण्डालके द्वारा सौपाकीमें चाण्डालसदृश व्यवहारयुक्त पुत्र उत्पन्न हुआ करता है, निषादीके गर्भसे चाण्डालके द्वारा बाह्यवर्णोंसे पृथक् श्मशानवासी अन्तेवसायी सन्तान उत्पन्न होती है। माता पिताके रद्-बदलसे येही सब सङ्कर जाति उत्पन्न होती हैं। ये चाहे छिपी रहें अथवा प्रकाशभावसे ही रहें, इन्हें इनके स्वकर्मके सहारे जाना जाता है। शास्त्रमें ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके धर्म कहे गये हैं, अन्य धर्म हीनजाति भेदके बीच किसीके धर्मका नियम अथवा विधि नहीं है। (२७—२९)

ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंसे छः अनुलोमजात और छः विलोमजात हुए हैं। इन बारह प्रकारके संकीर्ण वर्णोंसे छाछठ अनुलोम और छाछठ प्रतिलोम हुए हैं; इसके अतिरिक्त एक सौ बत्तीस वर्णसङ्कर जाति हुई हैं, फिर उनके अनुलोम और प्रतिलोमकी गिनती करनेसे अनन्त भेद होजाते हैं, इसलिये इनमें ही प्रागुक्त पन्द्रह भेदके बीच अन्तर्भाव हुआ करता है, इस ही लिये

यदृच्छयोपसंपन्नैर्यज्ञसाधुबहिष्कृतैः ।
बाह्या बाह्यैश्च जायन्ते यथावृत्ति यथाश्रयम् ॥ ३१ ॥
चतुष्पथश्मशानानि शैलांश्चान्यान्वनस्पतीन् ।
कार्ष्णायसमलंकारं परिगृह्य च नित्यशः ॥ ३२ ॥
वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ।
युञ्जन्तो वाप्यलंकारांस्तथोपकरणानि च ॥ ३३ ॥
गोब्राह्मणाय साहाय्यं कुर्वाणा वै न संशयः ।
आनृशंस्यमनुक्रोशः सत्यवाक्यं तथा क्षमा ॥ ३४ ॥
स्वशरीरैरपि त्राणं बाह्यानां सिद्धिकारणम् ।
भवन्ति मनुजव्याघ्र तत्र मे नास्ति संशयः ॥ ३५ ॥
यथोपदेशं परिकीर्तितासु नरः प्रजायेत विचार्य बुद्धिमान् ।
निहीनयोनिर्हि सुतोऽवसादयेत्तितीर्षमाणं हि यथोपलो जले ॥ ३६ ॥
अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
नयन्ति ह्युत्पथं नार्यः कामक्रोधवशानुगम् ॥ ३७ ॥
स्वभावश्चैव नारीणां नराणामिह दूषणम् ।

सबकी संख्या नहीं कही गई। यदृच्छाक्रम अर्थात् जातिका नियम न रहनेपर मिथुनीभावसे प्राप्त यज्ञ तथा साधुओंसे पृथक् बाह्य सब वर्णसङ्कर जातियें स्वेच्छानुरूप कर्मके अनुसार जीविका और जाति विशेषको प्राप्त हुआ करती हैं। (३०—३१)

ये चतुष्पथ, श्मशान, पर्वत और वृक्षोंके निकट सदा लोहमयी काले आभूषणोंको पहरकर निज कर्मोंसे जीविका निर्वाह करती हुई सबकी जानकारीमें वास करें, आभूषण और गृहके योग्य सब सामग्री तैयार करती रहें; वे सब गऊ और ब्राह्मणोंकी निःसन्देह सहायता करेंगी। अनृशंसता, दया, सत्यवचन, क्षमा और निज शरीरसे विपदमें पडे हुए लोगोंको उबारना बाह्य वर्णोंकी सिद्धिका कारण है। हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस विषयमें मुझे सन्देह नहीं है। (३२—३५)

बुद्धिमान् मनुष्य उपदेशके अनुसार कही हुई हीनजातिको विचारके पुत्र उत्पन्न करे, क्यों कि जैसे जलमें तैरनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको भंवर अवसन्न करती है, वैसे ही अत्यन्त हीनयोनिमें उत्पन्न हुआ पुत्र वंशको नष्ट किया करता है। इस लोकमें स्त्रियें विद्वान अथवा अविद्वान पुरुषोंको काम-

अत्यर्थं न प्रसज्जन्ते प्रमदासु विपश्चितः ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—वर्णापेतमविज्ञाय नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कथं विद्यामहे वयम् ॥ ३९ ॥

भीष्म उवाच—योनिसङ्कलुषे जातं नानाभावसमन्वितम् ।
कर्मभिः सज्जनाचीर्णैर्विज्ञेया योनिशुद्धता ॥ ४० ॥
अनार्यत्वमनाचारः क्रूरत्वं निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ४१ ॥
पित्र्यं वा भजते शीलं मातृजं वा तथोभयम् ।
न कथंचन संकीर्णः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ४२ ॥
यथैव सदृशो रूपे मातापित्रोर्हि जायते ।
व्याघ्रश्चित्रैस्तथा योनिं पुरुषः स्वां नियच्छति ॥ ४३ ॥
कुले स्रोतसि संच्छन्ने यस्य स्याद्योनिसङ्करः ।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमथवा बहु ॥ ४४ ॥
आर्यरूपसमाचारं चरन्तं कृतके पथि ।

क्रोधके वशमें करके अति ही कुपथमें ले जाती हैं। स्त्रियोंका स्वभाव ही दोषकी खान है, इसलिये विपश्चित् पुरुष स्त्रियों में अधिक आसक्त नहीं होते। (३६-३८)

युधिष्ठिर बोले, पापयोनिमें उत्पन्न हुए पुरुषको विशेष रीतिसे जानके श्रेष्ठ गृहमें जन्मनेसे आर्यरूपी तथा उत्पत्तिवशसे अनार्य पुरुषको हम किस प्रकार जाननेमें समर्थ होंगे। (३९)

भीष्म बोले, अनार्योंके पृथक् पृथक् भाव तथा चेष्टायुक्त मनुष्योंको सङ्करयोनिज जानना चाहिये और सज्जनोंके आचरित कर्मके सहारे योनि-शुद्धता जाने। इस लोकमें अनार्यता, अनाचार, क्रूरता और निष्क्रियात्मता दूषित योनिमें उत्पन्न हुए पुरुषको प्रकाशित कर देती है। नीचजाति पितृस्वभाव अथवा माताके चरित्र तथा पिता माता दोनोंके ही स्वभावको प्राप्त होता है, वह कदापि निज प्रकृतिको गुप्त नहीं रख सकता। जैसे तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुए व्याघ्र आदि विचित्र वर्णके सहित माता पिताके रूपसदृश होके जन्मते हैं, वैसे ही पुरुष निज योनिको प्राप्त होता है। (४०—४३)

वंशस्रोतके डगमगानेपर जिसकी योनिसङ्कर होती है, वह मनुष्य जिस पुरुषके औरससे उत्पन्न होता है, उसके थोडे अथवा अधिक चरित्र अवश्य ही

सुवर्णमन्यवर्णं वा स्वशीलं शास्ति निश्चये ॥ ४५ ॥
नानावृत्तेषु भूतेषु नानाकर्मरतेषु च।
जन्म वृत्तसमं लोके सुश्लिष्टं न विरज्यते ॥ ४६ ॥
शरीरमिह सत्त्वेन न तस्य परिकृष्यते।
ज्येष्ठमध्यावरं सत्त्वं तुल्यसत्त्वं प्रमोदते ॥ ४७ ॥
ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत्।
अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत् ॥ ४८ ॥
आत्मानमाख्याति हि कर्मभिर्नरः सुशीलचारित्रकुलैः शुभाशुभैः।
प्रनष्टमप्याशु कुलं तथा नरः पुनः प्रकाशं कुरुते स्वकर्मतः ॥ ४९ ॥
योनिष्वेतासु सर्वासु सङ्कीर्णास्वितरासु च।
यत्रात्मानं न जनयेद् बुधस्तां परिवर्जयेत् ॥ ५० ॥ [२५८१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे विवाहधर्मे वर्णसंकरकथने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

उसमें दीख पडते हैं। आर्यरूपसे कृत्रिम पथमें विचरनेवाले पुरुषके उत्तम वा निकृष्ट वर्णके निश्चय विषयमें उसके स्वभाव ही उसे प्रकाश करते हैं। जैसे सुवर्ण कठिन होनेपर भी कार्यके समय कोमल होता है और दुर्वर्ण अर्थात् रूपा जैसे सदा कोमल रहके भी कार्यके समय कठोर हो जाता है, सुजात और कुजात पुरुषोंके चरित्र भी वैसे ही हैं। विविध कर्मोंमें रत, अनेक प्रकारके जीवोंके चरित्र उपचित व्यवहारको परित्याग करके अन्यथा रूपसे निवास करता है। (४४-४६)

सङ्करवर्ण चरित्र शास्त्रीय बुद्धिके सहारे आकृष्ट नहीं होते, बीजगुणकी प्रबलताके कारण कालभेदसे बुद्धिवृत्ति-की प्रधानता होनेपर भी शरीरकी ज्येष्ठता, मध्यता और अवरताके अनुसार जो तुल्य होता है, वही आनन्दित हुआ करता है, अन्य स्वत्व उत्पन्न होते ही शरत्कालके बादलकी भांति लीन होजाते हैं। वर्णज्येष्ठ पुरुष यदि सदाचारसे रहित हो, तो उसका सम्मान करना योग्य नहीं और शूद्र यदि सदाचारसे युक्त तथा धर्मज्ञ हो, तो उसका सम्मान करना चाहिये। (४७—४८)

मनुष्य शुभाशुभ कर्म, सुशीलता, सच्चरित्र और कुलके द्वारा अपनेको प्रकाशित करता है, कुल नष्ट होनेपर पुरुष निज कर्मके सहारे फिर शीघ्र ही उसका उद्धार किया करता है। इन सब सङ्कीर्ण और इतर योनियोंके बीच

युधिष्ठिर उवाच-ब्रूहि तात कुरुश्रेष्ठ वर्णानां त्वं पृथक् पृथक्।
कीदृश्यां कीदृशाश्चापि पुत्राः कस्य च के च ते॥ १॥
विप्रवादाः सुबहवः श्रूयन्ते पुत्रकारिताः।
अत्र नो मुह्यतां राजन्संशयं छेत्तुमर्हसि ॥ २॥
भीष्म उवाच-आत्मा पुत्रश्च विज्ञेयस्तस्यानन्तरजश्च यः।
निरुक्तजश्च विज्ञेयः सुतः प्रसृतजस्तथा ॥ ३॥
पतितस्य तु भार्याया भर्त्रा सुसमवेतया।
तथा दत्तकृतौ पुत्रावध्यूढश्च तथाऽपरः ॥ ४॥
षडपध्वंसजाश्चापि कानीनापसदास्तथा।
इत्येते वै समाख्यातास्तान्विजानीहि भारत ॥ ५॥
युधिष्ठिर उवाच- षडपध्वंसजाः के स्युः के वाप्यपसदास्तथा।

जिससे सन्तान उत्पन्न करना योग्य न हो, पण्डित पुरुष वैसी स्त्रीको परित्याग करें। (४९—५०)

अनुशासनपर्वमें ४८ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ४९ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतकुलश्रेष्ठ! आप सब वर्णोंके पृथक् पृथक् विषय वर्णन करिये। कैसी पत्नीसे कैसे पुत्र होंगे। वे सब पुत्र किसके तथा क्या कहे जायगे? हे राजन्! पुत्र विषयमें विविध प्रवाद सुना जाता है, इसहीसे इस विषयमें हम मुग्ध होते हैं, इसलिये आप ही हमारे सन्देहको छुडाने योग्य हैं। (१-२)

भीष्म बोले, आत्मा ही पुत्र रूपसे कहा गया है, उसके बीच अनन्तरज (औरस)। निज क्षेत्रमें दूसरेको वीर्य डालनेके लिये नियुक्त करनेपर उससे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे निरुक्तज जानो और अनिरुक्त अर्थात् नियुक्त न होने पर भी कोई यदि चपलताईसे दूसरेके क्षेत्रमें वीर्य डाले, तो उससे जो सन्तान उत्पन्न हो, उसका नाम प्रसृतज है। निज भार्यामें पतित पुरुषके द्वारा उत्पन्न हुआ पुत्र, दत्तक, मोल लिया हुआ और अध्यूढ अर्थात् जिसकी माता गर्भवती होनेपर व्याही गई थी, वह और नीचे कहे हुए छः प्रकारके अपध्वंसज कानीन अर्थात् विवाहके पहले कन्याके गर्भसे उत्पन्न सन्तान तथा छः प्रकारके अपसद, येही बीस प्रकारकी सन्तान कही जाती हैं। हे भारत! इसलिये उन्हें विशेष-रीतिसे मालूम करो। (३-५)

युधिष्ठिर बोले, छः प्रकारके अपध्वंसज कौन हैं और छः प्रकारके अपसद

एतत्सर्वं यथातत्त्वं व्याख्यातुं मे त्वमर्हसि ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच— त्रिषु वर्णेषु ये पुत्रा ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर।
वर्णयोश्च द्वयोः स्यातां यौ राजन्यस्य भारत ॥ ७ ॥
एको विड्वर्ण एवाथ तथाऽत्रैवोपलक्षितः।
षडपध्वंसजास्ते हि तथैवापसदान् शृणु ॥ ८ ॥
चाण्डालो व्रात्यवेद्यौ च ब्राह्मण्यां क्षत्रियासु च।
वैश्यायां चैव शूद्रस्य लक्ष्यन्तेऽपसदास्त्रयः ॥ ९ ॥
मागधो वामकश्चैव द्वौ वैश्यस्योपलक्षितौ।
ब्राह्मण्यां क्षत्रियायां च क्षत्रियस्यैक एव तु ॥ १० ॥
ब्राह्मण्यां लक्ष्यते सूत इत्येतेऽपसदाः स्मृताः।
पुत्रा ह्येते न शक्यन्ते मिथ्या कर्तुं नराधिप ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच- क्षेत्रजं केचिदेवाहुः सुतं केचित्तु शुक्रजम्।
तुल्यावेतौ सुतौ कस्य तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच- रेतजो वा भवेत्पुत्रस्त्यक्तो वा क्षेत्रजो भवेत्।

ही किनके होते हैं, वह आपको कहना उचित है, मेरे समीप इस विषयकी यथार्थ रीतिसे व्याख्या करिये। (६)

भीष्म बोले, हे भारत युधिष्ठिर! ब्राह्मणसे अन्य तीन वर्णोंमें अनुलोम-जात जो तीन प्रकारकी सन्तान होती हैं, क्षत्रियसे अन्य दो वर्णोंमें अनुलोम-जात दो प्रकारकी सन्तान हुआ करती हैं और वैश्यसे दूसरे वर्णसे जो एक प्रकारकी सन्तान जन्मती हैं, इन छहोंको अपध्वंसज जानो; अब अपसद-का विषय सुनो। शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुई सन्तान चाण्डाल, क्षत्रियामें व्रात्य अर्थात् संस्काररहित और वैश्यामें वैद्य, ये तीन प्रकारके अपसद जाने जाते हैं, फिर वैश्यके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे मागध तथा क्षत्रियासे वामक ये दो, सन्तान दीख पडती हैं, और क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे केवल अकेला सूत जातीय सन्तान दीखता है, इसलिये येही छः प्रकारकी सन्तान अपसद नामसे वर्णित हुए हैं। हे नरनाथ! इन्हें सन्तान मिथ्या करने अर्थात् ये सन्तान नहीं हैं, ऐसा कोई भी नहीं कह सकता। (७-११)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! किसी किसी सन्तानको क्षेत्रज और किसी किसीको शुक्रज कहते हैं, ये सन्तानत्व रूपसे तुल्य होनेपर भी किसके कहाते हैं, इसे ही आप मेरे समीप वर्णन

अध्यूढः समयं भित्त्वेत्येतदेव निबोध मे ॥ १३ ॥
युधिष्ठिर उवाच- रेतजं विद्म वै पुत्रं क्षेत्रजस्यागमः कथम् ।
अध्यूढं विद्म वै पुत्रं भित्त्वा तु समयं कथम् ॥ १४ ॥
भीष्म उवाच- आत्मजं पुत्रमुत्पाद्य यस्त्यजेत्कारणान्तरे ।
न तत्र कारणं रेतः स क्षेत्रस्वामिनो भवेत् ॥ १५ ॥
पुत्रकामो हि पुत्रार्थे यां वृणीते विशाम्पते ।
क्षेत्रजं तु प्रमाणं स्यान्न वै तत्रात्मजः सुतः ॥ १६ ॥
अन्यत्र क्षेत्रजः पुत्रो लक्ष्यते भरतर्षभ ।
न ह्यात्मा शक्यते हन्तुं दृष्टान्तोपगतो ह्यसौ ॥ १७ ॥
कश्चिच्च कृतकः पुत्रः संग्रहादेव लक्ष्यते ।
न तत्र रेतः क्षेत्रं वा यत्र लक्ष्येत भारत ॥ १८ ॥

करिये। (१२)

भीष्म बोले, रेतज अर्थात् औरस और बीजके लिये परित्यक्त पत्नीसे जो सन्तान होती है, वह क्षेत्रज है, औरस तथा क्षेत्रज सन्तान तुल्य हैं, और नियम भङ्ग करके गर्भवतीको ब्याहने-पर उससे जो सन्तान होती है, उसे अध्यूढ कहा जाता है, मेरे समीप इस विषयको सुनो। (१३)

युधिष्ठिर बोले, हम औरस सन्तान-को ही सन्तान कहके जानते हैं, परन्तु सन्तानके विषयमें सन्तानत्व किस प्रकार सिद्ध होता है, और समयको भङ्ग करके अध्यूढ किस प्रकार सन्तान हो सकता है? मैं इसे जाननेकी इच्छा करता हूं। (१४)

भीष्म बोले, जो पुरुष आत्मज स-न्तान उत्पन्न करके लोकापवादवशसे उसे परित्याग करता है, उसमें वीर्य कारण नहीं है, उस पुत्रका क्षेत्रस्वामी अधिकारी होता है। हे नरनाथ! पुत्रकी इच्छा करनेवाला पुरुष पुत्रके निमित्त जिस गर्भवती कन्याको ग्रहण करता है, उसके गर्भसे जो पुत्र होता है, वह परिणेताका क्षेत्रज कहके माना जाता है, वीर्य डालनेवालेका न कहा जावेगा। हे भरतश्रेष्ठ! पराये क्षेत्रमें उत्पन्न पुत्र अमुकके सदृश कहलाके उसहीके रूप अनुसार जाना जाता है, अपनेको छिपाया नहीं जा सकता, वह प्रत्यक्ष ही मालूम हुआ करता है, इस-लिये अध्यूढ पुत्र अप्रकाशित नहीं रहता, परिणेताको पुत्रकी इच्छा न हो, तो अध्यूढ पुत्र वीर्य डालनेवालेका ही हुआ करता करता है। हे भारत! शुक्र और क्षेत्र इन दोनोंमें जब पुत्रत्व

युधिष्ठिर उवाच- कीदृशः कृतकः पुत्रः संग्रहादेव लक्ष्यते।
शुक्रं क्षेत्रं प्रमाणं वा यत्र लक्ष्यं न भारत ॥ १९ ॥
भीष्म उवाच- मातापितृभ्यां यस्त्यक्तः पथि यस्तं प्रकल्पयेत्।
न चास्य मातापितरौ ज्ञायेतां स हि कृत्रिमः ॥ २० ॥
अस्वामिकस्य स्वामित्वं यस्मिन्संप्रति लक्ष्यते।
यो वर्णः पोषयेत्तं च तद्वर्णस्तस्य जायते ॥ २१ ॥
युधिष्ठिर उवाच- कथमस्य प्रयोक्तव्यः संस्कारः कस्य वा कथम्।
देया कन्या कथं चेति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २२ ॥
भीष्म उवाच- आत्मवत्तस्य कुर्वीत संस्कारं स्वामिवत्तथा।
त्यक्तो मातापितृभ्यां यः सवर्णं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥
तद्गोत्रबन्धुजं तस्य कुर्यात्संस्कारमच्युत।
अथ देया तु कन्या स्यात्तद्वर्णस्य युधिष्ठिर ॥ २४ ॥

स्वका प्रमाण नहीं मालूम होता, तब किसी स्थलमें संग्रहवशसे कृतक पुत्र कहा जाता है। (१५—१८)

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! जब शुक्र और क्षेत्रका परिमाण नहीं मालूम होता, तब संग्रहवशसे कृतक पुत्र जाना जाता है, वह कैसा है? (१९)

भीष्म बोले, माता-पिताके द्वारा जो पुत्र मार्गमें परित्यक्त होता है, उसे ही कृतक पुत्र जानना चाहिये। उसके पितामाता ऐसा न जाने कि वह कृत्रिम हुआ है। जिसका कोई स्वामी न हो, उसका जो मालिक बने, तथा जिस वर्णका मनुष्य उसे प्रतिपालन करे, वह उस ही प्रतिपालकके वर्णको प्राप्त होगा। (२०—२१)

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! जो पुरुष पितामातासे परित्यक्त हुआ हो, उसका किसके द्वारा किस प्रकार संस्कार होगा और वह किसका पुत्र कहावेगा, किस भांतिसे उसे कन्या दान की जावेगी? आप मेरे समीप इस विषयको वर्णन करिये। (२२)

भीष्म बोले, पितामातासे त्यागे जानेपर अस्वामिक पुरुष जब स्वामीके वर्णको प्राप्त होता है, तब स्वामीकी भांति उसका संस्कार करना योग्य है। हे अचञ्चल युधिष्ठिर! जब उसका दूसरा वर्ण निश्चय होवे, तब स्वामी उस ही वर्ण और गोत्रके अनुसार उसका संस्कार करे तथा उसही वर्णके योग्य कन्या प्रदान करे। संस्कारकी सामर्थ्यके अनुसार वर्ण हुआ करता है, भिन्न वर्ण तथा भिन्न गोत्र-

संस्कर्तुं वर्णगोत्रं च मातृवर्णविनिश्चये ।
कानीनाध्यूढजौ वापि विज्ञेयौ पुत्रकिल्बिषौ ॥ २५ ॥
तावपि स्वाविव सुतौ संस्कार्याविति निश्चयः ।
क्षेत्रजो वाप्यपसदो येऽध्यूढास्तेषु चाप्युत ॥ २६ ॥
आत्मवद्वै प्रयुञ्जीरन्संस्कारान्ब्राह्मणादयः ।
धर्मशास्त्रेषु वर्णानां निश्चयोऽयं प्रदृश्यते ॥ २७ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २८ ॥ [२६०९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे विवाहधर्मे पुत्रप्रतिनिधिकथने एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर उवाच- दर्शने कीदृशः स्नेहः संवासे च पितामह ।
महाभाग्यं गवां चैव तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- हन्त ते कथयिष्यामि पुरावृत्तं महाद्युते ।
नहुषस्य च संवादं महर्षेश्च्यवनस्य च ॥ २ ॥
पुरा महर्षिश्च्यवनो भार्गवो भरतर्षभ ।
उदवासकृतारम्भो बभूव स महाव्रतः ॥ ३ ॥

होनेपर भी संस्कार कर्ताके वर्ण और गोत्रको प्राप्त होता है । संस्कार करनेके निमित्त वर्ण और गोत्रका प्रयोजन हुआ करता है । मातृवर्णका निश्चय होनेपर कानीन और अध्यूढ पुत्रको निकृष्ट जाने । यह निश्चय है, कि अपने पुत्रकी भांति उनका भी संस्कार करना चाहिये । क्षेत्रज, अपसद अथवा जो अध्यूढ पुत्र हों ब्राह्मण आदिको चाहिये अपने समान उनका संस्कार करें । धर्म-शास्त्रोंमें सब वर्णोंका ऐसा ही निश्चय दीख पडता है । मैंने यह समस्त विषय तुमसे कहा, अब किस विषयको सुननेकी इच्छा करते हो ? (२३-२८)

अनुशासनपर्वमें ४९ अध्याय समाप्त ।

अनुशासनपर्वमें ५० अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! दूसरेकी पीडा देखके कैसा स्नेह करना चाहिये तथा दूसरोंके सङ्गमें किस भांति अनृ-शंसताका अनुष्ठान करना योग्य है और गौवोंका कैसा माहात्म्य है, इस विष-यको आप मेरे समीप वर्णन करिये । (१)

भीष्म बोले, हे महाद्युति ! बहुत अच्छा, मैं तुम्हारे समीप नहुष राजा और च्यवन महर्षिके संवादयुक्त प्राचीन इतिहास कहता हूं । हे भरत-श्रेष्ठ ! पहले समयमें भृगुवंशमें उत्पन्न हुए महाव्रती च्यवन महर्षिने जलमें

निहत्य मानं क्रोधं च प्रहर्षं शोकमेव च।
वर्षाणि द्वादश मुनिर्जलवासे धृतव्रतः ॥ ४ ॥
आदधत्सर्वभूतेषु विश्रम्भं परमं शुभम्।
जलेचरेषु सर्वेषु शीतरश्मिरिव प्रभुः ॥ ५ ॥
स्थाणुभूतः शुचिर्भूत्वा दैवतेभ्यः प्रणम्य च।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये जलं संप्रविवेश ह ॥ ६ ॥
गङ्गायमुनयोर्वेगं सुभीमं भीमनिःस्वनम्।
प्रतिजग्राह शिरसा वातवेगसमं जवे ॥ ७ ॥
गङ्गा च यमुना चैव सरितश्च सरांसि च।
प्रदक्षिणमृषिं चक्रुर्न चैनं पर्यपीडयन् ॥ ८ ॥
अन्तर्जलेषु सुष्वाप काष्ठभूतो महामुनिः।
ततश्चोर्ध्वस्थितो धीमानभवद्भरतर्षभ ॥ ९ ॥
जलौकसां स सत्त्वानां बभूव प्रियदर्शनः।
उपाजिघ्रन्त च तदा तस्योष्ठं हृष्टमानसाः ॥ १० ॥
तत्र तस्यासतः कालः समतीतोऽभवन्महान्।
ततः कदाचित्समये कस्मिंश्चिन्मत्स्यजीविनः ॥ ११ ॥

वास करना आरम्भ किया, वह अभिमान, क्रोध, हर्ष और शोकको नष्ट करके बारह वर्षतक मौनावलम्बी होकर जलवास व्रतधारी हुए थे। सर्वशक्तिमान चन्द्रमाकी भांति सब जलचर जीवोंके विषयमें परम पवित्र विश्वास स्थापित करते हुए स्थाणुभूत और पवित्र होके देवताओंको प्रणाम करनेके अनन्तर गङ्गा और यमुनाके बीच जलके भीतर प्रवेश किया था। गङ्गा-यमुनाके वायुसदृश वेगवान अत्यन्त भयङ्कर शब्दके सहित वेगको सिरपर धारण किया था। (२-७)

गङ्गायमुना प्रभृति सब नदियें और तालाब ऋषिकी प्रदक्षिणा करते थे, कदापि उन्हें पीडित नहीं करते थे, महा मुनि काष्ठरूपी होके जलके बीच सो रहते थे। हे भरतश्रेष्ठ! अनन्तर वह धीमान मुनि वहां बैठके स्थित रहते थे और वे जलवासी जीवोंके प्रीतिपात्र हुए थे। उस समय सब जलचर प्रसन्नचित्त होकर उनके ओठको सूंघते थे। उनके उस जलमें निवास करते रहनेपर बहुत समय बीतगया। हे महातेजस्वी! अनन्तर किसी समय में किसी देशके मछुवाहे हाथमें जाल लेकर उस स्थानमें

तं देशं समुपाजग्मुर्जालहस्ता महाद्युते ।
निषादा बहवस्तत्र मत्स्योद्धरणनिश्चयाः ॥ १२ ॥
व्यायता बलिनः शूराः सलिलेष्वनिवर्तिनः ।
अभ्याययुश्च तं देशं निश्चिता जालकर्मणि ॥ १३ ॥
जालं ते योजयामासुर्निःशेषेण जनाधिप ।
मत्स्योदकं समासाद्य तदा भरतसत्तम ॥ १४ ॥
ततस्ते बहुभिर्योगैः कैवर्ता मत्स्यकाङ्क्षिणः ।
गङ्गायमुनयोर्वारि जालैरभ्यकिरंस्ततः ॥ १५ ॥
जालं सुविततं तेषां नवसूत्रकृतं तथा ।
विस्तारायामसंपन्नं यत्तत्र सलिलेऽक्षिपन् ॥ १६ ॥
ततस्ते सुमहच्चैव बलवच्च सुवर्तितम् ।
अवतीर्य ततः सर्वे जालं चकृषिरे तदा ॥ १७ ॥
अभीतरूपाः संहृष्टा अन्योऽन्यवशवर्तिनः ।
बबन्धुस्तत्र मत्स्यांश्च तथाऽन्यान् जलचारिणः ॥१८॥
तथा मत्स्यैः परिवृतं च्यवनं भृगुनन्दनम् ।
आकर्षयन्महाराज जालेनाथ यदृच्छया ॥ १९ ॥
नदीशैवलदिग्धाङ्गं हरिश्मश्रुजटाधरम् ।
लग्नैः शङ्खनखैर्गात्रे क्रोडैश्चित्रैरिवार्पितम् ॥ २० ॥

गये । मच्छलियोंके धरनेका निश्चय करके बलवान, शूर, जलमें भ्रमण करनेमें अपरांमुख, बडे शरीरवाले निषादोंने वहां जाल फैलानेका निश्चय किया। हे भरत-सत्तम प्रजानाथ ! वे उस ही स्थानमें मछलियोंसे परिपूरित जल पाके लगा-तार जाल फैलाने लगे । (८—१४)

अनन्तर उन मछलियोंके अभिलाषी मल्लाहोंने अनेक प्रकारसे उपाय रचके जालके सहारे गङ्गा और यमुनाके जल-को रोका, उन लोगोंने उन स्थानमें जो जाल छोडा था, वह अत्यन्त दृढ, नये सूतोंसे बना हुआ, लम्बा और चौडा था। अनन्तर वे लोग जलमें उतरकर महत् और बलवत् जालको खींचने लगे। वे सब निर्भय, प्रसन्न और परस्परमें वशवर्ती होकर मछलियों तथा अन्य जलचरोंको बांधने लगे । हे महाराज ! उन लोगोंने यदृच्छाक्रमसे मछलियोंसे घिरे हुए भृगुनन्दन च्यवन मुनिको जालके सहारे आकर्षण किया। १५–१९

उस हरिश्मश्रु जटाधारी, अङ्गमें नदी

तं जालेनोद्धृतं दृष्ट्वा ते तदा वेदपारगम्।
सर्वे प्राञ्जलयो दाशाः शिरोभिः प्रापतन्भुवि ॥ २१ ॥
परिखेदपरित्रासाज्जालस्याकर्षणेन च।
मत्स्या बभूवुर्व्यापन्नाः स्थलसंस्पर्शनेन च ॥ २२ ॥
स मुनिस्तत्तदा दृष्ट्वा मत्स्यानां कदनं कृतम्।
बभूव कृपयाऽऽविष्टो निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥ २३ ॥

निषादा ऊचुः– अज्ञानाद्यत्कृतं पापं प्रसादं तत्र नः कुरु।
करवाम प्रियं किं ते तन्नो ब्रूहि महामुने ॥ २४ ॥
इत्युक्तो मत्स्यमध्यस्थश्च्यवनो वाक्यमब्रवीत्।
यो मेऽद्य परमः कामस्तं शृणुध्वं समाहिताः ॥ २५ ॥
प्राणोत्सर्गं विसर्गं वा मत्स्यैर्यास्याम्यहं सह।
संवासान्नोत्सहे त्यक्तुं सलिलेऽध्युषितानहम् ॥ २६ ॥
इत्युक्तास्ते निषादास्तु सुभृशं भयकम्पिताः।
सर्वे विवर्णवदना नहुषाय न्यवेदयन् ॥ २७ ॥ [२६३६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे च्यवनोपाख्याने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

के सिवार लिपटे, तथा शङ्ख नाम जलजन्तुओंके नख लिपटे हुए शरीरसे युक्त, वेद जाननेवाले मुनिको जालके द्वारा खिंचे हुए देखके वे सब हाथ जोडकर सिर नीचा करके पृथ्वीपर गिरे। जालके द्वारा खिंचे जानेसे शोक तथा भयसे सब मछलियें स्थल स्पर्श करते ही विपद्ग्रस्त हुईं। मुनि उस समय उन मछलियोंकी महत् पीडा देखकर बार बार लम्बी सांस छोडते हुए अत्यन्त कृपायुक्त हुए। (२०-२३)

निषादोंने कहा, हे महामुनि! हम लोगोंने विना जाने जो पाप किया है, उस विषयमें आप क्षमा कीजिये। हम लोग आपका कौनसा प्रियकार्य करें, उसके लिये हमें आज्ञा करिये। मछलियोंके बीचमें च्यवन मुनि मल्लाहोंका ऐसा वचन सुनके बोले, इस समय मेरी जो महत् अभिलाषा है, उसे तुम लोग सावधान होकर सुनो। मैं मछलियोंके सहित प्राणत्याग वा इनके सङ्ग अपनेको बेचूंगा, जलके बीच एकत्र सहवासके कारण इन्हें परित्याग न कर सकूंगा, जब मुनिने ऐसा कहा, तब निषादोंने भयसे कांपते तथा दुःखित होके नहुष राजाके निकट जाके समस्त

भीष्म उवाच- नहुषस्तु ततः श्रुत्वा च्यवनं तं तथागतम्।
त्वरितः प्रययौ तत्र सहामात्यपुरोहितः ॥ १ ॥
शौचं कृत्वा यथान्यायं प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः।
आत्मानमाचचक्षे च च्यवनाय महात्मने ॥ २ ॥
अर्चयामास तं चापि तस्य राज्ञः पुरोहितः।
सत्यव्रतं महात्मानं देवकल्पं विशाम्पते ॥ ३ ॥
नहुष उवाच- करवाणि प्रियं किं ते तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम।
सर्वं कर्तास्मि भगवन्यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥ ४ ॥
च्यवन उवाच- श्रमेण महता युक्ताः कैवर्ता मत्स्यजीविनः।
मम मूल्यं प्रयच्छैभ्यो मत्स्यानां विक्रयैः सह ॥ ५ ॥
नहुष उवाच- सहस्रं दीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित।
निष्क्रयार्थं भगवतो यथाऽऽह भृगुनन्दनः ॥ ६ ॥
च्यवन उवाच- सहस्रं नाहमर्हामि किं वा त्वं मन्यसे नृप।
सदृशं दीयतां मूल्यं स्वबुध्या निश्चयं कुरु ॥ ७ ॥

वृत्तान्त कह सुनाया। (२४-२७)

अनुशासनपर्वमें ५० अध्याय समाप्त।

अनुशासपर्वमें ५१ अध्याय।

भीष्म बोले, अनन्तर राजा नहुष च्यवन मुनिको वैसी अवस्थामें सुनके मन्त्री और पुरोहितके सहित शीघ्र ही वहां गये। राजाने यथा रीतिसे शरीर-शुद्धि करके हाथ जोडकर और सिरसे प्रणाम करके च्यवन मुनिके निकट अपना नाम कहा। हे महाराज! राजाका पुरोहित उस सत्यव्रती देव-सदृश महात्माकी पूजा करनेमें प्रवृत्त हुआ। (१-३)

नहुष बोले, हे द्विजश्रेष्ठ! कहिये मैं आपका कौनसा प्रिय कार्य करूं? हे भगवन्! यदि कर्त्तव्य कार्य अत्यन्त दुष्कर भी होगा, तौभी मैं उसे सिद्ध करनेमें समर्थ हूं। (४)

च्यवन बोले, मत्स्यजीवी मल्लाहवृन्द बहुत थक गये हैं, इसलिये इन लोगों-को मछलियोंके मूल्यके सहित मेरा भी मूल्य दो। (५)

नहुष बोले, हे पुरोहित! भगवान् भृगुनन्दनने जिस प्रकार कहा, उन्हें मोल लेनेके लिये निषादोंको एक सहस्र मुद्रा दो। (६)

च्यवन बोले, हे महाराज! मैं सहस्र मुद्रा मूल्यके योग्य नहीं हूं, भला तुम ही क्या विचार करते हो? अपनी बुद्धिके सहारे निश्चय करके मेरा योग्य

नहुष उवाच– सहस्राणां शतं विप्र निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
स्यादिदं भगवन्मूल्यं किं वाऽन्यन्मन्यते भवान् ॥८॥
च्यवन उवाच– नाहं शतसहस्रेण निमेयः पार्थिवर्षभ ।
दीयतां सदृशं मूल्यममात्यैः सह चिन्तय ॥ ९ ॥
नहुष उवाच– कोटिः प्रदीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित ।
यद्येतदपि नो मूल्यमतो भूयः प्रदीयताम् ॥ १० ॥
च्यवन उवाच– राजन्नार्हाम्यहं कोटिं भूयो वाऽपि महाद्युते ।
सदृशं दीयतां मूल्यं ब्राह्मणैः सह चिन्तय ॥ ११ ॥
नहुष उवाच– अर्धं राज्यं समग्रं वा निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये किं वाऽन्यन्मन्यसे द्विज ॥ १२ ॥
च्यवन उवाच– अर्धं राज्यं समग्रं च मूल्यं नार्हामि पार्थिव ।
सदृशं दीयतां मूल्यमृषिभिः सह चिन्त्यताम् ॥ १३ ॥
भीष्म उवाच– महर्षेर्वचनं श्रुत्वा नहुषो दुःखकर्शितः ।
स चिन्तयामास तदा सहामात्यपुरोहितः ॥ १४ ॥
तत्र त्वन्यो वनचरः कश्चिन्मूलफलाशनः ।

मूल्य दो। (७)

नहुष बोले, हे विप्र ! निषादोंको एक लाख मुद्रा दो। हे भगवन् ! यही मूल्य हुआ न ? अथवा आप क्या समझते हैं ? (८)

च्यवन बोले, हे सत्तम ! मैं एक लक्ष मुद्राके मोलमें बिकने योग्य नहीं हूं, मन्त्रियोंके साथ विचार करके मेरा योग्य मूल्य दीजिये। (९)

नहुष बोले, हे पुरोहित ! निषादोंको एक करोड मुद्रा दो, यदि यह भी मूल्य न होता हो, इससे भी अधिक मूल्य प्रदान करो। (१०)

च्यवन बोले, हे महातेजस्वी महाराज ! करोड अथवा उससे अधिक धनके भी मैं योग्य नहीं हूं, ब्राह्मणोंके सङ्ग विचार करके मेरे सदृश मूल्य दो। (११)

नहुष बोले, निषादोंको अर्द्ध राज्य अथवा समग्र राज्य दे दो, मैं यही मूल्य समझता हूं, हे द्विजवर ! आपके विचारमें क्या आता है ? (१२)

च्यवन बोले, हे महाराज ! आधा अथवा सारा राज्य मेरे योग्य नहीं है; ऋषियोंके सङ्ग विचार करके मेरे सदृश मूल्य प्रदान करो। (१३)

भीष्म बोले, वह नहुष राजा च्यवन महर्षिका वचन सुनके दुःखित होकर

नहुषस्य समीपस्थो गविजातोऽभवन्मुनिः ॥ १५ ॥
स तमाभाष्य राजानमब्रवीद् द्विजसत्तमः।
तोषयिष्याम्यहं क्षिप्रं यथा तुष्टो भविष्यति ॥ १६ ॥
नाहं मिथ्या वचो ब्रूयां स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा।
भवतो यदहं ब्रूयां तत्कार्यमविशङ्कया ॥ १७ ॥
नहुष उवाच- ब्रवीतु भगवान्मूल्यं महर्षेः सदृशं भृगोः।
परित्रायस्व मामस्माद्विषयं च कुलं च मे ॥ १८ ॥
हन्याद्धि भगवान् क्रुद्धस्त्रैलोक्यमपि केवलम्।
किं पुनर्मां तपोहीनं बाहुवीर्यपरायणम् ॥ १९ ॥
अगाधाम्भसि मग्नस्य सामात्यस्य सऋत्विजः।
प्लवो भव महर्षे त्वं कुरु मूल्यविनिश्चयम् ॥ २० ॥
भीष्म उवाच-नहुषस्य वचः श्रुत्वा गविजातः प्रतापवान्।
उवाच हर्षयन्सर्वानमात्यान्पार्थिवं च तम् ॥ २१ ॥
अनर्घेया महाराज द्विजा वर्णेषु चोत्तमाः।

उस समय मन्त्री और पुरोहितके सहित चिन्ता करने लगा, उस समय गवीके गर्भसे उत्पन्न फल, मूल भोजन करनेवाले अन्य एक वनवासी मुनि नहुष राजाके निकट आया, उस द्विज-सत्तमने राजा नहुषसे कहा, आप जिस प्रकार तुष्ट होंगे, मैं उसही भावसे शीघ्रही इन्हें प्रसन्न करूंगा। मैं स्वेच्छा-पूर्वक कभी मिथ्या वचन नहीं कहता। दूसरेकी प्रवञ्चनामें उसे क्यों कहूंगा, शङ्कारहित होके उस विषयको तुम्हें प्रतिपालन करना योग्य है। (१४-१७)

नहुष बोले, हे भगवन्! आप कहिये महर्षि भृगुनन्दनके सदृश कितना मूल्य होगा? मुझे और मेरे राज्य तथा वंशका परित्राण करिये। भगवान भार्गव क्रुद्ध होनेपर तीनों लोकोंको नष्टकर सकते हैं, मैं केवल बाहुबलसे युक्त तपस्यासे रहित हूं; इसलिये मुझे जो विनष्ट करेंगे, उसमें कौनसी विचित्रता है? हे विप्रर्षि! मैं मन्त्री और पुरोहितके सहित अगाध जलमें डूब रहा हूं, आप हमारे लिये नौका स्वरूप होइये, महर्षिका मूल्य विशेष रीतिसे निश्चय करिये। (१८-२०)

भीष्म बोले, प्रतापशाली गविजने नहुषका वचन सुनके मन्त्रियोंके सहित उस राजाको हर्षयुक्त करते हुए कहा, हे पुरुषश्रेष्ठ महाराज! वर्णोंके बीच ब्राह्मण और गऊ श्रेष्ठ तथा अनर्घेय हैं

गावश्च पुरुषव्याघ्र गौर्मूल्यं परिकल्प्यताम् ॥ २२ ॥
नहुषस्तु ततः श्रुत्वा महर्षेर्वचनं नृप ।
हर्षेण महता युक्तः सहामात्यपुरोहितः ॥ २३ ॥
अभिगम्य भृगोः पुत्रं च्यवनं संशितव्रतम् ।
इदं प्रोवाच नृपते वाचा सन्तर्पयन्निव ॥ २४ ॥
नहुष उवाच-उत्तिष्ठोत्तिष्ठ विप्रर्षे गवा क्रीतोऽसि भार्गव ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये तव धर्मभृतां वर ॥ २५ ॥
च्यवन उवाच-उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र सम्यक् क्रीतोऽस्मि तेऽनघ ।
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत ॥२६ ॥
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव ।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम् ॥ २७ ॥
गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते ।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः ॥ २८ ॥
स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम् ॥ २९ ॥
अमृतं ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च ।

अर्थात् गऊ और ब्राह्मणका मोल नहीं है, इसलिये गऊका मूल्य समझिये। हे महाराज! अनन्तर नहुष महर्षिका वचन सुनके मन्त्री और पुरोहितके सहित अत्यन्त हर्षित होकर संशितव्रती भृगुनन्दन च्यवन के समीप जाके उन्हें वचनसे प्रसन्न करके कहने लगे। नहुष बोले, हे भृगुनन्दन विप्रर्षि! आप उठिये, आप गऊके द्वारा मोल लिये गये। हे धार्मिकश्रेष्ठ! मैंने यही आपका मूल्य विचारा है। (२१—२५)

च्यवन मुनि बोले, हे पापरहित राजेन्द्र! अब मैं उठता हूं, तुमने यथार्थमें मुझे मोल लिया, हे नाशरहित! मैं इस लोकमें गऊके सदृश कुछ भी धन नहीं देखता। हे राजन्! गौवोंकी कथा कहना, सुनना और उनका दान दर्शन सब पापोंको हरने तथा कल्याण साधन करनेसे प्रसंशित हुआ करता है। गऊ ही लक्ष्मीका मूल है, गौवोंमें पाप नहीं है, गौवेंही सदा देवताओंके हविरूप परम अन्न हैं। गौवोंसेही स्वाहा और वषट्कार सदा प्रतिष्ठित हो रहा है, गौवेंही यज्ञोंको सिद्ध करती हैं और वेही यज्ञके मुख-स्वरूप हैं, गौवोंमें ही दिव्य अव्यय अमृत बहता तथा झरता

अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः ॥ ३० ॥
तेजसा वपुषा चैव गावो वह्निसमा भुवि।
गावो हि सुमहत्तेजः प्राणिनां च सुखप्रदाः ॥ ३१ ॥
निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम्।
विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति ॥ ३२ ॥
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः।
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत्किंचित्परं स्मृतम्॥३३ ॥
इत्येतद्गोषु मे प्रोक्तं माहात्म्यं भरतर्षभ।
गुणैकदेशवचनं शक्यं पारायणं न तु ॥ ३४ ॥
निषादा ऊचुः—दर्शनं कथनं चैव सहास्माभिः कृतं मुने।
सतां साप्तपदं मैत्रं प्रसादं नः कुरु प्रभो ॥ ३५ ॥
हवींषि सर्वाणि यथा ह्युपभुङ्क्ते हुताशनः।
एवं त्वमपि धर्मात्मन्पुरुषाग्निः प्रतापवान् ॥ ३६ ॥
प्रसादयामहे विद्वन्भवन्तं प्रणता वयम्।
अनुग्रहार्थमस्माकमियं गौः प्रतिगृह्यताम् ॥ ३७ ॥

है। सब लोकोंकी नमस्कृत ये सब गौवें अमृतके स्थान हैं। (२९—३०)

भूलोकमें तेज और तनके सहारे गोवृन्द अग्निसदृश हैं, गऊ ही प्राणियोंके लिये उत्तम महत् तेज और सुख देनेवाली हैं, गौवें जिस स्थानमें स्थित होकर निर्भय होके सांस लेती हैं, उस स्थानको भूषित करती हुई उसका पाप दूर किया करती हैं। गऊ ही स्वर्गके लिये सोपान स्वरूप हैं, गौवोंका समूह स्वर्गमें भी पूजित हुआ करता है, गऊ देवी स्वरूप हैं, वे काम दोहन किया करती हैं। यह स्मरण है, कि दूसरी कुछ भी वस्तु गौवोंसे श्रेष्ठ नहीं है। हे भरतश्रेष्ठ! यह गौवोंका माहात्म्य कहा गया, इनके एकही गुणको आदिसे अन्ततक वर्णन करना असाध्य है, सब गुणोंको वर्णन करना तो बहुत दूरकी बात है। (३१—३४)

निषादवृन्द बोले, हे मुनि! आपका हम लोगोंके सङ्ग दर्शन और वार्त्तालाप हुआ है, साधुओंको सात पग उच्चारण निबन्धनसे मित्रता होती है, हे प्रभु! इसलिये आप हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिये। जैसे अग्नि समस्त हवि उपभोग करती है, वैसे ही आप भी धर्मात्मा प्रतापवान पुरुषाग्नि हैं। हे विद्वन्! हम लोग प्रणत होके आपको प्रसन्न करते

च्यवन उवाच-कृपणस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च।
नरं समूलं दहति कक्षमग्निरिव ज्वलन् ॥ ३८ ॥
प्रतिगृह्णामि वो धेनुं कैवर्ता मुक्तकिल्बिषाः।
दिवं गच्छत वै क्षिप्रं मत्स्यैः सह जलोद्भवैः ॥ ३९ ॥
भीष्म उवाच-ततस्तस्य प्रभावात्ते महर्षेर्भावितात्मनः।
निषादास्तेन वाक्येन सह मत्स्यैर्दिवं ययुः ॥ ४० ॥
ततः स राजा नहुषो विस्मितः प्रेक्ष्य धीवरान्।
आरोहमाणांस्त्रिदिवं मत्स्यांश्च भरतर्षभ ॥ ४१ ॥
ततस्तौ गविजश्चैव च्यवनश्च भृगूद्वहः।
वराभ्यामनुरूपाभ्यां छन्दयामासतुर्नृपम् ॥ ४२ ॥
ततो राजा महावीर्यो नहुषः पृथिवीपतिः।
परमित्यब्रवीत्प्रीतस्तदा भरतसत्तम ॥ ४३ ॥
ततो जग्राह धर्मे स स्थितिमिन्द्रनिभो नृपः।
तथेति चोदितः प्रीतस्तावृषी प्रत्यपूजयत ॥ ४४ ॥
समाप्तदीक्षश्च्यवनस्ततोऽगच्छत्स्वमाश्रमम्।

हैं, हमपर कृपा करके आप इस गऊको प्रतिग्रह कीजिये। (३५—३७)

च्यवन बोले, जैसे प्रज्वलित अग्नि सूखे तृणोंको जलाती है, वैसे ही दीन हीन कृपण, मुनि और विषधर सर्पके नेत्र मनुष्योंको मूलके सहित भस्म किया करते हैं। हे कैवर्तवृन्द! मैंने तुम लोगोंको गऊ प्रतिग्रह किया, तुम लोग पापरहित होके जलसे उत्पन्न हुई मछलियोंके सहित शीघ्र ही स्वर्गमें गमन करो। (३८-३९)

भीष्म बोले, अनन्तर निषादोंने उस पवित्र चित्तवाले महर्षिके प्रभावसे उनके वचनके अनुसार मछलियोंके सहित स्वर्गमें गमन किया। हे भरतश्रेष्ठ! अनन्तर राजा नहुष मछलियोंके सहित मल्लाहोंको स्वर्गमें जाते देखके विस्मित हुए। अन्तमें वह गविज और भृगुनन्दन च्यवन मुनि राजा नहुषको यथोचित दो वर देनेके लिये सम्मान करनेमें प्रवृत्त हुए। हे भरतसत्तम! अनन्तर महापराक्रमी पृथ्वीपति राजा नहुषने उस समय प्रसन्न होके कहा, उत्तम वार्त्ता है। (४०—४३)

उस इन्द्रतुल्य राजाने धर्ममें निष्ठा रहनेके निमित्त वर मांगा, उन्होंने भी कहा, कि ऐसा ही होवे। तब राजाने प्रसन्न होके दोनों ऋषियोंकी पूजा की।

गविजश्च महातेजाः स्वमाश्रमपदं ययौ ॥ ४५ ॥
निषादाश्च दिवं जग्मुस्ते च मत्स्या जनाधिप ।
नहुषोऽपि वरं लब्ध्वा प्रविवेश स्वकं पुरम् ॥ ४६ ॥
एतत्ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
दर्शने यादृशः स्नेहः संवासे वा युधिष्ठिर ॥ ४७ ॥
महाभाग्यं गवां चैव तथा धर्मविनिश्चयम् ।
किं भूयः कथ्यतां वीर किं ते हृदि विवक्षितम् ॥४८॥ [२६८४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे च्यवनोपाख्याने एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर उवाच-संशयो मे महाप्राज्ञ सुमहान्सागरोपमः ।
तं मे शृणु महाबाहो श्रुत्वा व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥
कौतूहलं मे सुमहज्जामदग्न्यं प्रति प्रभो ।
रामं धर्मभृतां श्रेष्ठं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥
कथमेष समुत्पन्नो रामः सत्यपराक्रमः ।
कथं ब्रह्मर्षिवंशोऽयं क्षत्रधर्मा व्यजायत ॥ ३ ॥
तदस्य सम्भवं राजन्निखिलेनाऽनुकीर्तय ।

च्यवन मुनि दीक्षा समाप्त करनेके अनन्तर अपने आश्रमपर गये, महातेजस्वी गविजने भी निज आश्रमकी ओर गमन किया। राजा नहुष वर पाके अपने नगरमें आये। हे तात युधिष्ठिर! दर्शन और सहवाससे जैसा स्नेह होता है तथा गौवोंका माहात्म्य और धर्मनिश्चय विषयमें तुमने जो मुझसे प्रश्न किया था, वह सब मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया। हे वीर! फिर क्या कहूं? तुम्हारे अन्तःकरणमें किस विषयके जाननेकी अभिलाषा है? (४४—४८)

अनुशासनपर्वमें ५१ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ५२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे महाप्राज्ञ महाबाहो! मुझे समुद्र समान महान् सन्देह है, आप उसे सुनिये और सुननेपर उस विषयकी व्याख्या करनेके लिये आप ही उपयुक्त हैं। हे प्रभु! धार्मिकश्रेष्ठ जामदग्न्य रामके विषयमें मुझे अत्यन्त आश्चर्य होरहा है। आप मेरे समीप इस ही विषयको वर्णन करिये। वह सत्यपराक्रमी राम किस प्रकार उत्पन्न हुए थे? ब्रह्मर्षिके वंशमें उत्पन्न होके यह क्षत्रियोंके धर्मका आचरण करनेवाला

कौशिकाच्च कथं वंशात्क्षत्राद्वै ब्राह्मणो भवेत् ॥ ४ ॥
अहो प्रभावः सुमहानासीद्वै सुमहात्मनः ।
रामस्य च नरव्याघ्र विश्वामित्रस्य चैव हि ॥ ५ ॥
कथं पुत्रानतिक्रम्य तेषां नप्तृष्वथाभवत् ।
एष दोषः सुतान् हित्वा तत्त्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥
भीष्म उवाच-अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
च्यवनस्य च संवादं कुशिकस्य च भारत ॥ ७ ॥
एतं दोषं पुरा दृष्ट्वा भार्गवश्च्यवनस्तदा ।
आगामिनं महाबुद्धिः स्ववंशे मुनिसत्तमः ॥ ८ ॥
निश्चित्य मनसा सर्वं गुणदोषबलाबलम् ।
दग्धुकामः कुलं सर्वं कुशिकानां तपोधनः ॥ ९ ॥
च्यवनः समनुप्राप्य कुशिकं वाक्यमब्रवीत् ।
वस्तुमिच्छा समुत्पन्ना त्वया सह ममानघ ॥ १० ॥
कुशिक उवाच-भगवन्सहधर्मोऽयं पण्डितैरिह धार्यते ।
प्रदानकाले कन्यानामुच्यते च सदा बुधैः ॥ ११ ॥
यत्तु तावदतिक्रान्तं धर्मद्वारं तपोधन ।

कैसा हुआ? उनकी उत्पत्तिका विषय आप विस्तारपूर्वक वर्णन करिये। हे महाराज! क्षत्रिय कौशिकवंशमें किस प्रकार ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई? हे पुरुषश्रेष्ठ! महानुभाव राम और विश्वामित्रमें अत्यन्त महत् आश्चर्य प्रभाव था, पुत्रोंको छोडके नातियोंमें यह दोष किस प्रकार सम्भव हुआ, आप उसे यथार्थ रीतिसे वर्णन करिये। (१—६)

भीष्म बोले, हे भारत! प्राचीन लोग इस विषय में च्यवन और कुशिकके संवादयुक्त पुराना इतिहास कहा करते हैं। महाबुद्धिमान् मुनिसत्तम तपोधन भृगुनन्दन च्यवनने उस समय निज वंशमें इस भविष्य दोषको पहले ही देखके मन ही मन समस्त गुण, दोष और बलाबलका निश्चय करके कुशिककुलको भस्म करनेकी इच्छा की। च्यवन मुनि कुशिकके समीप पहुंचके बोले, हे पापरहित! तुम्हारे सङ्ग एकत्र वास करनेकी मुझे इच्छा हुई है। (७—१०)

कुशिक बोले, हे भगवन्! बुद्धिमान पण्डितोंके द्वारा कन्यादान करनेके समय यह सहधर्म निश्चित हुआ करता है। हे तपोधन! उस ही धर्मके सहारे

तत्कार्यं प्रकरिष्यामि तदनुज्ञातुमर्हसि　　॥ १२ ॥

भीष्म उवाच-अथासनमुपादाय च्यवनस्य महामुनेः ।

कुशिको भार्यया सार्धमाजगाम यतो मुनिः ॥ १३ ॥

प्रगृह्य राजा भृङ्गारं पाद्यमस्मै न्यवेदयत् ।

कारयामास सर्वाश्च क्रियास्तस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

ततः स राजा च्यवनं मधुपर्कं यथाविधि ।

ग्राहयामास चाव्यग्रो महात्मा नियतव्रतः ॥ १५ ॥

सत्कृत्य तं तथा विप्रमिदं पुनरथाब्रवीत् ।

भगवन्परवन्तौ स्वो ब्रूहि किं करवावहे　　॥ १६ ॥

यदि राज्यं यदि धनं यदि गाः संशितव्रत ।

यज्ञदानानि च तथा ब्रूहि सर्वं ददामि ते　　॥ १७ ॥

इदं गृहमिदं राज्यमिदं धर्मासनं च ते ।

राजा त्वमसि शाध्युर्वीमहं तु परवांस्त्वयि ॥ १८ ॥

एवमुक्ते ततो वाक्ये च्यवनो भार्गवस्तदा ।

कुशिकं प्रत्युवाचेदं मुदा परमया युतः　　॥ १९ ॥

न राज्यं कामये राजन्न धनं न च योषितः ।

जो अतिक्रान्त हुआ है, उसे कर्त्तव्य समझके करूंगा, इसलिये उस विषय में आज्ञा करिये । (११—१२)

भीष्म बोले, अनन्तर भार्याके सहित कुशिक महामुनि च्यवनके लिये आसन लेकर जिस स्थानमें वह खडे थे, वहां आये । राजाने भृङ्गार (जलपात्रविशेष) ग्रहण करके मुनिको पैर धोनेके लिये जल दिया और उस महात्माके सब कार्योंको पूरा कर दिया । अनन्तर महानुभाव, नियतव्रती राजाने सावधानीके सहित च्यवनको विधिपूर्वक मधुपर्क दिया । उसने इस प्रकार उस विप्रका सत्कार करके फिर उनसे कहा, हे भगवन् ! हम आपके अधीन हैं, इसलिये कहिये क्या करें ? हे संशितव्रती ! यदि राज्य, धन, पशु, यज्ञ, दान प्रभृतिका प्रयोजन हो, तो मुझे आज्ञा करिये, मैं आपको सब दान करता हूं, यह गृह, राज्य और धर्मासन सब आपका ही है, आप ही राजा होके पृथ्वीका शासन करिये, मैं आपके अधीन हुआ हूं । (१३—१८)

कुशिकके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन च्यवन अत्यन्त हर्षित होके उनसे कहने लगे । च्यवन बोले, हे महाराज !

न च गा न च वै देशान्न यज्ञं श्रूयतामिदम् ॥ २० ॥
नियमं किंचिदारप्स्ये युवयोर्यदि रोचते ।
परिचर्योऽस्मि यत्ताभ्यां युवाभ्यामविशङ्कया ॥ २१ ॥
एवमुक्ते तदा तेन दम्पती तौ जहर्षतुः ।
प्रत्यब्रूतां च तमृषिमेवमस्त्विति भारत ॥ २२ ॥
अथ तं कुशिको हृष्टः प्रावेशयदनुत्तमम् ।
गृहोद्देशं ततस्तस्य दर्शनीयमदर्शयत् ॥ २३ ॥
इयं शय्या भगवतो यथाकाममिहोष्यताम् ।
प्रयतिष्यावहे प्रीतिमाहर्तुं ते तपोधन ॥ २४ ॥
अथ सूर्योऽतिचक्राम तेषां संवदतां तथा ।
अथर्षिश्चोदयामास पानमन्नं तथैव च ॥ २५ ॥
तमपृच्छत्ततो राजा कुशिकः प्रणतस्तदा ।
किमन्नजातमिष्टं ते किमुपस्थापयाम्यहम् ॥ २६ ॥
ततः स परया प्रीत्या प्रत्युवाच नराधिपम् ।
औपपत्तिकमाहारं प्रयच्छस्वेति भारत ॥ २७ ॥
तद्वचः पूजयित्वा तु तथेत्याह स पार्थिवः ।

मैं राज्य, धन, स्त्री, पुत्र, परिवार, पशु, देश अथवा यज्ञकी इच्छा नहीं करता; मुझे जो अभिलाषा है, वह कहता हूं, सुनो। मैं कोई नियम आरम्भ करूंगा, यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो तुम दोनों निःशङ्क हृदयसे प्रणत होकर मेरी सेवा करो। हे भारत! च्यवनके ऐसा कहनेपर राजा और रानी दोनोंने अत्यन्त हर्षित होके ऋषिको उत्तर दिया 'ऐसा ही होगा'। अनन्तर कुशिक प्रसन्न होकर उन्हें अत्यन्त रमणीय मन्दिरमें लेगये और देखने योग्य सब वस्तुओंको उन्हें दिखाके बोले, हे भगवन्! यही आपकी शय्या है, आप इच्छानुसार इस स्थानमें निवास करिये। हे तपोधन हम आपकी प्रीति पूरी करनेके लिये प्रयत्न करेंगे, उन लोगोंके इस ही प्रकार वार्त्तालाप करते रहनेपर सूर्यदेवने अस्ताचलपर गमन किया। (१९-२५)

अनन्तर महर्षि च्यवनने अन्नजल लानेके लिये आज्ञा की, राजा कुशिकने उस समय प्रणत होके ऋषिसे पूछा, हे भगवन्! कैसे अन्न आपको रुचते हैं? मैं कैसी भोजनकी सामग्री मंगाऊं। हे भारत! अनन्तर उस महर्षिने परम हर्षके सहित राजाको उत्तर दिया, कि

यथोपपन्नमाहारं तस्मै प्रादाज्जनाधिप ॥ २८ ॥
ततः स भुक्त्वा भगवान्दम्पती प्राह धर्मवित्।
स्वप्तुमिच्छाम्यहं निद्रा बाधते मामिति प्रभो ॥ २९ ॥
ततः शय्यागृहं प्राप्य भगवानृषिसत्तमः।
संविवेश नरेशस्तु सपत्नीकः स्थितोऽभवत् ॥ ३० ॥
न प्रबोध्योऽस्मि संसुप्त इत्युवाचाथ भार्गवः।
संवाहितव्यौ मे पादौ जागृतव्यं च तेऽनिशम् ॥ ३१ ॥
अविशङ्कस्तु कुशिकस्तथेत्येवाह धर्मवित्।
न प्रबोधयतां तौ च दम्पती रजनीक्षये ॥ ३२ ॥
यथादेशं महर्षेस्तु शुश्रूषापरमौ तदा।
बभूवतुर्महाराज प्रयतावथ दंपती ॥ ३३ ॥
ततः स भगवान्विप्रः समादिश्य नराधिपम्।
सुष्वापैकेन पार्श्वेन दिवसानेकविंशतिम् ॥ ३४ ॥
स तु राजा निराहारः सभार्यः कुरुनन्दन।
पर्युपासत तं हृष्टश्च्यवनाराधने रतः ॥ ३५ ॥

युक्तिसंगत अन्न प्रदान करो। राजा कुशिक च्यवनके वचनका आदर करके बोले, कि 'ऐसा ही होगा।' नरनाथ कुशिकने उन्हें युक्तियुक्त अन्न प्रदान किया। धर्म जाननेवाले भगवान् च्यवन भोजनके अनन्तर राजदम्पतीसे बोले, हे राजन्! निद्रा मुझे बाधा देरही है, इसलिये मैं सोनेकी इच्छा करता हूं। अनन्तर ऋषिसत्तम भगवानने शय्या-गृहमें जाके शयन किया। राजा भार्याके सहित वहां स्थित रहा। (२५-३०)

अनन्तर भृगुनन्दनने कहा, मेरे निद्रित होनेपर मुझे न जगाना, तुम लोग मेरे चरणकी सेवा करते हुए सदा जाग्रत् अवस्थामें स्थित रहो; धर्म जाननेवाले राजा कुशिकने शङ्कारहित होके कहा, 'ऐसाही होगा।' फिर रात बीतनेपर भी उन दोनोंने उन्हें न जगाया, हे महाराज! वे दम्पती उस समय महर्षिकी आज्ञाके अनुसार प्रयत्नवान होकर उनकी सेवा करने लगे। अनन्तर उस विप्र भगवानने राजाको इसही प्रकार आज्ञा करके इक्कीस दिन-तक एक पार्श्वसे सोके निद्रावस्थामें समय व्यतीत किया। (३१—३४)

हे कुरुनन्दन! राजा कुशिक पत्नीके सहित निराहार होके च्यवनकी आराध-नामें अनुरक्त और प्रसन्न रहके

भार्गवस्तु समुत्तस्थौ स्वयमेव तपोधनः।
अकिंचिदुक्त्वा तु गृहान्निश्चक्राम महातपाः ॥ ३६ ॥
तमन्वगच्छतां तौ च क्षुधितौ श्रमकर्शितौ।
भार्यापती मुनिश्रेष्ठस्तावेतौ नावलोकयत् ॥ ३७ ॥
तयोस्तु प्रेक्षतोरेव भार्गवाणां कुलोद्वहः।
अन्तर्हितोऽभूद्राजेन्द्र ततो राजाऽपतत्क्षितौ ॥ ३८ ॥
स मुहूर्तं समाश्वस्य सह देव्या महाद्युतिः।
पुनरन्वेषणे यत्नमकरोत्परमं तदा ॥ ३९ ॥ [२७१३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे च्यवनकुशिकसंवादे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर उवाच- तस्मिन्नन्तर्हिते विप्रे राजा किमकरोत्तदा।
भार्या चास्य महाभागा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- अदृष्ट्वा स महीपालस्तमृषिं सह भार्यया।
परिश्रान्तो निववृते व्रीडितो नष्टचेतनः ॥ २ ॥
स प्रविश्य पुरीं दीनो नाभ्यभाषत किंचन।
तदेव चिन्तयामास च्यवनस्य विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

सब भांतिसे उनकी उपासना करने लगे, तपोधन भृगुनन्दन स्वयंही उठे, वह महातपस्वी कुछ भी वचन न कहके गृहसे बाहर निकले। राजा और रानी दोनोंनेही भूखे, श्रमयुक्त होके भी उनके पीछे चले। उनके आनेपर भी मुनिने उनकी ओर न देखा, हे राजेन्द्र! भार्याके सहित राजा कुशिकने देखते रहनेपर भी भृगुकुलोद्वह च्यवन अन्तर्द्धान हुए, उनके अन्तर्हित होते ही राजा पृथ्वीपर गिर पडा। महातेजस्वी राजाने भार्याके सहित मुहूर्त्त भरके अनन्तर धीरज धरके उस समय उन्हें अन्वेषण करनेमें अत्यन्त यत्न किया। (३५—३९)

अनुशासनपर्वमें ५२ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ५३ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, उस विप्रके अदृश्य होनेपर वह राजा और रानी क्या करती थीं, वह आप मुझसे कहिये। (१)

भीष्म बोले, भार्याके सहित वह राजा ऋषिको न देखनेपर बहुत थकके लज्जित तथा चेतनारहित होके निवृत्त हुआ। वह दुःखित होके नगरमें प्रवेश करके कुछ भी न बोला, केवल च्यवनके उसही कार्यकी चिन्ता करने लगा।

अथ शून्येन मनसा प्रविश्य स्वगृहं नृपः।
ददर्श शयने तस्मिन् शयानं भृगुनन्दनम् ॥ ४ ॥
विस्मितौ तमृषिं दृष्ट्वा तदाश्चर्यं विचिन्त्य च।
दर्शनात्तस्य तु तदा विश्रान्तौ संबभूवतुः ॥ ५ ॥
यथास्थानं च तौ स्थित्वा भूयस्तं संववाहतुः।
अथापरेण पार्श्वेन सुष्वाप स महामुनिः ॥ ६ ॥
तेनैव च स कालेन प्रत्यबुद्ध्यत वीर्यवान्।
न च तौ चक्रतुः किंचिद्विकारं भयशङ्कितौ ॥ ७ ॥
प्रतिबुद्धस्तु स मुनिस्तौ प्रोवाच विशाम्पते।
तैलाभ्यङ्गो दीयतां मे स्नास्येऽहमिति भारत ॥ ८ ॥
तौ तथेति प्रतिश्रुत्य क्षुधितौ श्रमकर्शितौ।
शतपाकेन तैलेन महार्हेणोपतस्थतुः ॥ ९ ॥
ततः सुखासीनमृषिं वाग्यतौ संववाहतुः।
न च पर्याप्तमित्याह भार्गवः सुमहातपाः ॥ १० ॥
यदा तौ निर्विकारौ तु लक्षयामास भार्गवः।
तत उत्थाय सहसा स्नानशालां विवेश ह ॥ ११ ॥

अनन्तर राजा चुपचाप निज भवनमें प्रवेश करके भृगुनन्दन च्यवनको उसही शय्यापर सोये हुए देखा। दम्पती उस समय ऋषिको देखके विस्मित हुए और उस विषयको आश्चर्य समझके उनके दर्शन निबन्धनसे विश्राम करने लगे। वे यथास्थानमें स्थित होके फिर ऋषिकी चरणसेवा करनेमें प्रवृत्त रहे। महामुनि दूसरी करवट होके निन्द्रा-सुख भोगने लगे। वीर्यवान च्यवन जितने दिनतक एक पार्श्वसे निद्रित थे, उतने ही समयतक दूसरी करवट निद्रित रहके जागे। भार्याके सहित राजाने भयसे शङ्कित होकर किसी प्रकार विकार नहीं किया। (२-७)

हे भारत नरनाथ! उस मुनिने सावधान होके उनसे कहा, मेरे समस्त शरीरमें तेल लगाओ, मैं स्नान करूंगा। भार्याके सहित राजा भूखे और श्रमयुक्त होनेपर भी उनका वचन अङ्गीकार करके महामूल्यवान शतपाक तेल ले आया। अनन्तर वे दोनों वाक्संयम करके उस सुखके बैठे मुनिके शरीरमें तेल मलने लगे। महातपस्वी भार्गवने कहा यह पर्याप्त न हुआ। अनन्तर जब भृगुनन्दन ने उस राजा और राजरानीको निर्विकार

क्लृप्तमेव तु तत्रासीत्स्नानीयं पार्थिवोचितम्।
असत्कृत्य च तत्सर्वं तत्रैवान्तरधीयत ॥ १२ ॥
स मुनिः पुनरेवाथ नृपतेः पश्यतस्तदा।
नासूयां चक्रतुस्तौ च दम्पती भरतर्षभ ॥ १३ ॥
अथ स्नातः स भगवान्सिंहासनगतः प्रभुः।
दर्शयामास कुशिकं सभार्यं कुरुनन्दनः ॥ १४ ॥
संहृष्टवदनो राजा सभार्यः कुशिको मुनिम्।
सिद्धमन्नमिति प्रह्वो निर्विकारो न्यवेदयत् ॥ १५ ॥
आनीयतामिति मुनिस्तं चोवाच नराधिपम्।
स राजा समुपाजह्रे तदन्नं सह भार्यया ॥ १६ ॥
मांसप्रकारान्विविधान् शाकानि विविधानि च।
वेसवारविकारांश्च पानकानि लघूनि च ॥ १७ ॥
रसालापूपकांश्चित्रान्मोदकानथ खाण्डवान्।
रसान्नानाप्रकारांश्च वन्यं च मुनिभोजनम् ॥ १८ ॥
फलानि च विचित्राणि राजभोज्यानि भूरिशः।
बदरेङ्गुदकाश्मर्यभल्लातकफलानि च ॥ १९ ॥

देखा, तब सहसा उठके स्नानगृहमें गये, स्नानशालामें राजाके योग्य स्नानीय जल आदि सब वस्तु तैयार थीं, वह राजाके सम्मुखमें ही उन सबका निरादर करके उसही स्थानमें फिर अन्तर्द्धान हुए। (८—११)

हे भरतश्रेष्ठ! राजदम्पतीने उस विषयमें कुछ भी असूया न की। हे कुरुनन्दन! अनन्तर निग्रहानुग्रहमें समर्थ च्यवन भगवान्‌ने स्नान करके सिंहासनपर बैठके सपत्नीक कुशिक राजाको दर्शन दिया। प्रह्वायुक्त राजा कुशिकने भार्याके सहित प्रसन्नवदन और निर्विकारचित्त होके मुनिसे कहा, कि भोजन तैयार है, मुनिने भी राजासे कहा, लाओ; तब राजा भार्याके सहित वह प्रस्तुत अन्न मुनिके समीप ले आया। (१२—१६)

अनेक प्रकारके मांस, विविध शाक, अनेक भांतिके पानीय, रसमिश्रित पिष्टक, विचित्र लड्डू, रसाल अपूप, खाण्डव, अनेक प्रकारके रस, मुनिभोजनके योग्य वनके फल, उसके अतिरिक्त सब राज्य-भोग, बहुतसे विचित्र फल, बदर, इंगुद, काश्मर्य, भल्लातक आदि गृहस्थ और वनवासियोंके खाने योग्य जो सब फल

गृहस्थानां च यद्भोज्यं यच्चापि वनवासिनाम् ।
सर्वमाहारयामास राजा शापभयात्ततः ॥ २० ॥
अथ सर्वमुपन्यस्तमग्रतश्च्यवनस्य तत् ।
ततः सर्वं समानीय तच्च शय्यासनं मुनिः ॥ २१ ॥
वस्त्रैः शुभैरवच्छाद्य भोजनोपस्करैः सह ।
सर्वमादीपयामास च्यवनो भृगुनन्दनः ॥ २२ ॥
न च तौ चक्रतुः क्रोधं दम्पती सुमहामती ।
तयोः संप्रेक्षतोरेव पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ २३ ॥
तथैव च स राजर्षिस्तस्थौ तां रजनीं तदा ।
सभार्यो वाग्यतः श्रीमान्न च कोपं समाविशत् ॥२४॥
नित्यं संस्कृतमन्नं तु विविधं राजवेश्मनि ।
शयनानि च मुख्यानि परिषेकाश्च पुष्कलाः ॥ २५ ॥
वस्त्रं च विविधाकारमभवत्समुपार्जितम् ।
न शशाक ततो द्रष्टुमन्तरं च्यवनस्तदा ॥ २६ ॥
पुनरेव च विप्रर्षिः प्रोवाच कुशिकं नृपम् ।
सभार्यो मां रथेनाशु वह यत्र ब्रवीम्यहम् ॥ २७ ॥
तथेति च प्राह नृपो निर्विशङ्कस्तपोधनम् ।
क्रीडारथोऽस्तु भगवन्नुत सांग्रामिको रथः ॥ २८ ॥

हैं, मुनिके शापभयसे राजाने वह सब मंगाया था, अनन्तर च्यवनके अगाडी समस्त भोजनकी सामग्री रखी गई। भृगुनन्दन च्यवन मुनि उन सब भोजनके पात्रोंके सहित शय्या और आसन मंगाकर उसे सफेद वस्त्रसे ढाकके जला दिया। महाबुद्धिमान दंपती उससे भी क्रुद्ध न हुए। (१७-२३)

उनके देखते ही देखते वह मुनि फिर अन्तर्द्धान हुए, राजर्षि श्रीमान् कुशिकने भार्याके सहित वाक्संयत होकर उस रात्रिमें उस ही भावसे निवास किया, उस समय वह क्रुद्ध नहीं हुए। राजभवनमें प्रतिदिन विविध अन्न और उत्तम शय्या उपस्थित रहती थीं, बहुत से स्नानयोग्य तथा अनेक प्रकारके वस्त्र सज्जित रहते थे, इसीसे च्यवन कोई त्रुटि नहीं देखते थे। विप्रर्षिने फिर राजा कुशिकसे कहा, मैं जिस स्थानमें कहूं, वहांपर तुम भार्याके सहित मुझे रथपर ले चलो। उस समय राजाने निःशङ्क होकर महर्षिसे कहा,

इत्युक्तः स मुनी राज्ञा तेन हृष्टेन तद्वचः ।
च्यवनः प्रत्युवाचेदं हृष्टः परपुरञ्जयम् ॥ २९ ॥
सज्जीकुरु रथं क्षिप्रं यस्ते सांग्रामिको मतः ।
सायुधः सपताकश्च शक्तीकनकयष्टिमान् ॥ ३० ॥
किङ्किणीस्वननिर्घोषो युक्तस्तोरणकल्पनैः ।
जाम्बूनदनिबद्धश्च परमेषुशतान्वितः ॥ ३१ ॥
ततः स तं तथेत्युक्त्वा कल्पयित्वा महारथम् ।
भार्यां वामे धुरि तदा चात्मानं दक्षिणे तथा ॥ ३२ ॥
त्रिदण्डं वज्रसूच्यग्रं प्रतोदं तत्र चादधत् ।
सर्वमेतत्तथा दत्त्वा नृपो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३३ ॥
भगवन्क्क रथो यातु ब्रवीतु भृगुनन्दन ।
यत्र वक्ष्यसि विप्रर्षे तत्र यास्यति ते रथः ॥ ३४ ॥
एवमुक्तस्तु भगवान्प्रत्युवाचाथ तं नृपम् ।
इतः प्रभृति यातव्यं पदकं पदकं शनैः ॥ ३५ ॥
श्रमो मम यथा न स्यात्तथा मच्छन्दचारिणौ ।
सुसुखं चैव वोढव्यो जनः सर्वश्च पश्यतु ॥ ३६ ॥

कि 'ऐसा ही होगा'। हे भगवन्! हम क्रीडारथ अथवा सांग्रामिक रथमें आपको ले चलें? (२३—२८)

राजाने जब प्रसन्नचित्त होकर मुनिसे ऐसा कहा, तब च्यवन हर्षित होके उस परपुरञ्जय राजासे बोले, तुम्हारा जो सांग्रामिक रथ है, उसे ही शीघ्र सज्जित करो। जो रथ अस्त्र, पताका, शक्ति, स्वर्णयष्टियुक्त किङ्किणीशब्दसे सम्पन्न, सोनेके तोरण और सैंकडों उत्तम अस्त्रोंसे युक्त है, उसे ही लाओ। अनन्तर राजाने 'ऐसा ही होवे' यह वचन कहके उस महारथको सजाकर धुरीकी बांई तरफ प्रियभार्याको और दहिनी ओर अपनेको योजित करते हुए त्रिदण्ड और वज्रसूच्यग्र प्रतोद स्थापित किया। राजाने यह सब सामग्री रथमें स्थापित करके कहा, हे हे भगवन् भृगुनन्दन! कहिये, रथ कहांपर ले चले? हे विप्रर्षि! आप जिस स्थानमें कहेंगे, वहां ही आपका रथ जावेगा। (२९—३४)

भगवान् च्यवनने ऐसा वचन सुनके उस राजासे कहा, इस स्थानसे धीरे धीरे एक एक पग चलना होगा, जिससे मुझे बहुत श्रम न हो, उस ही

नोत्सार्याः पथिकाः केचित्तेभ्यो दास्ये वसु ह्यहम् ।
ब्राह्मणेभ्यश्च ये कामानर्थयिष्यन्ति मां पथि ॥ ३७ ॥
सर्वान्दास्याम्यशेषेण धनं रत्नानि चैव हि ।
क्रियतां निखिलेनैतन्मा विचारय पार्थिव ॥ ३८ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजा भृत्यांस्तथाऽब्रवीत् ।
यद्यद् ब्रूयान्मुनिस्तत्तत्सर्वं देयमशङ्कितैः ॥ ३९ ॥
ततो रत्नान्यनेकानि स्त्रियो युग्यमजाविकम् ।
कृताकृतं च कनकं गजेन्द्राश्चाचलोपमाः ॥ ४० ॥
अन्वगच्छन्त तमृषिं राजामात्याश्च सर्वशः ।
हाहाभूतं च तत्सर्वमासीन्नगरमार्तवत् ॥ ४१ ॥
तौ तीक्ष्णाग्रेण सहसा प्रतोदेन प्रतोदितौ ।
पृष्ठे विद्धौ कटे चैव निर्विकारौ तमूहतुः ॥ ४२ ॥
वेपमानौ निराहारौ पञ्चाशद्रात्रकर्शितौ ।
कथंचिदूहतुर्वीरौ दम्पती तं रथोत्तमम् ॥ ४३ ॥
बहुशो भृशविद्धौ तौ स्रवन्तौ च क्षतोद्भवम् ।

भांति मेरे अभिप्रायके अनुसार तुम दोनों चलोगे। तुम लोग परम सुख से मुझे ले चलो और सब लोग देखे। मार्गसे पथिकोंको न हटाओ, क्योंकि मैं उन्हें धन दान करूंगा। मार्गमें ब्राह्मण लोग मेरे समीप जिस वस्तुके लिये प्रार्थना करेंगे, मैं बहुताके सहित उन्हें वही धन, रत्न प्रदान करूंगा। हे राजन्! मैंने जो कहा, वह सब तुम सिद्ध करो, इस विषयमें कुछ भी विचार मत करो। राजा उनका वचन सुनके सेवकोंसे बोला, मुनि जो कुछ कहें, तुम लोग शङ्कारहित होकर वह सब प्रदान करना। (३५-३९)

अनन्तर विविध रत्न, स्त्रीवृन्द, सवारी, बकरे, मेढे, शुद्ध तथा अविशुद्ध सुवर्ण, पर्वतसदृश हाथियोंके समूह और समस्त राजसेवक उस ऋषिके पीछे पीछे गमन करने लगे। नगरवासी सब लोग आर्त होके हाहाकार करने लगे। राजा और राजमहिषी तीक्ष्णाग्र कोडेके द्वारा ताडित तथा पुरोवर्त्ती गण्डस्थल विद्ध होनेपर भी निर्विकार भावसे रथ खींचने लगे। वे वीरदम्पती पचास रात्रितक थके हुए तथा भूखे रहने पर भी कांपते शरीरसे किसी प्रकार उस उत्तम रथको खींचने लगे। (४०-४३)

हे महाराज! वे दोनों बार बार

ददृशाते महाराज पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ४४ ॥
तौ दृष्ट्वा पौरवर्गस्तु भृशं शोकसमाकुलः।
अभिशापभयत्रस्तो न च किंचिदुवाच ह ॥ ४५ ॥
द्वन्द्वशश्चाब्रुवन्सर्वे पश्यध्वं तपसो बलम्।
क्रुद्धा अपि मुनिश्रेष्ठं वीक्षितुं नेह शक्नुमः ॥ ४६ ॥
अहो भगवतो वीर्यं महर्षेर्भावितात्मनः।
राज्ञश्चापि सभार्यस्य धैर्यं पश्यत यादृशम् ॥ ४७ ॥
श्रान्तावपि हि कृच्छ्रेण रथमेनं समूहतुः।
न चैतयोर्विकारं वै ददर्श भृगुनन्दनः ॥ ४८ ॥
भीष्म उवाच- ततः स निर्विकारौ तु दृष्ट्वा भृगुकुलोद्वहम्।
वसु विश्राणयामास यथा वैश्रवणस्तथा ॥ ४९ ॥
तत्रापि राजा प्रीतात्मा यथादिष्टमथाकरोत्।
ततोऽस्य भगवान्प्रीतो बभूव मुनिसत्तमः ॥ ५० ॥
अवतीर्य रथश्रेष्ठाद्दम्पती तौ मुमोच ह।
विमोच्य चैतौ विधिवत्ततो वाक्यमुवाच ह ॥ ५१ ॥
स्निग्धगम्भीरया वाचा भार्गवः सुप्रसन्नया।

अत्यन्त विद्ध होनेपर घावोंसे रुधिर झरनेसे फूले हुए किंशुक वृक्षकी भांति दिखाई देने लगे, पुरवासीवृन्द उन्हें देखके शोकसे व्याकुल होनेपर भी शाप-भयसे डरके कुछ भी न कह सके, सब कोई आपसमें कहने लगे, "तपस्याका फल देखो" हम लोग क्रुद्ध होके भी मुनिश्रेष्ठकी ओर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं। इस भावितात्मा महर्षिका क्या ही आश्चर्य बल है, और भार्याके सहित राजाका जैसा आश्चर्यमय धीरज है, वह भी अवलोकन करो। ये दोनों थकनेपर भी अत्यन्त कष्टसे इस रथको खींच रहे हैं, भृगुनन्दनने इनमें कुछ भी विकार नहीं देखा। (४४-४८)

भीष्म बोले, अनन्तर भृगुकुलधुरन्धर च्यवन उन्हें निर्विकार देखके कुबेरकी भांति बहुत धन दान किया, तौभी राजा प्रसन्नचित्त होकर उनके कहे हुए कार्यको करनेमें कुण्ठित नहीं हुआ। अन्तमें मुनिसत्तम भगवान च्यवन उनपर प्रसन्न हुए और उस श्रेष्ठ रथसे उतरकर उन्हें छोड दिया। हे भारत! भृगुनन्दन उस राजा और राजमहिषीको विधिपूर्वक रथसे मुक्त करके प्रसन्नचित्तसे उत्तम, कोमल, गम्भीर यह वचन

ददानि वां वरं श्रेष्ठं तं ब्रूतामिति भारत ॥ ५२ ॥
सुकुमारौ च तौ विद्धौ कराभ्यां मुनिसत्तमः ।
पस्पर्शामृतकल्पाभ्यां स्नेहाद्भरतसत्तम ॥ ५३ ॥
अथाब्रवीन्नृपो वाक्यं श्रमो नास्त्यावयोरिह ।
विश्रान्तौ च प्रभावात्ते ऊचतुस्तौ तु भार्गवम् ॥५४॥
अथ तौ भगवान्प्राह प्रहृष्टश्च्यवनस्तदा ।
न वृथा व्याहृतं पूर्वं यन्मया तद्भविष्यति ॥ ५५ ॥
रमणीयः समुद्देशो गङ्गातीरमिदं शुभम् ।
किंचित्कालं व्रतपरो निवत्स्यामीह पार्थिव ॥ ५६ ॥
गम्यतां स्वपुरं पुत्र विश्रान्तः पुनरेष्यसि ।
इहस्थं मां सभार्यस्त्वं द्रष्टासि श्वो नराधिप ।
न च मन्युस्त्वया कार्यः श्रेयस्ते समुपस्थितम् ॥५७॥
यत्काङ्क्षितं हृदिस्थं ते तत्सर्वं हि भविष्यति ।
इत्येवमुक्तः कुशिकः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ५८ ॥
प्रोवाच मुनिशार्दूलमिदं वचनमर्थवत् ।
न मे मन्युर्महाभाग पूतौ स्वो भगवंस्त्वया ॥ ५९ ॥

बोले, मैं तुम्हें अत्यन्त उत्तम वर दूंगा जो इच्छा हो वह मांगो। हे भरतसत्तम ! उस मुनिसत्तमने स्नेहवशसे अमृतमय हाथसे अत्यन्त विद्ध सुकुमार दम्पतीका शरीरस्पर्श किया। (४९-५३)

अनन्तर राजाने भार्गवसे कहा, आपकी कृपासे हमें श्रम नहीं हुआ, अब हम श्रमरहित हुए हैं, शेषमें भगवान च्यवन अत्यन्त हर्षित होकर उस समय उनसे बोले, जब मैंने पहले कभी वृथा वचन नहीं कहा है, तब वह अवश्य ही सिद्ध होगा। हे महाराज ! पवित्र गङ्गाका तट अत्यन्त रमणीय स्थल है, कुछ समयतक व्रतनिष्ठ होकर इस ही स्थलमें निवास करूंगा, तुम अपने नगरमें जाओ, वहां विश्राम करके फिर इस ही स्थानमें आना। हे नरनाथ ! कलह तुम भार्याके सहित आके मुझे यहां ही देखोगे। तुम क्रोध अथवा शोक मत करो, तुम्हारे कल्याणका समय उपस्थित हुआ है, तुम्हारे हृदयमें जो अभिलाष है, वह निश्चय ही सिद्ध होगी। (५४—५८)

कुशिक ऐसा वचन सुनके प्रसन्नचित्त होकर उस मुनिश्रेष्ठसे यह अर्थयुक्त वचन बोले, हे महाभाग ! हमें

संवृत्तौ यौवनस्थौ स्वो वपुष्मन्तौ बलान्वितौ।
प्रतोदेन व्रणा ये मे सभार्यस्य त्वया कृताः ॥ ६० ॥
तान्न पश्यामि गात्रेषु स्वस्थोऽस्मि सह भार्यया।
इमां च देवीं पश्यामि वपुषाऽप्सरसोपमाम् ॥ ६१ ॥
श्रिया परमया युक्ता तथा दृष्टा पुरा मया।
तव प्रसादसंवृत्तमिदं सर्वं महामुने ॥ ६२ ॥
नैतच्चित्रं तु भगवंस्त्वयि सत्यपराक्रम।
इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं कुशिकं च्यवनस्तदा ॥ ६३ ॥
आगच्छेथाः सभार्यश्च त्वमिहेति नराधिप।
इत्युक्तः समनुज्ञातो राजर्षिरभिवाद्य तम् ॥ ६४ ॥
प्रययौ वपुषा युक्तो नगरं देवराजवत्।
तत एनमुपाजग्मुरमात्याः सपुरोहिताः ॥ ६५ ॥
बलस्था गणिकायुक्ताः सर्वाः प्रकृतयस्तथा।
तैर्वृतः कुशिको राजा श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ६६ ॥
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूज्यमानोऽथ बन्दिभिः।
ततः प्रविश्य नगरं कृत्वा पौर्वाह्लिकीः क्रियाः।

क्रोध अथवा शोक नहीं है, हम आपके प्रसादसे पवित्र हुए। हम तेज और बलसे युक्त होकर यौवनस्थ हुए हैं। आपने कोडेसे हमारे शरीरमें जो सब घाव उत्पन्न किये थे, उसे अब नहीं देखता हूं, इस समय मैं भार्याके सहित स्वस्थ हुआ हूं। इस देवीको मैंने पहले जिस प्रकार देखा था, उससे भी बढके श्रीसंपन्न और शरीरकी सुघराईमें अप्सरासदृश देखता हूं। हे महामुनि! आपके प्रसादसे ही यह सब हुआ है। हे सत्यपराक्रमी भगवन्! आपमें ये सब आश्चर्य नहीं हैं, च्यवन उस समय ऐसा सुनके कुशिकसे बोले, हे नरनाथ! तुम भार्याके सहित इस ही स्थानमें आना। राजर्षि कुशिकने महर्षिका ऐसा वचन सुनके उन्हें प्रणाम करके उनकी आज्ञानुसार बिदा होके सौन्दर्ययुक्त शरीरसे देवराजकी भांति नगरमें गमन किया। (५८—६५)

अनन्तर पुरोहितके सङ्ग अमात्यवृन्द, सेना और गणिकाओंके सहित समस्त प्रजा उनके निकट उपस्थित हुई। कुशिकने उस समस्त प्रजासमूहसे घिरके परम श्रीसम्पन्न और बन्दिजनोंसे पूजित होकर नगरमें प्रवेश किया।

भुक्त्वा सभार्यो रजनीमुवास स महाद्युतिः ॥ ६७ ॥
ततस्तु तौ नवमभिवीक्ष्य यौवनं परस्परं विगतरुजाविवामरौ।
ननन्दतुः शयनगतौ वपुर्धरौ श्रिया युतौ द्विजवरदत्तया तदा ॥६८॥
अथाप्यृषिर्भृगुकुलकीर्तिवर्धनस्तपोधनो वनमभिराममृद्धिमत्।
मनीषया बहुविधरत्नभूषितं ससर्ज यन्न पुरि शतक्रतोरपि ॥ ६९ ॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे च्यवनकुशिकसंवादे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥ [२७९२]

भीष्म उवाच– ततः स राजा राज्यन्ते प्रतिबुद्धो महामनाः।
कृतपूर्वाह्णिकः प्रायात्सभार्यस्तद्वनं प्रति ॥ १ ॥
ततो ददर्श नृपतिः प्रासादं सर्वकाञ्चनम्।
मणिस्तम्भसहस्राढ्यं गन्धर्वनगरोपमम्।
तत्र दिव्यानभिप्रायान्ददर्श कुशिकस्तदा ॥ २ ॥
पर्वतान् रूप्यसानूंश्च नलिनीश्च सपङ्कजाः।
चित्रशालाश्च विविधास्तोरणानि च भारत।
शाद्वलोपचितां भूमिं तथा काञ्चनकुट्टिमाम् ॥ ३ ॥

· अनन्तर महातेजस्वी राजा नगरमें प्रविष्ट होकर पूर्वाह्णिकी क्रिया क्रिया समाप्त करनेके अनन्तर भोजन करके भार्याके सहित रात्रि बिताने लगा। उस समय वे शोकरहित होके देवसदृश परस्परका नवयौवन देखके द्विजश्रेष्ठके दिये हुए श्रीसम्पन्न शरीर धारण करके सोकर आनन्दित हुए। अनन्तर भृगुकुलकी कीर्ति बढानेवाले तपस्वी च्यवनने मनीषाके द्वारा अनेक प्रकारके रत्नभूषित, समृद्धियुक्त, अत्यन्त रमणीय ऐसा बगीचा रचा कि जिसका इन्द्रकी अमरावती नगरीमें भी दर्शन होना दुर्लभ है। (६५-६९)

अनुशासनपर्वमें ५३ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ५४ अध्याय।

भीष्म बोले, अनन्तर महात्मा राजा कुशिक रात्रि बीतनेपर सावधान होके पूर्वान्हिक कार्योंको समाप्त करके भार्याके सहित उस बगीचेमें गये। हे भारत! अनन्तर राजा कुशिकने गन्धर्वनगर-सदृश सहस्र मणिमय स्तम्भोंसे युक्त एक सुवर्णमय प्रासाद देखा। वह उस समय वहांपर सब दिव्य अभिप्राय देखने लगे। रमणीय सानुमय पर्वत, कमलोंके सहित नलिनीदल, अनेक प्रकारकी चित्रशाला और विचित्र तोरण अवलोकन किया। सुवर्ण प्रासादके

सहकारान्प्रफुल्लांश्च केतकोद्दालकान्वरान् ।
अशोकान्सहकुन्दांश्च फुल्लांश्चैवातिमुक्तकान् ॥ ४ ॥
चम्पकांस्तिलकान् भव्यान्पनसान्वञ्जुलानपि ।
पुष्पितान्कर्णिकारांश्च तत्र तत्र ददर्श ह ॥ ५ ॥
श्यामान्वारणपुष्पांश्च तथाऽष्टपदिकालताः ।
तत्र तत्र परिक्लृप्ता ददर्श स महीपतिः ॥ ६ ॥
रम्यान्पद्मोत्पलधरान्सर्वर्तुकुसुमांस्तथा ।
विमानप्रतिमांश्चापि प्रासादान्शैलसन्निभान् ॥ ७ ॥
शीतलानि च तोयानि क्वचिदुष्णानि भारत ।
आसनानि विचित्राणि शयनप्रवराणि च ॥ ८ ॥
पर्यङ्कान् रत्नसौवर्णान्पराध्यास्तरणावृतान् ।
भक्ष्यं भोज्यमनन्तं च तत्र तत्रोपकल्पितम् ॥ ९ ॥
वाणीवादाञ्छुकांश्चैव सारिकान्भृङ्गराजकान् ।
कोकिलाञ्छतपत्रांश्च सकोयष्टिककुक्कुभान् ॥ १० ॥
मयूरान्कुक्कुटांश्चापि दात्यूहान् जीवजीवकान् ।
चकोरान्वानरान्हंसान्सारसांश्चक्रसाह्वयान् ॥ ११ ॥
समन्ततः प्रमुदितान्ददर्श सुमनोहरान् ।
क्वचिदप्सरसां संघान् गन्धर्वाणां च पार्थिव ॥ १२ ॥

नीचेके हिस्सेमें शाद्वल शस्योंसे युक्त भूमि प्रफुल्लित केतकी, उद्दालक, धव, अशोक, कुन्द, फले हुए अतिमुक्तक, चम्पक, तिलक, सुन्दर पनस, वञ्जुल और फूले हुए कर्णिकारके वृक्ष उस स्थानमें देखे, श्यामवर्ण वारणपुष्प और अष्टपदिका लताओंको राजाने उस स्थानमें फैली हुई देखा। (१- ६)

हे भारत ! किसी स्थलमें सब ऋतुके पद्मोत्पलधर आदि सब वृक्ष, विमानकी भांति पर्वत सदृश ऊंचे समस्त प्रासाद, उत्तम शीतल जल, किसी किसी स्थलमें गर्म जल, किसी स्थानमें विचित्र उत्तम शय्या, बहुमूल्य आस्तरणयुक्त रत्नसुवर्णमय पलङ्ग और अनेक प्रकारके भक्षण और भोजनकी सामग्री उस स्थानमें उत्तम रीतिसे सज्जित तथा प्रस्तुत थी। वाक्पटु शुक, सारिका, भृङ्गराज, कोकिल, सारस, टिट्टिभक, वनकुक्कट, मयूर, कुक्कुट, दात्यूह, जीवजीव, चकोर, वानर, हंस और सारस, चक्रवाक आदि अत्यन्त

R.No.B.1819

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥)	"	।)
१२ शान्तिपर्व ।					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)

कुल मूल्य ५२।) कुल डा. व्य. ९।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

REGISTERED NO. B. 1319

अङ्क १०१ ॥ ॐ ॥ [अनुशासनपर्व ५]

महाभारत ।

भाषा--भाष्य--समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

महाभारत ।

प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रसिद्ध होता है।

१२ अंकोंका अर्थात् १२०० पृष्ठोंका मूल्य म० आ० से ६) रु० और वी. पी. से ७) रु० है।

मंत्री--स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६), और वी. पी. से ७) विदेशके लिये ८)

कान्ताभिरपरांस्तत्र परिष्वक्तान्ददर्श ह ।
न ददर्श च तान्भूयो ददर्श च पुनर्नृपः ॥ १३ ॥
गीतध्वनिं सुमधुरं तथैवाऽध्यापनध्वनिम् ।
हंसान्सुमधुरांश्चापि तत्र शुश्राव पार्थिवः ॥ १४ ॥
तं दृष्ट्वाऽत्यद्भुतं राजा मनसाचिन्तयत्तदा ।
स्वप्नोऽयं चित्तविभ्रंश उताहो सत्यमेव तु ॥ १५ ॥
अहो सह शरीरेण प्राप्तोऽस्मि परमां गतिम् ।
उत्तरान्वा कुरून्पुण्यानथवाप्यमरावतीम् ॥ १६ ॥
किं चेदं महदाश्चर्यं संपश्यामीत्यचिन्तयत् ।
एवं संचिन्तयन्नेव ददर्श मुनिपुङ्गवम् ॥ १७ ॥
तस्मिन्विमाने सौवर्णे मणिस्तम्भसमाकुले ।
महार्हे शयने दिव्ये शयानं भृगुनन्दनम् ॥ १८ ॥
तमभ्ययात्प्रहर्षेण नरेन्द्रः सह भार्यया ।
अन्तर्हितस्ततो भूयश्च्यवनः शयनं च तत् ॥ १९ ॥
ततोऽन्यस्मिन्वनोद्देशे पुनरेव ददर्श तम् ।
कौश्यां बृस्यां समासीनं जपमानं महाव्रतम् ॥ २० ॥

मनोहर पक्षियों और वानरोंके समूहको राजाने चारों ओर प्रमुदित देखा। ७-१२

किसी किसी स्थलमें अप्सरा और गन्धर्ववृन्द, कहींपर स्त्रियोंके संग रत अन्यान्य पुरुषोंको देखा; देखके फिर उनकी ओर दृष्टि नहीं की, राजाने उस स्थानमें उत्तम मधुर संगीत शब्द, अध्ययनध्वनि और हंसोंका शब्द सुना। राजाने उस अद्भुत कार्यको देखकर उस समय मन ही मन चिन्ता किया, कि यह स्वप्न अथवा चित्त-विभ्रम है वा सत्य ही होगा? क्या ही आश्चर्य है, मैं सशरीर ही परम गतिको प्राप्त हुआ, अथवा पवित्र उत्तर कुरुदेश वा अमरावतीमें पहुंचा हूं। ओहो! क्या ही महत् आश्चर्य देख रहा हूं, इस ही प्रकार चिन्ता करने लगा। उसने इस ही प्रकार चिन्ता करते करते ही उस मणिस्तम्भसे युक्त सुवर्णके विमानमें महार्ह दिव्य शय्यापर सोये हुए मुनिश्रेष्ठ भृगुनन्दनका दर्शन किया। देखतेही राजा हर्षित होकर भार्याके सहित उस महर्षिके सामने गया। तब च्यवन उस शय्याके सहित फिर अंतर्द्धान हुए। (१३-१९)

अनन्तर राजाने किसी दूसरे वन-

एवं योगबलाद्विप्रो मोहयामास पार्थिवम् ।
क्षणेन तद्वनं चैव ते चैवाप्सरसां गणाः ॥ २१ ॥
गन्धर्वाः पादपाश्चैव सर्वमन्तरधीयत ।
निःशब्दमभवच्चापि गङ्गाकूलं पुनर्नृप ॥ २२ ॥
कुशवल्मीकभूयिष्ठं बभूव च यथा पुरा ।
ततः स राजा कुशिकः सभार्यस्तेन कर्मणा ॥ २३ ॥
विस्मयं परमं प्राप्तस्तद्दृष्ट्वा महदद्भुतम् ।
ततः प्रोवाच कुशिको भार्यां हर्षसमन्वितः ॥ २४ ॥
पश्य भद्रे यथा भावाश्चित्रा दृष्टाः सुदुर्लभाः ।
प्रसादाद्भृगुमुख्यस्य किमन्यत्र तपोबलात् ॥ २५ ॥
तपसा तदवाप्यं हि यत्तु शक्यं मनोरथैः ।
त्रैलोक्यराज्यादपि हि तप एव विशिष्यते ॥ २६ ॥
तपसा हि सुतप्तेन शक्यो मोक्षस्तपोबलात् ।
अहो प्रभावो ब्रह्मर्षेश्च्यवनस्य महात्मनः ॥ २७ ॥
इच्छयैष तपोवीर्यादन्याँल्लोकान्सृजेदपि ।
ब्राह्मणा एव जायेरन्पुण्यवाग्बुद्धिकर्मणः ॥ २८ ॥

स्थलमें कुशासनपर बैठे, उस महाव्रती, जपमें रत मुनिका फिर दर्शन किया। विप्रवर च्यवन मुनि इस ही प्रकार योगबलसे राजाको मोहित करने लगे, क्षणभरके बीच उस बगीचेमें अप्सरा गन्धर्वोंके सहित सब वृक्ष अन्तर्हित हुए। हे महाराज! गंगाका तट फिर निःशब्द हुआ जैसे पहले उसमें बहुतसे कुश और बाल्दके कण थे, वैसे ही रहे। अनन्तर राजा भार्याके सहित महत् अद्भुतकार्य देखके अत्यन्त विस्मित हुआ। अन्तमें हर्षयुक्त होके भार्यासे बोला, हे कल्याणी! हमने भृगुनन्दनके प्रसादसे अत्यन्त दुर्लभ विचित्र व्यापार अवलोकन किया, यह क्या तपोबलके अतिरिक्त अन्य कारणसे हो सकता है? (२०—२५)

जो मनोरथसे प्राप्त नहीं होता, वह तपस्याके सहारे प्राप्त हुआ करता है; तीनों लोकोंके राज्यसे तपस्या ही श्रेष्ठ है। उत्तम रीतिसे तपस्या करनेसे उस ही तपोबलसे मोक्षलाभकी सामर्थ्य होती है। महानुभाव ब्रह्मर्षि च्यवनका कैसा आश्चर्य प्रभाव है! ये इच्छा करनेसे ही तपोबलसे दूसरी सृष्टि कर सकते हैं। ब्राह्मण ही पुण्यवाक्, पूतबुद्धि

उत्सहेदिह कृत्वैव कोऽन्यो वै च्यवनादृते।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं लोके राज्यं हि सुलभं नरैः ॥ २९ ॥
ब्राह्मण्यस्य प्रभावाद्धि रथे युक्तौ स्वधुर्यवत्।
इत्येवं चिन्तयानः स विदितश्च्यवनस्य वै ॥ ३० ॥
संप्रेक्ष्योवाच नृपतिं क्षिप्रमागम्यतामिति।
इत्युक्तः सहभार्यस्तु सोऽभ्यगच्छन्महामुनिम् ॥ ३१॥
शिरसा वन्दनीयं तमवन्दत च पार्थिवः।
तस्याशिषः प्रयुज्याथ स मुनिस्तं नराधिपम्।
निषीदेत्यब्रवीद्धीमान्सान्त्वयन्पुरुषर्षभः ॥ ३२ ॥
ततः प्रकृतिमापन्नो भार्गवो नृपते नृपम्।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा तर्पयन्निव भारत ॥ ३३ ॥
राजन्सम्यग्जितानीह पञ्च पञ्च स्वयं त्वया।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कृच्छ्रान्मुक्तोऽसि तेन वै ॥ ३४ ॥
सम्यगाराधितः पुत्र त्वया प्रवदतां वर।
न हि ते वृजिनं किंचित्सुसूक्ष्ममपि विद्यते ॥ ३५ ॥
अनुजानीहि मां राजन्गमिष्यामि यथागतम्।

और पवित्रकर्मा होकर जन्मते हैं। इस लोकमें च्यवनके अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष ऐसा कार्य करनेके लिये उत्साहवान हुआ करता है? इस लोकमें मनुष्योंके लिये ब्राह्मणत्व अत्यन्त दुर्लभ है, राज्य बहुत सहजमें प्राप्त होता है, ब्राह्मणके प्रभावसे ही हम निज रथकी धुरीमें जुते थे। राजाने इस ही प्रकार चिन्ता करते करते च्यवनको देखा। (२९-३०)

महर्षिने राजाको देखके कहा, जलदी आओ। राजा महर्षिकी ऐसी आज्ञा सुनके भार्याके सहित उस महामुनिके संमुख उपस्थित हुआ और उस वन्दनीय मुनिको सिर नीचा करके वन्दना की। हे पुरुषश्रेष्ठ! बुद्धिमान मुनि उस राजाको आशीर्वाद देकर उसे धीरज देते हुए बैठाकर मधुर वाणीसे बोले, हे राजन्! तुमने स्वयं मनके सहित सब इन्द्रियोंको पूरी रीतिसे जय किया है, इस ही निमित्त इस क्लेशसे मुक्त हुए। हे तात! वक्तृवर! मैं तुम्हारे द्वारा पूर्ण रीतिसे पूजित हुआ हूं तुममें सूक्ष्म परिमाणसे भी किञ्चिन्मात्र पाप नहीं है। हे महाराज! अब मुझे निज स्थानपर जानेके लिये अनुमति दो। हे

प्रीतोऽस्मि तव राजेन्द्र वरश्च प्रतिगृह्यताम् ॥ ३६ ॥

कुशिक उवाच– अग्निमध्ये गतेनेव भगवन्सन्निधौ मया।

वर्तितं भृगुशार्दूल यन्न दग्धोऽस्मि तद्बहु ॥ ३७ ॥

एष एव वरो मुख्यः प्राप्तो मे भृगुनन्दन।

यत्प्रीतोऽसि मया ब्रह्मन् कुलं त्रातं च मेऽनघ ॥ ३८॥

एष मेऽनुग्रहो विप्र जीविते च प्रयोजनम्।

एतद्राज्यफलं चैव तपसश्च फलं मम ॥ ३९ ॥

यदि त्वं प्रीतिमान्विप्र मयि वै भृगुनन्दन।

अस्ति मे संशयः कश्चित्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ४० ॥ [२८१२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे च्यवनकुशिकसंवादे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

च्यवन उवाच– वरश्च गृह्यतां मत्तो यश्च ते संशयो हृदि।

तं प्रब्रूहि नरश्रेष्ठ सर्वं संपादयामि ते ॥ १ ॥

कुशिक उवाच– यदि प्रीतोऽसि भगवंस्ततो मे वद भार्गव।

कारणं श्रोतुमिच्छामि मद्गृहे वासकारितम् ॥ २ ॥

शयनं चैकपार्श्वेन दिवसानेकविंशतिम्।

राजेन्द्र! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं, तुम वर मांगो। (२१—३६)

कुशिक बोले, हे भृगुश्रेष्ठ! मैं आपके समीप अग्निके बीच पडे हुए पुरुषकी भांति विद्यमान रहके जो भस्म नहीं हुआ, यही बहुत है। हे ब्रह्मन् पापरहित भृगुनन्दन! यही मैंने मुख्य वर पाया, कि आप मुझपर प्रसन्न हुए और मेरे कुलकी रक्षा हुई है, यही मेरे ऊपर कृपा हुई है, यही मेरे जीवनका प्रयोजन है और यही मेरे राज्य और तपस्याका फल है। हे विप्र भृगुनन्दन! यदि आप मुझपर प्रसन्न हुए हों, तो मुझे कुछ सन्देह है, उस विषयकी आपको व्याख्या करनी उचित है! (३७—४०)

अनुशासनपर्वमें ५४ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ५५ अध्याय।

च्यवन बोले, हे राजन्! मेरे समीप वर ग्रहण करो और तुम्हारे मनमें जो सन्देह हो, वह भी कहो, मैं तुम्हारी सब कामना सिद्ध करूंगा। (१)

कुशिक बोले, हे भगवन् भार्गव! यदि आप मुझपर प्रसन्न हुए हैं, तो आपने मेरे गृहमें जिस लिये निवास किया था, उसका कारण कहिये, मैं

अकिंचिदुक्त्वा गमनं बहिश्च मुनिपुङ्गव ॥ ३ ॥
अन्तर्धानमकस्माच्च पुनरेव च दर्शनम् ।
पुनश्च शयनं विप्र दिवसानेकविंशतिम् ॥ ४ ॥
तैलाभ्यक्तस्य गमनं भोजनं च गृहे मम ।
समुपानीय विविधं यद्दग्धं जातवेदसा ॥ ५ ॥
निर्याणं च रथेनाशु सहसा यत्कृतं त्वया ।
धनानां च विसर्गश्च वनस्यापि च दर्शनम् ॥ ६ ॥
प्रासादानां बहूनां च काञ्चनानां महामुने ।
मणिविद्रुमपादानां पर्यङ्काणां च दर्शनम् ॥ ७ ॥
पुनश्चादर्शनं तस्य श्रोतुमिच्छामि कारणम् ।
अतीव ह्यत्र मुह्यामि चिन्तयानो भृगूद्वह ॥ ८ ॥
न चैवात्राधिगच्छामि सर्वस्यास्य विनिश्चयम् ।
एतदिच्छामि कार्त्स्न्येन सत्यं श्रोतुं तपोधन ॥ ९ ॥
च्यवन उवाच- शृणु सर्वमशेषेण यदिदं येन हेतुना ।
न हि शक्यमनाख्यातुमेवं पृष्टेन पार्थिव ॥ १० ॥
पितामहस्य वदतः पुरा देवसमागमे ।
श्रुतवानस्मि यद्राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ ११ ॥

उसे सुननेकी इच्छा करता हूं। हे मुनिश्रेष्ठ! आप एक पार्श्वसे सोये रहके कुछ भी न कहके बाहर निकले और अकस्मात् अन्तर्द्धान हुए, फिर दर्शन दिया। फिर इक्कीस दिनतक सोये रहे, तेल लगाके गमन किया, मेरे भवनमें विविध भोजनकी सामग्री मंगाके अग्निके सहारे उसे भस्म कराया, सहसा रथपर चढके नगरमें घूमे, धन दान किया और वन प्रदर्शित करके अनेक प्रकारके सुवर्णमय प्रासाद, मणि और विद्रुमनिर्मित पलंग आदि प्रदर्शित किया, फिर उन सब वस्तुओंका अदर्शन हुआ। हे महामुनि! इन सबके कारणको मैं सुननेकी इच्छा करता हूं। हे भृगुकुलधुरन्धर! मैं इन सब विषयोंकी चिन्ता करते हुए अत्यन्त मुग्ध होरहा हूं। हे तपोधन! इसलिये मैं यह समस्त विषय सत्य तथा यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं। (२—९)

च्यवन बोले, हे महाराज! ये सब विषय जिस कारणसे हुए हैं, उसे सुनो। जिसने इसे देखा है, वह इन सब विषयोंको नहीं कह सकता। पहले

ब्रह्मक्षत्रविरोधेन भविता कुलसंकरः।
पौत्रस्ते भविता राजंस्तेजोवीर्यसमन्वितः ॥ १२ ॥
ततस्ते कुलनाशार्थमहं त्वां समुपागतः।
चिकीर्षन्कुशिकोच्छेदं संदिधक्षुः कुलं तव ॥ १३ ॥
ततोऽहमागम्य पुरे त्वामवोचं महीपते।
नियमं कंचिदारप्स्ये शुश्रूषा क्रियतामिति ॥ १४ ॥
न च ते दुष्कृतं किंचिदहमासादयं गृहे।
तेन जीवसि राजर्षे न भवेथास्त्वमन्यथा ॥ १५ ॥
एवं बुद्धिं समास्थाय दिवसानेकविंशतिम्।
सुप्तोऽस्मि यदि मां कश्चिद्बोधयेदिति पार्थिव ॥ १६ ॥
यदा त्वया सभार्येण संसुप्तो न प्रबोधितः।
अहं तदैव ते प्रीतो मनसा राजसत्तम ॥ १७ ॥
उत्थाय चास्मि निष्क्रान्तो यदि मां त्वं महीपते।
पृच्छेः क्व यास्यसीत्येवं शपेयं त्वामिति प्रभो ॥१८॥
अन्तर्हितः पुनश्चास्मि पुनरेव च ते गृहे।

समयमें देवताओंके इकट्ठे होनेपर पितामहने जो कथा कही थी, उसे मैंने सुना था। हे राजन्! इस समय उसे कहता हूं, सुनो। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके परस्पर विरोधके कारण कुलसङ्कर होगा। हे महाराज! तेज और पराक्रमसे युक्त तुम्हारे एक पौत्र जन्मेगा। इस ही लिये मैं तुम्हारा वंश नाश करनेके निमित्त तुम्हारे समीप आया था, कुशिकवंशके नाश करनेकी कामना करते हुए तुम्हारे वंशको जलानेके लिये मेरी इच्छा थी। (१०—१३)

उस ही निमित्त मैंने तुम्हारे गृहमें आके पहलेही यह वचन कहा था, कि मैं कोई नियम आरम्भ करूंगा, तुम लोग मेरी सेवा करो। मैंने तुम्हारे गृहमें कोई दुष्कर कार्य नहीं देखा; हे राजर्षि! इस ही लिये तुम जीवित हो, तुम्हारी प्रकृतिमें कुछ विकृति नहीं हुई है। मैं यही विचारके इक्कीस दिनतक गृहमें सोया था, कि यदि कोई इतने समयके बीच मुझे जगावे। हे नृपसत्तम! परन्तु मेरे सोनेपर जब भार्याके सहित तुमने मेरी सेवा करते हुए निद्रा भङ्ग नहीं की, उस ही समय मैं तुम्हारे ऊपर मन ही मन प्रसन्न हुआ था। हे महाराज! जब मैं उठके बाहर निकला, उस समय यदि तुम मुझसे पूछते, कि

योगमास्थाय संसुप्तो दिवसानेकविंशतिम् ॥ १९ ॥
क्षुधितौ मामसूयेथां श्रमाद्वेति नराधिप ।
एवं बुद्धिं समास्थाय कर्शितौ वां क्षुधा मया ॥ २० ॥
न च तेऽभूत्सुसूक्ष्मोऽपि मन्युर्मनसि पार्थिव ।
सभार्यस्य नरश्रेष्ठ तेन ते प्रीतिमानहम् ॥ २१ ॥
भोजनं च समानाय्य यत्तदा दीपितं मया ।
क्रुद्धयेथा यदि मात्सर्यादिति तन्मर्षितं च मे ॥ २२ ॥
ततोऽहं रथमारुह्य त्वामवोचं नराधिप ।
सभार्यो मां वहस्वेति तच्च त्वं कृतवांस्तथा ॥ २३ ॥
अविशङ्को नरपते प्रीतोऽहं चापि तेन ह ।
धनोत्सर्गेऽपि च कृते न त्वां क्रोधः प्रधर्षयत् ॥ २४ ॥
ततः प्रीतेन ते राजन् पुनरेतत्कृतं तव ।
सभार्यस्य वनं भूयस्तद्विद्धि मनुजाधिप ॥ २५ ॥
प्रीत्यर्थं तव चैतन्मे स्वर्गसंदर्शनं कृतम् ।

'कहां जाओगे?' तो मैं तुम्हें शाप देता। हे महाराज! अनन्तर मैं अन्तर्द्धान होकर तुम्हारे गृहमें योग अवलम्बन करके फिर इक्कीस दिन सोया था। (१४—१९)

हे नरनाथ! तुम लोग भूखे अथवा परिश्रमसे थककर मेरे विषयमें असूया करो, ऐसा ही विचारके मैंने तुम्हें क्षुधासे कर्षित किया था। हे नरश्रेष्ठ महाराज! भार्याके सहित तुम्हारे अन्तःकरणमें अत्यन्त सूक्ष्म परिमाणसे भी विकार नहीं हुआ, इसहीसे मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं। भोजनकी सारी सामग्री मंगाके उस समय मैंने जो भस्म कराई थी, उसका यही तात्पर्य था, कि यदि तुम लोग मत्सरताके वशमें होकर मेरे विषयमें क्रोध करते, तो मैं तुम्हें शाप देता; परन्तु उस समय तुमने मेरे विषयमें क्षमा की थी। (२०—२२)

हे नरनाथ! अनन्तर मैंने रथपर चढके तुमसे कहा कि तुम भार्याके सहित "रथमें जुतकर मुझे ले चलो" तुमने शङ्कारहित होके वही किया। हे राजन्! उस कारणसे मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं। मैं जब तुम्हारा धन लोगोंको दे रहा था, तब भी क्रोध तुम्हें आक्रमण न कर सका। हे नरनाथ महाराज जान रखो, कि इन्हीं कारणोंसे भार्याके सहित तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होकर मैंने फिर उस वनको

यत्ते वनेऽस्मिन्नृपते दृष्टं दिव्यं निदर्शनम् ॥ २६ ॥
स्वर्गोद्देशस्त्वया राजन् सशरीरेण पार्थिव।
मुहूर्तमनुभूतोऽसौ सभार्येण नृपोत्तम ॥ २७ ॥
निदर्शनार्थं तपसो धर्मस्य च नराधिप।
तत्र याऽऽसीत्स्पृहा राजंस्तच्चापि विदितं मया ॥ २८॥
ब्राह्मण्यं काङ्क्षसे हि त्वं तपश्च पृथिवीपते।
अवमन्य नरेन्द्रत्वं देवेन्द्रत्वं च पार्थिव ॥ २९ ॥
एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वं ब्राह्मण्यं तात दुर्लभम्।
ब्राह्मणे सति चर्षित्वमृषित्वे च तपस्विता ॥ ३० ॥
भविष्यत्येष ते कामः कुशिकात्कौशिको द्विजः।
तृतीयं पुरुषं तुभ्यं ब्राह्मणत्वं गमिष्यति ॥ ३१ ॥
वंशस्ते पार्थिवश्रेष्ठ भृगूणामेव तेजसा।
पौत्रस्ते भविता विप्र तपस्वी पावकद्युतिः ॥ ३२ ॥
यः स देवमनुष्याणां भयमुत्पादयिष्यति।
त्रयाणामेव लोकानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ३३ ॥
वरं गृहाण राजर्षे यत्ते मनसि वर्तते।

उत्पन्न किया था। मैंने तुम्हारी प्रसन्नताके लिये तुम्हें स्वर्ग दिखाया है। हे राजन्! इस वनके बीच तुमने दिव्यदर्शन देखा है, उसहीसे भार्याके सहित मुहूर्तभर तुम्हें स्वर्गसुख अनुभव हुआ है। हे नरनाथ! तपस्या और धर्मके निदर्शनके विषयमें उस समय तुम्हारे मनमें जो स्पृहा हुई थी, वह भी मुझे अविदित नहीं है। (२३—२८)

हे पृथ्वीनाथ! तुमने नरेन्द्रत्व तथा देवेन्द्रपदकी भी अवज्ञा करके ब्राह्मणत्व तथा तपस्याकी आकांक्षा की है। हे तात! तुमने जो ब्राह्मणत्वको अत्यन्त दुर्लभ कहा, वह यथार्थ है। ब्राह्मणत्व होनेपर ऋषित्व दुर्लभ है, ऋषित्व पदकी प्राप्ति होनेपर तपस्विता अत्यन्त दुर्लभ है। जो हो, तुम्हारी यह कामना सफल होगी। कुशिकसे कौशिक द्विज जन्मेगा; तुम्हारी तीसरी पीढीमें ब्राह्मणत्व संक्रान्त होगा। हे नृपश्रेष्ठ! भृगुवंशके तेजसे तुम्हारा वंश वर्द्धित होगा, तुम्हारा पौत्र ब्राह्मण, तपस्वी और अग्निके समान तेजस्वी होगा, वह तीनों लोकोंके बीच सदा ही देववृन्द और मनुष्योंको भय उत्पन्न करेगा; यह मैं तुमसे सत्य ही कहता

तीर्थयात्रां गमिष्यामि पुरा कालोऽभिवर्तते ॥ ३४ ॥

कुशिक उवाच- एष एव वरो मेऽद्य यस्त्वं प्रीतो महामुने ।
भवत्वेतद्यथाऽऽत्थ त्वं भवेत्पौत्रो ममानघ ॥ ३५ ॥
ब्राह्मण्यं मे कुलस्यास्तु भगवन्नेष मे वरः ।
पुनश्चाख्यातुमिच्छामि भगवन्विस्तरेण वै ॥ ३६ ॥
कथमेष्यति विप्रत्वं कुलं मे भृगुनन्दन ।
कश्चासौ भविता बन्धुर्मम कश्चापि संमतः ॥ ३७ ॥ [२८९१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे च्यवनकुशिकसंवादे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

च्यवन उवाच- अवश्यं कथनीयं मे तवैतन्नरपुङ्गव ।
यदर्थं त्वाहमुच्छेत्तुं संप्राप्तो मनुजाधिप ॥ १ ॥
भृगूणां क्षत्रिया याज्या नित्यमेतज्जनाधिप ।
ते च भेदं गमिष्यन्ति दैवयुक्तेन हेतुना ॥ २ ॥
क्षत्रियाश्च भृगून्सर्वान्वधिष्यन्ति नराधिप ।
आगर्भादनुकृन्तन्तो दैवदण्डनिपीडिताः ॥ ३ ॥
तत उत्पत्स्यतेऽस्माकं कुले गोत्रविवर्धनः ।

हूं। हे राजर्षि! तुम्हारे अन्तःकरणमें जो अभिलाष हो, वह वर मांगो, मैं सब तीर्थोंमें घूमनेके लिये जाऊंगा, समय बीत रहा है। (२९—३४)

कुशिक बोले, हे महामुनि! आप जो मुझपर प्रसन्न हुए, यही मेरे लिये वर है। हे पापरहित! आप जैसा कहते हैं, मेरा पौत्र वैसाही होवे। हे भगवन्! मेरा वंश ब्राह्मण होवे, यही मेरे लिये वर है। मेरी यह अभिलाषा है, कि इस विषयको आप फिर विस्तार-पूर्वक वर्णन करें। हे भृगुनन्दन! किस प्रकार मेरे कुलमें ब्राह्मणत्व आवेगा? कौन मुझसे सम्मत मेरा बन्धु होगा? (३५—३७)

अनुशासनपर्वमें ५५ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ५६ अध्याय।

च्यवन बोले, हे नरनाथ! जिस निमित्त मैं तुम्हारा नाश करनेके लिये आया था, वह तुमसे अवश्य कहना योग्य है। हे प्रजानाथ! क्षत्रिय लोग भृगुवंशियोंके सदासे यजमान हैं, दैववश उनमें विभिन्नता होगी। हे नरनाथ! सारे दैवदण्डसे निपीडित होकर गर्भ पर्यन्त नष्ट करते हुए भृगुवंशियोंका वध करेंगे। अनन्तर हमारे कुल और

ऊर्वो नाम महातेजा ज्वलनार्कसमद्युतिः ॥ ४ ॥
स त्रैलोक्यविनाशाय कोपाग्निं जनयिष्यति ।
महीं सपर्वतवनां यः करिष्यति भस्मसात् ॥ ५ ॥
कंचित्कालं तु वन्हिं च स एव शमयिष्यति ।
समुद्रे वडवावक्त्रे प्रक्षिप्य मुनिसत्तमः ॥ ६ ॥
पुत्रं तस्य महाराज ऋचीकं भृगुनन्दनम् ।
साक्षात्कृत्स्नो धनुर्वेदः समुपस्थास्यतेऽनघ ॥ ७ ॥
क्षत्रियाणामभावाय दैवयुक्तेन हेतुना ।
स तु तं प्रतिगृह्यैव पुत्रे संक्रामयिष्यति ॥ ८ ॥
जमदग्नौ महाभागे तपसा भावितात्मनि ।
स चापि भृगुशार्दूलस्तं वेदं धारयिष्यति ॥ ९ ॥
कुलात्तु तव धर्मात्मन्कन्यां सोऽधिगमिष्यति ।
उद्भावनार्थं भवतो वंशस्य भरतर्षभ ॥ १० ॥
गाधेर्दुहितरं प्राप्य पौत्रीं तव महातपाः ।
ब्राह्मणं क्षत्रधर्माणं पुत्रमुत्पादयिष्यति ॥ ११ ॥
क्षत्रियं विप्रकर्माणं बृहस्पतिमिवौजसा ।

गोत्रकी वृद्धि करनेवाले अग्निदेव तथा सूर्यके समान तेजसे युक्त ऊर्व नाम एक महातेजस्वी पुरुष उत्पन्न होगा। वह तीनों लोकोंको नष्ट करनेके लिये कोपानल उत्पन्न करेगा, पर्वतों और वनोंके सहित पृथ्वीमण्डलको भस्मीभूत करेगा। वह मुनिसत्तम समुद्रके बीच वडवामुखमें उस अग्निको डाल कर कुछ समयके लिये शान्त रखेगा। हे पापरहित महाराज! उनके पुत्र भृगुनन्दन ऋचीकके समीप समस्त धनुर्वेद प्रत्यक्षमेंही उपस्थित होगा। (१–७)

दैव कारणसे क्षत्रियोंके अभावके हेतु वह उस धनुर्वेदको ग्रहण करके तपस्याके सहारे शुद्ध चित्तवाले निज पुत्र जमदग्निमें उसे स्थापित करेंगे। हे भृगुश्रेष्ठ! जमदग्नि उसही धनुर्वेदको धारण करेंगे। हे धर्मात्मन्! वही जमदग्नि तुम्हारे वंशसे कन्या ग्रहण करके उससे वंशकी उत्पत्तिके निमित्त विवाह करे। महातपस्वी जमदग्नि तुम्हारे पौत्र गाधिकी पुत्रीको पाके उसके गर्भसे क्षत्रिय-धर्मयुक्त ब्राह्मण पुत्र उत्पन्न करेगा और वही तुम्हारे वंशमें गाधिके वीर्यसे महातेजस्वी, तेजमें बृहस्पतिके समान, अत्यन्त धार्मिक,

विश्वामित्रं तव कुले गाधेः पुत्रं सुधार्मिकम् ॥ १२ ॥
तपसा महता युक्तं प्रदास्यति महाद्युते ।
स्त्रियौ तु कारणं तत्र परिवर्ते भविष्यतः ॥ १३ ॥
पितामहनियोगाद्धि नान्यथैतद्भविष्यति ।
तृतीये पुरुषे तुभ्यं ब्राह्मणत्वमुपैष्यति ।
भविता त्वं च संबन्धी भृगूणां भावितात्मनाम् ॥१४॥
भीष्म उवाच– कुशिकस्तु मुनेर्वाक्यं च्यवनस्य महात्मनः ।
श्रुत्वा हृष्टोऽभवद्राजा वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १५ ॥
एवमस्त्विति धर्मात्मा तदा भरतसत्तम ।
च्यवनस्तु महातेजाः पुनरेव नराधिपम् ॥ १६ ॥
वरार्थं चोदयामास तमुवाच स पार्थिवः ।
बाढमेवं करिष्यामि कामं त्वत्तो महामुने ॥ १७ ॥
ब्रह्मभूतं कुलं मेऽस्तु धर्मे चास्य मनो भवेत् ॥ १८ ॥
एवमुक्तस्तथेत्येवं प्रत्युक्त्वा च्यवनो मुनिः ।
अभ्यनुज्ञाय नृपतिं तीर्थयात्रां ययौ तदा ॥ १९ ॥
एतत्ते कथितं सर्वमशेषेण मया नृप ।
भृगूणां कुशिकानां च अभिसंबन्धकारणम् ॥ २० ॥
यथोक्तमृषिणा चापि तदा तदभवन्नृप ।

महातपस्याशाली, विप्रकर्म करनेवाला विश्वामित्र नामक क्षत्रिय पुत्र प्रदान करेगा। उस परिवर्त्तन विषयमें दोनों स्त्रीही कारण होंगी; पितामहके नियोगसे यह अन्यथा न होगा। तीसरी पीढीमें तुम्हारे वंशमें ब्राह्मणत्व होगा। तुम शुद्धचित्त भार्गवोंके सम्बन्धी होगे। (८—१४)

भीष्म बोले, हे भरतसत्तम! उस समय धर्मात्मा राजा कुशिक महानुभाव च्यवन मुनिका वचन सुनके आनन्दित हुए और कहा कि ऐसाही होवे। महातेजस्वी च्यवनने फिर उस राजासे वर मांगनेको कहा। राजा उनसे बोला, हे महामुनि! अच्छा मैं आपके समीप इच्छानुसार वर मांगता हूं, मेरा वंश ब्राह्मणकुलमें परिणत होवे और इस वंशकी बुद्धि धर्ममें रत रहे। च्यवन मुनि राजाका वचन सुनके बोले, कि ऐसा ही होगा, अनन्तर राजासे अनुमति लेकर तीर्थयात्राके लिये गमन किया। हे राजन्! यह मैंने भृगु और

जन्म रामस्य च मुनेर्विश्वामित्रस्य चैव हि ॥ २१ ॥ [२८९०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे च्यवनकुशिकसंवादे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर उवाच– मुह्यामीव निशम्याद्य चिन्तयानः पुनः पुनः ।
हीनां पार्थिवसंघातैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम् ॥ १ ॥
प्राप्य राज्यानि शतशो महीं जित्वाऽथ भारत ।
कोटिशः पुरुषान्हत्वा परितप्ये पितामह ॥ २ ॥
का नु तासां वरस्त्रीणां समवस्था भविष्यति ।
या हीनाः पतिभिः पुत्रैर्मातुलैर्भ्रातृभिस्तथा ॥ ३ ॥
वयं हि तान् कुरून्हत्वा ज्ञातींश्च सुहृदोऽपि वा ।
अवाक्शीर्षाः पतिष्यामो नरके नात्र संशयः ॥ ४ ॥
शरीरं योक्तुमिच्छामि तपसोग्रेण भारत ।
उपदिष्टमिहेच्छामि तत्त्वतोऽहं विशाम्पते ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच– युधिष्ठिरस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा भीष्मो महामनाः ।
परीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या युधिष्ठिरमभाषत ॥ ६ ॥

कुशिक गणके परस्पर सम्बन्धका कारण विस्तारपूर्वक तुमसे कहा है। हे महाराज ! च्यवन ऋषिने राम और विश्वामित्र मुनिके जन्म विषयमें जिस प्रकार कहा था, उस समय वैसा ही हुआ। (१९–२१)

अनुशासनपर्वमें ५६ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ५७ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत पितामह ! मैं आपका वचन सुनके बार बार उसे विचारके तथा श्रीमान् राजाओंसे रहित इस पृथ्वीके दशाकी पर्यालोचना करके बहुत ही मुग्ध होता हूं। हे भारत ! मैं पृथ्वीमण्डल जीतकर सैकडों राज्य पाके भी करोडों पुरुषोंका संहार करनेसे इस समय परिताप करता हूं। जो सब वरवर्णिनी स्त्रियें पति, पुत्र, भ्राता और मामा आदिसे हीन हुई हैं, उनकी कैसी अवस्था होगी ? हम उस कुरुकुल, स्वजनों और सुहृदोंको मारनेसे अवाक्शिरा होके निःसन्देह नरकमें पडेंगे। हे भारत ! मैं उग्र तपस्यासे शरीरको संयुक्त करनेकी इच्छा करता हूं। हे नरनाथ ! इस समय मुझे आपका यथार्थ उपदेश सुननेकी अभिलाष है। (१–५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महात्मा भीष्म, युधिष्ठिरका ऐसा वचन सुनके

रहस्यमद्भुतं चैव शृणु वक्ष्यामि यत्त्वयि ।
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावे विशाम्पते ॥ ७ ॥
तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः ।
आयुःप्रकर्षो भोगाश्च लभ्यन्ते तपसा विभो ॥ ८ ॥
ज्ञानं विज्ञानमारोग्यं रूपं संपत्तथैव च ।
सौभाग्यं चैव तपसा प्राप्यते भरतर्षभ ॥ ९ ॥
धनं प्राप्नोति तपसा मौनेनाज्ञां प्रयच्छति ।
उपभोगांस्तु दानेन ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥ १० ॥
अहिंसायाः फलं रूपं दीक्षाया जन्म वै कुले ।
फलमूलाशिनां राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनां भवेत् ॥११॥
पयोभक्षो दिवं याति दानेन द्रविणाधिकः ।
गुरुशुश्रूषया विद्या नित्यश्राद्धेन संततिः ॥ १२ ॥
गवाढ्यः शाकदीक्षाभिः स्वर्गमाहुस्तृणाशिनाम् ।
स्त्रियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत् ॥१३॥

बुद्धिके सहारे विचार करके बोले, हे नरनाथ! तुममें जो अद्भुत रहस्य प्रकट हुआ है। उस विषयमें मरनेके अनन्तर जिस पुरुषको जो गति प्राप्त होती है, उसे कहता हूं, सुनो। (६—७)

हे विभु! तपस्याके सहारे स्वर्ग मिलता है, तपस्यासे यशलाभ हुआ करता है, तपस्यासे ही परमायुकी प्रकर्षता तथा भोग प्राप्त होते हैं। हे भरतश्रेष्ठ! तपस्याके सहारे ज्ञान, विज्ञान, आरोग्यता, रूप, सम्पत्ति और सौभाग्य प्राप्त होता है। मौनव्रतसे जगत्‌के प्राणियोंपर आज्ञा प्रदान करनेकी सामर्थ्य प्राप्त होती है। दानसे समस्त उपभोग और ब्रह्मचर्यके द्वारा उत्तम दीर्घ परमायु प्राप्त होती है। (८-१०)

अहिंसाका फल रूप है, दीक्षाका सत्कुलमें जन्म, फल और मूल भोजन करनेवाले मनुष्योंका फल राज्य और पत्ते खानेवालोंको स्वर्गप्राप्ति हुआ करती है। जो लोग दूध पीके रहते उन्हें स्वर्ग मिलता है। दानके सहारे मनुष्य अधिक द्रविणयुक्त हुआ करता है, गुरुसेवासे विद्या मिलती है और प्रतिदिन श्राद्ध करनेसे संतति प्राप्त होती है। शाक भोजन करनेसे मनुष्य गोधनसे युक्त हुआ करता है। ऋषि लोग कहा करते हैं, कि तृणभक्षकोंको स्वर्ग मिलता है। जो लोग तीन बार स्नानकर वायुपान तथा प्राणायाम

नित्यस्नायी भवेद्दक्षः संध्ये तु द्वे जपन्द्विजः।
मरुं साधयतो राजन्नाकपृष्ठमनाशके ॥ १४ ॥
स्थण्डिले शयमानानां गृहाणि शयनानि च।
चीरवल्कलवासोभिर्वासांस्याभरणानि च ॥ १५ ॥
शय्यासनानि यानानि योगयुक्ते तपोधने।
अग्निप्रवेशे नियतं ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥
रसानां प्रतिसंहारात्सौभाग्यमिह विन्दति।
आमिषप्रतिसंहारात्प्रजा ह्यायुष्मती भवेत् ॥ १७ ॥
उदवासं वसेद्यस्तु स नराधिपतिर्भवेत्।
सत्यवादी नरश्रेष्ठ दैवतैः सह मोदते ॥ १८ ॥
कीर्तिर्भवति दानेन तथाऽऽरोग्यमहिंसया।
द्विजशुश्रूषया राज्यं द्विजत्वं चापि पुष्कलम् ॥ १९ ॥
पानीयस्य प्रदानेन कीर्तिर्भवति शाश्वती।
अन्नस्य तु प्रदानेन तृप्यन्ते कामभोगतः ॥ २० ॥
सान्त्वदः सर्वभूतानां सर्वशोकैर्विमुच्यते।

करके निवास करते हैं, उन्हें प्रजापति लोक प्राप्त होता है। (११–१३)

जो ब्राह्मण प्रतिदिन स्नान करके प्रातः और सायं सन्ध्याके समय जप करता है, वह दक्ष प्रजापति होता है, जो पुरुष जलरहित स्थलमें साधना करता है, उसे राज्य मिलता और अनशन व्रत अवलम्बन करनेसे नाकपृष्ठमें वास हुआ करता है। कुशापर सोनेवाले तपस्वियोंको गृह और शय्या मिलती है, चीर और वल्कल वसन दान करनेसे विचित्र वस्त्र तथा समस्त आभूषण मिलते हैं। योगयुक्त तपस्वियोंके निकट शय्या, आसन, तथा समस्त सवारियें उपस्थित होती हैं, अग्निमें प्रवेश करनेसे सदा ब्रह्मलोकमें वास हुआ करता है। रसोंका परित्याग करनेसे इस लोकमें सौभाग्य प्राप्त होता है, मांस त्यागनेसे आयुष्मती सन्तान उत्पन्न हुआ करती है, जो लोग जलके बीच वास करते हैं, वे स्वर्गमें राजा होते हैं। सत्यवादी मनुष्य देवताओंके सहित आनन्दित हुआ करते हैं। (१४—१८)

दानसे कीर्त्ति होती है, अहिंसाके सहारे नीरोगता प्राप्त हुआ करती है, द्विजसेवासे प्रचुर राज्य और द्विजत्व प्राप्त होता है। जल दान करनेसे शाश्वती कीर्त्ति प्राप्त हुआ करती है,

देवशुश्रूषया राज्यं दिव्यं रूपं नियच्छति ॥ २१ ॥
दीपालोकप्रदानेन चक्षुष्मान्भवते नरः ।
प्रेक्षणीयप्रदानेन स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥ २२ ॥
गन्धमाल्यप्रदानेन कीर्तिर्भवति पुष्कला ।
केशश्मश्रु धारयतामग्र्या भवति संततिः ॥ २३ ॥
उपवासं च दीक्षां च अभिषेकं च पार्थिव ।
कृत्वा द्वादश वर्षाणि वीरस्थानाद्विशिष्यते ॥ २४ ॥
दासीदासमलंकारान् क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
ब्रह्मदेयां सुतां दत्त्वा प्राप्नोति मनुजर्षभ ॥ २५ ॥
क्रतुभिश्चोपवासैश्च त्रिदिवं याति भारत ।
लभते च शिवं ज्ञानं फलपुष्पप्रदो नरः ॥ २६ ॥
सुवर्णशृङ्गैस्तु विराजितानां गवां सहस्रस्य नरः प्रदानात् ।
प्राप्नोति पुण्यं दिवि देवलोकमित्येवमाहुर्दिवि देवसंघाः ॥२७॥
प्रयच्छते यः कपिलां सवत्सां कांस्योपदोहां कनकाग्रशृङ्गीम् ।
तैस्तैर्गुणैः कामदुहास्य भूत्वा नरं प्रदातारमुपैति सा गौः ॥ २८ ॥

अन्न दान करनेसे काम भोग दीखता है। जो लोग सब भूतोंके विषयमें सान्त्ववचन कहते हैं, वे सब लोकोंसे विमुक्त होते हैं। देवसेवासे राज्य और दिव्यरूप प्राप्त होता है, दीपककी रोशनी दान करनेसे मनुष्य नेत्रवान हुआ करते हैं। प्रेक्षणीय प्रदान करनेसे स्मृति और बुद्धि प्राप्त होती है, सुगन्ध और माला दान करनेसे बहुतही कीर्त्ति हुआ करती है, केश तथा श्मश्रुधारी मनुष्योंकी श्रेष्ठ सन्तति होती है। (१९-२३)

हे महाराज! बारह वर्षतक सब भोगोंको परित्याग करके जप आदि नियमोंको स्वीकार और त्रिकाल स्नान करनेसे वीरस्थानसे भी श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है। हे पुरुषश्रेष्ठ! ब्राह्मविवाहकी विधिके अनुसार कन्या दान करनेसे मनुष्य दासदासी, आभूषण, क्षेत्र और गृह आदि पाता है। हे भारत! यज्ञ और उपवासके द्वारा मनुष्य सुरपुरमें गमन करता है, फल फूलसे परमेश्वरकी आराधना करनेसे मनुष्य बन्धन छुडानेवाला ज्ञान लाभ किया करता है। सोनेकी सींगसे शोभित करके सहस्र गऊ दान करनेसे मनुष्य स्वर्गके बीच पवित्र देवलोक पाता है, स्वर्गवासी देववृन्द ऐसा ही कहा करते हैं। जो लोग कांसेके दोहनपात्रसे युक्त सुवर्ण-

यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वास्तावत्कालं प्राप्य स गोप्रदानात् ।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्वमासप्तमं तारयते परत्र ॥ २९ ॥
सदक्षिणां काञ्चनचारुशृङ्गीं कांस्योपदोहां द्रविणोत्तरीयाम् ।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय लोका वसूनां सुलभा भवन्ति ॥३०॥
स्वकर्मभिर्मानवं संनिरुद्धं तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम् ।
महार्णवे नौरिव वायुयुक्ता दानं गवां तारयते परत्र ॥ ३१ ॥
यो ब्रह्मदेयां तु ददाति कन्यां भूमिप्रदानं च करोति विप्रे ।
ददाति चान्नं विधिवच्च यश्च स लोकमाप्नोति पुरन्दरस्य ॥ ३२ ॥
नैवेशिकं सर्वगुणोपपन्नं ददाति वै यस्तु नरो द्विजाय ।
स्वाध्यायचारित्र्यगुणान्विताय तस्याऽपि लोकाः कुरूषूत्तरेषु ॥३३॥
धुर्यप्रदानेन गवां तथा वै लोकानवाप्नोति नरो द्विजाय ।
स्वर्गाय चाहुस्तु हिरण्यदानं ततो विशिष्टं कनकप्रदानम् ॥ ३४ ॥

भूषित सींगवाली सवत्सा गऊ दान करते हैं, वह गऊ उन्हीं गुणोंके द्वारा उस दान देनेवालेके निकट प्रयोजन सिद्ध करनेवाली होकर स्वयं उपस्थित होती है। (२४—२८)

गऊके शरीरमें जितने परिमाणसे रोएँ रहते हैं, गोदान करनेवाला उतने ही परिमाणसे फल पाता और पुत्र पौत्र लाभ करके परलोकके सात पुरुष पर्यन्त कुलका उद्धार करता है। सुवर्णके बने सुन्दर सींगवाली, कांसेके दोहन-पात्रसे युक्त, द्रविणोत्तरीय तिलगऊ दक्षिणाके सहित जो लोग ब्राह्मणको देते हैं, उनके लिये वसुगणका लोक सुलभ होता है। जब मनुष्य निज कर्मसे घोर अन्धकारसे रुककर नरकमें पतित होने लगता है, तब महासागरमें नौकाकी भांति गऊ उसका उद्धार करती है। जो लोग ब्राह्मविवाहकी विधिके अनुसार कन्यादान करते, जो लोग ब्राह्मणको भूमि प्रदान करते अथवा जो लोग विधिपूर्वक अन्न दान करते हैं, उन्हें इन्द्रलोक मिलता है। (२९-३२)

जो मनुष्य स्वाध्याय, चरित्र और गुणयुक्त ब्राह्मणको सर्व गुणमयी गृहकी सामग्री शय्या आदि प्रदान करते हैं, उनका उत्तर कुरुदेशमें निवास हुआ करता है। धुर्यप्रदान और गऊ दान करनेसे मनुष्यको वसुगणोंका लोक मिलता है, सुवर्ण दान स्वर्गका हेतु हुआ करता है और अस्सी रत्तीके परिमाणसे कनकका दान उससे भी श्रेष्ठ है। छत्रदान करनेसे उत्तम स्थान,

छत्रप्रदानेन गृहं वरिष्ठं यानं तथोपानहसंप्रदाने ।
वस्त्रप्रदानेन फलं स्वरूपं गन्धप्रदानात्सुरभिर्नरः स्यात् ॥ ३५ ॥
पुष्पोपगं वाऽथ फलोपगं वा यः पादपं स्पर्शयते द्विजाय ।
सश्रीकमृद्धं बहुरत्नपूर्णं लभत्ययत्नोपगतं गृहं वै ॥ ३६ ॥
भक्ष्यान्नपानीयरसप्रदाता सर्वान्समाप्नोति रसान्प्रकामम् ।
प्रतिश्रयाच्छादनसंप्रदाता प्राप्नोति तान्येव न संशयोऽत्र ॥३७॥
स्रग्धूपगन्धाननुलेपनानि स्नानानि माल्यानि च मानवो यः ।
दद्याद् द्विजेभ्यः स भवेदरोगस्तथाभिरूपश्च नरेन्द्रलोके ॥३८॥
बीजैरशून्यं शयनैरुपेतं दद्याद्गृहं यः पुरुषो द्विजाय ।
पुण्याभिरामं बहुरत्नपूर्णं लभत्यधिष्ठानवरं स राजन् ॥ ३९ ॥
सुगन्धचित्रास्तरणोपधानं दद्यान्नरो यः शयनं द्विजाय ।
रूपान्वितां पक्षवतीं मनोज्ञां भार्यामयत्नोपगतां लभेत्सः ॥४०॥
पितामहस्यानवरो वीरशायी भवेन्नरः ।
नाधिकं विद्यते यस्मादित्याहुः परमर्षयः ॥ ४१ ॥

उपानह दानसे सवारी और वस्त्र दान करनेसे मनुष्यको सुन्दर रूप प्राप्त होता है, और सुगन्धित वस्तु दान करनेसे मनुष्य सुगन्धशाली हुआ करता है। (३३—३५)

जो मनुष्य ब्राह्मणको फल अथवा फले हुए वृक्ष दान करता है, उसे सहजमें ही स्त्री, समृद्धि और अनेक रत्नोंसे युक्त गृह प्राप्त होता है। ब्राह्मण-भोजनके योग्य अन्न और पीने योग्य रस दान करनेवाले मनुष्योंको विधिपूर्वक सब रस प्राप्त होते हैं और जो लोग घर छानेकी सामग्री दान करते हैं, उन लोगोंको निःसन्देह वे समस्त उत्तम विषय प्राप्त होते हैं (३६-३७)

हे नरनाथ! जो मनुष्य ब्राह्मणोंको माला, धूप, लगानेका सुगन्ध और स्नानकी वस्तु दान करता है, वह इस लोकमें परम सौन्दर्य लाभ करके रोग-रहित हुआ करता है। हे राजन्! जो पुरुष ब्राह्मणको अन्नसे भरा हुआ शय्या-युक्त गृहदान करता है, वह अनेक रत्नोंसे युक्त पवित्र और मनोहर निवा-सस्थान पाता है। जो लोग ब्राह्मणोंको तकिये और विचित्र बिछावनेके सहित सुगन्धियुक्त शय्या दान करते हैं, उन्हें सहजमें ही रूपवती, मनको हरनेवाली, महत्कुलमें उत्पन्न हुई भार्या प्राप्त होती है। जो मनुष्य वीरशय्यापर शयन

वैशम्पायन उवाच- तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रीतात्मा कुरुनन्दनः।
नाश्रमेऽरोचयद्वासं वीरमार्गाऽभिकाङ्क्षया ॥ ४२ ॥
ततो युधिष्ठिरः प्राह पाण्डवान्पुरुषर्षभ।
पितामहस्य यद्वाक्यं तद्वो रोचत्विति प्रभुः ॥ ४३ ॥
ततस्तु पाण्डवाः सर्वे द्रौपदी च यशस्विनी।
युधिष्ठिरस्य तद्वाक्यं बाढमित्यभ्यपूजयन् ॥ ४४ ॥ [२९३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच- आरामाणां तडागानां यत्फलं कुरुपुङ्गव।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तोऽद्य भरतर्षभ ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- सुप्रदर्शा बलवती चित्रा धातुविभूषिता।
उपेता सर्वभूतैश्च श्रेष्ठा भूमिरिहोच्यते ॥ २ ॥
तस्याः क्षेत्रविशेषाश्च तडागानां च बन्धनम्।
औदकानि च सर्वाणि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ३ ॥

करता है, वह जिससे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है, उस पितामहके समान होता है, ऐसा महर्षि लोग कहा करते हैं। (३८—४१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कुरुनन्दन युधिष्ठिरने भीष्मके यह समस्त वचन सुनके प्रसन्नचित्त होकर वीरमार्गकी कामना करके आश्रममें वास करनेकी अभिलाष नहीं की। अनन्तर संतुष्ट पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर पाण्डवगणसे बोले, कि पितामहने जो कथा कही है, उसमें तुम लोगोंकी रुचि होवे। उस समय पाण्डवगण और यशस्विनी द्रौपदीने युधिष्ठिरके वचनको स्वीकार करके उन का संमान किया। (४२-४४)

अनुशासनपर्वमें ५७ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ५८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे कुरुपुङ्गव भरतश्रेष्ठ! आराम तथा तालावोंके उत्सर्ग निबन्धनसे जो फल होता है, इस समय आपके निकट मैं उस विषयको सुननेकी इच्छा करता हूं। (१)

भीष्म बोले, इस लोकमें उत्तम देखने योग्य अनेक शस्योंके उत्पत्ति की मूल, विचित्र धातुओंसे विभूषित, समस्त प्राणियोंसे युक्त भूमिही श्रेष्ठरूपसे वर्णित हुआ करती है। वैसी भूमिके क्षेत्र विशेषमें आराम और तडाग प्रभृति समस्त जलाशयों के विषयको मैं क्रमसे कहता हूं और

तडागानां च वक्ष्यामि कृतानां चापि ये गुणाः ।
त्रिषु लोकेषु सर्वत्र पूजनीयस्तडागवान् ॥ ४ ॥
अथवा मित्रसदनं मैत्रं मित्रविवर्धनम् ।
कीर्तिसंजननं श्रेष्ठं तडागानां निवेशनम् ॥ ५ ॥
धर्मस्यार्थस्य कामस्य फलमाहुर्मनीषिणः ।
तडागसुकृतं देशे क्षेत्रमेकं महाश्रयम् ॥ ६ ॥
चतुर्विधानां भूतानां तडागमुपलक्षयेत् ।
तडागानि च सर्वाणि दिशन्ति श्रियमुत्तमाम् ॥ ७ ॥
देवा मनुष्यगन्धर्वाः पितरोरगराक्षसाः ।
स्थावराणि च भूतानि संश्रयन्ति जलाशयम् ॥ ८ ॥
तस्मात्तांस्ते प्रवक्ष्यामि तडागे ये गुणाः स्मृताः ।
या च तत्र फलावाप्तिर्ऋषिभिः समुदाहृता ॥ ९ ॥
वर्षाकाले तडागे तु सलिलं यस्य तिष्ठति ।
अग्निहोत्रफलं तस्य फलमाहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥
शरत्काले तु सलिलं तडागे यस्य तिष्ठति ।
गोसहस्रस्य स प्रेत्य लभते फलमुत्तमम् ॥ ११ ॥

तडाग आदि बनानेसे जो फल होते हैं, वह भी कहूंगा। तडागवान् मनुष्य तीनों लोकोंके बीच सब स्थानोंमें पूजनीय होते हैं, अथवा मित्रगृह सदृश उपकारक, मैत्र अर्थात् सूर्यके प्रीतिपात्र और मित्र अर्थात् देवताओंके विशेष रीतिसे पोषक तडागको स्थापन करना बहुत ही कीर्त्तिजनक हुआ करता है। देशके बीच उत्तम रीतिसे बने हुए महाश्रय तडागको मनीषि लोग धर्म, अर्थ और कामके फल स्वरूप कहा करते हैं। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज, इन चार प्रकारके प्राणियोंके पक्षमें तडाग उपकारजनक है। तडाग आदि सब जलाशय श्रेष्ठ श्री प्रदान करते हैं। (२-७)

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पितर, सर्प, राक्षस और समस्त स्थावरोंके लिये जलाशय अवलम्ब हुआ करता है। उस तालावमें स्नान करनेसे जो फल होता है और उस विषयमें ऋषियोंने जिस प्रकार जलप्राप्तिके विषय वर्णन किये हैं, वह भी कहता हूं, वर्षा कालमें जिसके तालावमें जल रहता है, उसे अग्निहोत्रका फल मिलता है, ऐसा मनीषिवृन्द कहा करते हैं। शरत्कालमें

हेमन्तकाले सलिलं तडागे यस्य तिष्ठति।
स वै बहुसुवर्णस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥ १२ ॥
यस्य वै शैशिरे काले तडागे सलिलं भवेत्।
तस्याग्निष्टोमयज्ञस्य फलमाहुर्मनीषिणः ॥ १३ ॥
तडागं सुकृतं यस्य वसन्ते तु महाश्रयम्।
अतिरात्रस्य यज्ञस्य फलं स समुपाश्नुते ॥ १४ ॥
निदाघकाले पानीयं तडागे यस्य तिष्ठति।
वाजिमेधफलं तस्य फलं वै मुनयो विदुः ॥ १५ ॥
स कुलं तारयेत्सर्वं यस्य खाते जलाशये।
गावः पिबन्ति सलिलं साधवश्च नराः सदा ॥ १६ ॥
तडागे यस्य गावस्तु पिबन्ति तृषिता जलम्।
मृगपक्षिमनुष्याश्च सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ १७ ॥
यत्पिबन्ति जलं तत्र स्नायन्ते विश्रमन्ति च।
तडागे यस्य तत्सर्वं प्रेत्यानन्त्याय कल्पते ॥ १८ ॥
दुर्लभं सलिलं तात विशेषेण परत्र वै।

जिसके तालावमें जल रहता है, वह परलोकमें जाके सहस्र गोदानके तुल्य फल पाता है। हेमन्त ऋतुमें जिसका तालाव जलरहित नहीं होता, उसे बहुतसे सुवर्णदानसे युक्त यज्ञके फल प्राप्त होते हैं। शिशिर कालमें जिसका तालाव जलसे परिपूर्ण रहता है, उसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है, पण्डित लोग ऐसा ही कहा करते हैं। (८—१३)

जिनके तालाव वसन्तऋतुमें विधिपूर्वक सबके अवलम्ब रूप होते हैं, वे अतिरात्र यज्ञके फल भोग करते हैं। ग्रीष्मकालमें जिसके तालावमें पीनेके लिये जल विद्यमान रहता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है, मुनियोंने ऐसा ही निश्चय किया है। जिसके खोदे हुए तालावमें गऊ और साधु पुरुष सदा जल पीते हैं, उसके समस्त कुलका उद्धार होजाता है। जिसके तालावमें तृषित गऊ, हरिण, पक्षी और मनुष्यवृन्द जल पीते हैं, उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है। तालावमें जल पीने, नहाने और विश्राम करनेसे तालावके स्वामीको जो पुण्य होता है, परलोकमें उसके लिये वह अनन्त हुआ करता है। (१४-१८)

हे तात! जल सहजमें ही दुर्लभ

पानीयस्य प्रदानेन प्रीतिर्भवति शाश्वती ॥ १९ ॥
तिलान्ददत पानीयं दीपान्ददत जाग्रत ।
ज्ञातिभिः सह मोदध्वमेतत्प्रेत्य सुदुर्लभम् ॥ २० ॥
सर्वदानैर्गुरुतरं सर्वदानैर्विशिष्यते ।
पानीयं नरशार्दूल तस्माद्दातव्यमेव हि ॥ २१ ॥
एवमेतत्तडागस्य कीर्तितं फलमुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वृक्षाणामवरोपणम् ॥ २२ ॥
स्थावराणां च भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥ २३ ॥
एता जात्यस्तु वृक्षाणां तेषां रोपे गुणास्त्विमे ।
कीर्तिश्च मानुषे लोके प्रेत्य चैव फलं शुभम् ॥ २४ ॥
लभते नाम लोके च पितृभिश्च महीयते ।
देवलोके गतस्यापि नाम तस्य न नश्यति ॥ २५ ॥
अतीतानागते चोभे पितृवंशं च भारत ।
तारयेद् वृक्षरोपी च तस्माद् वृक्षांश्च रोपयेत् ॥ २६ ॥

है, विशेष करके परलोकमें वह बहुत ही दुष्प्राप्य है, इसलिये जल प्रदान करनेसे शाश्वती प्रीति होती है। तिल, जल, और दीप दान करो, जाग्रतभावसे निवास करो और स्वजनोंके सङ्ग आमोद करो, क्यों कि परलोकमें ये समस्त विषय दुर्लभ हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! जलदान समस्तदानसे बृहत् तथा विशिष्ट है, इसलिये जलदान अवश्य करना चाहिये। यह सब तालावके श्रेष्ठफल कहे गये, अब वृक्षोंके लगानेका फल कहता हूं। स्थावर प्राणियोंकी छः प्रकारकी जाति कही गई है, उनके बीच अश्वत्थ वट प्रभृति वृक्ष, कुशस्तम्ब आदि गुल्म, वृक्षादिकोंपर फैली हुई पाटली आदि लता, पृथ्वीपर पडी हुई कूष्माण्ड प्रभृति वल्ली, बांस आदि त्वक्सार, उलप प्रभृति तृण जाति हैं। (१९—२३)

इन छः प्रकारके वृक्ष जातिके लगानेसे ये समस्त गुण प्राप्त हुआ करते हैं, मनुष्य लोकमें कीर्त्ति और परलोकमें शुभ फल मिलता है तथा जो लोग वृक्ष लगाते हैं, उनका नाम इस लोकमें प्रसिद्धि पाता है। उनका पितरोंके सङ्ग एकत्र वास होता है, देवलोकमें जानेपर भी उनका नाम लुप्त नहीं होता। हे भारत! जो लोग

तस्य पुत्रा भवन्त्येते पादपा नात्र संशयः।
परलोकगतः स्वर्गं लोकांश्चाप्नोति सोऽव्ययान् ॥२७॥
पुष्पैः सुरगणान्वृक्षाः फलैश्चापि तथा पितॄन्।
छायया चातिथिं तात पूजयन्ति महीरुहाः ॥ २८ ॥
किन्नरोरगरक्षांसि देवगन्धर्वमानवाः।
तथा ऋषिगणाश्चैव संश्रयन्ति महीरुहान् ॥ २९ ॥
पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान्।
वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र तु ॥ ३० ॥
तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा।
पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ॥ ३१ ॥
तडागकृद् वृक्षरोपी इष्टयज्ञश्च यो द्विजः।
एते स्वर्गे महीयन्ते ये चान्ये सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥
तस्मात्तडागं कुर्वीत आरामांश्चैव रोपयेत्।
यजेच्च विविधैर्यज्ञैः सत्यं च सततं वदेत् ॥ ३३ ॥ [२९६७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे आरामतडागमाहात्म्यवर्णनं नाम अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५८॥

वृक्ष लगाते हैं, वे अतीत और अनागत दोनों ओरके पितृवंशका उद्धार किया करते हैं, इसलिये वृक्षोंको लगाना चाहिये। जो पुरुष वृक्षोंको लगाता है, वृक्षप्रभृतिही निःसन्देह उसके पुत्र बनते हैं। उनके परलोकमें गमन करनेपर उन्हें स्वर्ग तथा समस्त अव्यय लोक प्राप्त होते हैं। हे तात ! पृथ्वीपर वृक्षसमूह फूलोंसे देवगण, फलोंसे पितर और शाखाओंके सहारे अतिथियोंकी पूजा करते हैं। (२४-२८)

किन्नर, सर्प, राक्षस, देव, गन्धर्व और ऋषि प्रभृति सभी लोग वृक्षोंको अवलम्बन किया करते हैं। फूले तथा फले हुए वृक्ष इस लोकमें मनुष्योंको तृप्त करते और परलोकमें पुत्रोंकी भांति वृक्षदाताका परित्राण किया करते हैं, इसलिये कल्याणकी इच्छा करनेवाले मनुष्य तालावके चारों ओर सदा सुन्दर वृक्षोंको लगावें और उन वृक्षोंको पुत्रकी भांति प्रतिपालन करें, क्यों कि वे सब धर्मके अनुसार पुत्ररूपसे कहे गये हैं। तालाव स्थापन करनेवाला, वृक्ष लगानेवाले और जिन ब्राह्मणोंने यज्ञ किये हैं तथा जो सत्यवादी हैं, वे सभी लोग स्वर्गमें निवास

युधिष्ठिर उवाच-यानीमानि बहिर्वेद्यां दानानि परिचक्षते।
तेभ्यो विशिष्टं किं दानं मतं ते कुरुपुङ्गव ॥ १ ॥
कौतूहलं हि परमं तत्र मे विद्यते प्रभो।
दातारं दत्तमन्वेति यद्दानं तत्प्रचक्ष्व मे ॥ २ ॥
भीष्म उवाच-अभयं सर्वभूतेभ्यो व्यसने चाप्यनुग्रहः।
यच्चाभिलषितं दद्यात्तृषितायाऽभियाचते ॥ ३ ॥
दत्तं मन्येत यद्दत्वा तद्दानं श्रेष्ठमुच्यते।
दत्तं दातारमन्वेति यद्दानं भरतर्षभ ॥ ४ ॥
हिरण्यदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च।
एतानि वै पवित्राणि तारयन्त्यपि दुष्कृतम् ॥ ५ ॥
एतानि पुरुषव्याघ्र साधुभ्यो देहि नित्यदा।
दानानि हि नरं पापान्मोक्षयन्ति न संशयः ॥ ६ ॥
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे।

किया करते हैं, इसलिये तालाव खुदवाना और वाडीमें वृक्ष लगाना चाहिये, विविध यज्ञके सहारे देवताओंको तृप्त करे और सदा सत्य वचन कहे। (२९-३३)

अनुशासनपर्वमें ५८ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ५९ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे कुरुश्रेष्ठ ! यज्ञ वेदीसे भिन्न जो सब दानके विषय कहे गये, उनमेंसे आपके मतमें विशिष्ट दान कौनसा है ? हे प्रभु ! उस विषयमें मुझे बहुत ही संशय है, इसलिये जो दान दाताका अनुगमन करता है, आप मेरे समीप उस ही दानका विषय वर्णन करिये। (१—२)

भीष्म बोले, सब प्राणियोंके विषयमें अभयदान, विपत्कालमें अनुग्रह और प्यासे याचकोंको जो अभिलषित वस्तु दान की जाती है, उसे ही देके दाता दी हुई समझे, वह दान सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। हे भरतश्रेष्ठ ! जो दान दिये जानेपर दाताका अनुगमन करता है, वह यही है। जीवोंके विषयमें अभयदान और विपत्कालमें अनुग्रह प्रकाश करनेपर समय और सामर्थ्य होनेपर उपकृत पुरुषका ऋण चुकानेके लिये दाताके अनुगत हुआ करता है। सुवर्ण, गऊ और पृथ्वी इन तीनोंका दान ही पवित्र है, ये पापी पुरुषका भी उद्धार करते हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ ! इसलिये तुम साधुओंको दान करो। दान ही केवल सब पापोंसे अवश्य मुक्त करता है, इसमें सन्देह नहीं

तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥ ७ ॥
प्रियाणि लभते नित्यं प्रियदः प्रियकृत्तथा।
प्रियो भवति भूतानामिह चैव परत्र च ॥ ८ ॥
याचमानमभीमानादनासक्तमकिंचनम्।
यो नार्चति यथाशक्ति स नृशंसो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥
अमित्रमपि चेद्दीनं शरणैषिणमागतम्।
व्यसने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः ॥ १० ॥
कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते।
अपहन्यात्क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥ ११ ॥
क्रियानियमितान्साधून्पुत्रदारैश्च कर्शितान्।
अयाचमानान्कौन्तेय सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत् ॥ १२ ॥
आशिषं ये न देवेषु न च मर्त्येषु कुर्वते।
अर्हन्तो नित्यसन्तुष्टास्तथा लब्धोपजीविनः ॥ १३ ॥
आशीविषसमेभ्यश्च तेभ्यो रक्षस्व भारत।
तान्युक्तैरुपजिज्ञास्य तथा द्विजवरोत्तमान् ॥ १४ ॥

हो सकता है। (३-६)

लोगोंको जो जो वस्तुएं इष्ट हों तथा घरके बीच दाताकी जो प्यारी वस्तु हों, उन प्रिय वस्तुओंको अक्षय करनेवाले मनुष्योंको योग्य है, कि वे उन्हें गुणवान मनुष्योंको दान करें। प्रियवस्तु देने तथा प्रियकार्य करनेवाले पुरुष सदा प्रिय हुआ करते हैं। हे युधिष्ठिर! जो दीन पुरुष दूसरेको समर्थ जानके अनासक्त भावसे उसके समीप प्रार्थना करें, उसे यदि वह शक्ति के अनुसार दान न करे, तो नृशंस कहाता है। शत्रु भी यदि दीन होकर शरणागत होवे, उसपर भी विपत्कालमें जो पुरुष कृपा करता है, वही सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ है। (७-१०)

जो लोग कृश, कृतविद्य, वृत्तिरहित और अवसन्न पुरुषके क्षुधाकी शान्ति करते हैं, उनके समान पुरुष और कोई भी नहीं है। हे कुन्तीपुत्र! निज धर्ममें रत, साधु, पुत्र और भार्या आदिसे कर्षित तथा अयाचक मनुष्यका सब प्रकारके उपायसे निमन्त्रण करे। हे भारत! जो लोग देवता और मनुष्यों के निकट कुछ आशा नहीं करते उन पूजनीय, सदा सन्तुष्ट और प्राप्त हुई वस्तुसे जीविका निबाहनेवाले विषीले सर्पके समान ब्राह्मणोंसे अपनी रक्षा

कृतैरावसथैर्नित्यं सप्रेष्यैः सपरिच्छदैः ।
निमन्त्रयेथाः कौरव्य सर्वकामसुखावहैः ॥ १५ ॥
यदि ते प्रतिगृह्णीयुः श्रद्धापूतं युधिष्ठिर ।
कार्यमित्येव मन्वाना धार्मिकाः पुण्यकर्मिणः ॥ १६ ॥
विद्यास्नाता व्रतस्नाता ये व्यपाश्रित्य जीविनः ।
गूढस्वाध्यायतपसो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥ १७ ॥
तेषु शुद्धेषु दान्तेषु स्वदारपरितोषिषु ।
यत्करिष्यसि कल्याणं तत्ते लोके युधाम्पते ॥ १८ ॥
यथाऽग्निहोत्रं सुहुतं सायंप्रातर्द्विजातिना ।
तथा दत्तं द्विजातिभ्यो भवत्यथ यतात्मसु ॥ १९ ॥
एष ते विततो यज्ञः श्रद्धापूतः सदक्षिणः ।
विशिष्टः सर्वयज्ञेभ्यो ददतस्तात वर्ततताम् ॥ २० ॥
निवापदानसलिलस्तादृशेषु युधिष्ठिर ।
नियसम्पूजयंश्चैव तेष्वानृण्यं नियच्छति ॥ २१ ॥

करो। वैसे ब्राह्मण और उत्तम ऋत्विजोंके भावको जानके जो कार्यको करनेमें समर्थ हो, वैसे मनुष्यके द्वारा पूछके निमन्त्रण करना। (११—१४)

हे कौरव्य ! सर्वकामसुखप्रद प्रेष्य और परिच्छदके सहित आश्रम प्रभृति प्रदान करके उन पुरुषोंको निमन्त्रण करना योग्य है। हे युधिष्ठिर यदि वे पुण्यकर्मशील, धार्मिक पुरुष श्रद्धाके सहित उन वस्तुओंको ग्रहण करें, तो वे धर्मार्थ ही कर्म किया करते हैं। जो लोग विद्यास्नात, व्रतस्नात तथा जो स्वामीके आश्रित न होकर जीवन धारण करनेकी अभिलाष करते हैं, जिनके स्वाध्याय और तपस्या अत्यन्त गूढ है तथा जो संशितव्रती हैं, उन पापरहित जितेन्द्रिय निज स्त्रीमें ही सन्तुष्ट रहनेवाले ब्राह्मणोंका यदि तुम उपकार करोगे, तो तुम्हारा वह कल्याण लोकमें विधृत होवेगा। जैसे सन्ध्या और सबेरेके समय द्विजातियोंके अग्निहोत्र उत्तम रीतिसे जलते रहते हैं, वैसे ही संयत चित्तवाले ब्राह्मणोंको जो दान किया जाता है, वह वैसा ही है। (१५-१९)

हे तात ! तुम्हारे समीप श्रद्धायुक्त, सदक्षिण यज्ञका विषय कहा गया, यही सब यज्ञोंसे श्रेष्ठ है। तुम दाता हो, इसलिये तुम्हारे समीप सदा ये यज्ञ वर्त्तमान रहें। हे युधिष्ठिर ! वैसे ब्राह्मणोंको जो दान किया जाता है, वह

य एवं नैव कुप्यन्ते न लुभ्यन्ति तृणेष्वपि ।
त एव नः पूज्यतमा ये चापि प्रियवादिनः ॥ २२ ॥
एते न बहु मन्यन्ते न प्रवर्तन्ति चापरे ।
पुत्रवत्परिपाल्यास्ते नमस्तेभ्यस्तथाऽभयम् ॥ २३ ॥
ऋत्विक्पुरोहिताचार्या मृदुब्रह्मधरा हि ते ।
क्षात्रेणाऽपि हि संसृष्टं तेजः शाम्यति वै द्विजे ॥२४॥
अस्ति मे बलवानस्मि राजाऽस्मीति युधिष्ठिर ।
ब्राह्मणान्मा च पर्यश्नीर्वासोभिरशनेन च ॥ २५ ॥
यच्छोभार्थं बलार्थं वा वित्तमस्ति तवाऽनघ ।
तेन ते ब्राह्मणाः पूज्याः स्वधर्ममनुतिष्ठता ॥ २६ ॥
नमस्कार्यास्तथा विप्रा वर्तमाना यथातथम् ।
यथासुखं यथोत्साहं ललन्तु त्वयि पुत्रवत् ॥ २७ ॥
को ह्यक्षयप्रसादानां सुहृदामल्पतोषिणाम् ।

पितृतर्पणके समान है, उन लोगोंके अवलम्बसे वास करो और उनकी पूजा करो, तो देवताओंके समीप अऋण होगे। जो ब्राह्मण प्रियवादी होते हैं, वे कदापि क्रोध नहीं करते और तृणमात्र भी लोभ नहीं करते, वेही हमारे लिये अत्यन्त पूजनीय हैं। ये लोग निस्पृह हैं, इसलिये दाताका बहुमान नहीं करते करते और अन्य विषय में भी प्रवृत्त नहीं होते, वे लोग पुत्रकी भांति सब प्रकारसे प्रतिपालन करने योग्य हैं, उन्हें नमस्कार करता हूं, उनके ही प्रसन्न तथा क्रुद्ध होनेपर स्वर्ग और नरक दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं। (२०—२३)

ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य और शिष्यके विषयमें वत्सल वेदज्ञ ब्राह्मण क्षात्रके सहित संसृष्ट होनेसे उनका तेज शान्त होता है, शान्त द्विजमें दीप्यमान तेज सदा स्थित रहता है। हे युधिष्ठिर! 'मेरे धन है, मैं बलवान हूं, मैं राजा हूं' ऐसा अभिमान करके ब्राह्मणोंको परित्याग करके पहरने और खानेकी वस्तुओंको स्वयं भोग न करना। हे पापरहित! तुम्हारे बल तथा शोभाके लिये जो धन है, तुम निज धर्मका अनुष्ठान करते हुए उस धनके सहारे ब्राह्मणोंकी पूजा करो। ब्राह्मण किसी प्रकारके रूपसे क्यों न वर्त्तमान रहें, वे अवश्य ही तुम्हारे नमस्कारके योग्य हैं, तुम्हारे समीप वे लोग पुत्रकी भांति उत्साहके अनुसार यथायोग्य सुख पावें। (२४—२७)

वृत्तिमर्हत्यचक्षेमुं त्वदन्यः कुरुसत्तम ॥ २८ ॥
यथा पत्याश्रयो धर्मः स्त्रीणां लोके सनातनः।
सदैव सा गतिर्नान्या तथाऽस्माकं द्विजातयः॥ २९ ॥
यदि नो ब्राह्मणास्तात संत्यजेयुरपूजिताः।
पश्यन्तो दारुणं कर्म सततं क्षत्रिये स्थितम् ॥ ३० ॥
अवेदानामयज्ञानामलोकानामवर्तिनाम्।
कस्तेषां जीवितेनार्थस्त्वां विना ब्राह्मणाश्रयम् ॥३१॥
अत्र ते वर्तयिष्यामि यथाधर्मं सनातनम्।
राजन्यो ब्राह्मणान् राजन्पुरा परिचचार ह ॥ ३२ ॥
वैश्यो राजन्यमित्येव शूद्रो वैश्यमिति श्रुतिः।
दूराच्छूद्रेणोपचर्यो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ३३ ॥
संस्पर्शपरिचर्यस्तु वैश्येन क्षत्रियेण च।
मृदुभावान्सत्यशीलान्सत्यधर्मानुपालकान् ॥ ३४ ॥
आशीविषानिव क्रुद्धांस्तानुपाचरत द्विजान्।
अपरेषां परेषां च परेभ्यश्चापि ये परे ॥ ३५ ॥
क्षत्रियाणां प्रतपतां तेजसा च बलेन च।

हे कुरुसत्तम! तुम्हारे अतिरिक्त कौन पुरुष अक्षय सुख देनेवाले, थोडेमें ही सन्तुष्ट सुहृदोंके लिये वृत्ति देनेमें समर्थ होगा? जैसे स्त्रियोंके सनातन धर्मका पति ही अवलम्ब है तथा उनके लिये जैसे दूसरी गति नहीं है, हमारे लिये ब्राह्मणवृन्द भी वैसे ही हैं। हे तात! क्षत्रियोंका दारुण कर्म देखकर ब्राह्मण लोग अपूजित होके यदि हमें परित्याग करें, तो ब्राह्मणाश्रयके विना वेदरहित, यज्ञहीन, लोकनिन्दित, वृत्ति-रहित क्षत्रियोंके जीनेका क्या प्रयोजन है? (२८—३१)

हे राजन्! इस विषयमें जो सनातन धर्म है, उसे तुम्हारे समीप कहता हूं। ऐसी जनश्रुति है, कि पहले समयमें क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंकी सेवा की थी, वैश्य क्षत्रियोंकी और शूद्र वैश्योंकी सेवा करते थे। शूद्र दूरसे जलती हुई अग्निकी भांति ब्राह्मणकी सेवा करे। क्षत्रिय और वैश्य छूके ब्राह्मणोंकी सेवा करें। कोमलता, सत्यशीलता और सत्यधर्मके पालन निबन्धनसे उन क्रुद्ध सर्पसदृश ब्राह्मणोंकी सेवा करो। अन्य श्रेष्ठ जातियोंसे श्रेष्ठ होकर तेज और बलके सहारे जो क्षत्रिय प्रतापी हुए हैं,

ब्राह्मणेष्वेव शाम्यन्ति तेजांसि च तपांसि च॥ ३६॥
न मे पिता प्रियतरो न त्वं तात तथा प्रियः।
न मे पितुः पिता राजन्न चात्मा न च जीवितम्॥३७॥
त्वत्तश्च मे प्रियतरः पृथिव्यां नास्ति कश्चन।
त्वत्तोऽपि मे प्रियतरा ब्राह्मणा भरतर्षभ ॥ ३८ ॥
ब्रवीमि सत्यमेतच्च यथाऽहं पाण्डुनन्दन।
तेन सत्येन गच्छेयं लोकान्यत्र च शान्तनुः ॥ ३९ ॥
पश्येयं च सताँल्लोकाञ्छुचीन्ब्रह्मपुरस्कृतान्।
तत्र मे तात गन्तव्यमह्नाय च चिराय च ॥ ४० ॥
सोऽहमेतादृशाँल्लोकान्दृष्ट्वा भरतसत्तम।
यन्मे कृतं ब्राह्मणेषु न तप्ये तेन पार्थिव ॥ ४१ ॥ [३००८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥ ५९॥

युधिष्ठिर उवाच—यौ तु स्यातां चरणेनोपपन्नौ यौ विद्यया सदृशौ जन्मना च।
ताभ्यां दानं कतमस्मै विशिष्टमयाचमानाय च याचते च ॥ १ ॥
भीष्म उवाच—श्रेयो वै याचतः पार्थ दानमाहुरयाचते।

ब्राह्मणोंके समीप उन क्षत्रियोंकी तपस्या और तेज शान्त होजाते हैं। (३२-३६)

हे तात महाराज! हमारे लिये पिता, तुम, पितामह, आत्मा और जीवन भी ब्राह्मणोंके समान प्रिय नहीं है। हे भरतश्रेष्ठ! पृथ्वीपर मेरे लिये तुमसे बढके प्यारा और कोई नहीं है, परन्तु ब्राह्मण लोग तुमसे भी अधिक प्रिय हैं। हे पाण्डुनन्दन! जो मैं यह सत्य वचन कहता हूं, तो उस ही सत्यके सहारे उन लोकोंमें गमन करूंगा, जहांपर मेरे पिता शान्तनु निवास करते हैं। मैं ब्रह्मलोक प्रभृति सैकडों लोकोंको देख रहा हूं, सदाके लिये शीघ्र ही वहां गमन करूंगा। हे भरतसत्तम महाराज! मैंने ऐसे लोकोंको देखकर ब्राह्मणोंके विषयमें जो कार्य किया है, उस ही कारणसे इस समय परिताप नहीं करता। (३७—४१)

अनुशासनपर्वमें ५९ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ६० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, यदि दो ब्राह्मण समान आचार, जन्म और विद्यामें सदृश हों, उनमेंसे एक याचक और दूसरा अयाचक हो, तो उन दोनोंमेंसे किसे दान करनेसे विशेष फल होता

अर्हत्तमो वै धृतिमान्कृपणादधृतात्मनः ॥ २ ॥
क्षत्रियो रक्षणधृतिर्ब्राह्मणोऽनर्थनाधृतिः।
ब्राह्मणो धृतिमान्विद्वान्देवान्प्रीणाति तुष्टिमान् ॥ ३ ॥
याच्यमाहुरनीशस्य अभिहारं च भारत।
उद्वेजयन्ति याचन्ति सदा भूतानि दस्युवत् ॥ ४ ॥
म्रियते याचमानो वै न जातु म्रियते ददत्।
ददत्सञ्जीवयत्येनमात्मानं च युधिष्ठिर ॥ ५ ॥
आनृशंस्यं परो धर्मो याचते यत्प्रदीयते।
अयाचतः सीदमानान्सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत् ॥ ६ ॥
यदि वै तादृशा राष्ट्रान्वसेयुस्ते द्विजोत्तमाः।
भस्मच्छन्नानिवाग्नींस्तान्बुध्येथास्त्वं प्रयत्नतः ॥ ७ ॥
तपसा दीप्यमानास्ते दहेयुः पृथिवीमपि।
अपूज्यमानाः कौरव्य पूजार्हास्तु तथाविधाः ॥ ८ ॥
पूज्या हि ज्ञानविज्ञानतपोयोगसमन्विताः।

है, यही आप कहिये। (१)

भीष्म बोले, हे पार्थ! याचककी अपेक्षा न मांगनेवाले ब्राह्मणको दान करना कल्याणकारी है, धीरज रहित दीनकी अपेक्षा धैर्यशाली पूजनीय है। रक्षा करना ही क्षत्रियोंका धैर्य है और न मांगनाही ब्राह्मणोंका धैर्य है, सन्तुष्टचित्त, धृतिमान्, विद्वान्, ब्राह्मण देवताओंको किया करते हैं। हे भारत! दरिद्र पुरुषके जांचनेकोही पण्डित लोग तिरस्कार करते हैं, जब मनुष्य जांचते हैं, तब वे दस्युकी भांति उद्वेगजनक हुआ करते हैं। हे युधिष्ठिर! मांगनेवाले, मनुष्य ही मरे हुएके तुल्य हैं, देनेवाला कदापि नहीं मरता, दाता दान करते हुए याचक तथा अपनेको जीवित करता है। (२—५)

याचक पुरुषोंको जो वस्तु प्रदान की जाती है, वह अनृशंसताही परम धर्म है, विना जाचे जो लोग अवसन्न होरहे हों, उन्हें जिस उपायसे हो सके निमन्त्रण करना योग्य है। यदि वैसे श्रेष्ठ द्विज तुम्हारे राज्यमें वास करें, तो तुम यत्नपूर्वक उन्हें छाईसे छिपी हुई अग्निकी भांति जानना। हे कुरुवंशावतंस! तपस्याके सहारे दीप्यमान ब्राह्मण यदि पूजित न हों, तो वे इस पृथ्वीको जला सकते हैं, इसलिये वैसे पुरुष अवश्य पूजाके योग्य हैं। हे शत्रुतापन! वे लोग ज्ञान, विज्ञान, तपस्या और

तेभ्यः पूजां प्रयुञ्जीथा ब्राह्मणेभ्यः परन्तप ॥ ९ ॥
ददद्बहुविधान्दायानुपागच्छन्नयाचताम् ।
यदग्निहोत्रे सुहुते सायंप्रातर्भवेत्फलम् ॥ १० ॥
विद्यावेदव्रतवति तद्दानफलमुच्यते ।
विद्यावेदव्रतस्नातानव्यपाश्रयजीविनः ॥ ११ ॥
गूढस्वाध्यायतपसो ब्राह्मणान्संशितव्रतान् ।
कृतैरावसथैर्हृद्यैः सप्रेष्यैः सपरिच्छदैः ॥ १२ ॥
निमन्त्रयेथाः कौरव्य कामैश्चान्यैर्द्विजोत्तमान् ।
अपि ते प्रतिगृह्णीयुः श्रद्धोपेतं युधिष्ठिर ॥ १३ ॥
कार्यमित्येव मन्वाना धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः ।
अपि ते ब्राह्मणा भुक्त्वा गताः सोद्धरणान् गृहान् ॥ १४ ॥
येषां दाराः प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ।
अन्नानि प्रातःसवने नियता ब्रह्मचारिणः ॥ १५ ॥
ब्राह्मणास्तात भुञ्जानास्त्रेताग्निं प्रीणयन्त्युत ।

योगयुक्त होनेसे ही पूजनीय हैं इसलिये उन ब्राह्मणोंकी पूजा-करना। वेदविद्या व्रतसे युक्त अयाचक ब्राह्मणोंके निकट जाके अनेक प्रकारसे धन प्रभृति दान करनेसे पुरुष दाता होता है, सन्ध्या और भोरके समय अग्निहोत्रमें होम करनेसे जो फल होता है, उन्हें दान करनेसे वैसा ही फल कहा गया है। (९-११)

हे कौन्तेय ! जो लोग विद्यास्नात, वेदस्नात, व्रतस्नात और स्वामीके आसरेमें रहके जीविका निर्वाहकी इच्छा नहीं करते, जिनके निज शास्त्रोक्त वेदपाठ और तपस्या अत्यन्त गूढ है, उन संशितव्रती ब्राह्मणोंको बने हुए मनोहर आश्रम, वस्त्र, सेवक तथा दूसरी समस्त आवश्यकीय वस्तुओंके द्वारा निमन्त्रण करे। (११—१३)

हे युधिष्ठिर ! वे सूक्ष्मदर्शी धर्मज्ञ ब्राह्मण लोग कर्त्तव्य कार्य जानके श्रद्धापूर्वक दानप्रतिग्रह किया करते हैं, वैसेही ब्राह्मणोंके भोजन करनेके अनन्तर घर जानेपर जिनकी स्त्रियां जांचनेवाले बालकोंको निज स्वामीके आनेपर "खानेको दूंगी," ऐसा कहके धीरज दिया करती हैं, वैसे ब्राह्मणोंको निमन्त्रण करे। हे तात ! प्रातःकालमें सदा ब्रह्मचारी ब्राह्मण अन्न भोजन करते हुए गार्हपत्य, आवहनीय और दक्षिणाग्नि, इन तीनों अग्नियोंको प्रसन्न

माध्यन्दिनं ते सवनं दददस्तात वर्त्तताम् ॥ १६ ॥
गोहिरण्यानि वासांसि तेनेन्द्रः प्रीयतां तव।
तृतीयं सवनं ते वै वैश्वदेवं युधिष्ठिर ॥ १७ ॥
यद्देवेभ्यः पितृभ्यश्च विप्रेभ्यश्च प्रयच्छसि।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यः संविभागश्च भागशः ॥ १८ ॥
दमस्त्यागो धृतिः सत्यं भवत्ववभृथाय ते।
एष ते विततो यज्ञः श्रद्धापूतः सदक्षिणः ॥ १९ ॥
विशिष्टः सर्वयज्ञानां नित्यं तात प्रवर्त्तताम् ॥ २० ॥ [३०२८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच– दानं यज्ञः क्रिया चेह किंस्वित्प्रेत्य महाफलम्।
कस्य ज्यायः फलं प्रोक्तं कीदृशेभ्यः कथं कदा ॥ १ ॥
एतदिच्छामि विज्ञातुं याथातथ्येन भारत।
विद्वन् जिज्ञासमानाय दानधर्मान्प्रचक्ष्व मे ॥ २ ॥
अन्तर्वेद्यां च यद्दत्तं श्रद्धया चानृशंस्यतः।

करते हैं। (१३—१६)

हे तात! दिनके मध्याह्नमें तुम यज्ञ करते हुए गऊ, सुवर्ण और वस्त्र दान करो, उससे इन्द्र तुमपर प्रसन्न होंगे, हे युधिष्ठिर! तीसरी बार सन्ध्याको वैश्वदेव करना चाहिये जोकि देवता, पितर और ब्राह्मणोंको प्रदान किया जाता है। सब प्राणियोंके विषयमें अहिंसा, भाग्यके अनुसार संविभाग, दम, त्याग, धृति और सत्य तुम्हारे अवभृथके निमित्त करते हैं। यह तुम्हारे निकट श्रद्धायुक्त सदक्षिण यज्ञका विषय कहा गया, यही सब यज्ञोंसे श्रेष्ठ है। हे तात! तुम्हारी इस यज्ञमें सदा प्रवृत्ति होवे। (१६-२०)

अनुशासनपर्वमें ६० अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ६१ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! इस लोकमें दान और यज्ञ करनेसे परलोकमें महाफल होता है, परन्तु इन दोनोंके बीच किसका फल श्रेष्ठ कहके वर्णित हुआ है? कैसे पुरुषोंको दान करना चाहिये और किस प्रकारसे किस समयमें यज्ञ करना उचित है? हे हे भारत! इसे मैं यथार्थ रीतिसे जाननेकी इच्छा करता हूं। हे विद्वन्! मैं यही पूछता हूं, मुझे समस्त दानधर्मका उपदेश करिये। हे तात! अनृशंस

किंस्विच्छ्रेयस्करं तात तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच– रौद्रं कर्म क्षत्रियस्य सततं तात वर्तते।
तस्य वैतानिकं कर्म दानं चैवेह पावनम् ॥ ४ ॥
न तु पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः।
एतस्मात्कारणाद्यज्ञैर्यजेद्राजाऽऽप्तदक्षिणैः ॥ ५ ॥
अथ चेत्प्रतिगृह्णीयुर्दद्यादहरहर्नृपः।
श्रद्धामास्थाय परमां पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ६ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयन्द्रव्यैस्ततो यज्ञे यतव्रतः।
मैत्रान् साधून्वेदविदः शीलवृत्ततपोऽर्जितान् ॥ ७ ॥
यत्ते ते न करिष्यन्ति कृतं ते न भविष्यति।
यज्ञान्साधय साधुभ्यः स्वाद्वन्नान्दक्षिणावतः ॥ ८ ॥
इष्टं दत्तं च मन्येथा आत्मानं दानकर्मणा।
पूजयेथा यायजूकांस्तवाप्यंशो भवेद्यथा ॥ ९ ॥
प्रजावतो भरेथाश्च ब्राह्मणान् बहुकारिणः।
प्रजावांस्तेन भवति यथा जनयिता तथा ॥ १० ॥

पुरुषोंके द्वारा अन्तर्वेदिके बीच श्रद्धापूर्वक जो दिया जाता है, क्या वही कल्याणकारी हुआ करता है? इसही विषयको मेरे समीप वर्णन करिये। (१-३)

भीष्म बोले, हे तात! क्षत्रियोंमें सदा ही रौद्र कर्म रहते हैं, इसलिये दान ही उनके निमित्त पवित्र यज्ञ है। साधु पुरुष पाप करनेवाले राजाओंका दान नहीं लेते; इसलिये राजा दक्षिणायुक्त यज्ञ करे। यदि राजा परम श्रद्धाके सहित प्रतिदिन दान करे और ब्राह्मण लोग उसे प्रतिग्रह करें, तो वही परम पवित्र दान है। सब प्राणियोंके अभयदाता वेदज्ञ, सुशील, सद्वृत्त और तपस्यायुक्त ब्राह्मणोंको तृप्त करके शेषमें यज्ञविषयमें यतव्रती होवे, ब्राह्मण लोग यदि तुम्हारा दान ग्रहण न करेंगे, तो तुम्हें सुकृत न होगा; इसलिये सुकृतके निमित्त यज्ञ करो और साधुओंको दक्षिणाके सहित सुस्वादु अन्न दो। (४-८)

दानकर्मके सहारे अपनेको यज्ञ करनेवाला तथा दाता जानो, क्यों कि दान ही यज्ञ आदिके अन्तर्भूत होता है। यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंकी पूजा करो और उन्हें दान करनेसे तुम भी उनके यज्ञमें सदा अनन्त कल्याणलाभके अंशभागी होगे। प्रजावान् पुरुष अनेक कार्य करनेवाले ब्राह्मणोंका भरण करें,

यावतः साधुधर्मान्वै सन्तः संवर्धयन्त्युत ।
सर्वस्वैश्चापि भर्तव्या नरा ये बहुकारिणः ॥ ११ ॥
समृद्धः संप्रयच्छ त्वं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिर ।
धेनूरनडुहोऽन्नानि च्छत्रं वासांस्युपानहौ ॥ १२ ॥
आज्यानि यजमानेभ्यस्तथाऽन्नानि च भारत ।
अश्ववन्ति च यानानि वेश्मानि शयनानि च ॥ १३ ॥
एते देया व्युष्टिमन्तो लघूपायाश्च भारत ।
अजुगुप्सांश्च विज्ञाय ब्राह्मणान् वृत्तिकर्शितान् ॥१४॥
उपच्छन्नं प्रकाशं वा वृत्त्या तान्प्रतिपालयेत् ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां श्रेयस्तत्क्षत्रियान्प्रति ॥ १५ ॥
एवं पापैर्विनिर्मुक्तस्त्वं पूतः स्वर्गमाप्स्यसि ।
सञ्चयित्वा पुनः कोशं यद्राष्ट्रं पालयिष्यसि ॥ १६ ॥
तेन त्वं ब्रह्मभूयत्वमावाप्स्यसि धनानि च ।
आत्मनश्च परेषां च वृत्तिं संरक्ष भारत ॥ १७ ॥
पुत्रवच्चापि भृत्यान्स्वान् प्रजाश्च परिपालय ।
योगः क्षेमश्च ते नित्यं ब्राह्मणेष्वस्तु भारत ॥ १८ ॥

तो वे प्रजावान् होंगे, साधु लोग ही समस्त साधुकर्मोंकी वृद्धि करते हैं, इस लिये जो मनुष्य बहुतसे उपकार किया करते हैं, राजाको योग्य है, कि उन लोगोंका सब प्रकारसे पालन करे। हे भरतवंशावतंस युधिष्ठिर! तुम समृद्धि-युक्त हो, इसलिये याचक ब्राह्मणोंको गऊ, गाडीमें जुतने योग्य बैल, अन्न, छाता, वस्त्र, जूता, घृत, बहुतसी भोजनकी वस्तु, घोडेयुक्त सवारी, गृह और शय्या प्रभृति दान करना। ९-१३

हे भारत! निन्दा न करनेवाले वृत्ति-कर्षित ब्राह्मणोंको ये सब समृद्धियुक्त विषय दान करने योग्य हैं। प्रच्छन्न वा प्रकाश्य भावसे वृत्ति दान करके ब्राह्मणोंको प्रतिपालन करना उचित है, क्षत्रियोंके लिये यह कार्य अश्वमेध और राजसूय यज्ञसे भी श्रेष्ठ है। इस ही प्रकार तुम पापोंसे छूटके तथा पवित्र होके स्वर्गलोक पाओगे; तुम फिर कोशसञ्चय करके राज्य पालन करोगे, उसहीके सहारे तुम्हें समस्त धन और ब्राह्मणत्व प्राप्त होगा। हे भारत! तुम अपनी और दूसरेकी वृत्तिकी रक्षा करो, पुत्रकी भांति निज सेवक और प्रजासमूहको प्रतिपालन

तदर्थं जीवितं तेऽस्तु मा तेभ्योऽप्रतिपालनम् ।
अनर्थो ब्राह्मणस्यैष यद्वित्तनिचयो महान् ॥ १९ ॥
श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो दर्पयेत्संप्रमोहयेत् ।
ब्राह्मणेषु प्रमूढेषु धर्मो विप्रणशेद् ध्रुवम् ।
धर्मप्रणाशे भूतानामभावः स्यान्न संशयः ॥ २० ॥
यो रक्षिभ्यः संप्रदाय राजा राष्ट्रं विलुम्पति ।
यज्ञे राष्ट्राद्धनं तस्मादानयध्वमिति ब्रुवन् ॥ २१ ॥
यच्चादाय तदाज्ञप्तं भीतं दत्तं सुदारुणम् ।
यजेद्राजा न तं यज्ञं प्रशंसन्त्यस्य साधवः ॥ २२ ॥
अपीडिताः सुसंवृद्धा ये ददत्यनुकूलतः ।
तादृशेनाप्युपायेन यष्टव्यं नोद्यमाहृतैः ॥ २३ ॥
यदा परिनिषिच्येत निहितो वै यथाविधि ।
तदा राजा महायज्ञैर्यजेत बहुदक्षिणैः ॥ २४ ॥
वृद्धबालधनं रक्ष्यमन्धस्य कृपणस्य च ।

करो। हे भारत! ब्राह्मणोंमें सदा तुम्हारा योगक्षेम रहे, तुम्हारा जीवन ब्राह्मणोंके निमित्त ही व्यापृत होवे। उन लोगोंके प्रतिपालन करनेमें कदापि विरत न होना, यह जो उत्तम धनकी महान् राशि है, वह तुम्हारा नहीं वरन ब्राह्मणोंका ही धन है। (१४-१९)

सदा सम्पत्तिका सहवास मनुष्योंको अभिमान और मोहसे मुग्ध करता है, ब्राह्मणोंके विमूढ होनेपर निश्चय ही धर्म नष्ट होता है, धर्मके नष्ट होनेपर निःसन्देह प्राणियोंका अभाव हुआ करता है। जो राजा संग्रहके अनन्तर लोगोंको धन दान करके शेषमें यज्ञके लिये "उसी राज्यसे धन लाओ" ऐसा वचन कहके राष्ट्रलोप करता है तथा जो आज्ञानुसार धनवान पुरुषोंके द्वारा प्राप्त हुए उस दारुण धनको लेकर यज्ञ करता है, साधुजन उसके वैसे यज्ञकी प्रशंसा नहीं करते। जो सब अत्यन्त धनवान पुरुष अपीडित होकर अनुकूल भावसे देवें, वैसे ही उपायके सहारे यज्ञ करना उचित है, प्रजाको पीडित करके यज्ञ करना योग्य नहीं है। इसलिये यह उचित है, कि जब प्रजाओंके हित करनेवाला राजा प्रजा-समूहके धनसे अभिषिक्त हो, तब अनेक दक्षिणायुक्त महायज्ञके द्वारा याग करे। (२०-२४)

बूढे, बालक और कृपापात्र अन्धोंके

न खातपूर्वं कुर्वीत न रुदन्तीधनं हरेत् ॥ २५ ॥
हृतं कृपणवित्तं हि राष्ट्रं हन्ति नृपश्रियम् ।
दद्याच्च महतो भोगान् क्षुद्भयं प्रणुदेत्सताम् ॥ २६ ॥
येषां स्वादूनि भोज्यानि समवेक्ष्यन्ति बालकाः ।
नाश्नन्ति विधिवत्तानि किं नु पापतरं ततः ॥ २७ ॥
यदि ते तादृशो राष्ट्रे विद्वान्सीदेत्क्षुधा द्विजः ।
भ्रूणहत्यां च गच्छेथाः कृत्वा पापमिवोत्तमम् ॥२८॥
धिक्तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति ।
द्विजोऽन्यो वा मनुष्योऽपि शिबिराह वचो यथा ॥ २९ ॥
यस्य स्म विषये राज्ञः स्नातकः सीदति क्षुधा ।
अवृद्धिमेति तद्राष्ट्रं विन्दते सह राजकम् ॥ ३० ॥
क्रोशन्त्यो यस्य वै राष्ट्राद् ह्रियन्ते तरसा स्त्रियः ।
क्रोशतां पतिपुत्राणां मृतोऽसौ न च जीवति ॥ ३१ ॥
अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम् ।

धनकी रक्षा करनी चाहिये और सूखा पडनेपर जो लोग कूआं खोदके खेतके धान्यको सींचते हैं, उनके और रुदन करनेवालोंके धन यज्ञके लिये हरना उचित नहीं हैं। जो राजा कृपणकी भांति व्यवहार करता है, वही व्यवहार उसके राजश्रीको विनष्ट करता है, इस-लिये राजा उत्तम महत् भोग्यवस्तु दान करे और साधुओंकी क्षुधा तथा भय दूर करे। बालकवृन्द जिसके भोजनकी सुस्वादु वस्तुओंको केवल देखा ही करते हैं कदापि पाते नहीं, अथवा विधिपूर्वक भोजन नहीं कर सकते, उससे अधिक दूसरा पातकी कौनसा है? तुम्हारे ऐसे राज्यमें विद्वान् ब्राह्मण यदि क्षुधाके द्वारा अवसन्न होंगे, तो मानो तुम अत्यन्त पाप करके भ्रूणहत्या अपराधका फल पाओगे। (२५-२८)

राजा शिबिने ऐसा कहा है, कि जिसके राज्यमें ब्राह्मण अथवा अन्य कोई मनुष्य क्षुधासे खिन्न होता है, उस राजाके जीनेको धिक्कार है। जिस राजाके राज्यमें स्नातक ब्राह्मण क्षुधासे अवसन्न होते हैं, उसके राज्यकी वृद्धि नहीं होती और इकबारगी बहुतसे राजा एकत्र होके उसके विपक्षी बनते हैं। जिसके राज्यमें रोनेवाले पति और पुत्रोंके बीचसे रुदन करती हुई स्त्री हरी जाती है, वह राजा मरे हुएके तुल्य है, उस समय वह जीता नहीं

तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ॥ ३२ ॥
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥ ३३ ॥
पापं कुर्वन्ति यत्किंचित्प्रजा राज्ञा ह्यरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा विन्दति भारत ॥ ३४ ॥
अथाहुः सर्वमेवैति भूयोऽर्धमिति निश्चयः।
चतुर्थं मतमस्माकं मनोः श्रुत्वानुशासनम् ॥ ३५ ॥
शुभं वा यत्र कुर्वन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य पुण्यस्य राजा चाप्नोति भारत ॥ ३६ ॥
जीवन्तं त्वाऽनुजीवन्तु प्रजाः सर्वा युधिष्ठिर।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिवाण्डजाः ॥ ३७ ॥
कुबेरमिव रक्षांसि शतक्रतुमिवामराः।
ज्ञातयस्त्वाऽनुजीवन्तु सुहृदश्च परन्तप ॥ ३८ ॥ [२०९६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर उवाच- इदं देयमिदं देयमितीयं श्रुतिरादरात्।

है। अरक्षक, हर्त्ता, लोपकर्त्ता, अनायक और निर्घृण कलि समान राजाका प्रजा एकत्र होके नाश करे। मैं तुम लोगोंका रक्षक हूं, ऐसा वचन कहके जो राजा रक्षा नहीं करता, उस उन्मत्त तथा आतुर राजाको प्रजा इकट्ठी होके कुत्तेकी भांति मार डालती है। (२९-३३)

हे भारत! प्रजा राजासे अरक्षित होनेपर जो कुछ पाप करती है, राजा उनमेंसे चौथा भाग ग्रहण करता है। कोई कहते हैं, प्रजाका किया हुआ समस्त पाप राजाको लगता है, कोई कहते हैं, आधा हिस्सा मिला करता है, मनुकी आज्ञा सुनके चौथा भाग ही मुझे अभिमत है। हे भारत! राजासे सुरक्षित प्रजा जो सब शुभ कर्म करती है, उस पुण्यमें भी उसे चतुर्थ भाग प्राप्त होता है। हे युधिष्ठिर! तुम जीवित रहो, प्रजा तुम्हारी अनुजीवी होवे जैसे समस्त प्राणी जलके, पक्षीवृन्द महावृक्षके, राक्षसगण कुबेरके और देववृन्द महेन्द्रके अनुजीवी होते हैं, वैसे ही स्वजन और सुहृद्‌गण तुम्हारे अनुजीवी होवें। (३४-३८)

अनुशासनपर्वमें ६१ अध्याय समाप्त।

—

बहुदेयाश्च राजानः किंस्विद्दानमनुत्तमम् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अतिदानानि सर्वाणि पृथिवीदानमुच्यते ।
अचला ह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामानिहोत्तमान् ॥ २ ॥
दोग्ध्री वासांसि रत्नानि पशून्व्रीहियवांस्तथा ।
भूमिदः सर्वभूतेषु शाश्वतीरेधते समाः ॥ ३ ॥
यावद्भूमेरायुरिह तावद्भूमिद एधते ।
न भूमिदानादस्तीह परं किंचिद्युधिष्ठिर ॥ ४ ॥
अप्यल्पं प्रददुः सर्वे पृथिव्या इति नः श्रुतम् ।
भूमिमेव ददुः सर्वे भूमिं ते भुञ्जते जनाः ॥ ५ ॥
स्वकर्मैवोपजीवन्ति नरा इह परत्र च ।
भूमिर्भूतिर्महादेवी दातारं कुरुते प्रियम् ॥ ६ ॥
य एतां दक्षिणां दद्यादक्षयां राजसत्तम ।
पुनर्नरत्वं संप्राप्य भवेत्स पृथिवीपतिः ॥ ७ ॥
यथा दानं तथा भोग इति धर्मेषु निश्चयः ।

अनुशासनपर्वमें ६२ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, यह देय है, यह दातव्य है,इस ही प्रकार श्रुति अत्यन्त आदरके सहित दानकी विधि कहा करती है; राजा लोग बहुतेरे कुटुम्बका भरण करते हैं, उनके लिये सबसे श्रेष्ठ दान कौनसा है ? (१)

भीष्म बोले, सब दानोंमें भूमिदान सबसे श्रेष्ठ है, अक्षया और अचला भूमि समस्त उत्तम कामना पूरण किया करती है । वस्त्र, रत्न, व्रीहि, यव प्रभृतिको पृथ्वीही दोहन किया करती है, इसलिये भूमि देनेवाला सब प्राणियोंके बीच सदा ही वर्द्धित होता हैं। हे युधिष्ठिर ! इस लोकमें जबतक भूमि विद्यमान रहती है, भूमि दान करनेवाला उतने समय पर्यन्त वर्द्धित होता है; इसलिये भूमिदानसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है । हमने सुना है, कि सबके बीच बहुत ही थोडे लोग भूमिदान किया करते हैं, वे भूमि भोग करनेमें समर्थ होते हैं । पुरुष इस लोक और परलोकमें निज कर्मको ही उपजीव्य करके जीवन बिताता है,महादेवी पृथ्वी भूमिदाताका अत्यंत प्रिय किया करती है । हे राजसत्तम ! जो लोग इस अक्षया भूमिको दक्षिणामें दान करते हैं, वे फिर मनुष्यत्व लाभ करके पृथ्वीपति होते हैं । (२-७)

जैसा देगा वैसा ही भोग प्राप्त होगा,

संग्रामे वा तनुं जह्याद्‌दद्याच्च पृथिवीमिमाम् ॥ ८ ॥
इत्येतत्क्षत्रबन्धूनां वदन्ति परमां श्रियम् ।
पुनाति दत्ता पृथिवी दातारमिति शुश्रुम ॥ ९ ॥
अपि पापसमाचारं ब्रह्मघ्नमपि चानृतम् ।
सैव पापं प्लावयति सैव पापात्प्रमोचयेत् ॥ १० ॥
अपि पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः ।
पृथिवीं नान्यदिच्छन्ति पावनं जननी यथा ॥ ११ ॥
नामास्याः प्रियदत्तेति गुह्यं देव्याः सनातनम् ।
दानं वाऽप्यथवाऽऽदानं नामास्याः प्रथमप्रियम् ॥१२॥
य एतां विदुषे दद्यात्पृथिवीं पृथिवीपतिः ।
पृथिव्यामेतदिष्टं स राजा राज्यमितो व्रजेत् ॥ १३ ॥
पुनश्चासौ जनिं प्राप्य राजवत् स्यान्न संशयः ।
तस्मात्प्राप्यैव पृथिवीं दद्याद्विप्राय पार्थिवः ॥ १४ ॥
नाभूमिपतिना भूमिरधिष्ठेया कथंचन ।

यह धर्मशास्त्रसे निश्चय है, चाहे संग्राम में शरीर परित्याग करे, अथवा इस पृथ्वीको दान करे। पण्डित लोग इसे ही क्षत्रबन्धुओंकी परम श्री कहते हैं, मैंने सुना है, कि दान की हुई पृथ्वी दाताको पवित्र करती है। पाप करनेवाले ब्रह्मघ्न और मिथ्यावादी मनुष्योंको पापसे पृथ्वी ही उद्धार करती है और वही उन लोगोंको पापोंसे मुक्त किया करती है। साधुजन पापाचारी राजाओंके भूमिदानको ही प्रतिग्रह करते हैं, अन्यधन ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करते, क्यों कि पृथ्वी ही सबको पवित्र करने वाली तथा सबकी जननी है। (८–११)

पृथ्वीदेवीका सनातन गूढ नाम प्रियदत्ता है, प्रियके द्वारा दत्ता अथवा प्रिय पुरुषोंको दत्ता, इन दोनों भांतिके अर्थके अनुसार लोग इसे दान किंवा आदान करते हैं। इसलिये तुम भूमिदान करके पहले पृथ्वीके प्रियपात्र बनो। जो पृथ्वीपति विद्वान् पुरुषको भूमिदान करता है, वह राजा इस लोकमें पृथ्वीके बीच अभिलषित राज्य पाता है, फिर वही दाता दूसरे जन्ममें राजाके समान होता है, इसमें सन्देह नहीं है। हे महाराज ! इसलिये भूमि प्राप्त होते ही उसे ब्राह्मणोंको दान करना उचित है, जो भूमिपति नहीं है वह किसी प्रकार पृथ्वीपर निवास करनेमें समर्थ

न चापात्रेण वा ग्राह्या दत्तदाने न चाचरेत् ॥ १५ ॥
ये चान्ये भूमिमिच्छेयुः कुर्युरेवं न संशयः।
यः साधोर्भूमिमादत्ते न भूमिं विन्दते तु सः ॥ १६ ॥
भूमिं दत्त्वा तु साधुभ्यो विन्दते भूमिमुत्तमाम्।
प्रेत्य चेह च धर्मात्मा संप्राप्नोति महद्यशः ॥ १७ ॥
यस्य विप्रास्तु शंसन्ति साधोर्भूमिं सदैव हि।
न तस्य शत्रवो राजन् प्रशंसन्ति वसुन्धराम् ॥ १८ ॥
यत्किंचित्पुरुषः पापं कुरुते वृत्तिकर्शितः।
अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन पूयते ॥ १९ ॥
येऽपि संकीर्णकर्माणो राजानो रौद्रकर्मिणः।
तेऽभ्यः पवित्रमाख्येयं भूमिदानमनुत्तमम् ॥ २० ॥
अल्पान्तरमिदं शश्वत्पुराणा मेनिरे जनाः।
यो यजेताश्वमेधेन दद्याद्वा साधवे महीम् ॥ २१ ॥
अपि चेत्सुकृतं कृत्वा शङ्केरन्नपि पण्डिताः।

नहीं होता, अपात्रको दान करना उचित नहीं, अपात्र पुरुषको भूमिदान लेना भी अनुचित है और अपने दिये हुए स्थानमें विचरना भी अयोग्य है। (१२—१५)

दूसरे जो कोई पुरुष भूमिलाभकी इच्छा करें, वे निःसन्देह इस ही प्रकार करें। जो लोग साधु पुरुषोंकी भूमि अन्यायपूर्वक लेते हैं, वे कभी भी भूमि नहीं पा सकते। साधुओंको भूमि दान करनेसे उत्तम भूमि मिलती है, धर्मात्मा मनुष्यको इस लोक और परलोकमें महत् यश प्राप्त होता है। हे महाराज! साधु लोग जिसके भूमिकी सदा प्रशंसा किया करते अर्थात् कहा करते हैं, कि एक पुरुषकी दी हुई भूमिमें निवास किया करता हूं, उसके शत्रुगण वसुन्धराकी प्रशंसा नहीं करते। पुरुष जीविकाके लिये क्लेशित होकर जो कुछ पाप करता है, वह गोचर्मपरिमाणसे भी भूमि दान करने पर पापसे छूट जाता है। (१६—१९)

जो सब राजा संकुल अथवा भयङ्कर कर्म करते हैं, उनके निकट सबसे उत्तम पवित्र भूमिदानका विषय वर्णन करना चाहिये। प्राचीन लोग वक्ष्यमाण दोनों विषयोंका अल्प ही अन्तर जानके कहा करते हैं, कि अश्वमेध यज्ञ करे अथवा साधु पुरुषोंको भूमिदान करे। पण्डित लोग सुकृत करके किसी भांति यदि

अशक्यमेकमेवैतद्भूमिदानमनुत्तमम् ॥ २२ ॥
सुवर्णं रजतं वस्त्रं मणिमुक्ता वसूनि च।
सर्वमेतन्महाप्राज्ञे ददाति वसुधां ददत् ॥ २३ ॥
तपो यज्ञः श्रुतं शीलमलोभः सत्यसंधता।
गुरुदैवतपूजा च एता वर्तन्ति भूमिदम् ॥ २४ ॥
भर्तृनिःश्रेयसे युक्तास्त्यक्तात्मानो रणे हताः।
ब्रह्मलोकगताः सिद्धा नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ २५॥
यथा जनित्री स्वं पुत्रं क्षीरेण भरते सदा।
अनुगृह्णाति दातारं तथा सर्वरसैर्मही ॥ २६ ॥
मृत्युर्वै किंकरो दण्डस्तमो वह्निः सुदारुणः।
घोराश्च दारुणाः पाशा नोपसर्पन्ति भूमिदम् ॥ २७॥
पितॄंश्च पितृलोकस्थान्देवलोकाच्च देवताः।
संतर्पयति शान्तात्मा यो ददाति वसुन्धराम् ॥ २८ ॥
कृशाय म्रियमाणाय वृत्तिग्लानाय सीदते।
भूमिं वृत्तिकरीं दत्त्वा सत्री भवति मानवः ॥ २९ ॥

शंकित हों, तौभी अनुत्तम भूमि दान करना उनके लिये बहुत ही अशंक्य कार्य है। महाबुद्धिशाली मनुष्य भूमि दान करनेसे सोना, रूपा, वस्त्र, मणि, मोती और समस्त धन दानका फल पाते हैं। (२०–२३)

तपस्या, यज्ञ, श्रुत, शील, अलोभ, सत्यसन्धता गुरुपूजा और देवपूजा, ये सब भूमिदाताका अनुसरण करते हैं। जो लोग स्वामीके मङ्गल कामनासे नियुक्त होके शरीर त्यागते अथवा युद्धमें मरके ब्रह्मलोकमें जाकर सिद्ध होते हैं, वेभी भूमिदाताको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं हैं, जैसे माता अपने पुत्रको सदा दूध पिलाके पालती है, वैसे ही पृथ्वी सब रसोंके द्वारा दाताके विषयमें अनुग्रह किया करती है। मृत्यु, कालदण्ड, अत्यन्त प्रचण्ड अग्नि और समस्त घोर दारुण पाश भूमिदाताके समीप जानेमें समर्थ नहीं होते। जो शान्तचित्तवाले मनुष्य भूमिदान करते हैं, वे पितृलोक निवासी पितर और देवलोकवासी देवताओंको पूर्णरीतिसे परितृप्त किया करते हैं। (२४-२८)

कृश, म्रियमाण, वृत्तिके लिये ग्लानियुक्त और अवसन्न पुरुषोंको जीविकाके योग्य भूमिदान करनेसे मनुष्य यज्ञफलका अधिकारी होता है। हे महाराज!

यथा धावति गौर्वत्सं स्रवन्ती वत्सला पयः।
एवमेव महाभाग भूमिर्भवति भूमिदम् ॥ ३० ॥
फालकृष्टां महीं दत्त्वा सबीजां सफलामपि।
उदीर्णं वापि शरणं यथा भवति कामदः ॥ ३१ ॥
ब्राह्मणं वृत्तिसंपन्नमाहिताग्निं शुचिव्रतम्।
नरः प्रतिग्राह्य महीं न याति परमापदम् ॥ ३२ ॥
यथा चन्द्रमसो वृद्धिरहन्यहनि जायते।
तथा भूमिकृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥ ३३ ॥
अत्र गाथा भूमिगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
याः श्रुत्वा जामदग्न्येन दत्ता भूः काश्यपाय वै ॥३४॥
मामेवादत्त मां दत्त मां दत्त्वा मामवाप्स्यथ।
अस्मिन् लोके परे चैव तद्दत्तं जायते पुनः ॥ ३५ ॥
य इमां व्याहृतिं वेद ब्राह्मणो वेदसंमिताम्।
श्राद्धस्य क्रियमाणस्य ब्रह्मभूयं स गच्छति ॥ ३६ ॥
कृत्यानामभिशस्तानामरिष्टशमनं महत्।
प्रायश्चित्तं महीं दत्त्वा पुनात्युभयतो दश ॥ ३७ ॥

जैसे सवत्सा गऊके स्तनसे दूध गिरता है और वह बछडेकी ओर दौडती है, वैसे ही भूमिदाताकी ओर भूमि गमन करती है। हलसे जोती हुई बीजयुक्त और फलशालिनी भूमि तथा महत् गृहदान करनेसे मनुष्य कामदाता होता है। वृत्तियुक्त आहिताग्नि और पवित्र व्रत करनेवाले ब्राह्मणको भूमि-दान करनेसे मनुष्य परमापद नहीं पाता है। जैसे प्रतिदिन चन्द्रमाकी वृद्धि होती है, वैसे ही भूमिदान प्रतिशस्योंमें वर्द्धित हुआ करता है। इस विषयमें प्राचीन पण्डित लोग भूमिगीता समस्त गाथा कहा करते हैं, जिसे सुनके जामदग्न्य रामने कश्यपको भूमिदान किया था। "हमेंही ग्रहण करो, हमें ही दान करो, हमें ही दान करके मुझे ही पाओगे" इस लोकमें जो दान किया जाता है, परलोकमें फिर वही मिलता है। (३०—३५)

जो ब्राह्मण इस वेदतुल्य व्याहृतिको जानता है, वह क्रियमाण श्राद्धसे ब्रह्मत्व अर्थात् बृहत् फल पाता है। यही अनन्त प्रबल मन्त्रमयी मारणके निमित्त शक्ति सबके घोर पापोंको नष्ट करती है। जो लोग भूमिदान करके

पुनाति य इदं वेद वेदवादं तथैव च।
प्रकृतिः सर्वभूतानां भूमिर्वैश्वानरी मता ॥ ३८ ॥
अभिषिच्यैव नृपतिं श्रावयेदिममागमम्।
यथा श्रुत्वा महीं दद्यान्नादद्यात्साधुतश्च ताम् ॥ ३९ ॥
सोऽयं कृत्स्नो ब्राह्मणार्थो राजार्थश्चाप्यसंशयः।
राजा हि धर्मकुशलः प्रथमं भूतिलक्षणम् ॥ ४० ॥
अथ येषामधर्मज्ञो राजा भवति नास्तिकः।
न ते सुखं प्रबुध्यन्ति न सुखं प्रस्वपन्ति च ॥ ४१ ॥
सदा भवन्ति चोद्विग्नास्तस्य दुश्चरितैर्नराः।
योगक्षेमा हि बहवो राष्ट्रं नास्याविशन्ति तत् ॥४२॥
अथ येषां पुनः प्राज्ञो राजा भवति धार्मिकः।
सुखं ते प्रतिबुध्यन्ते सुसुखं प्रस्वपन्ति च ॥ ४३ ॥
तस्य राज्ञः शुभै राज्यैः कर्मभिर्निर्वृता नराः।
योगक्षेमेण वृष्ट्या च विवर्धन्ते स्वकर्मभिः ॥ ४४ ॥
स कुलीनः स पुरुषः स बन्धुः स च पुण्यकृत्।

प्रायश्चित्त करते हैं, वह पहले और पीछेके दश पुरुषोंको पवित्र किया करते हैं, और जो लोग इस वेदवाक्यको जानते हैं, वे भी ऊपर कहे हुए दश पुरुषोंको पवित्र करते हैं। जगत्में मनुष्योंकी सम्बन्धिनी भूमि ही सब प्राणियोंकी प्रकृति रूपसे सम्मत हुई है। राजाको अभिषेक करते ही यह शास्त्र उसे सुनावे, जिसे सुनके राजा भूमि दान करे और साधु पुरुषोंकी भूमि न लेवे। (३६—३९)

यह भूमि दान विषयक शास्त्र ब्राह्मणों और राजाओंके लिये वर्णित हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है। धर्म जाननेवाला राजा ही पहले ऐश्वर्यसूचक भूमि दान करे। जिन लोगोंका राजा अधर्मज्ञ और नास्तिक होता है, वे सुखसे सावधान तथा सुखसे निद्रित नहीं होते; मनुष्य उसके दुश्चरित्रोंसे अत्यन्त व्याकुल होते हैं, बहुतेरे योगक्षेमसमर्थ पुरुष उसके राज्यमें वास करनेकी इच्छा नहीं करते। और जिनका राजा बुद्धिमान तथा धार्मिक होता है, वे लोग सुखसे जागते और परम सुखसे सोते हैं। उस राजाके पवित्र राज्यमें शुभकर्मके सहारे मनुष्योंकी निर्वृति हुआ करती है, पुरुष योगक्षेम वृष्टि तथा निज कर्मके द्वारा विशेष

स दाता स च विक्रान्तो यो ददाति वसुन्धराम् ॥४५॥
आदित्या इव दीप्यन्ते तेजसा भुवि मानवाः ।
ददन्ति वसुधां स्फीतां ये वेदविदुषि द्विजे ॥ ४६ ॥
यथा सस्यानि रोहन्ति प्रकीर्णानि महीतले ।
तथा कामाः प्ररोहन्ति भूमिदानसमार्जिताः ॥ ४७ ॥
आदित्यो वरुणो विष्णुर्ब्रह्मा सोमो हुताशनः ।
शूलपाणिश्च भगवान् प्रतिनन्दन्ति भूमिदम् ॥ ४८ ॥
भूमौ जायन्ति पुरुषा भूमौ निष्ठां व्रजन्ति च ।
चतुर्विधो हि लोकोऽयं योऽयं भूमिगुणात्मकः ॥४९॥
एषा माता पिता चैव जगतः पृथिवीपते ।
नानया सदृशं भूतं किंचिदस्ति जनाधिप ॥ ५० ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ५१ ॥
इष्ट्वा क्रतुशतेनाथ महता दक्षिणावता ।
मघवा वाग्विदां श्रेष्ठं पप्रच्छेदं बृहस्पतिम् ॥ ५२ ॥

रीतिसे वर्द्धित होता है । (४०-४४)

जो लोग भूमिदान करते हैं, वेही कुलीन, वेही बन्धु, वेही पुण्य करनेवाले वेही बलवान् और वेही दाता होते हैं। जो लोग वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंको अधिक भूमि दान करते हैं, वे भूमण्डल पर तेजपुञ्जके सहारे सूर्यकी भांति प्रकाशित होते हैं। भूमिमें पडा हुआ अन्न जैसे अंकुररूपसे उत्पन्न होता है, वैसे ही भूमिदानसे अर्जित सब कामना पूर्ण हुआ करती हैं। सूर्य, वरुण, विष्णु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, अग्नि और भगवान् शिव भूमिदाताको अभिनन्दित करते हैं। (४५-४८)

मनुष्य भूमिपर ही जन्मते और भूमि ही पर पञ्चत्वको प्राप्त होते हैं, इसलिये ये जरायुज आदि चार प्रकारके जीवमात्र ही पार्थिव गुणमय हैं। हे पृथ्वीनाथ महाराज! यह पृथ्वी ही जगत्की माता और पिता है, इसलिये इसके समान कोई भी नहीं है। हे युधिष्ठिर ! प्राचीन लोग इस विषयमें बृहस्पति और इन्द्रके संवादयुक्त यह पुराना इतिहास कहा करते हैं। देवराज इन्द्रने उत्तम महत् दक्षिणायुक्त एक सौ यज्ञ करके वाक्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिसे यह वक्ष्यमाण वचन कहा था। (४९-५२)

मघवोवाच– भगवन् केन दानेन स्वर्गतः सुखमेधते ।
यदक्षयं महार्घं च तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ ५३ ॥
भीष्म उवाच– इत्युक्तः स सुरेन्द्रेण ततो देवपुरोहितः ।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजाः प्रत्युवाच शतक्रतुम् ॥ ५४ ॥
बृहस्पतिरुवाच– सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं च वृत्रहन् ।
दददेतान्महाप्राज्ञः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५५ ॥
न भूमिदानाद्देवेन्द्र परं किंचिदिति प्रभो ।
विशिष्टमिति मन्यामि यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ ५६ ॥
ये शूरा निहता युद्धे स्वर्याता रणगृद्धिनः ।
सर्वे ते विबुधश्रेष्ठ नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ ५७ ॥
भर्तुर्निःश्रेयसे युक्तास्त्यक्तात्मानो रणे हताः ।
ब्रह्मलोकगता युक्ता नातिक्रामन्ति भूमिदम् ॥ ५८ ॥
पञ्च पूर्वा हि पुरुषाः षडन्ये वसुधां गताः ।
एकादश ददद् भूमिं परित्रातीह मानवः ॥ ५९ ॥
रत्नोपकीर्णां वसुधां यो ददाति पुरन्दर ।

इन्द्र बोले, हे वक्तृवर भगवन्! कौनसी वस्तु दान करनेसे स्वर्गसे भी अधिक सुख समृद्धि होती है, तथा जो दान महार्घ और अक्षय हो, आप उसे वर्णन करिये। (५३)

भीष्म बोले, अनन्तर देवताओंके पुरोहित महातेजस्वी बृहस्पतिने इन्द्रका ऐसा वचन सुनकर उन्हें उत्तर दिया। (५४)

बृहस्पति बोले, हे शत्रुनाशन महाप्राज्ञ! मनुष्य सुवर्ण दान, गऊ दान और भूमि दान करके पापसे छूटते हैं। हे देवेन्द्र! पण्डित लोग जैसा कहा करते हैं, उसके अनुसार मैं भूमिदान से बढके किसी दानको भी विशिष्ट वा श्रेष्ठ नहीं जानता। हे देवश्रेष्ठ! जो सब युद्धके अभिलाषी शूर पुरुष संग्राम में मरके स्वर्गमें गये हैं, वे भूमिदाताको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं होते। स्वामीके कल्याणके लिये नियुक्त होके युद्धमें मरकर जो लोग शरीर त्यागनेपर ब्रह्मलोकमें जाकर युक्त हुए हैं, वे भी भूमिदाताको उत्क्रमण करनेमें समर्थ नहीं हैं। (५५-५८)

जो पुरुष भूमिदान करता है, वह पहिलेके पांच और पीछे भूमिपरके छः इन ग्यारह पुरुषोंका परित्राण किया करता है। हे इन्द्र! जो रत्नपूरित

स मुक्तः सर्वकलुषैः स्वर्गलोके महीयते ॥ ६० ॥
महीं स्फीतां ददद्राजन् सर्वकामगुणान्विताम् ।
राजाधिराजो भवति तद्धि दानमनुत्तमम् ॥ ६१ ॥
सर्वकामसमायुक्तां काश्यपीं यः प्रयच्छति ।
सर्वभूतानि मन्यन्ते मां ददातीति वासव ॥ ६२ ॥
सर्वकामदुघां धेनुं सर्वकामगुणान्विताम् ।
ददाति यः सहस्राक्ष स्वर्गं याति स मानवः ॥ ६३ ॥
मधुसर्पिःप्रवाहिण्यः पयोदधिवहास्तथा ।
सरितस्तर्पयन्तीह सुरेन्द्र वसुधाप्रदम् ॥ ६४ ॥
भूमिप्रदानान्नृपतिर्मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ।
न हि भूमिप्रदानेन दानमन्यद्विशिष्यते ॥ ६५ ॥
ददाति यः समुद्रान्तां पृथिवीं शस्त्रनिर्जिताम् ।
तं जनाः कथयन्तीह यावद्भवति गौरियम् ॥ ६६ ॥
पुण्यामृद्धिरसां भूमिं यो ददाति पुरन्दर ।
न तस्य लोकाः क्षीयन्ते भूमिदानगुणान्विताः ॥ ६७॥
सर्वदा पार्थिवेनेह सततं भूतिमिच्छता ।

पृथ्वी दान करता है, वह सब पापोंसे छूटके स्वर्ग लोकमें निवास करता है, हे महाराज ! सर्वकामना पूर्ण करनेवाले गुणयुक्त बहुत सी भूमिको दान करनेवाला मनुष्य राजाधिराज होता है, इसलिये भूमिदान ही सबसे श्रेष्ठ है। हे इन्द्र ! जो लोग सर्वकामना पूर्ण करनेवाली भूमि दान करते हैं, उनके समीप सब प्राणी ऐसा जानते हैं, कि हमें दान करता है। (५९-६२)

हे सहस्राक्ष ! जो मनुष्य सर्वदुघा और सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली गुणयुक्त गऊ दान करते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं। हे सुरेन्द्र ! मधु और घृत प्रवाहिनी, दूध तथा दहीसे बहती हुई नदियां इस लोकमें भूमि दान करनेवाले मनुष्योंको तृप्तियुक्त किया करती हैं, राजा भूमिदान करनेपर सब पापोंसे मुक्त होता है, भूमिदानसे बढके अन्य दान श्रेष्ठ नहीं है। जो लोग शस्त्रनिर्जित समुद्र पर्यन्त पृथ्वी प्रदान करते हैं, यह पृथ्वी जबतक रहेगी, तबतक उनका नाम लिया जायगा।(६३-६६)

हे इन्द्र ! जो लोग पवित्र मृदुरसशालिनी भूमि दान करते हैं, उनके भूमिदानसे समस्त गुणान्वित लोक

भूर्देया विधिवच्छक्र पात्रे सुखमभीप्सुना ॥ ६८ ॥
अपि कृत्वा नरः पापं भूमिं दत्वा द्विजातये ।
समुत्सृजति तत्पापं जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ६९ ॥
सागरान् सरितः शैलान् काननानि च सर्वशः ।
सर्वमेतन्नरः शक्र ददाति वसुधां ददत् ॥ ७० ॥
तडागान्युदपानानि स्रोतांसि च सरांसि च ।
स्नेहान्सर्वरसांश्चैव ददाति वसुधां ददत् ॥ ७१ ॥
ओषधीर्वीर्यसंपन्ना नगान्पुष्पफलान्वितान् ।
काननोपलशैलांश्च ददाति वसुधां ददत् ॥ ७२ ॥
अग्निष्टोमप्रभृतिभिरिष्ट्वा च स्वाप्तदक्षिणैः ।
न तत्फलमवाप्नोति भूमिदानाद्यदश्नुते ॥ ७३ ॥
दाता दशानुगृह्णाति दश हन्ति तथा क्षिपन् ।
पूर्वदत्तां हरन् भूमिं नरकायोपगच्छति ॥ ७४ ॥
न ददाति प्रतिश्रुत्य दत्त्वाऽपि च हरेत्तु यः ।
स बद्धो वारुणैः पाशैस्तप्यते मृत्युशासनात् ॥ ७५ ॥

नष्ट नहीं होते। हे इन्द्र! तुम तथा सुखकी इच्छा करनेवाले राजा सदा सत्पात्रको विधिपूर्वक भूमि दान करें, जैसे सर्प अपनी पुरानी केचुलीको छोड देता है, वैसे ही मनुष्य पापकर्म करके भी द्विजातियोंको भूमिदान करनेसे उस पापसे मुक्त हुआ करता है। हे इन्द्र! जो मनुष्य भूमि दान करता है, वह समुद्र, नदी, पर्वत और वन, इन सबको ही दान किया करता है। जो लोग भूमि दान करते हैं, वे तडाग, उदपान, स्रोत, तालाव, स्नेह और समस्त रस दान किया करते हैं। जो लोग पृथ्वी दान करते हैं, वे वीर्यसम्पन्न औषधि, फूल फलसे युक्त वृक्ष, वन और पत्थरोंसे युक्त पहाडोंको दान किया करते हैं। (६७—७२)

भूमि दान करनेसे जो फल मिलता है, अग्निष्टोम प्रभृति आप्त दक्षिणायुक्त यज्ञ करनेसे वैसा फल नहीं प्राप्त हो सकता। भूमिदाता दश पुरुषोंको तारता है और भूमि हरनेवाला दश पुरुषोंको नष्ट किया करता है, जो पुरुष पहलेकी दी हुई भूमिको हर लेता है, वह नरकमें जाता है। जो पुरुष कहके दान नहीं करता और दान करके फिर उसे हर लेता है, वह वरुणके पाशमें, बधके मृत्युके शासनमें परितापित

आहिताग्निं सदायज्ञं कृशवृत्तिं प्रियातिथिम्।
ये भजन्ति द्विजश्रेष्ठं नोपसर्पन्ति ते यमम् ॥ ७६ ॥
ब्राह्मणेष्वनृणीभूतः पार्थिवः स्यात्पुरन्दर।
इतरेषां तु वर्णानां तारयेत्कृशदुर्बलान् ॥ ७७ ॥
नाच्छिन्द्यात्स्पर्शितां भूमिं परेण त्रिदशाधिप।
ब्राह्मणस्य सुरश्रेष्ठ कृशवृत्तेः कदाचन ॥ ७८ ॥
यथाऽश्रु पतितं तेषां दीनानामथ सीदताम्।
ब्राह्मणानां हृते क्षेत्रे हन्यात्त्रिपुरुषं कुलम् ॥ ७९ ॥
भूमिपालं च्युतं राष्ट्राद्यस्तु संस्थापयेन्नरः।
तस्य वासः सहस्राक्ष नाकपृष्ठे महीयते ॥ ८० ॥
इक्षुभिः संततां भूमिं यवगोधूमशालिनीम्।
गोऽश्ववाहनपूर्णां वा बाहुवीर्यादुपार्जिताम् ॥ ८१ ॥
निधिगर्भां ददद्भूमिं सर्वरत्नपरिच्छदाम्।
अक्षयाँल्लभते लोकान् भूमिसत्रं हि तस्य तत् ॥८२॥
विधूय कलुषं सर्वं विरजाः संमतः सताम्।
लोके महीयते सद्भिर्यो ददाति वसुन्धराम् ॥ ८३ ॥

होता है। जो लोग आहिताग्नि, सदा यज्ञ करनेवाले, कृशवृत्ति और अतिथिप्रिय श्रेष्ठ द्विजकी सेवा करते हैं वे यमके निकट नहीं जाते। (७३—७६)

हे इन्द्र! राजा ब्राह्मणोंके समीप अनृण होवे; इतर वर्णोंके बीच, कृश और दुर्बलोंका परित्राण करे। हे सुर-श्रेष्ठ त्रिदशेश्वर! कृशवृत्तियुक्त ब्राह्मणको दूसरेने जो भूमि दान की हो, उसे कदाचित् आक्षेपपूर्वक ग्रहण न करे। दीन हीन दुखिये ब्राह्मणोंकी भूमि हरनेसे उनके जो आंसू गिरते हैं, वे तीन पुरुष पर्यन्त वंशको विनष्ट करते हैं। हे सहस्राक्ष! राज्यच्युत भूपतिको जो मनुष्य फिर राज्यपर स्थापित करता है, उसका स्वर्गलोकमें निवास होता है। जो पुरुष, दूध और गेहूं आदिसे परिपूरित, गऊ घोडे, प्रभृति वाहनोंसे युक्त, बाहुबलसे उपार्जित रत्नगर्भा और सब रत्नोंसे युक्त पृथ्वी दान करते हैं, उन्हें समस्त अक्षयलोक प्राप्त होते हैं, वही उनका भूमियज्ञ है। (७७-८२)

जो लोग पृथ्वीदान करते हैं, वे सब पापोंसे छूटके रजोगुणसे रहित और साधुसम्मत होकर उनके लोकमें

यथाऽप्सु पतितः शक्र तैलबिन्दुर्विसर्पति ।
तथा भूमिकृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥ ८४ ॥
ये रणाग्रे महीपालाः शूराः समितिशोभनाः ।
वध्यन्तेऽभिमुखाः शक्र ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥ ८५ ॥
नृत्यगीतपरा नार्यो दिव्यमाल्यविभूषिताः ।
उपतिष्ठन्ति देवेन्द्र तथा भूमिप्रदं दिवि ॥ ८६ ॥
मोदते च सुखं स्वर्गे देवगन्धर्वपूजितः ।
यो ददाति महीं सम्यग्विधिनेह द्विजातये ॥ ८७ ॥
शतमप्सरसश्चैव दिव्यमाल्यविभूषिताः ।
उपतिष्ठन्ति देवेन्द्र ब्रह्मलोके धराप्रदम् ॥ ८८ ॥
उपतिष्ठन्ति पुण्यानि सदा भूमिप्रदं नरम् ।
शङ्खं भद्रासनं छत्रं वराश्वा वरवाहनम् ॥ ८९ ॥
भूमिप्रदानात्पुष्पाणि हिरण्यनिचयास्तथा ।
आज्ञा सदाऽप्रतिहता जयशब्दा वसूनि च ॥ ९० ॥
भूमिदानस्य पुण्यानि फलं स्वर्गः पुरन्दर ।
हिरण्यपुष्पाश्चौषध्यः कुशकाञ्चनशाद्वलाः ॥ ९१ ॥

निवास किया करते हैं। हे इन्द्र! जैसे जलमें डालनेसे तेलकी बूंद दूरतक फैलती है, वैसेही भूमिदानका पुण्य प्रति शस्योंके सङ्ग वर्द्धित हुआ करता है। हे सुरराज! जो सब युद्धमें शोभित शूरवीर राजाके सम्मुख संग्राममें मरते हैं, वे ब्रह्मलोकमें जाते हैं, उनके समीप जिसप्रकार दिव्य मालासे विभूषित, नृत्य और गीतमें निपुण स्त्रियां उपस्थित होती हैं;भूमिदान करनेवालेकीभी सुरलोकमें उस ही प्रकार वे सब उपासना किया करती हैं। (८३-८९)

जो पुरुष इस लोकमें विधिपूर्वक ब्राह्मणोंको भूमिदान करता है, वह सुरपुरमें देवताओं और गन्धर्वोंसे पूजित होकर सुखसे प्रसन्न होता है। हे देवेन्द्र! ब्रह्मलोकमें भूमिदाताके निकट सैकडों अप्सरा उपस्थित होती हैं। भूमि देनेवाले पुरुषोंके समीप सदा समस्त पुण्य पहुंचते हैं, भूमिदानसे शंख, भद्रासन, छत्र, श्रेष्ठ घोडे, उत्तम सवारी, फूल तथा सुवर्णकी राशि, अप्रतिहत आज्ञा, जय शब्द और धनराशि उपस्थित हुआ करते हैं। हे इन्द्र! भूमिदानके पुण्यफल स्वर्गमें सुवर्ण पुष्पयुक्त औषधियें, कुश और कांचन शाद्वल हैं,

अमृतप्रसवां भूमिं प्राप्नोति पुरुषो ददत् ।
नास्ति भूमिसमं दानं नास्ति मातृसमो गुरुः ।
नास्ति सत्यसमो धर्मो नास्ति दानसमो निधिः ॥९२॥
एतदाङ्गिरसाच्छ्रुत्वा वासवो वसुधामिमाम् ।
वसुरत्नसमाकीर्णां ददावाङ्गिरसे तदा ॥ ९३ ॥
य इदं श्रावयेच्छ्राद्धे भूमिदानस्य संभवम् ।
न तस्य रक्षसां भागो नासुराणां भवत्युत ॥ ९४ ॥
अक्षयं च भवेद्दत्तं पितृभ्यस्तत्र संशयः ।
तस्माच्छ्राद्धेष्विदं विद्वान् भुञ्जतः श्रावयेद् द्विजान्॥९५॥
इत्येतत्सर्वदानानां श्रेष्ठमुक्तं तवानघ ।
मया भरतशार्दूल किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ९६ ॥ [३१६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे इन्द्रबृहस्पतिसंवादे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिर उवाच– कानि दानानि लोकेऽस्मिन्दातुकामो महीपतिः ।
गुणाधिकेभ्यो विप्रेभ्यो दद्याद्भरतसत्तम ॥ १ ॥
केन तुष्यन्ति ते सद्यः किं तुष्टाः प्रदिशन्ति च ।

जो पुरुष भूमिदान करता है, वह अमृत उत्पन्न करनेवाली पृथ्वी पाता है। भूमिदानके समान दूसरा दान नहीं है। माताके समान गुरु, सत्यके समान धर्म और दानके तुल्य निधि नहीं है। (८७–९२)

भीष्म बोले, देवराज इन्द्रने बृहस्पतिके मुखसे इतनी कथा सुनके उन्हें ही उस समय धन रत्नोंसे भरी हुई पृथ्वी दान की थी। जो लोग श्राद्धके समय इस भूमिदानकी कथा सुनते हैं, उन्हें राक्षस अथवा असुरोंके भागकी कल्पना नहीं करनी पडती, वे पितरोंको जो दान करते हैं,वह निःसन्देह अक्षय होता है। इसलिये विद्वान् पुरुष श्राद्धके समय भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको यह विषय सुनावे। हे पापरहित भरतश्रेष्ठ! यह मैंने तुम्हारे समीप सब दानोंके बीच श्रेष्ठदानका विषय कहा है, फिर कौनसे विषयको सुननेकी इच्छा करते हो? (९३–९६)

अनुशासनपर्वमें ६२ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ६३ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतसत्तम! इस लोकमें राजा किन किन विषयोंके दान करनेकी कामना करके अधिक गुणवाले

शंस मे तन्महाबाहो फलं पुण्यकृतं महत् ॥ २ ॥
दत्तं किं फलवद्राजन्निह लोके परत्र च ।
भवतः श्रोतुमिच्छामि तन्मे विस्तरतो वद ॥ ३ ॥
भीष्म उवाच– इममर्थं पुरा पृष्टो नारदो देवदर्शनः ।
यदुक्तवानसौ वाक्यं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ४ ॥
नारद उवाच– अन्नमेव प्रशंसन्ति देवा ऋषिगणास्तथा ।
लोकतन्त्रं हि संज्ञाश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥
अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादन्नं विशेषेण दातुमिच्छन्ति मानवाः ॥ ६ ॥
अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणाश्चान्ने प्रतिष्ठिताः ।
अन्नेन धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं प्रभो ॥ ७ ॥
अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तापसास्तथा ।
अन्नाद्भवन्ति वै प्राणाः प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ ८ ॥
कुटुम्बिने सीदते च ब्राह्मणाय महात्मने ।
दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनो भूतिमिच्छता ॥ ९ ॥

ब्राह्मणोंको प्रदान करें ? ब्राह्मण लोग कैसे दानसे उसही समय प्रसन्न होते हैं ? प्रसन्न होके क्या प्रदान करते हैं ? हे महाबाहो ! मेरे निकट इस पुण्यजनक महत् फलके विषयको वर्णन करिये, हे राजन् ! कौन वस्तु दान करनेसे इसलोकमें और परलोकमें फलित होती है ? उसे मैं आपके समीप सुननेकी इच्छा करता हूं, आप यह विषय मेरे निकट विस्तारपूर्वक कहिये । (१–३)

भीष्म बोले, पहले यह विषय मैंने देवर्षि नारदसे पूछा था, उन्होंने जो कथा कही थी, उसे कहता हूं सुनो । (४)

नारद मुनि बोले, देवता और ऋषि अन्नकीही प्रशंसा करते हैं, समस्त लोकयात्रा और बुद्धि अन्नसे ही प्रतिष्ठित है। अन्नदानके सदृश दूसरा दान न हुआ और न होगा, इस ही लिये मनुष्य विशेष रीतिसे अन्नदान करनेकी इच्छा करते हैं। इस लोकमें अन्न ही बलकारक है; सबका प्राण अन्नसे ही प्रतिष्ठित है । हे प्रभु ! सारे जगत्को अन्न ही धारण करता है, इस लोकमें अन्नके ही लिये लोग गृहस्थ होते हैं और अन्नहीके निमित्त भिक्षुक तथा तपस्वी हुआ करते हैं। यह निःसन्देह प्रत्यक्ष है, कि अन्नसेही प्राण उत्पन्न होता है। जो

ब्राह्मणायाभिरूपाय यो दद्यादन्नमर्थिने ।
विदधाति निधिं श्रेष्ठं पारलौकिकमात्मनः ॥ १० ॥
श्रान्तमध्वनि वर्तन्तं वृद्धमर्हमुपस्थितम् ।
अर्चयेद्भूतिमन्विच्छन् गृहस्थो गृहमागतम् ॥ ११ ॥
क्रोधमुत्पतितं हित्वा सुशीलो वीतमत्सरः ।
अन्नदः प्राप्नुते राजन् दिवि चेह च यत्सुखम् ॥ १२ ॥
नावमन्येदभिगतं न प्रणुद्यात्कदाचन ।
अपि श्वपाके शुनि वा न दानं विप्रणश्यति ॥ १३ ॥
यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
आर्तायादृष्टपूर्वाय स महद्धर्ममाप्नुयात् ॥ १४ ॥
पितृन्देवानृषीन्विप्रानतिथींश्च जनाधिप ।
यो नरः प्रीणयत्यन्नैस्तस्य पुण्यफलं महत् ॥ १५ ॥
कृत्वाऽतिपातकं कर्म यो दद्यादन्नमर्थिने ।
ब्राह्मणाय विशेषेण न स पापेन मुह्यते ॥ १६ ॥
ब्राह्मणेष्वक्षयं दानमन्नं शूद्रे महाफलम् ।

पुरुष अपने ऐश्वर्यकी इच्छा करे, वह कुटुम्बवत्सल, पीडित, महानुभाव भिक्षुक ब्राह्मणोंको अन्नदान करे। जो सद्वंशमें उत्पन्न हुए पुरुष याचकको अन्नदान करते हैं, वे अपने पारलौकिक निधिका विधान किया करते हैं, गृहस्थ पुरुष ऐश्वर्यकी इच्छा करते हुए स्नातक, पथिक, वृद्ध, पूज्य, सहसा उपस्थित हुए और गृहमें आये अतिथिकी पूजा करें। (९—११)

हे महाराज! राग द्वेषको त्यागके सुशील और मत्सररहित होके जो पुरुष अन्नदान करते हैं, वे स्वर्ग तथा इस लोकमें सुख लाभ करनेमें समर्थ होते हैं। उपस्थित अतिथिकी अवज्ञा न करें, कदाचित् उसे प्रत्याख्यान न करें, क्यों कि चाण्डाल और कुत्तेको भी अन्नदान करनेसे उस दानका फल विनष्ट नहीं होता। जो लोग पीडित और पूर्वदृष्ट पथिकको क्लेश न देकर अन्नदान करते हैं, उन्हें महत् फल प्राप्त होता है। हे प्रजानाथ! जो लोग पितर, देवता, ऋषि, अतिथियों और ब्राह्मणों को अन्नके द्वारा प्रीतियुक्त करते हैं, उनके पुण्यका फल अत्यन्त महत् है। (१२-१५)

अत्यन्त पापका कर्म करके भी जो पुरुष याचकोंको, विशेष करके ब्राह्मणको

अन्नदानं हि शूद्रे च ब्राह्मणे च विशिष्यते ॥ १७ ॥
न पृच्छेद्गोत्रचरणं स्वाध्यायं देशमेव च ।
भिक्षितो ब्राह्मणेनेह दद्यादन्नं प्रयाचितः ॥ १८ ॥
अन्नदस्यान्नवृक्षाश्च सर्वकामफलप्रदाः ।
भवन्ति चेह चामुत्र नृपतेर्नात्र संशयः ॥ १९ ॥
आशंसन्ते हि पितरः सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
अस्माकमपि पुत्रो वा पौत्रो वान्नं प्रदास्यति ॥ २० ॥
ब्राह्मणो हि महद्भूतं स्वयं देहीति याचति ।
अकामो वा सकामो वा दत्त्वा पुण्यमवाप्नुयात् ॥२१॥
ब्राह्मणः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक् ।
विप्रा यदधिगच्छन्ति भिक्षमाणा गृहं सदा ॥ २२ ॥
सत्कृताश्च निवर्तन्ते तदतीव प्रवर्धते ।
महाभागे कुले प्रेत्य जन्म चाप्नोति भारत ॥२३॥
दत्त्वा त्वन्नं नरो लोके तथा स्थानमनुत्तमम् ।

अन्नदान करता है, वह पापसे मुक्त नहीं होता। ब्राह्मणोंको अन्नदान करनेसे अक्षय फल और शूद्रको अन्न देनेसे महाफल होता है, शूद्रको भी अन्नदान करनेसे ब्राह्मणको विशिष्ट फल हुआ करता है। ब्राह्मण जब भिक्षा लेनेके लिये आवे, तब उसके गोत्र, चरण, स्वाध्याय और कौन देशमें वास है, गृहस्थ पुरुष यह सब न पूछके, उसे मांगनेपर अन्नदान करे। हे महाराज! अन्नदाताके अन्नरूप वृक्षसमूह इस लोक और परलोकमें सर्व कामनाके फल प्रदान किया करते हैं, इस विषयमें सन्देह नहीं है। (१७—१९)

जैसे कृषकवृन्द वृष्टिकी इच्छा करते हैं, वैसेही "मेरे पुत्र अथवा पौत्रगण प्रदान करेंगे,"—पितरवृन्द ऐसी ही आशा किया करते हैं। महद्भूत ब्राह्मण स्वयं "देहि" कहके प्रार्थना करते हैं, चाहे अकाम हो अथवा सकाम ही हो, दान करनेसे पुण्य होता है। ब्राह्मण सब प्राणियोंके अतिथि और अञ्जलीमें पडी हुई वस्तुओंके अग्रभोक्ता हैं, ब्राह्मण लोग घर घर भिक्षा मांगते हुए जिस गृहसे सत्कारयुक्त होके निवृत्त होते हैं, वह गृह बहुत ही वर्द्धित होता है। हे भारत! वह गृहस्थ परलोकके अनन्तर महाऐश्वर्ययुक्त कुलमें जन्मता है। (२०—२३)

मनुष्य इसलोकमें अन्नदान करनेसे

नित्यं मिष्टान्नदायी तु स्वर्गे वसति सत्कृतः ॥ २४ ॥
अन्नं प्राणा नराणां हि सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
अन्नदः पशुमान्पुत्री धनवान् भोगवानपि ॥ २५ ॥
प्राणवांश्चापि भवति रूपवांश्च तथा नृप ।
अन्नदः प्राणदो लोके सर्वदः प्रोच्यते तु सः ॥ २६ ॥
अन्नं हि दत्त्वाऽतिथये ब्राह्मणाय यथाविधि ।
प्रदाता सुखमाप्नोति दैवतैश्चापि पूज्यते ॥ २७ ॥
ब्राह्मणो हि महद् भूतं क्षेत्रभूतं युधिष्ठिर ।
उप्यते तत्र यद्बीजं तद्धि पुण्यफलं महत् ॥ २८ ॥
प्रत्यक्षं प्रीतिजननं भोक्तुर्दातुर्भवत्युत ।
सर्वाण्यन्यानि दानानि परोक्षफलवन्त्युत ॥ २९ ॥
अन्नाद्धि प्रसवं यान्ति रतिरन्नाद्धि भारत ।
धर्मार्थावन्नतो विद्धि रोगनाशं तथाऽन्नतः ॥ ३० ॥
अन्नं ह्यमृतमित्याह पुराकल्पे प्रजापतिः ।
अन्नं भुवं दिवं खं च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ३१ ॥

उत्तम स्थान प्राप्त करता है, सदा मिष्टान्नदाता स्वर्ग लोकमें सत्कारयुक्त होके निवास किया करता है। अन्न ही मनुष्योंके लिये प्राणस्वरूप है, अन्नसे ही सब प्रतिष्ठित हैं; अन्नदाता पशुमान्, पुत्रवान्, धनवान्, भोगवान्, प्राणवान् और रूपवान् होता है। (२४—२६)

हे महाराज! अन्नदाता इस लोकमें ऐसा प्राणद अथवा सर्वद कहके वर्णित होता है। अतिथि ब्राह्मणको विधिपूर्वक अन्नदान करनेसे दाताको सुख मिलता तथा वह देवताओंमें पूजित होता है। हे युधिष्ठिर! महद्भूत ब्राह्मण ही क्षेत्रस्वरूप है, उस क्षेत्रमें जो बीज उगता है, वही महत् पुण्यका फल है। भोक्ता और दाता दोनोंमें ही जब प्रीति उत्पन्न होती है, तो वह प्रत्यक्ष प्राप्त होता है, दूसरे समस्त दान परोक्षमें फलविशिष्ट हुआ करते हैं। हे भारत! अन्नसे उत्पत्ति अर्थात् पुत्र आदि प्राप्त होते हैं, अन्नसे ही रति उपजती है, धर्म और अर्थ अन्नसे ही हुआ करता है तथा यह भी जान रखो, कि अन्नसे ही रोग नष्ट होते हैं, पूर्वकल्पमें प्रजापतिने अन्न कोही अमृत कहा है, अन्न ही भूलोक और स्वर्गस्वरूप है; अन्नसे ही सब प्रतिष्ठित है। (२६—३१)

अन्नप्रणाशे भिद्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः।
बलं बलवतोऽपीह प्रणश्यत्यन्नहानितः ॥ ३२ ॥
आवाहाश्च विवाहाश्च यज्ञाश्चान्नमृते तथा।
निवर्तन्ते नरश्रेष्ठ ब्रह्म चात्र प्रलीयते ॥ ३३ ॥
अन्नतः सर्वमेतद्धि यत्किंचित्स्थाणुजङ्गमम्।
त्रिषु लोकेषु धर्मार्थमन्नं देयमतो बुधैः ॥ ३४ ॥
अन्नदस्य मनुष्यस्य बलमोजो यशांसि च।
कीर्तिश्च वर्धते शश्वत्त्रिषु लोकेषु पार्थिव ॥ ३५ ॥
मेघेषूर्ध्वं सन्निधत्ते प्राणानां पवनः पतिः।
तच्च मेघगतं वारि शक्रो वर्षति भारत ॥ ३६ ॥
आदत्ते च रसान्भौमानादित्यः स्वगभस्तिभिः।
वायुरादित्यतस्तांश्च रसान्देवः प्रवर्षति ॥ ३७ ॥
तद्यदा मेघतो वारि पतितं भवति क्षितौ।
तदा वसुमती देवी स्निग्धा भवति भारत ॥ ३८ ॥
ततः सस्यानि रोहन्ति येन वर्तयते जगत्।
मांसमेदोऽस्थिशुक्राणां प्रादुर्भावस्ततः पुनः ॥ ३९ ॥
संभवन्ति ततः शुक्रात्प्राणिनः पृथिवीपते।

अन्ननाश होनेसे शरीरमें पांचों धातु विभिन्न होती हैं, अन्नके अभावसे बलवान् पुरुषका बल नष्ट होजाता है। हे पुरुषश्रेष्ठ! अन्नके विना लोकयात्रा, विवाह और यज्ञ नहीं निभते, इस अन्नके अभावमें वेदभी लुप्त होजाता है। स्थावर जङ्गम जो कुछ हैं, वे सभी अन्नसे होते हैं, इसलिये पण्डितोंको योग्य है, कि तीनों लोकोंमें धर्म और अर्थके लिये अन्नदान करें। हे राजन्! अन्नदाता मनुष्यका बल, वीर्य, यश और कीर्ति त्रिभुवनके बीच सदा वर्द्धित होती है। हे भारत! प्राणका पति पवन बादलोंके ऊर्ध्वमें निवास करता है, इन्द्र उन बादलोंसे जल बरसाता है; सूर्य अपनी किरणोंसे भूमिका रस आकर्षण करता है, पवन आदित्यसे प्रतप्त रसोंको फिर बरसाया करता है। हे भारत! जब बादलोंसे जल पृथ्वीपर गिरता है, तब पृथ्वीदेवी शीतल होती है। (३२-३८)

अनन्तर भूमिसे सब सस्य, उस अन्नसे मांस, मेद, हड्डी और वीर्य प्रभृति हुआ करती हैं। हे पृथ्वीपति!

अग्नीषोमौ हि तच्छुक्रं सृजतः पुष्यतश्च ह ॥ ४० ॥
एवमन्नाद्धि सूर्यश्च पवनः शुक्रमेव च ।
एक एव स्मृतो राशिस्ततो भूतानि जज्ञिरे ॥ ४१ ॥
प्राणान्ददाति भूतानां तेजश्च भरतर्षभ ।
गृहमभ्यागतायाथ यो दद्यादन्नमर्थिने ॥ ४२ ॥
भीष्म उवाच—नारदेनैवमुक्तोऽहमदामन्नं सदा नृप ।
अनसूयुस्त्वमप्यन्नं तस्माद्देहि गतज्वरः ॥ ४३ ॥
दत्त्वाऽन्नं विधिवद्राजन्विप्रेभ्यस्त्वमिति प्रभो ।
यथावदनुरूपेभ्यस्ततः स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ४४ ॥
अन्नदानां हि ये लोकास्तांस्त्वं शृणु जनाधिप ।
भवनानि प्रकाशन्ते दिवि तेषां महात्मनाम् ॥ ४५ ॥
तारासंस्थानि रूपाणि नानास्तम्भान्वितानि च ।
चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किङ्किणीजालवन्ति च ॥ ४६ ॥
तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च ।
अनेकशतभौमानि सान्तर्जलचराणि च ॥ ४७ ॥
वैदूर्यार्कप्रकाशानि रौप्यरुक्ममयानि च ।

उस शुक्रसेही प्राणिवृन्द उत्पन्न होते हैं। अग्नि और चन्द्रमा उस शुक्रको उत्पन्न तथा पोषण करते हैं, इस ही भांति अन्न के हेतु सूर्य, पवन तथा शुक्र एकही राशि कहके स्मृत हुए हैं, और उसहीसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। हे भरतर्षभ! जो लोग गृहमें आये हुए अतिथिको अन्नदान करते हैं, वे सब जीवोंको प्राणदान तथा तेज प्रदान किया करते हैं। (३९—४२)

भीष्म बोले, हे महाराज! नारदमुनिके मुखसे यह कथा सुनके उस ही समयसे मैं सदा अन्नदान किया करता हूं, इसलिये तुम असूयाशून्य तथा शोकरहित होके अन्नदान करो। हे महाराज! तुम सद्वंशमें उत्पन्न ब्राह्मणोंको अन्नदान करनेसे स्वर्गलोक पाओगे। हे प्रजानाथ! अन्नदाता पुरुषोंको जो सब लोक प्राप्त होते हैं उनको सुनो। स्वर्गमें उन महानुभावोंके लिये जो सब भवन प्रकाशित हैं, वे उनके अनुसार रूप-सम्पन्न विविधस्तम्भयुक्त, चन्द्रमण्डलकी भांति श्वेत, किङ्किणीजालयुक्त, तरुणादित्यवर्ण, स्थावर जङ्गम कई सौ भौमपदार्थों और अन्तर्जलचरोंसे युक्त, वैदूर्य तथा सूर्यसदृश प्रकाशमान चांदी और

सर्वकामफलाश्चापि वृक्षा भवनसंस्थिताः ॥ ४८ ॥
वाप्यो वीथ्यः सभाः कूपा दीर्घिकाश्चैव सर्वशः।
घोषवन्ति च यानानि युक्तान्यथ सहस्रशः ॥ ४९ ॥
भक्ष्यभोज्यमयाः शैला वासांस्याभरणानि च।
क्षीरं स्रवन्ति सरितस्तथा चैवान्नपर्वताः ॥ ५० ॥
प्रासादाः पाण्डुराभ्राभाः शय्याश्च काञ्चनोज्ज्वलाः।
तान्यन्नदाः प्रपद्यन्ते तस्मादन्नप्रदो भव ॥ ५१ ॥
एते लोकाः पुण्यकृता अन्नदानां महात्मनाम्।
तस्मादन्नं प्रयत्नेन दातव्यं मानवैर्भुवि ॥ ५२ ॥ [३२१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे अन्नदानप्रशंसायां त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर उवाच–श्रुतं मे भवतो वाक्यमन्नदानस्य यो विधिः।
नक्षत्रयोगस्येदानीं दानकल्पं ब्रवीहि मे ॥ १ ॥
भीष्म उवाच–अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
देवक्याश्चैव संवादं महर्षेर्नारदस्य च ॥ २ ॥
द्वारकामनुसंप्राप्तं नारदं देवदर्शनम्।

सोनेके समस्त गृह विद्यमान हैं, उन गृहोंमें सर्वकामफलप्रद वृक्ष लगे हुए हैं। (४३-४८)

चारों ओर वापी, वीथी, सभा, कूप, दीर्घिका, सहस्रों मोतियोंके ढेर, भक्ष्य और भोज्यमय पर्वत, वस्त्र, आभूषण, दूध बहानेवाली नदियें, और अन्नोंके पर्वत, पाण्डुरवर्ण आभासे युक्त समस्त गृह और सुवर्णखचित शय्या प्रभृति विद्यमान हैं, अन्नदाता उन वस्तुओंको पाता है, इसलिये तुम अन्नदान करो। महानुभाव पुण्य करनेवाले अन्नदाता पुरुषोंके लिये ये समस्त लोक निश्चित हैं, इसलिये पृथ्वीमण्डलपर मनुष्योंको योग्य है, कि सब प्रकार प्रयत्नके सहारे अन्नदान करें। (४९-५२)

अनुशासनपर्वमें ६३ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ६४ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, मैंने अन्नदानकी विधि विषयक आपका वचन सुना, अब नक्षत्रयोगमें दान करनेसे जो फल होता है, उसे आप मेरे समीप वर्णन करिये। (१)

भीष्म बोले, प्राचीन लोग इस विषयमें देवकी और नारद महर्षिके संवादयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा

पद्मच्छेदं वचः प्रश्नं देवकी धर्मदर्शनम् ॥ ३ ॥
तस्याः संपृच्छमानाया देवर्षिर्नारदस्ततः ।
आचष्ट विधिवत्सर्वं तच्छृणुष्व विशाम्पते ॥ ४ ॥
नारद उवाच-कृत्तिकासु महाभागे पायसेन ससर्पिषा ।
संतर्प्य ब्राह्मणान्साधूँल्लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ ५ ॥
रोहिण्यां प्रसृतैर्भागैर्मांसैरन्नेन सर्पिषा ।
पयोऽन्नपानं दातव्यमनृणार्थं द्विजातये ॥ ६ ॥
दोग्ध्रीं दत्त्वा सवत्सां तु नक्षत्रे सोमदैवते ।
गच्छन्ति मानुषाल्लोकात्स्वर्गलोकमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
आर्द्रायां कृसरं दत्त्वा तिलमिश्रमुपोषितः ।
नरस्तरति दुर्गाणि क्षुरधारांश्च पर्वतान् ॥ ८ ॥
पूपान्पुनर्वसौ दत्त्वा तथैवान्नानि शोभने ।
यशस्वी रूपसम्पन्नो बह्वन्नो जायते कुले ॥ ९ ॥
पुष्येण कनकं दत्त्वा कृतं वाऽकृतमेव च ।
अनालोकेषु लोकेषु सोमवत्स विराजते ॥ १० ॥
आश्लेषायां तु यो रूप्यमृषभं वा प्रयच्छति ।

करते हैं। देवर्षि नारदके द्वारकामें उपस्थित होनेपर देवकीने उस धर्मदर्शीसे यही विषय पूछा। हे नरनाथ! अनन्तर देवर्षि नारदने देवकीके पूछनेपर जो कथा कही थी, उसे तुम सुनो। (२-४)

नारद बोले, हे महाभागे! कृत्तिका नक्षत्रमें घृत सहित पायससे साधु ब्राह्मणोंको तृप्त करनेसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है। रोहिणी नक्षत्रमें आनृण्यके हेतु ब्राह्मणोंको अञ्जली भरके मृगमांस और घृत, दूध तथा अन्नदान करना चाहिये। सोमदैवत मृगशिरा नक्षत्रमें बछडे युक्त दूध देनेवाली गऊ दान करनेसे पुरुष मनुष्यलोकसे अत्यन्त श्रेष्ठ त्रिविष्टपमें गमन किया करते हैं। आर्द्रा नक्षत्रमें उपवास करके तिल मिले हुए कृसर दान करनेसे मनुष्य सब क्लेशों तथा क्षुरधार पर्वतसे पार होते हैं। (५-८)

हे सुन्दरि! पुनर्वसु नक्षत्रमें घृतयुक्त पिण्डाकार पूपपुञ्ज तथा अनेक प्रकारके अन्नदान करनेसे मनुष्य यशस्वी और रूपवान् होकर बहुतेरे अन्नोंसे पवित्र कुलमें जन्मता है। पुष्य नक्षत्रमें शुद्ध अथवा अविशुद्ध सुवर्ण दान करनेसे मनुष्य आलोकान्तररहित

स सर्वभयनिर्मुक्तः सम्भवानधितिष्ठति ॥ ११ ॥
मघासु तिलपूर्णानि वर्धमानानि मानवः ।
प्रदाय पुत्रपशुमानिह प्रेत्य च मोदते ॥ १२ ॥
फल्गुनीपूर्वसमये ब्राह्मणानामुपोषितः ।
भक्ष्यान्फाणितसंयुक्तान्दत्त्वा सौभाग्यमृच्छति ॥१३॥
घृतक्षीरसमायुक्तं विधिवत्षष्टिकौदनम् ।
उत्तराविषये दत्त्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ १४ ॥
यद्यत्प्रदीयते दानमुत्तराविषये नरैः ।
महाफलमनन्तं तद्भवतीति विनिश्चयः ॥ १५ ॥
हस्ते हस्तिरथं दत्त्वा चतुर्युक्तमुपोषितः ।
प्राप्नोति परमाँल्लोकान्पुण्यकामसमन्वितान् ॥ १६ ॥
चित्रायां वृषभं दत्त्वा पुण्यगन्धांश्च भारत ।
चरन्त्यप्सरसां लोके रमन्ते नन्दने तथा ॥ १७ ॥
स्वात्यामथ धनं दत्त्वा यदिष्टतममात्मनः ।
प्राप्नोति लोकान्स शुभानिह चैव महद्यशः ॥ १८ ॥

अर्थात् स्वयंप्रकाशित लोकोंमें चन्द्रमाकी भांति विराजता है। आश्लेषा नक्षत्रमें जो रूपा और वृषभ प्रदान करते हैं, वे सर्वभयसे छूटके सद्वंशमें उत्पन्न होते हैं। मघा नक्षत्रमें तिल-पूरित पात्र प्रदान करनेसे मनुष्य पुत्रवान और पशुमान होकर इस लोक तथा परलोकमें आनन्दित हुआ करता है। पूर्वा फल्गुनी नक्षत्रमें उपवासी होकर ब्राह्मणोंको गोरसविकार और फाणित नामक द्रव्य संयुक्त भक्ष्य सामग्री प्रदान करनेसे मनुष्यको सौभाग्य प्राप्त होता है। (९—१३)

उत्तराफल्गुनी नक्षत्रमें घृत क्षीर-युक्त अन्नदान करनेसे मनुष्य स्वर्ग लोकमें निवास किया करते हैं। उत्तरा फल्गुनी नक्षत्रमें मनुष्य जिन वस्तुओंको दान करता है, वह दान महाफल-जनक और अनन्त हुआ करता है। हस्त नक्षत्रमें उपवासी होकर चार हाथियोंसे युक्त रथ दान करनेसे मनुष्य पुण्यकामयुक्त होकर परम पवित्र लोकोंको पाता है। हे भारत! चित्रा नक्षत्रमें वृषभ और पुण्यगन्ध प्रदान करनेसे मनुष्य अप्सराओंके सङ्ग क्रीडा करता तथा आमोद किया करता है, स्वाती नक्षत्रमें जो लोग इच्छानुसार अन्नदान करते हैं, वे इस लोकमें महत्

विशाखायामनड्वाहं धेनुं दत्त्वा च दुग्धदाम्।
सप्रासङ्गं च शकटं सधान्यं वस्त्रसंयुतम् ॥ १९ ॥
पितॄन्देवांश्च प्रीणाति प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते।
न च दुर्गाण्यवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ २० ॥
दत्त्वा यथोक्तं विप्रेभ्यो वृत्तिमिष्टां स विन्दति।
नरकादींश्च संक्लेशान्नाप्नोतीति विनिश्चयः ॥ २१ ॥
अनुराधासु प्रावारं वरान्नं समुपोषितः।
दत्त्वा युगशतं चापि नरः स्वर्गे महीयते ॥ २२ ॥
कालशाकं तु विप्रेभ्यो दत्त्वा मर्त्यः समूलकम्।
ज्येष्ठायामृद्धिमिष्टां वै गतिमिष्टां स गच्छति ॥२३॥
मूले मूलफलं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यः समाहितः।
पितॄन्प्रीणयते चापि गतिमिष्टां च गच्छति ॥ २४ ॥
अथ पूर्वास्वषाढासु दधिपात्राण्युपोषितः।
कुलवृत्तोपसंपन्ने ब्राह्मणे वेदपारगे ॥ २५ ॥
पुरुषो जायते प्रेत्य कुले सुबहुगोधने।

यश लाभ करके परलोकमें शुभ लोकोंको पाते हैं। (१४—१८)

विशाखा नक्षत्रमें छकडेको खींचनेमें समर्थ वृषभ, दूध देनेवाली गऊ, धान्य आदि पिधानयोग्य चतुरस्र, प्रासङ्गयुक्त, अन्नसे भरे छकडे और वस्त्रदान करनेसे मनुष्य पितरों तथा देवताओंको प्रीतियुक्त करके परलोकमें अनन्त सुख भोग किया करता है, कदाचित् दुर्गम स्थान उसे प्राप्त नहीं होते और वह स्वर्गमें जाता है, जो लोग ब्राह्मणोंको पूर्वोक्त वस्तुदान करते हैं, निश्चय ही वे निज अभिलषित वृत्ति पाते और कदापि नरक आदि क्लेशोंको नहीं भोगते। अनुराधा नक्षत्रमें उपवास करके जो पुरुष ओढनेके वस्त्र और अन्न दान करते हैं, वे सौ युगतक स्वर्गमें वास किया करते हैं। (१९-२२)

ज्येष्ठा नक्षत्रमें जो मनुष्य ब्राह्मणोंको मूलके सहित कालशाक दान करता है, वह अभिलषित समृद्धि और गति पाता है। मूल नक्षत्रमें समाहित होके ब्राह्मणोंको फल मूल दान करनेसे पितरोंकी प्रीतिका विधान तथा अभिलषित गति प्राप्त होती है। पूर्वाषाढा नक्षत्रमें उपवासी होके कुलवृत्तसम्पन्न वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंको दधिपात्रदान करनेसे पुरुष दूसरे जन्ममें अनेक गोधन-

उदमन्थं ससर्पिष्कं प्रभूतमधिफाणितम् ॥ २६ ॥
दत्त्वोत्तरास्वषाढासु सर्वकामानवाप्नुयात् ।
दुग्धं त्वभिजिते योगे दत्त्वा मधुघृतप्लुतम् ।
धर्मनित्यो मनीषिभ्यः स्वर्गलोके महीयते ॥ २७ ॥
श्रवणे कम्बलं दत्त्वा वस्त्रान्तरितमेव वा ।
श्वेतेन याति यानेन स्वर्गलोकानसंवृतान् ॥ २८ ॥
गोप्रयुक्तं धनिष्ठासु यानं दत्त्वा समाहितः ।
वस्त्ररशिधनं सद्यः प्रेत्य राज्यं प्रपद्यते ॥ २९ ॥
गन्धाञ्छतभिषा योगे दत्त्वा सागुरुचन्दनान् ।
प्राप्नोत्यप्सरसां संघान्प्रेत्य गन्धांश्च शाश्वतान् ॥३०॥
पूर्वाभाद्रपदायोगे राजमाषान्प्रदाय तु ।
सर्वभक्षफलोपेतः स वै प्रेत्य सुखी भवेत् ॥ ३१ ॥
औरभ्रमुत्तरायोगे यस्तु मांसं प्रयच्छति ।
स पितॄन्प्रीणयति वै प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ३२ ॥
कांस्योपदोहनां धेनुं रेवत्यां यः प्रयच्छति ।

युक्त वंशमें जन्मता है । उत्तराषाढा नक्षत्रमें घृत और जल भरे हुए घड़ेसे युक्त सत्तू मधु तथा क्षीरसे बनी हुई मिष्टान्नयुक्त वस्तु दान करनेसे मनुष्य समस्त काम्य विषयोंको पाता है। उत्तराषाढाके शेष और श्रवणके प्रथम भाग अभिजित योगमें मनीषियोंको दूध, मधु और घृत दान करनेसे धर्ममें रत मनुष्य स्वर्ग लोकमें निवास किया करते हैं। (२३-२७)

श्रवण नक्षत्रमें वस्त्र और कम्बल दान करनेसे मनुष्य श्वेतवर्ण यानके सहारे असंवृत स्वर्गलोकमें गमन किया करते हैं। धनिष्ठा नक्षत्रमें समाहित होकर गोयुक्त सवारी, वस्त्र तथा अन्न-दान करनेसे परलोकमें राज्य प्राप्त होता है। शतभिष नक्षत्रमें अगुरु,चन्दन और सुगन्ध दान करनेसे मनुष्य परलोकमें अप्सराओंके लोकमें शाश्वत गन्धोंको पाता है। पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्रमें राजमाष अर्थात् बर्बटकलाई दान करनेसे सर्वभक्ष्य फलोंसे युक्त होकर पुरुष परलोकमें सुखी होता है। (२८—३१)

उत्तराभाद्रपदा नक्षत्रमें जो लोग मेढेका मांस दान करते हैं, वे पितरोंको प्रसन्न करते हुए परलोकमें अनन्त सुख भोग किया करते हैं, जो लोग

सा प्रेत्य कामानादाय दातारमुपतिष्ठति ॥ ३३ ॥
रथमश्वसमायुक्तं दत्त्वाऽश्विन्यां नरोत्तमः।
हस्त्यश्वरथसंपन्ने वर्चस्वी जायते कुले ॥ ३४ ॥
भरणीषु द्विजातिभ्यस्तिलधेनुं प्रदाय वै।
गाः सुप्रभूताः प्राप्नोति नरः प्रेत्य यशस्तथा ॥ ३५ ॥
भीष्म उवाच– इत्येष लक्षणोद्देशः प्रोक्तो नक्षत्रयोगतः।
देवक्या नारदेनेह सा स्नुषाभ्योऽब्रवीदिदम् ॥ ३६ ॥ [३२५०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे नक्षत्रयोगदानं नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

भीष्म उवाच– सर्वान्कामान्प्रयच्छन्ति ये प्रयच्छन्ति काञ्चनम्।
इत्येवं भगवानत्रिः पितामहसुतोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
पवित्रमथ चायुष्यं पितॄणामक्षयं च तत्।
सुवर्णं मनुजेन्द्रेण हरिश्चन्द्रेण कीर्तितम् ॥ २ ॥
पानीयं परमं दानं दानानां मनुरब्रवीत्।
तस्मात्कूपांश्च वापीश्च तडागानि च खानयेत् ॥ ३ ॥
अर्धं पापस्य हरति पुरुषस्येह कर्मणः।

रेवती नक्षत्रमें कांसेके दोहनपात्रसे युक्त गोदान करते हैं, उनके परलोकमें जानेपर वही गऊ सर्वकाम्य विषयोंको ग्रहण करके उस दाताके निकट उपस्थित होती है। हे पुरुषर्षभ! अश्विनी नक्षत्रमें घोडेसे युक्त रथ दान करनेसे मनुष्य हाथी, घोडे और रथोंसे परिपूर्ण कुलमें जन्मता है। भरणी नक्षत्रमें ब्राह्मणोंको तिल गऊ दान करनेसे मनुष्य परलोकमें उत्तम यश और बहुतसी गौओंको पाता है। (३२-३५)

भीष्म बोले, नारद मुनिने देवकीसे नक्षत्रयोगके अनुसार यही सब दानका लक्षण कहा, और देवकीने अपनी पुत्रवधुओंसे यह सब वृत्तान्त कहा था। (३६)

अनुशासनपर्वमें ६४ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ६५ अध्याय।

भीष्म बोले, ब्रह्माके पुत्र अत्रि भगवानने ऐसा कहा है, कि जो लोग सुवर्ण प्रदान करते हैं, वे समस्त काम्य वस्तु दान किया करते हैं, मनुष्येन्द्र हरिश्चन्द्रने कहा है, कि सुवर्ण पवित्र, आयुष्य और पितरोंके उद्देश्यसे देनेपर अक्षय होता है। मनुने सब दानोंके बीच जलदानको परम दान कहा है,

कूपः प्रवृत्तपानीयः सुप्रवृत्तश्च नित्यशः ॥ ४ ॥
सर्वं तारयते वंशं यस्य खाते जलाशये।
गावः पिबन्ति विप्राश्च साधवश्च नराः सदा ॥ ५ ॥
निदाघकाले पानीयं यस्य तिष्ठत्यवारितम्।
स दुर्गं विषमं कृत्स्नं न कदाचिदवाप्नुते ॥ ६ ॥
बृहस्पतेर्भगवतः पूष्णश्चैव भगस्य च।
अश्विनोश्चैव वह्नेश्च प्रीतिर्भवति सर्पिषा ॥ ७ ॥
परमं भेषजं ह्येतद्यज्ञानामेतदुत्तमम्।
रसानामुत्तमं चैतत्फलानां चैतदुत्तमम् ॥ ८ ॥
फलकामो यशस्कामः पुष्टिकामश्च नित्यदा।
घृतं दद्याद् द्विजातिभ्यः पुरुषः शुचिरात्मवान् ॥ ९ ॥
घृतं मासे आश्वयुजि विप्रेभ्यो यः प्रयच्छति।
तस्मै प्रयच्छतो रूपं प्रीतौ देवाविहाश्विनौ ॥ १० ॥
पायसं सर्पिषा मिश्रं द्विजेभ्यो यः प्रयच्छति।
गृहं तस्य न रक्षांसि धर्षयन्ति कदाचन ॥ ११ ॥
पिपासया न म्रियते सोपच्छन्दश्च जायते।

इसलिये बावली, कूप और तालाव प्रभृति खुदवाना चाहिये। प्रतिदिन लोग जिस कूएंके जलको पीते हैं, वह कूआं कूप खोदनेवालेके पापका आधा भाग हर लेता है। जिसके खोदे हुए तालावमें ब्राह्मण और साधु पुरुष सदा जल पीते हैं, वह तालाववाला अपने समस्त वंशका उद्धार किया करता है। (१-५)

ग्रीष्म ऋतुमें जिसका तालाव जलसे भरा रहता है, वह कदापि विषम क्लेशोंको नहीं पाता। घृतके सहारे भगवान् बृहस्पति, पूषा, भग, दोनों अश्विनीकुमार और अग्निदेव प्रसन्न होते हैं। घृत ही परम औषध है, यज्ञके लिये घृत ही अत्यन्त उत्कृष्ट है, यह सब रसोंके बीच श्रेष्ठ और सब फलोंमें उत्तम है। जो पुरुष सदा फल, यश और पुष्टिकी कामना करता है, वह पवित्र और संयतचित्त होकर ब्राह्मणोंको घृत दान करे। क्वार मासमें ब्राह्मणोंको घृत दान करनेसे इस लोकमें दोनों अश्विनीकुमार प्रसन्न होके उसे रूप प्रदान किया करते हैं। जो लोग ब्राह्मणोंको घृतमिश्रित पायस दान करते हैं, राक्षस लोग कदापि उनके गृहमें पीडा नहीं

न प्राप्नुयाच्च व्यसनं करकान्यः प्रयच्छति ॥ १२ ॥
प्रयतो ब्राह्मणाग्रे यः श्रद्धया परया युतः ।
उपस्पर्शनषड्भागं लभते पुरुषः सदा ॥ १३ ॥
यः साधनार्थं काष्ठानि ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
प्रतापनार्थं राजेन्द्र वृत्तवद्भ्यः सदा नरः ॥ १४ ॥
सिद्ध्यन्त्यर्थाः सदा तस्य कार्याणि विविधानि च ।
उपर्युपरि शत्रूणां वपुषा दीप्यते च सः ॥ १५ ॥
भगवांश्चापि संप्रीतो वह्निर्भवति नित्यशः ।
न तं त्यजन्ति पशवः संग्रामे च जयत्यपि ॥ १६ ॥
पुत्राञ्छ्रियं च लभते यश्छत्रं संप्रयच्छति ।
न चक्षुर्व्याधिं लभते यज्ञभागमथाश्नुते ॥ १७ ॥
निदाघकाले वर्षे वा यश्छत्रं संप्रयच्छति ।
नास्य कश्चिन्मनोदाहः कदाचिदपि जायते ॥ १८ ॥
कृच्छ्रात्स विषमाच्चैव क्षिप्रं मोक्षमवाप्नुते ।
प्रदानं सर्वदानानां शकटस्य विशाम्पते ।
एवमाह महाभागः शाण्डिल्यो भगवानृषिः ॥ १९ ॥ [३२६९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

दे सकते । (६-११)

जो लोग कमण्डलु नामक जलपात्र दान करते हैं, वे प्याससे नहीं मरते, गृहकी सामग्रियोंसे परिपूर्ण रहते और कदापि विपद्ग्रस्त नहीं होते। जो पुरुष सावधान होके परम श्रद्धाके सहित ब्राह्मणोंको दान करता है, वह सदा उनके पुण्यका छठवां भाग ग्रहण किया करता है । हे राजेन्द्र ! जो लोग साधन और तापनेके लिये व्रतनिष्ठ ब्राह्मणोंको काष्ठ देते हैं, उनके सब प्रयोजन तथा विविध कार्य सदा सिद्ध होते और वे शत्रुओंके ऊर्ध्वमें तेज पुञ्ज युक्त शरीरसे प्रकाशित होते हैं । भगवान् अग्नि सदा उनके विषयमें प्रसन्न रहते, पशुवृन्द उन्हें परित्याग नहीं करते और वे संग्राममें विजयी होते हैं । जो लोग छत्र दान करते हैं, वे पुत्र और श्रीलाभ किया करते हैं, नेत्ररोग नहीं होता और यज्ञभाग मिलता है । जो लोग ग्रीष्म अथवा वर्षाऋतुमें छत्र दान करते हैं, कभी उनके मनमें दाह नहीं होती। (१२-१८)

युधिष्ठिर उवाच– दह्यमानाय विप्राय यः प्रयच्छत्युपानहौ।
यत्फलं तस्य भवति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच– उपानहौ प्रयच्छेद्यो ब्राह्मणेभ्यः समाहितः।
मर्दते कण्टकान्सर्वान्विषमान्निस्तरत्यपि ॥ २ ॥
स शत्रूणामुपरि च संतिष्ठति युधिष्ठिर।
यानं चाश्वतरीयुक्तं तस्य शुभ्रं विशाम्पते ॥ ३ ॥
उपतिष्ठति कौन्तेय रौप्यकाञ्चनभूषितम्।
शकटं दम्यसंयुक्तं दत्तं भवति चैव हि ॥ ४ ॥
युधिष्ठिर उवाच– यत्फलं तिलदाने च भूमिदाने च कीर्तितम्।
गोदाने चान्नदाने च भूयस्तद् ब्रूहि कौरव ॥ ५ ॥
भीष्म उवाच– शृणुष्व मम कौन्तेय तिलदानस्य यत्फलम्।
निशम्य च यथान्यायं प्रयच्छ कुरुसत्तम ॥ ६ ॥
पितॄणां परमं भोज्यं तिलाः सृष्टाः स्वयंभुवा।
तिलदानेन वै तस्मात्पितृपक्षः प्रमोदते ॥ ७ ॥

हे नरनाथ! सब दानोंकी अपेक्षा शकट दान करनेसे मनुष्य शीघ्र ही विषम कष्टोंसे मोक्ष लाभ किया करता है। महाभाग भगवान् शाण्डिल्य ऋषिने ऐसा ही कहा है। (१९)

अनुशासनपर्वमें ६५ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ६६ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! दह्यमान ब्राह्मणको जूता दान करनेसे जो फल होता है आप मेरे समीप उसे वर्णन करिये। (१)

भीष्म बोले, जो पुरुष सावधान होकर ब्राह्मणोंको पादुका दान करता है, वह समस्त कांटोंको मर्दते हुए विषमस्थलसे पार होता है। हे नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! वह शत्रुओंके ऊर्ध्वमें वर्त्तमान रहता है और उसके निकट अश्वतरीयुक्त शुभ्रयान वा रूपे सोनेसे भूषित शकट उपस्थित होते हैं तथा जुआयुक्त शकट प्राप्त हुआ करता है। (२—४)

युधिष्ठिर बोले, हे कौरव! तिल, भूमि, गऊ और अन्नदानके विषयमें आपने जो कथा कही है, उसे ही फिर कहिये। (५)

भीष्म बोले, हे कुरुसत्तम कुन्तीपुत्र! तिलदानसे जो फल होता है, वह मेरे समीप सुनो और सुनके न्यायपूर्वक दान करो। पितरोंका परम भोज्य समस्त तिल स्वयम्भूके द्वारा उत्पन्न

माघमासे तिलान्यस्तु ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति।
सर्वसत्त्वसमाकीर्णं नरकं स न पश्यति ॥ ८ ॥
सर्वसत्रैश्च यजते यस्तिलैर्यजते पितॄन्।
न चाकामेन दातव्यं तिलश्राद्धं कदाचन ॥ ९ ॥
महर्षेः कश्यपस्यैते गात्रेभ्यः प्रसृतास्तिलाः।
ततो दिव्यं गता भावं प्रदानेषु तिलाः प्रभो ॥ १० ॥
पौष्टिका रूपदाश्चैव तथा पापविनाशनाः।
तस्मात्सर्वप्रदानेभ्यस्तिलदानं विशिष्यते ॥ ११ ॥
आपस्तम्बश्च मेधावी शङ्खश्च लिखितस्तथा।
महर्षिर्गौतमश्चापि तिलदानैर्दिवं गताः ॥ १२ ॥
तिलहोमरता विप्राः सर्वे संयतमैथुनाः।
समा गव्येन हविषा प्रवृत्तिषु च संस्थिताः ॥ १३ ॥
सर्वेषामिति दानानां तिलदानं विशिष्यते।
अक्षयं सर्वदानानां तिलदानमिहोच्यते ॥ १४ ॥
उच्छिन्ने तु पुरा हव्ये कुशिकर्षिः परन्तपः।
तिलैरग्नित्रयं हुत्वा प्राप्तवान् गतिमुत्तमाम् ॥ १५ ॥

हुए हैं, इस ही लिये तिल दान करनेसे पितरवृन्द प्रमुदित होते हैं। जो लोग माघ महीनेमें ब्राह्मणोंको तिल दान करते हैं, वे सर्वसत्त्व समाकीर्ण नरकको नहीं देखते। जो लोग तिलसे पितृयज्ञ करते हैं, उन्हें समस्त यज्ञसिद्धिका फल मिलता है। अकाम मनुष्य कदापि तिल श्राद्ध न करें। हे महाराज! ये सब तिल महर्षि कश्यपके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये प्रदान करनेके समय दिव्य भावको प्राप्त होते हैं। (६—१०)

सब तिल पुष्टि करनेवाले, रूपप्रद और पापोंको नष्ट करनेवाले हैं, इसलिये सब दानोंसे तिल दान उत्तम है। बुद्धिमान् आपस्तम्ब, शङ्ख, लिखित और महर्षि गौतम तिल दानके सहारे स्वर्गमें गये हैं। तिलहोममें रत सब ब्राह्मण संयतमैथुन हुआ करते हैं। तिल गोघृत समान कहके वर्णित हुआ है। समस्त अतिदानके बीच तिल दान ही विशिष्ट होता है, तिल दान ही इस लोकमें सब दानोंके बीच अक्षय कहके वर्णित हुआ करता है। हे शत्रुतापन! पहले समयमें घृतके अभावमें कुशिक ऋषिने तिलके सहारे तीनों अग्निमें होम

इति प्रोक्तं कुरुश्रेष्ठ तिलदानमनुत्तमम् ।
विधानं येन विधिना तिलानामिह शस्यते ॥ १६ ॥
अत ऊर्ध्वं निबोधेदं देवानां यष्टुमिच्छताम् ।
समागमे महाराज ब्रह्मणा वै स्वयंभुवा ॥ १७ ॥
देवाः समेत्य ब्रह्माणं भूमिभागे यियक्षवः ।
शुभं देशमयाचन्त यजेम इति पार्थिव ॥ १८ ॥
देवा ऊचुः- भगवंस्त्वं प्रभुर्भूमेः सर्वस्य त्रिदिवस्य च ।
यजेमहि महाभाग यज्ञं भवदनुज्ञया ॥ १९ ॥
नाननुज्ञातभूमिर्हि यज्ञस्य फलमश्नुते ।
त्वं हि सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ २० ॥
प्रभुर्भवसि तस्मात्त्वं समनुज्ञातुमर्हसि ।
ब्रह्मोवाच- ददानि मेदिनीभागं भवद्भ्योऽहं सुरर्षभाः ॥ २१ ॥
यस्मिन्देशे करिष्यध्वं यज्ञान्काश्यपनन्दनाः ।
देवा ऊचुः- भगवन्कृतकार्याः स्म यक्ष्महे स्वाप्तदक्षिणैः ॥ २२ ॥
इमं तु देशं मुनयः पर्युपासन्ति नित्यदा ।
ततोऽगस्त्यश्च कण्वश्च भृगुरत्रिर्वृषाकपिः ॥ २३ ॥

करके उत्तम गति पाई थी।(११-१५)

हे कुरुश्रेष्ठ! यह तिल दानका विषय तथा जिस प्रकार विधिपूर्वक तिलदान प्रशंसित हुआ करता है, वह कहा गया। हे महाराज! इसके अनन्तर यज्ञ करनेके अभिलाषी देवताओंका ब्रह्माके समीप समागम हुआ था, वह कथा सुनो, देवताओंने ब्रह्माके निकट उपस्थित होके यज्ञ करनेके लिये पवित्र स्थान मांगा। देववृन्द बोले, हे महाभाग भगवन्! आप समस्त स्वर्ग और भूमिके स्वामी हैं, आपकी अनुमतिसे हम यज्ञ करेंगे। विना आज्ञाके भूमि लेकर यज्ञ करनेसे यज्ञफलका भाग नहीं प्राप्त होता; आप स्थावर, जङ्गम समस्त जगत्के प्रभु हैं, इसलिये आज्ञा करिये। (१६—२१)

ब्रह्मा बोले,हे कश्यपनन्दन देववृन्द! जिस स्थानमें तुम लोग यज्ञ करोगे मैं तुम्हारे लिये वैसी भूमि दान करता हूं। (२१-२२)

देववृन्द बोले, हे भगवन्! हम लोग कृतकार्य हुए, इस समय हिमालयके निकट कुरुक्षेत्रमें मुनिवृन्द सदा निवास करते हैं, इसलिये उस ही स्थानमें हम लोग आप्तदक्षिण यज्ञके द्वारा याग

असितो देवलश्चैव देवयज्ञमुपागमन्।
ततो देवा महात्मान ईजिरे यज्ञमच्युतम् ॥ २४ ॥
तथा समापयामासुर्यथाकालं सुरर्षभाः।
त इष्टयज्ञास्त्रिदशा हिमवत्यचलोत्तमे ॥ २५ ॥
षष्ठमंशं क्रतोस्तस्य भूमिदानं प्रचक्रिरे।
प्रादेशमात्रं भूमेस्तु यो दद्यादनुपस्कृतम् ॥ २६ ॥
न सीदति स कृच्छ्रेषु न च दुर्गाण्यवाप्नुते।
शीतवातातपसहां गृहभूमिं सुसंस्कृताम् ॥ २७ ॥
प्रदाय सुरलोकस्थः पुण्यान्तेऽपि न चाल्यते।
मुदितो वसति प्राज्ञः शक्रेण सह पार्थिव ॥ २८ ॥
प्रतिश्रयप्रदानाच्च सोऽपि स्वर्गे महीयते।
अध्यापककुले जातः श्रोत्रियो नियतेन्द्रियः ॥ २९ ॥
गृहे यस्य वसेत्तुष्टः प्रधानं लोकमश्नुते।
तथा गवार्थे शरणं शीतवर्षसहं दृढम् ॥ ३० ॥
आसप्तमं तारयति कुलं भरतसत्तम।
क्षेत्रभूमिं ददल्लोके शुभां श्रियमवाप्नुयात् ॥ ३१ ॥

करेंगे। अनन्तर अगस्त्य, कण्व, भृगु, अत्रि, वृषाकपि, असित और देवल मुनिने देवयज्ञमें गमन किया। तब महानुभाव देववृन्द यज्ञ करने लगे और यथासमयपर उसे समाप्त किया। देवताओंने पर्वतश्रेष्ठ हिमशैलके निकट यज्ञ करके उस यज्ञमें भूमिका छठवां भाग दान किया। जो लोग प्रादेश-परिमाण अनुपस्कृत भूमिदान करते हैं, वे कभी क्लिष्टकार्योंमें अवसन्न होके दुर्गम स्थानमें नहीं जाते। उत्तम संस्कारयुक्त शीत, जल और वायुपूरित गृह भूमि दान करके श्रेष्ठ सुरलोकमें जाकर अत्यन्त पुण्य क्षीण होनेपर भी दाता वहांसे विचलित नहीं होता। (२२-२८)

हे महाराज! वह प्राज्ञ पुरुष आनन्दित होके इन्द्रके सङ्ग एकत्र वास करता है। जो पुरुष वासस्थान प्रदान करते हैं, वे स्वर्गमें निवास किया करते हैं। अध्यापक वंशमें उत्पन्न संयतेन्द्रिय श्रोत्रिय ब्राह्मण सन्तुष्ट होकर जिसके गृहमें निवास करते हैं, वह ब्रह्मलोक भोग किया करता है। गौवोंके वासके लिये दिया हुआ सर्दी वर्षा सहने योग्य उत्तम दृढ गृह सातवें कुलपर्यन्त उद्धार

रत्नभूमिं प्रदद्यात्तु कुलवंशं प्रवर्धयेत् ।
न चोषरां न निर्दग्धां महीं दद्यात्कथंचन ॥ ३२ ॥
न श्मशानपरीतां च न च पापनिषेविताम् ।
पारक्ये भूमिदेशे तु पितॄणां निर्वपेत्तु यः ॥ ३३ ॥
तद्भूमिं वापि पितृभिः श्राद्धकर्म विहन्यते ।
तस्मात्क्रीत्वा महीं दद्यात्स्वल्पामपि विचक्षणः ॥३४॥
पिण्डः पितृभ्यो दत्तो वै तस्यां भवति शाश्वतः ।
अटवी पर्वताश्चैव नद्यस्तीर्थानि यानि च ॥ ३५ ॥
सर्वाण्यस्वामिकान्याहुर्न हि तत्र परिग्रहः ।
इत्येतद्भूमिदानस्य फलमुक्तं विशाम्पते ॥ ३६ ॥
अतः परं तु गोदानं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ ।
गावोऽधिकास्तपस्विभ्यो यस्मात्सर्वेभ्य एव च ॥ ३७॥
तस्मान्महेश्वरो देवस्तपस्ताभिः सहास्थितः ।
ब्राह्मे लोके वसन्त्येताः सोमेन सह भारत ॥ ३८ ॥
यां तां ब्रह्मर्षयः सिद्धाः प्रार्थयन्ति परां गतिम् ।

करता है। जो लोग क्षेत्रभूमिदान करते हैं, वे लोकके बीच पवित्र श्रीसम्पन्न होते हैं। (२८-३१)

जो लोग रत्नभूमि देते हैं, वे कुल तथा वंशको वृद्धि किया करते हैं। ऊषर और जली भूमि किसी प्रकारसे भी न देनी चाहिये तथा श्मशानसे घिरी हुई पापपूरित भूमि भी दानके योग्य नहीं है। जो पुरुष दूसरेकी भूमिमें पितरोंका श्राद्ध करता है, अथवा पितरों के उद्देश्यसे दूसरेकी भूमि दान करता है, उसका किया हुआ श्राद्ध तथा भूमि दान-कर्म दोनोंही निष्फल होते हैं। इस लिये बुद्धिमान मनुष्य अल्प परिमाण भूमि मोल लेके दान करे, क्यों कि उस मोल ली हुई भूमिमें पितरोंके निमित्त दिया हुआ पिण्ड शाश्वत होता है। (३२—३५)

वन, पर्वत, नदी और तीर्थोंको पण्डित लोग अस्वामिक कहते हैं, इस लिये उन स्थानोंमें पितरों का श्राद्ध करनेमें कुछ दोष नहीं है। हे नरनाथ! यह तुमसे भूमिदानका फल कहा है। हे पापरहित! इसके अनन्तर गोदानका फल वर्णन करता हूं। सब तपस्वियोंमें ही गोधन विद्यमान है, इस ही लिये महादेवने गौवोंके सहित तपस्या की थी। (३५-३८)

पयसा हविषा दध्ना शकृता चाथ चर्मणा ॥ ३९ ॥
अस्थिभिश्चोपकुर्वन्ति शृङ्गैर्वालैश्च भारत।
नासां शीतातपौ स्यातां सदैताः कर्म कुर्वते ॥ ४० ॥
न वर्षविषयं वापि दुःखमासां भवत्युत।
ब्राह्मणैः सहिता यान्ति तस्मात्पारमकं पदम्॥ ४१ ॥
एकं गोब्राह्मणं तस्मात्प्रवदन्ति मनीषिणः।
रन्तिदेवस्य यज्ञे ताः पशुत्वेनोपकल्पिताः ॥ ४२ ॥
अतश्चर्मण्वती राजन् गोचर्मभ्यः प्रवर्तिता।
पशुत्वाच्च विनिर्मुक्ताः प्रदानायोपकल्पिताः ॥ ४३ ॥
ता इमा विप्रमुख्येभ्यो यो ददाति महीपते।
निस्तरेदापदं कृच्छ्रां विषमस्थोऽपि पार्थिव ॥ ४४ ॥
गवां सहस्रदः प्रेत्य नरकं न प्रपद्यते।
सर्वत्र विजयं चापि लभते मनुजाधिप ॥ ४५ ॥
अमृतं वै गवां क्षीरमित्याह त्रिदशाधिपः।
तस्माद्ददाति यो धेनुममृतं स प्रयच्छति ॥ ४६ ॥

हे भारत! ब्रह्मलोकमें गौवें चन्द्रमाके सङ्ग निवास करती हैं। सिद्ध और ब्रह्मर्षि लोग जिस परमपदकी इच्छा करते हैं, गोदान करनेसे सब पापोंसे छूटकर मनुष्य उसही गतिको पाते हैं। हे भारत! ये गौवें ही दही, दूध, घृत, गोमय, चर्म, हड्डी, सींग और पूंछके बालसे सबका उपकार करती हैं, इन्हें, सर्दी, गर्मीका भय नहीं है, ये सदा ही कार्य किया करती हैं, वर्षासे इन्हें दुःख नहीं होता, इसलिये ये ब्राह्मणोंके सहित परमपदमें गमन करती हैं, इसीसे पण्डित लोग गऊ और ब्राह्मणोंको एकही कहा करते हैं। हे महाराज! रन्तिदेव राजाके यज्ञमें गौवें पशुरूपसे कल्पित हुई थीं, उस गोचर्मसे चर्मण्वती नदी प्रवर्तित हुई है। दानके लिये उपकल्पित गौवें पशुत्वसे मुक्त हुई थीं। (३८-४३)

हे पृथ्वीनाथ! जो लोग श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको गोदान करते हैं, वे विषम अवस्थामें पडके भी क्लेश तथा आपदोंसे पार होते हैं। हे नरनाथ! सहस्र गोदान करनेसे परलोकमें जानेपर पुरुष नरकमें नहीं पडता और सबठौर विजय प्राप्त होती है। इन्द्रने गौवोंके दूधको ही अमृत कहा है, इसलिये जो पुरुष गोदान करता है, वह अमृत प्रदान किया करता है। वेद जाननेवाले पुरुष

अग्नीनामव्ययं ह्येतद्धौम्यं वेदविदो विदुः ।
तस्माद्ददाति यो धेनुं स हौम्यं संप्रयच्छति ॥ ४७ ॥
स्वर्गो वै मूर्तिमानेष वृषभं यो गवां पतिम् ।
विप्रे गुणयुते दद्यात्स वै स्वर्गे महीयते ॥ ४८ ॥
प्राणा वै प्राणिनामेते प्रोच्यन्ते भरतर्षभ ।
तस्माद्ददाति यो धेनुं प्राणानेष प्रयच्छति ॥ ४९ ॥
गावः शरण्या भूतानामिति वेदविदो विदुः ।
तस्माद्ददाति यो धेनुं शरणं संप्रयच्छति ॥ ५० ॥
न वधार्थं प्रदातव्या न कीनाशे न नास्तिके ।
गोजीविने न दातव्या तथा गौर्भरतर्षभ ॥ ५१ ॥
ददत्स तादृशानां वै नरो गां पापकर्मणाम् ।
अक्षयं नरकं यातीत्येवमाहुर्महर्षयः ॥ ५२ ॥
न कृशां नापवत्सां वा वन्ध्यां रोगान्वितां तथा ।
न व्यङ्गां न परिश्रान्तां दद्याद्गां ब्राह्मणाय वै ॥ ५३ ॥
दशगोसहस्रदो हि शक्रेण सह मोदते ।
अक्षयाँल्लभते लोकान्नरः शतसहस्रशः ॥ ५४ ॥

अग्निके सम्बन्धमें इसे ही अव्यय होम साधन समझते हैं, इससे जो लोग गोदान करते हैं, वे होम साधन प्रदान किया करते हैं, यह गोपति वृषभ ही मूर्तिमान स्वर्ग स्वरूप है, जो लोग गुणवान् ब्राह्मणोंको वृषभ देते हैं, वे स्वर्गमें निवास किया करते हैं। (४४-४८)

हे भरतश्रेष्ठ ! गौवें प्राणियोंकी प्राणस्वरूप कही गई हैं, इसलिये जो लोग गऊ देते हैं, वे प्राण प्रदान किया करते हैं। वेद जाननेवाले पुरुष गौवोंको सब प्राणियोंकी शरण्य रूपी जानते हैं, इसलिये जो लोग गऊ देते हैं, वे शरण दिया करते हैं। हे भरत-श्रेष्ठ ! पापाचारी नास्तिकको वधके निमित्त गऊ देनी योग्य नहीं है और गोजीवी पुरुषोंको भी गोदान करना अनुचित है। महर्षियोंने ऐसा कहा है, कि जो मनुष्य वैसे पापियोंको गोदान करता है, वह अक्षय नरकमें पडता है। ब्राह्मणोंको कृशित, बछडा रहित, वन्ध्या, रोगयुक्त, विकलाङ्गी और थकी हुई गऊ दान न करे। दश हजार गौवोंको दान करनेवाले मनुष्य स्वर्गमें इन्द्रके सङ्ग आनन्द भोगते हैं और सौ हजार गौवोंको दान करनेवाला

इत्येतद्गोप्रदानं च तिलदानं च कीर्तितम्।
तथा भूमिप्रदानं च शृणुष्वान्ने च भारत ॥ ५५ ॥
अन्नदानं प्रधानं हि कौन्तेय परिचक्षते।
अन्नस्य हि प्रदानेन रन्तिदेवो दिवं गतः ॥ ५६ ॥
श्रान्ताय क्षुधितायान्नं यः प्रयच्छति भूमिप।
स्वायम्भुवं महत्स्थानं स गच्छति नराधिप ॥ ५७ ॥
न हिरण्यैर्न वासोभिर्नान्यदानेन भारत।
प्राप्नुवन्ति नराः श्रेयो यथा ह्यन्नप्रदाः प्रभो ॥ ५८ ॥
अन्नं वै प्रथमं द्रव्यमन्नं श्रीश्च परा मता।
अन्नात्प्राणः प्रभवति तेजो वीर्यं बलं तथा ॥ ५९ ॥
सद्यो ददाति यश्चान्नं सदैकाग्रमना नरः।
न स दुर्गाण्यवाप्नोतीत्येवमाह पराशरः ॥ ६० ॥
अर्चयित्वा यथान्यायं देवेभ्योऽन्नं निवेदयेत्।
यदन्ना हि नरा राजंस्तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ६१ ॥
कौमुदे शुक्लपक्षे तु योऽन्नदानं करोत्युत।
स संतरति दुर्गाणि प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ ६२ ॥

अक्षय लोकोंको पाता है। हे भारत! यह गऊ तिल और भूमिदानका विषय कहा गया, अब अन्नदानका फल सुनो। (४९–५५)

हे कुन्तीनन्दन! महर्षिलोग अन्नदानको ही प्रकृष्ट दान कहा करते हैं, राजा रन्तिदेवने अन्नदान करनेसे देवलोकमें गमन किया है। हे महाराज! जो लोग थके और भूखेको अन्नदान करते हैं, वे ब्रह्माके उत्तम महत् स्थानमें जाते हैं। हे भरतवंशावतंस नरनाथ! मनुष्योंका अन्नदानसे जैसा कल्याण होता है, सुवर्ण, वस्त्र अथवा अन्य वस्तु दान करनेसे वैसा कल्याण नहीं प्राप्त होता। अन्नही प्रथम द्रव्य है, अन्न ही परम श्री रूपसे सम्मत है, अन्नसे प्राण, तेज, बल और वीर्य उत्पन्न होता है। पराशर मुनि कहते हैं, कि जो पुरुष सदा एकाग्रचित्त होकर याचकोंकी प्रार्थनानुसार अन्नदान करता है, उसे क्लेश नहीं मिलते; न्यायपूर्वक देवताओंकी पूजा करके अन्न निवेदन करे। (५६–६१)

हे महाराज! मनुष्यवृन्द जो अन्न खाते हैं, उनके देवताओंका भी वही अन्न होता है। कार्त्तिक महीनेके शुक्ल

अभुक्त्वाऽतिथये चान्नं प्रयच्छेद्यः समाहितः।
स वै ब्रह्मविदां लोकान्प्राप्नुयाद्भरतर्षभ ॥ ६३ ॥
सुकृच्छ्रामापदं प्राप्तश्चान्नदः पुरुषस्तरेत्।
पापं तरति चैवेह दुष्कृतं चापकर्षति ॥ ६४ ॥
इत्येतदन्नदानस्य तिलदानस्य चैव ह।
भूमिदानस्य च फलं गोदानस्य च कीर्तितम् ॥ ६५ ॥ [३३३४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर उवाच-श्रुतं दानफलं तात यत्त्वया परिकीर्तितम्।
अन्नदानं विशेषेण प्रशस्तमिह भारत ॥ १ ॥
पानीयदानमेवैतत्कथं चेह महाफलम्।
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि विस्तरेण पितामह ॥ २ ॥
भीष्म उवाच— हन्त ते वर्तयिष्यामि यथावद्भरतर्षभ।
गदतस्तन्ममाद्येह शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३ ॥
पानीयदानात्प्रभृति सर्वं वक्ष्यामि तेऽनघ।

पक्षमें जो लोग अन्नदान करते हैं, वे इस लोकमें सब क्लेशोंसे पार होके परलोकमें अनन्त सुख भोगते हैं। हे भरतश्रेष्ठ! जो समाहित पुरुष भूखा रहके अतिथिको अन्नदान करता है, उसे ब्रह्मवित् पुरुषोंके लोक प्राप्त होते हैं। अन्नदान करनेवाला पुरुष अत्यन्त कष्टकारी आपदमें पडके भी उससे पार हुआ करता है। इस लोकमें पापियोंका अन्नदानसेही निस्तार होता है। यह अन्न, तिल, भूमि और गोदानका फल कहा गया। (६१—६५)

अनुशासनपर्वमें ६६ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ६७ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे तात भारत! आपने जो कथा कही, वह सब दानका फल मैंने सुना, इस लोकमें विशेष रूपसे अन्नदान ही श्रेष्ठ है। हे पितामह! इस लोकमें जलदान करनेसे कैसा महाफल होता है? इसलिये यह विषय मैं विस्तारपूर्वक सुननेकी इच्छा करता हूं। (१-२)

भीष्म बोले, हे सत्यपराक्रमी भरतश्रेष्ठ! अच्छा अब मैं तुम्हारे निकट जलदानके फलको विधिपूर्वक वर्णन करता हूं, तुम उसे सुनो। हे पापरहित! मैं जलदानसे आरम्भ करके सभी कहता हूं। अन्न और जल दान करके

यदन्नं यच्च पानीयं संप्रदायाश्नुते नरः ॥ ४ ॥
न तस्मात्परमं दानं किंचिदस्तीति मे मनः।
अन्नात्प्राणभृतस्तात प्रवर्तन्ते हि सर्वशः ॥ ५ ॥
तस्मादन्नं परं लोके सर्वलोकेषु कथ्यते।
अन्नाद्बलं च तेजश्च प्राणिनां वर्धते सदा ॥ ६ ॥
अन्नदानमतस्तस्माच्छ्रेष्ठमाह प्रजापतिः।
सावित्र्या ह्यपि कौन्तेय श्रुतं ते वचनं शुभम् ॥ ७ ॥
यतश्च यद्यथा चैव देवसत्रे महामते।
अन्ने दत्ते नरेणेह प्राणा दत्ता भवन्त्युत ॥ ८ ॥
प्राणदानाद्धि परमं न दानमिह विद्यते।
श्रुतं हि ते महाबाहो लोमशस्यापि तद्वचः ॥ ९ ॥
प्राणान्दत्त्वा कपोताय यत्प्राप्तं शिबिना पुरा।
तां गतिं लभते दत्त्वा द्विजस्यान्नं विशाम्पते ॥१०॥
तस्माद्विशिष्टां गच्छन्ति प्राणदा इति नः श्रुतम्।
अन्नं वापि प्रभवति पानीयात्कुरुसत्तम।
नीरजातेन हि विना न किंचित्संप्रवर्तते ॥ ११ ॥

लोग जो फल भोगते हैं, मेरे विचारमें उससे श्रेष्ठ दान और कुछ भी नहीं है। हे तात! अन्नसे समस्त प्राणधारी जीवमात्र वर्त्तमान हैं, इसलिये सब लोकोंमें ही अन्न श्रेष्ठ रूपसे वर्णित हुआ करता है। अन्नसे ही प्राणियोंका बल और तेज सदा वर्धित होता है, इसलिये प्रजापति अन्नदानको ही सबसे श्रेष्ठ कहते हैं। हे कौन्तेय! तुमने सावित्रीका भी पवित्र वचन सुना होगा। (३—७)

हे महाबुद्धिमान्! देवयज्ञमें जिससे जिस प्रकार जो अन्न जिस मनुष्यके द्वारा दिया जाता है, उसहीके सहारे प्राणदान हुआ करता है, इस लोकमें प्राणदानसे श्रेष्ठ दान और कुछ भी नहीं है। हे महाबाहो! तुमने लोमश-का वह पवित्र वचन सुना है, जो कि पहले समयमें राजा शिबिको कपोतके प्राणदान करनेसे गति प्राप्त हुई थी। हे महाबाहो! मैंने सुना है, कि ब्राह्म-णोंको अन्न दान करनेसे जो गति मिलती है, प्राणदाता उससे भी श्रेष्ठ गति पाता है। हे कुरुसत्तम! जलसे अन्न उत्पन्न होता है, जलसे उत्पन्न धान्य आदिके अतिरिक्त कुछ भी

नीरजातश्च भगवान्सोमो ग्रहगणेश्वरः ।
अमृतं च सुधा चैव सुधा चैवामृतं तथा ॥ १२ ॥
अन्नौषध्यो महाराज वीरुधश्च जलोद्भवाः ।
यतः प्राणभृतां प्राणाः संभवन्ति विशाम्पते ॥ १३ ॥
देवानाममृतं ह्यन्नं नागानां च सुधा तथा ।
पितॄणां च स्वधा प्रोक्ता पशूनां चापि वीरुधः ॥ १४ ॥
अन्नमेव मनुष्याणां प्राणानाहुर्मनीषिणः ।
तच्च सर्वं नरव्याघ्र पानीयात्संप्रवर्तते ॥ १५ ॥
तस्मात्पानीयदानाद्धि न परं विद्यते क्वचित् ।
तच्च दद्यान्नरो नित्यं यदीच्छेद्भूतिमात्मनः ॥ १६ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं जलदानमिहोच्यते ।
शत्रूंश्चाप्यधि कौन्तेय सदा तिष्ठति तोयदः ॥ १७ ॥
सर्वकामानवाप्नोति कीर्तिं चैव हि शाश्वतीम् ।
प्रेत्य चानन्त्यमश्नाति पापेभ्यश्च प्रमुच्यते ॥ १८ ॥
तोयदो मनुजव्याघ्र स्वर्गं गत्वा महाद्युते ।
अक्षयान्समवाप्नोति लोकानित्यब्रवीन्मनुः ॥ १९ ॥ [३३५३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे पानीयदानमाहात्म्ये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

वर्त्तमान नहीं रहता; ग्रहोंके प्रभु भगवान् चन्द्रमा जलहीसे उत्पन्न हुए हैं। (८—१२)

हे महाराज! जिसके पीनेसे प्राण-धारण होते, वेही अमृत, सुधा, स्वधा, अन्न, ओषधि और तृण जलसे ही उत्पन्न हुए हैं। हे नरनाथ! पण्डितोंने कहा है, कि जिससे प्राणियोंके प्राण उत्पन्न होते हैं, देवताओंका अन्न, अमृत, नागोंका सुधा, पितरोंका स्वधा, पशुओंका तृण और मनुष्योंका प्राण ही अन्न है। हे नरश्रेष्ठ! ये सभी जलसे प्रवर्त्तित होते हैं, इसलिये जल-दानसे श्रेष्ठ दान और कुछ भी नहीं है। यदि मनुष्य अपने ऐश्वर्यकी कामना करे, तो वह सदा जल दान करे। इस लोकमें जल दान धन्य, यशस्कर और आयुष्यरूपी कहा गया है। हे कुन्तीनन्दन! जलदाता सदा शत्रुओंके ऊर्ध्वमें निवास करता है, वह समस्त काम्य विषय तथा शाश्वती कीर्त्ति प्राप्त करके परलोकमें जाके

युधिष्ठिर उवाच— तिलानां कीदृशं दानमथ दीपस्य चैव हि ।
अन्नानां वाससां चैव भूय एव ब्रवीहि मे ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं यमस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥
मध्यदेशे महान् ग्रामो ब्राह्मणानां बभूव ह ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये यामुनस्य गिरेरधः ॥ ३ ॥
पर्णशालेति विख्यातो रमणीयो नराधिप ।
विद्वांसस्तत्र भूयिष्ठा ब्राह्मणाश्चावसंस्तथा ॥ ४ ॥
अथ प्राह यमः कंचित्पुरुषं कृष्णवाससम् ।
रक्ताक्षमूर्ध्वरोमाणं काकजङ्घाक्षिनासिकम् ॥ ५ ॥
गच्छ त्वं ब्राह्मणग्रामं ततो गत्वा तमानय ।
अगस्त्यं गोत्रतश्चापि नामतश्चापि शर्मिणम् ॥ ६ ॥
शमे निविष्टं विद्वांसमध्यापकमनावृतम् ।
मा चान्यमानयेथास्त्वं सगोत्रं तस्य पार्श्वतः ॥ ७ ॥
स हि तादृग्गुणस्तेन तुल्योऽध्ययनजन्मना ।

अनन्त फल भोग करता तथा सब पापोंसे मुक्त होता है। हे महातेजस्वी पुरुषश्रेष्ठ! मनुने कहा है, कि जल-दाता स्वर्गमें जाके अक्षय लोकोंको पाता है। (१२—१९)

अनुशासनपर्वमें ६७ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ६८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! तिल दान और दीप दान कैसे दान हैं? अन्न और वस्त्र दान किस प्रकार करना होता है? आप फिर मेरे निकट इसे वर्णन करिये। (१)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! प्राचीन लोग इस विषयमें ब्राह्मण और यमके संवादयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं। हे नरनाथ! मध्यदेशमें गङ्गा-यमुनाके बीच यामुन पर्वतकी तराईमें पर्णशाला नामसे विख्यात विद्वान ब्राह्मणोंका अत्यन्त रमणीय एक बडासा गांव था। अनन्तर यमने काला वस्त्र पहरनेवाले, लालनेत्र, ऊर्ध्वरोम, कौवेकी भांति जङ्घा, नेत्र और नासिकायुक्त किसी पुरुषसे कहा, कि तुम ब्राह्मणोंके गांवमें जाके वहांसे अगस्त्यगोत्री शर्मि नाम ब्राह्मणको लाओ। (२-६)

वह हमारे अनावृत, विद्वान्, अध्यापक और शममें आविष्ट हुआ है, पासमेंसे दूसरे किसी उनके सगोत्री ब्राह्मणको न

अपत्येषु तथा वृत्ते समस्तेनैव धीमता ॥ ८ ॥
तमानय यथोद्दिष्टं पूजा कार्या हि तस्य वै।
स गत्वा प्रतिकूलं तच्चकार यमशासनम् ॥ ९ ॥
तमाक्रम्यानयामास प्रतिषिद्धो यमेन यः।
तस्मै यमः समुत्थाय पूजां कृत्वा च वीर्यवान् ॥ १० ॥
प्रोवाच नीयतामेष सोऽन्य आनीयतामिति।
एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन स द्विजः ॥ ११ ॥
उवाच धर्मराजानं निर्विण्णोऽध्ययनेन वै।
यो मे कालो भवेच्छेषस्तं वसेयमिहाच्युत ॥ १२ ॥
यम उवाच- नाहं कालस्य विहितं प्राप्नोमीह कथंचन।
यो हि धर्मं चरति वै तं तु जानामि केवलम् ॥ १३ ॥
गच्छ विप्र त्वमद्यैव आलयं स्वं महाद्युते।
ब्रूहि सर्वं यथास्वैरं करवाणि किमच्युत ॥ १४ ॥
ब्राह्मण उवाच- यत्तत्र कृत्वा सुमहत्पुण्यं स्यात्तद्ब्रवीहि मे।
सर्वस्य हि प्रमाणं त्वं त्रैलोक्यस्यापि सत्तम ॥ १५ ॥
यम उवाच— शृणु तत्त्वेन विप्रर्षे प्रदानविधिमुत्तमम्।

लाना। वह गुणोंमें हमारे अध्यापकके तुल्य हैं, उनके पुत्र भी उन्हींके सदृश हैं। इसलिये मैंने जैसा कहा, उस ही भांति उन्हें लाओ, उनकी पूजा करनी होगी। उस पुरुषने वहां जाके यमकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य किया, उन्होंने जिसे लानेका निषेध किया था, उसे ही आक्रमण करके ले आया। वीर्यवान् यम उठकर उनका सत्कार करके बोले, इन्हें ले जाओ और दूसरे पुरुषको लाओ। धर्मराजका वचन सुनके वह ब्राह्मण उनसे बोला, मैं पढनेसे निर्विण्ण हुआ हूं, मेरा जितना समय शेष है, उतने ही समय तक इस यमलोकमें निवास करूंगा। (७-१२)

यम बोले, मैं कालके द्वारा विहित परमायुका प्रमाण नहीं जानता, जो लोग धर्माचरण करते हैं, केवल उन्हें ही जानता हूं। हे महातेजस्वी विप्र! इसलिये तुम आज ही अपने स्थानपर जाओ। और कहो, मैं क्या करूं? १३-१४

ब्राह्मण बोला जिस कार्यके करनेसे भूलोकमें उत्तम महत् पुण्य होता है, मुझे वही उपदेश करो। हे सत्तम! तुम ही तीनों लोकोंके धर्माधर्म विषय में प्रमाण हो। (१५)

तिलाः परमकं दानं पुण्यं चैवेह शाश्वतम् ॥ १६ ॥
तिलाश्च संप्रदातव्या यथाशक्ति द्विजर्षभ ।
नित्यदानात्सर्वकामांस्तिला निर्वर्तयन्त्युत ॥ १७ ॥
तिलान् श्राद्धे प्रशंसन्ति दानमेतद्ध्यनुत्तमम् ।
तान्प्रयच्छस्व विप्रेभ्यो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥
वैशाख्यां पौर्णमास्यां तु तिलान्दद्याद् द्विजातिषु ।
तिला भक्षयितव्याश्च सदा त्वालम्भनं च तैः॥ १९ ॥
कार्यं सततमिच्छद्भिः श्रेयः सर्वात्मना गृहे ।
तथाऽऽपः सर्वदा देयाः पेयाश्चैव न संशयः ॥ २० ॥
पुष्करिण्यस्तडागानि कूपांश्चैवात्र खानयेत् ।
एतत्सुदुर्लभतरमिह लोके द्विजोत्तम ॥ २१ ॥
आपो नित्यं प्रदेयास्ते पुण्यं ह्येतदनुत्तमम् ।
प्रपाश्च कार्या दानार्थं नित्यं ते द्विजसत्तम ।
भुक्तेऽप्यन्नं प्रदेयं तु पानीयं वै विशेषतः ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच— इत्युक्ते स तदा तेन यमदूतेन वै गृहान् ।

यम बोले, हे विप्रर्षि ! श्रेष्ठ दानकी विधि सुनो, इस लोकमें तिलदान परम पवित्र और नित्य फल देनेवाला है । हे द्विजवर ! जो लोग सब भांतिसे अपने गृहमें कल्याणकी इच्छा करते हैं, उन सबको ही शक्तिके अनुसार तिल दान करना योग्य है,सदा दान करनेसे तिल दान समस्त कामना पूरी करता है, पण्डित लोग श्राद्धमें तिल दानकी प्रशंसा किया करते हैं, इसीसे यह दान सबसे उत्तम हैं; इसलिये विधिविहित कर्मके सहारे ब्राह्मणोंको तिल दान करो । (१६–१८)

वैशाखी पौर्णमासीको द्विजातियोंको तिल दान करें, तिलभोजन करावे और जो लोग सब भांतिसे अपने गृहमें कल्याणकी इच्छा करते हैं, उन्हें उचित है कि तिलसे सदा उद्वर्त्तन करें, तिल दानकी भांति सदा जल देना और निःसन्देह जल पीना चाहिये । हे द्विजोत्तम ! पृथ्वीपर तालाब, तलायी और कूआं प्रभृति खुदवाने; इस लोकमें ये सब कार्य अत्यन्त ही दुर्लभ हैं । तुम सदा जलदान करना, यही सबसे उत्तम पुण्य है । हे द्विजसत्तम ! तुम सदा जलदानके निमित्त जलशाला बनाना, अन्न भोजन करनेपर भी विशेष रीतिसे जल देना योग्य है । (१९–२२)

नीतश्च कारयामास सर्वं तद्यमशासनम् ॥ २३ ॥
नीत्वा तं यमदूतोऽपि गृहीत्वा शर्मिणं तदा ।
ययौ स धर्मराजाय न्यवेदयत चापि तम् ॥ २४ ॥
तं धर्मराजो धर्मज्ञं पूजयित्वा प्रतापवान् ।
कृत्वा च संविदं तेन विससर्ज यथागतम् ॥ २५ ॥
तस्यापि च यमः सर्वमुपदेशं चकार ह ।
प्रेत्यैत्य च ततः सर्वं चकारोक्तं यमेन तत् ॥ २६ ॥
तथा प्रशंसते दीपान्यमः पितृहितेप्सया ।
तस्माद्दीपप्रदो नित्यं संतारयति वै पितॄन् ॥ २७ ॥
दातव्याः सततं दीपास्तस्माद्भरतसत्तम ।
देवतानां पितॄणां च चक्षुष्यं चात्मनां विभो ॥ २८ ॥
रत्नदानं च सुमहत्पुण्यमुक्तं जनाधिप ।
यस्तान्विक्रीय यजते ब्राह्मणो ह्यभयंकरम् ॥ २९ ॥
यद्वै ददाति विप्रेभ्यो ब्राह्मणः प्रतिगृह्य वै ।
उभयोः स्यात्तदक्षय्यं दातुरादातुरेव च ॥ ३० ॥

भीष्म बोले, उस समय जब उस ब्राह्मणने यमका यह सब वचन सुनलिया तब यमदूतने उसे उसके गृहमें पहुंचाया; फिर जिस प्रकार यमने उसे उपदेश किया था, उसहीके अनुसार उसने सब कार्य किया। अनन्तर यमदूत उस शर्मिको लेकर यमके स्थानपर गया और धर्मराजके समीप उसका वृत्तान्त सुनाया। प्रतापवान् धर्मराजने उस धर्मज्ञ ब्राह्मणकी पूजा की और उसके सङ्ग वार्त्तालाप करके वह जहांसे आया था, उसे वहां जानेके लिये बिदा किया। यमने उन्हें जैसा उपदेश किया था, उसने यमलोकसे लौटकर धर्मराजके कहे हुए सब कार्योंको किया। यमराज पितृलोककी हितकामनासे दीपदानकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये सदा दीप दान करनेवाला मनुष्य पितरोंका उद्धार किया करता है। (२३-२७)

हे विभु भरतसत्तम! इसलिये सदा दीप दान करना योग्य है, क्यों कि दीपक देवताओं और पितरोंके नेत्रके लिये हितकर कहा गया है। हे प्रजानाथ! रत्न दान करनेसे उत्तम महत् पुण्य होता है, ऐसा कहा गया है, कि जो ब्राह्मण रत्न बेचके यज्ञ करता है, उसे कुछ भय नहीं होता। जो ब्राह्मण रत्न दान करता और जो उसे लेता

यो ददाति स्थितः स्थित्यां तादृशाय प्रतिग्रहम् ।
उभयोरक्षयं धर्मं तं मनुः प्राह धर्मवित् ॥ ३१ ॥
वाससां संप्रदानेन स्वदारनिरतो नरः ।
सुवस्त्रश्च सुवेषश्च भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ३२ ॥
गावः सुवर्णं च तथा तिलाश्चैवानुवर्णिताः ।
बहुशः पुरुषव्याघ्र वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥ ३३ ॥
विवाहांश्चैव कुर्वीत पुत्रानुत्पादयेत च ।
पुत्रलाभो हि कौरव्य सर्वलाभाद्विशिष्यते ॥ ३४ ॥ [३३८७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे यमब्राह्मणसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर उवाच– भूय एव कुरुश्रेष्ठ दानानां विधिमुत्तमम् ।
कथयस्व महाप्राज्ञ भूमिदानं विशेषतः ॥ १ ॥
पृथिवीं क्षत्रियो दद्याद्ब्राह्मणायेष्टिकर्मिणे ।
विधिवत्प्रतिगृह्णीयान्न त्वन्यो दातुमर्हति ॥ २ ॥
सर्ववर्णैस्तु यच्छक्यं प्रदातुं फलकाङ्क्षिभिः ।
वेदे वा यत्समाख्यातं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

है, वह दाता तथा ग्रहीता दोनोंके लिये अक्षय फलजनक हुआ करता है। धर्मज्ञ मनुने कहा है, कि जो लोग मर्यादासे स्थित होके ब्राह्मणोंको रत्नदान देते तथा लेते हैं; उन दोनोंको ही अक्षय धर्म होता है। (२८—३१)

मैंने ऐसा सुना है, कि निज स्त्रीमें रत रहनेवाले मनुष्य वस्त्र दान करनेसे सुन्दर तथा रूपवान् होते हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! वेदप्रमाणके अनुसार गऊ, सुवर्ण और तिल दानका विषय कई बार कहा गया। मनुष्योंको विवाह करना, तथा विवाह करके अवश्य पुत्र उत्पन्न करना योग्य है। हे कौरव! सब लाभोंके बीच पुत्रलाभ ही सबसे श्रेष्ठ है। (३२-३४)

अनुशासनपर्वमें ६८ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ६९ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे महाप्राज्ञ कुरुश्रेष्ठ! आप फिर समस्त दानोंकी श्रेष्ठ विधि विशेष करके भूमिदानका विषय कहिये। क्षत्रिय यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणको भूमिदान करे, ब्राह्मण भी उसे विधिपूर्वक ले, क्षत्रियके अतिरिक्त दूसरे पुरुष भूमिदान करनेमें समर्थ नहीं हैं। सब वर्ण ही फलकी कामना

भीष्म उवाच-तुल्यनामानि देयानि त्रीणि तुल्यफलानि च।
सर्वकामफलानीह गावः पृथ्वी सरस्वती ॥ ४ ॥
यो ब्रूयाचापि शिष्याय धर्म्यां ब्राह्मीं सरस्वतीम्।
पृथिवीगोप्रदानाभ्यां तुल्यं स फलमश्नुते ॥ ५ ॥
तथैव गाः प्रशंसन्ति न तु देयं ततः परम्।
सन्निकृष्टफलास्ता हि लघ्वर्थाश्च युधिष्ठिर ॥ ६ ॥
मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः।
वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः॥७॥
संताड्या न तु पादेन गवां मध्ये न च व्रजेत्।
मङ्गलायतनं देव्यस्तस्मात्पूज्याः सदैव हि ॥ ८ ॥
प्रचोदनं देवकृतं गवां कर्मसु वर्त्तताम्।
पूर्वमेवाक्षरं चान्यदभिधेयं ततः परम् ॥ ९ ॥
प्रचारे वा निवाते वा बुधो नोद्वेजयेत गाः।
तृषिता ह्यभिवीक्षन्त्यो नरं हन्युः सबान्धवम् ॥१०॥

करके जो वस्तु दे सकें और वेदमें जो पूरी रीतिसे वर्णित हो, आपको मेरे निकट उसहीकी व्याख्या करनी उचित है। (१—३)

भीष्म बोले, तुल्य नाम अर्थात् गोपदवाच्य गऊ, भूमि और वाणी हैं, इन तीनोंको ही दान करना उचित है, इन तीनोंके दानका फल समान ही है और इस लोकमें इनके सहारे सब प्रयोजन तथा फल प्राप्त होते हैं। जो लोग शिष्यसे धर्मयुक्त वचन कहते हैं, वे भूमि और गोदानके तुल्य फल पाते हैं। इसही प्रकार सब कोई गोदानकी प्रशंसा किया करते हैं, गोदानसे श्रेष्ठदान और कुछ भी नहीं है। हे युधिष्ठिर! गौओंका फल अत्यन्त ही सन्निकृष्ट अर्थात् अल्प धनसे ही वह सिद्ध हुआ करता है। सबको सुख देनेवाली गौवें सब प्राणियोंकी माता हैं, जो लोग वृद्धिकी कामना करें, उन्हें प्रतिदिन गौवोंकी प्रदक्षिणा करनी योग्य है। गौवोंको पैरसे न मारे, गौवोंके बीचमें न जावे, मङ्गलकी स्थान देवी स्वरूप गौवें सदा पूजनीय हैं। (४—८)

यज्ञके लिये अथवा खेतीके निमित्त कार्यमें नियुक्त बलवान बैलके ऊपर देवकृत कोडेसे प्रहार करनेसे दोष नहीं होता, और यज्ञके लिये ताडना करना ही कल्याणकारी है, केवल

पितृसद्मानि सततं देवतायतनानि च।
पूयन्ते शकृता यासां पूतं किमधिकं ततः ॥ ११ ॥
घासमुष्टिं परगवे दद्यात्संवत्सरं तु यः।
अकृत्वा स्वयमाहारं व्रतं तत्सार्वकामिकम् ॥ १२ ॥
स हि पुत्रान्यशोऽर्थं च श्रियं चाप्यधिगच्छति।
नाशयत्यशुभं चैव दुःस्वप्नं चाप्यपोहति ॥ १३ ॥
युधिष्ठिर उवाच–देयाः किंलक्षणा गावः काश्चापि परिवर्जयेत्।
कीदृशाय प्रदातव्या न देयाः कीदृशाय च ॥ १४ ॥
भीष्म उवाच–असद्वृत्ताय पापाय लुब्धायानृतवादिने।
हव्यकव्यव्यपेताय न देया गौः कथंचन ॥ १५ ॥
भिक्षवे बहुपुत्राय श्रोत्रियायाहिताग्नये।
दत्त्वा दशगवां दाता लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ १६ ॥
यश्चैव धर्मं कुरुते तस्य धर्मफलं च यत्।
सर्वस्यैवांशभाग्दाता तन्निमित्तं प्रवृत्तयः ॥ १७ ॥
यश्चैनमुत्पादयते यश्चैनं त्रायते भयात्।

खेतीके ही लिये प्रहार करना निन्दनीय तथा दूषित है। पण्डित पुरुष चरने और बैठनेके समय गौवोंको उद्वेगयुक्त न करें, गौवें प्यासी होकर देखनेसे मनुष्यको बान्धवोंके सहित नष्ट करती हैं। जिन लोगोंका पितृ और देवस्थान गोमयसे सदा पवित्र हुआ करता है, उससे अधिक पवित्र और कौन है? जो लोग स्वयं तक्र आदि न लेके भी वर्षभर गौवोंको घास देते हैं, उन्हें उस व्रतसे सर्वकाम फल प्राप्त होता है। वे पुत्र, यश, धन तथा श्रीसम्पन्न होते, उनके पाप नष्ट होते और दुःस्वप्न विनष्ट होजाते हैं। (९—१३)

युधिष्ठिर बोले, कैसे लक्षणोंसे युक्त गौवोंको दान करना योग्य है, और कैसी न देनी चाहिये? कैसे पुरुषको दान देना योग्य है और कैसे मनुष्यको दान न देना चाहिये? (१४)

भीष्म बोले, असद्वृत्तिवाले पापाचारी, लोभी, झूठ बोलनेवाले और हव्य-कव्यसे रहित पुरुषोंको किसी प्रकार गोदान करना उचित नहीं है; भिक्षुक, बहुपुत्र, श्रोत्रिय और आहिताग्नि ब्राह्मणोंको दश गऊ दान करनेसे दाता सबसे श्रेष्ठ लोकोंको पाता है; दान लेनेवाला जो कुछ धर्माचरण करता है, और उसके धर्मका जो कुछ फल रहता

यश्चास्य कुरुते वृत्तिं सर्वे ते पितरस्त्रयः ॥ १८ ॥
कल्मषं गुरुशुश्रूषा हन्ति मानो महद्यशः ।
अपुत्रतां त्रयः पुत्रा अवृत्तिं दश धेनवः ॥ १९ ॥
वेदान्तनिष्ठस्य बहुश्रुतस्य प्रज्ञानतृप्तस्य जितेन्द्रियस्य ।
शिष्टस्य दान्तस्य यतस्य चैव भूतेषु नित्यं प्रियवादिनश्च ॥२०॥
यः क्षुद्भयाद्वै न विकर्म कुर्यान्मृदुश्च शान्तो ह्यतिथिप्रियश्च ।
वृत्तिं द्विजायातिसृजेत तस्मै यस्तुल्यशीलश्च सपुत्रदारः॥२१॥
शुभे पात्रे ये गुणा गोप्रदाने तावान्दोषो ब्राह्मणस्वापहारे ।
सर्वावस्थं ब्राह्मणस्वापहारो दाराश्चैषां दूरतो वर्जनीयाः ॥२२॥ [३४०९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे गोदानमाहात्म्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

भीष्म उवाच–अत्रैव कीर्त्यते सद्भिर्ब्राह्मणस्वाभिमर्शने ।
नृगेण सुमहत्कृच्छ्रं यदवाप्तं कुरूद्वह ॥ १ ॥
निविशन्त्यां पुरा पार्थ द्वारवत्यामिति श्रुतिः ।

है, दाता उन सबमें अंशभागी होता है; इसीसे उसके निमित्त प्रवृत्ति होती है। जो इन्हें उत्पन्न करते, जो भयसे परित्राण करते तथा जो लोग इन्हें जीविका दान करते हैं, वे तीनों ही इनके पिता हैं। (१५--१८)

गुरुकी सेवा करनेसे पाप दूर होता है, अभिमान बडे यशको भी नष्ट कर देता है, तीन पुत्र जन्मनेसे अपुत्रता नहीं रहती और दश गऊ वृत्तिहीनताको नष्ट करती हैं। वेदान्तनिष्ठ, बहुश्रुत, ज्ञानतृप्त, जितेन्द्रिय, शिष्ट, दान्त, संयत और जो लोग सब जीवोंके विषयमें सदा प्रिय वचन कहा करते हैं, जो ब्राह्मण भूखा होनेपर भी विरुद्ध कर्म नहीं करता, जो मृदु, शान्त, अतिथिप्रिय, तुल्यशील और स्त्री पुत्र आदिसे युक्त हो, उस ब्राह्मणको वृत्ति देनी चाहिये। सत्पात्रको गोदान करनेसे जितना धर्म होता है, ब्राह्मणस्व हरनेसे उतने ही परिमाणसे अधर्म हुआ करता है। ब्राह्मणस्वका हरना सारी बुराइयोंका हेतु है, और ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंको दूरसे ही त्यागना योग्य है। (१९—२२)

अनुशासनपर्वमें ६९ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ७० अध्याय।

भीष्म बोले, हे कुरुवंशधुरन्धर! ब्राह्मणस्व हरनेके विषयमें राजा नृगने जैसा महत् क्लेश पाया था, साधु लोग उसे ही वर्णन किया करते हैं। हे पार्थ!

अदृश्यत महाकूपस्तृणवीरुत्समावृतः ॥ २ ॥
प्रयत्नं तत्र कुर्वाणास्तस्मात्कूपाज्जलार्थिनः।
श्रमेण महता युक्तास्तस्मिंस्तोये सुसंवृते ॥ ३ ॥
ददृशुस्ते महाकायं कृकलासमवस्थितम्।
तस्य चोद्धरणे यत्नमकुर्वंस्ते सहस्रशः ॥ ४ ॥
प्रग्रहैश्चर्मपट्टैश्च तं बद्ध्वा पर्वतोपमम्।
नाशक्नुवन् समुद्धर्तुं ततो जग्मुर्जनार्दनम् ॥ ५ ॥
खमावृत्योदपानस्य कृकलासः स्थितो महान्।
तस्य नास्ति समुद्धर्तेत्येतत्कृष्णे न्यवेदयन् ॥ ६ ॥
स वासुदेवेन समुद्धृतश्च पृष्टश्च कार्यं निजगाद राजा।
नृगस्तदात्मानमथो न्यवेदयत् पुरातनं यज्ञसहस्रयाजिनम् ॥ ७ ॥
तथा ब्रुवाणं तु तमाह माधवः शुभं त्वया कर्म कृतं न पापकम्।
कथं भवान्दुर्गतिमीदृशीं गतो नरेन्द्र तद् ब्रूहि किमेतदीदृशम् ॥८ ॥
शतं सहस्राणि गवां शतं पुनः पुनः शतान्यष्टशतायुतानि।
त्वया पुरा दत्तमितीह शुश्रुम नृप द्विजेभ्यः क्व नु तद्गतं तव ॥९ ॥

मैंने सुना है, कि पहले द्वारकापुरीमें प्रवेश करनेके समय जल पीनेके अभिलाषी मनुष्योंने तृण लतासे परिपूरित एक महाकूप देखा था। वे लोग उस कूएंसे जल पीनेके निमित्त बहुत प्रयत्न करने लगे, परन्तु उस कूपका जल अत्यन्त ही ढका रहनेसे वे सब बहुत थक गये थे। अनन्तर उन लोगोंने उस कूएंके बीचमें स्थित एक बडा शरीरवाला गिरगिट देखा, उन्होंने गिरगिटको निकालनेके लिये सहस्रों बार यत्न किया; रस्सी, चमडे और वस्त्रोंसे उस पर्वत सदृश गिरगिटको बांधके भी उसे निकाल न सके, तब वे सब कोई कृष्णके समीप गये। (१-५)

उन लोगोंने कृष्णसे कहा, कि एक बहुत बडा गिरगिट कूएंका आकाशभाग रोकके स्थित है, ऐसा कोई नहीं है, जो उसे ऊपर उठावे। उस गिरगिट रूपी राजा नृगने श्रीकृष्णके द्वारा कूएंसे निकाले जाने तथा पूछनेपर अपना कार्य कहा और पहले समयमें जो सहस्र यज्ञ किया था, वह भी कह सुनाया। जब उन्होंने ऐसा वचन कहा, तब श्रीकृष्णचन्द्र उनसे बोले, आपने पापकर्म नहीं किया, शुभकार्य ही किया है। नरेन्द्र! तब आप किस प्रकार ऐसी दुर्गतिमें पडे थे? तुम्हारा

नृगस्ततोऽब्रवीत्कृष्णं ब्राह्मणस्याग्निहोत्रिणः ।
प्रोषितस्य परिभ्रष्टा गौरेका मम गोधने ॥ १० ॥
गवां सहस्रे संख्याता तदा सा पशुपैर्मम ।
सा ब्राह्मणाय मे दत्ता प्रेत्यार्थमभिकाङ्क्षता ॥ ११ ॥
अपश्यत्परिमार्गंश्च तां गां परगृहे द्विजः ।
ममेयमिति चोवाच ब्राह्मणो यस्य साऽभवत् ॥ १२ ॥
तावुभौ समनुप्राप्तौ विवदन्तौ भृशज्वरौ ।
भवान्दाता भवान्हर्तेत्यथ तौ मामवोचताम् ॥ १३ ॥
शतेन शतसंख्येन गवां विनिमयेन वै ।
याचे प्रतिग्रहीतारं स तु मामब्रवीदिदम् ॥ १४ ॥
देशकालोपसम्पन्ना दोग्ध्री शान्ताऽतिवत्सला ।
स्वादुक्षीरप्रदा धन्या मम नित्यं निवेशने ॥ १५ ॥
कृशं च भरते सा गौर्मम पुत्रमपस्तनम् ।
न सा शक्या मया दातुमित्युक्त्वा स जगाम ह ॥ १६ ॥
ततस्तमपरं विप्रं याचे विनिमयेन वै ।

ऐसा रूप क्यों हुआ, उसे वर्णन करो। मैंने सुना है, कि पहले समयमें आपने ब्राह्मणोंको बार बार सौ सहस्र एक, एक सौ आठ, सौ और दश सहस्र गो दान किया था। हे महाराज! आपके वे समस्त फल कहां गये ? (६-९)

अनन्तर राजा नृग कृष्णसे बोले, प्रोषित अग्निहोत्री ब्राह्मणकी एक गऊ भूलसे हमारे गोसमूहमें आ घुसी थी, हमारे पशुपालकोंने उस गऊको भी मेरी सहस्र गौवोंके बीच गिना था। मैंने परलोकके फलकी आकांक्षासे ब्राह्मण को वह गऊ दान की थी। अग्निहोत्री ब्राह्मणने उस गऊको खोजते हुए उसे दूसरे ब्राह्मणके निकट देखा। वह गऊ पहले जिसकी थी, उसने कहा, कि यह गऊ मेरी है। वे दोनों ही झगडते हुए क्रुद्ध होके मेरे समीप आये और दोनों मुझसे बोले, कि " आप ही दाता तथा आप ही हर्ता हैं। " (१०-१३)

मैंने एक सौ गऊके पलटेमें प्रतिग्रहीतासे पहलेकी दान की हुई गऊ मांगी, उसने मुझसे कहा, देशके अनुसार दूध देनेवाली, क्षमाशालिनी, अत्यन्त वत्सला, स्वादिष्ट दूध देनेमें धन्य गऊ प्रतिदिन मेरे स्थानमें दूध देती हुई स्तनहीन मेरे कृश पुत्रोंको प्रतिपालन करती है, इसलिये मैं उसे न दे सकूंगा।

गवां शतसहस्रं हि तत्कृते गृह्यतामिति ॥ १७ ॥
ब्राह्मण उवाच-न राज्ञां प्रतिगृह्णामि शक्तोऽहं स्वस्य मार्गणे ।
सैव गौर्दीयतां शीघ्रं ममेति मधुसूदन ॥ १८ ॥
रुक्ममश्वांश्च ददतो रजतस्यन्दनांस्तथा
न जग्राह ययौ चापि तदा स ब्राह्मणर्षभः ॥ १९ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु चोदितः कालधर्मणा ।
पितृलोकमहं प्राप्य धर्मराजमुपागमम् ॥ २० ॥
यमस्तु पूजयित्वा मां ततो वचनमब्रवीत् ।
नान्तः संख्यायते राजंस्तव पुण्यस्य कर्मणः ॥ २१ ॥
अस्ति चैव कृतं पापमज्ञानात्तदपि त्वया ।
चरस्व पापं पश्चाद्वा पूर्वं वा त्वं यथेच्छसि ॥ २२ ॥
रक्षिताऽस्मीति चोक्तं ते प्रतिज्ञा चानृता तव ।
ब्राह्मणस्वस्य चादानं द्विविधस्ते व्यतिक्रमः ॥ २३ ॥
पूर्वं कृच्छ्रं चरिष्येऽहं पश्चाच्छुभमिति प्रभो ।
धर्मराजं ब्रुवन्नेवं पतितोऽस्मि महीतले ॥ २४ ॥
अश्रौषं पतितश्चाहं यमस्योच्चैः प्रभाषतः ।

ऐसा कहके वह चला गया, तब मैंने दूसरे ब्राह्मणको उस गऊके पलटेमें सहस्र गऊ लेनेको कहा। हे मधुसूदन! तब वह ब्राह्मण बोला, जब मैं स्वयं खोजनेमें समर्थ हूं, तब राजाओंका प्रतिग्रह न करूंगा, इसलिये मुझे वही गऊ दो। (१४—१८)

मैंने उसे घोडेयुक्त सोने चांदीसे खचित रथ देनेको अङ्गीकार किया; तौभी उसने उसे नहीं लिया, बल्कि वह ब्राह्मण क्रोधित होकर चला गया। इतने ही समयमें मैं कालसे प्रेरित होकर पितृलोकमें जाके धर्मराजके समीप उपस्थित हुआ। यमने मेरा सम्मान करके शेषमें यह कहा। हे महाराज! तुम्हारे पुण्यकर्मके शेषकी संख्या नहीं की जाती, परन्तु तुमने भूलसे एक पापकर्म किया है, आगे उस पापका फल भोगोगे, वा पीछे भोगोगे? जो इच्छा हो, वह कहो। "मैं रक्षा करनेवाला हूं" यह तुम्हारी प्रतिज्ञा ब्राह्मणकी गऊ खोई जानेसे मिथ्या हुई है और ब्राह्मणस्व ग्रहण करनेसे तुम्हें दो प्रकारका पाप हुआ है। (१९—२३)

हे प्रभु! मैंने धर्मराजसे कहा, कि

वासुदेवः समुद्धर्ता भविता ते जनार्दनः ॥ २५ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रान्ते क्षीणे कर्मणि दुष्कृते ।
प्राप्स्यसे शाश्वतान् लोकान् जितान्स्वेनैव कर्मणा ॥२६॥
कूपेऽऽत्मानमधःशीर्षमपश्यं पतितञ्च ह ।
तिर्यग्योनिमनुप्राप्तं न च मामजहात्स्मृतिः ॥ २७ ॥
त्वया तु तारितोऽस्म्यद्य किमन्यत्र तपोबलात् ।
अनुजानीहि मां कृष्ण गच्छेयं दिवमद्य वै ॥ २८ ॥
अनुज्ञातः स कृष्णेन नमस्कृत्य जनार्दनम् ।
दिव्यमास्थाय पन्थानं ययौ दिवमरिन्दमः ॥ २९ ॥
ततस्तस्मिन्दिवं याते नृगे भरतसत्तम ।
वासुदेव इमं श्लोकं जगाद कुरुनन्दन ॥ ३० ॥
ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं पुरुषेण विजानता ।
ब्राह्मणस्वं हृतं हन्ति नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥ ३१ ॥
सतां समागमः सद्भिर्नाफलः पार्थ विद्यते ।
विमुक्तं नरकात्पश्य नृगं साधुसमागमात् ॥ ३२ ॥

मैं पहले पापका फल भोगके तब पुण्य का फल भोगूंगा। ऐसा कहते ही मैं पृथ्वीपर गिरा और गिरते हुए ऊंचे स्वरसे कहा हुआ धर्मराजका यह वचन सुना, कि जनार्दन कृष्ण तुम्हारा उद्धार करेंगे, सहस्र वर्ष पूरा होनेपर तुम्हारा पाप कर्म नष्ट होगा, तब तुम निज कर्मके सहारे विजित शाश्वत लोकोंको पाओगे। मैंने नीचे शिर करके अपनेको कूएंके बीच पडा हुआ देखा, तिर्यग्योनिको प्राप्त होनेपर भी स्मृतिने मुझे परित्याग नहीं किया। हे कृष्ण! आज तुम्हारे द्वारा मेरा उद्धार हुआ; तपोबलके अतिरिक्त दूसरेके सहारे ऐसी घटना नहीं हो सकती; इसलिये आज्ञा दो, अब मैं स्वर्गको जाऊं। (२४—२८)

हे शत्रुनाशन! अनन्तर राजा नृग गिरगिट रूपको त्यागके श्रीकृष्णसे बिदा हो, उन्हें प्रणाम कर, दिव्य विमानपर चढके सुरलोकको गये। हे भरतसत्तम कुरुनन्दन! अनन्तर राजा नृगके स्वर्गमें जानेपर श्रीकृष्णने यह वक्ष्यमाण वचन कहा, कि जानके ब्राह्मणस्व हरना योग्य नहीं है, जैसे ब्राह्मणकी गऊने राजा नृगको विनष्ट किया था, उसी भांति ब्राह्मणस्व सत्यको विनष्ट किया करता है। हे

प्रदानं फलवत्तत्र द्रोहस्तत्र तथाफलः ।
अपचारं गवां तस्माद्वर्जयेत युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥ [३४४२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे नृगोपाख्याने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर उवाच-दत्तानां फलसम्प्राप्तिं गवां प्रब्रूहि मेऽनघ ।
विस्तरेण महाबाहो न हि तृप्यामि कथ्यताम् ॥ १ ॥

भीष्म उवाच-अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऋषेरुद्दालकेर्वाक्यं नाचिकेतस्य चोभयोः ॥ २ ॥
ऋषिरुद्दालकिर्दीक्षामुपगम्य ततः सुतम् ।
त्वं मामुपचरस्वेति नाचिकेतमभाषत ॥ ३ ॥
समाप्ते नियमे तस्मिन्महर्षिः पुत्रमब्रवीत् ।
उपस्पर्शनसक्तस्य स्वाध्यायाभिरतस्य च ॥ ४ ॥
इध्मा दर्भाः सुमनसः कलशश्चातिभोजनम् ।
विस्मृतं मे तदादाय नदीतीरादिहाव्रज ॥ ५ ॥
गत्वाऽनवाप्य तत्सर्वं नदीवेगसमाप्लुतम् ।
न पश्यामि तदित्येवं पितरं सोऽब्रवीन्मुनिः ॥ ६ ॥

पार्थ ! साधुओंका समागम कभी निष्फल नहीं होता; नृग राजा साधु-समागमसेही मुक्त हुआ यह देखो । साधुओंके विषय दान फलकारी और द्रोह निष्फल होता है । हे युधिष्ठिर ! गौवोंके विषयमें बुरा आचरण न करना । (२९-३३)

अनुशासनपर्वमें ७० अध्याय समाप्त ।

अनुशासनपर्वमें ७१ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पापरहित महाबाहो ! गोदान करनेवालोंकी फलप्राप्तिको विस्तारपूर्वक कहिये, मैं जितना ही सुनता हूं, किसीसे भी तृप्त नहीं होता हूं, इसलिये इसे ही यथार्थ वर्णन करिये । (१)

भीष्म बोले, प्राचीन लोग इस विषयमें उद्दालकि ऋषि और नाचिकेतके संवादयुक्त पुरातन इतिहास कहा करते हैं, बुद्धिमान् उद्दालकि ऋषिने दीक्षा स्वीकार करके निज पुत्र नाचिकेतके निकट जाके कहा, कि तुम मेरी टहल करो । उस नियमके समाप्त होनेपर महर्षिने पुत्रसे कहा, कि मैंने स्नान करके वेदपाठ करते हुए नदीके तीरपर समिध्, कुश, पुष्प, जलकलश और भोजनकी सामग्री भूल आया हूं,

क्षुत्पिपासाश्रमाविष्टो मुनिरुद्दालकिस्तदा ।
यमं पश्येति तं पुत्रमशपत्स महातपाः ॥ ७ ॥
तथा स पित्राऽभिहतो वाग्वज्रेण कृताञ्जलिः ।
प्रसीदेति ब्रुवन्नेव गतसत्त्वोऽपतद्भुवि ॥ ८ ॥
नाचिकेतं पिता दृष्ट्वा पतितं दुःखमूर्च्छितः ।
किं मया कृतमित्युक्त्वा निपपात महीतले ॥ ९ ॥
तस्य दुःखपरीतस्य स्वं पुत्रमनुशोचतः ।
व्यतीतं तदहःशेषं सा चोग्रा तत्र शर्वरी ॥ १० ॥
पित्र्येणाश्रुप्रपातेन नाचिकेतः कुरूद्वह ।
प्रास्यन्दच्छयने कौश्ये वृष्ट्या सस्यमिवाप्लुतम् ॥ ११ ॥
स पर्यपृच्छत्तं पुत्रं क्षीणं पर्यागतं पुनः ।
दिव्यैर्गन्धैः समादिग्धं क्षीणस्वप्नमिवोत्थितम् ॥ १२ ॥
अपि पुत्र जिता लोकाः शुभास्ते स्वेन कर्मणा ।
दिष्ट्या चासि पुनः प्राप्तो न हि ते मानुषं वपुः ॥ १३ ॥
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पित्रा पृष्टो महात्मना ।

तुम जाके वह सब वस्तु इस स्थानपर लाओ। उसने जाके नदीके वेगसे विचलित उन वस्तुओंको न पानेपर पिताके निकट आके कहा, कि "मैंने नहीं देखा।" (२—६)

महातपस्वी उद्दालकि मुनि उस समय भूख प्याससे युक्त और थके हुए थे, इसलिये पुत्रको शाप दिया, कि 'यमका दर्शन करो।' पुत्र पिताके वाग्वज्रसे अभिहित होकर हाथ जोडके बोला, 'प्रसन्न होइये' ऐसा कहते चेतना-रहित होकर पृथ्वीपर गिर पडा। पिता नाचिकेतको पृथ्वीपर गिरा हुआ देखके दुःखसे मूर्च्छित होकर 'यह मैंने क्या किया!' ऐसा कहके स्वयं पृथ्वी-पर गिर पडे। उनके दुःखित होकर पुत्रके लिये शोक करते रहनेपर दिनका शेष भाग और भयङ्करी रात्रि व्यतीत हुई। (७-१०)

हे कुरूद्वह! सूखा हुआ शस्य जैसे वर्षासे फिर हरा होता है। वैसे ही नाचिकेत पिताके आंसू गिरनेपर कुश-शय्यासे उठे। पिताने उस क्षीणस्वप्नकी भांति उठे हुए दिव्य गन्धसे युक्त पुनर्वार आये हुए तनक्षीण पुत्रसे कहा। हे पुत्र! तुमने निजकर्मसे समस्त शुभ लोकोंको जय किया है, दैवबलसे मैंने तुम्हें फिर पाया; तुम्हारा मनुष्य शरीर

स तां वार्तां पितुर्मध्ये महर्षीणां न्यवेदयत् ॥ १४ ॥
कुर्वन् भवच्छासनमाशु यातो ह्यहं विशालां रुचिरप्रभावाम्।
वैवस्वतीं प्राप्य सभामपश्यं सहस्रशो योजन हेमभासम् ॥ १५ ॥
दृष्ट्वैव मामभिमुखमापतन्तं देहीति स ह्यासनमादिदेश।
वैवस्वतोऽर्घ्यादिभिरर्हणैश्च भवत्कृते पूजयामास मां सः ॥ १६ ॥
ततस्त्वहं तं शनकैरवोचं वृतः सदस्यैरभिपूज्यमानः।
प्राप्तोऽस्मि ते विषयं धर्मराज लोकानर्हो यानहं तान्विधत्स्व ॥ १७ ॥
यमोऽब्रवीन्मां न मृतोऽसि सौम्य यमं पश्येत्याह स त्वां तपस्वी।
पिता प्रदीप्ताग्निसमानतेजा न तच्छक्यमनृतं विप्र कर्तुम् ॥ १८ ॥
दृष्टस्तेऽहं प्रतिगच्छस्व तात शोचत्यसौ तव देहस्य कर्ता।
ददानि किं चापि मनःप्रणीतं प्रियातिथेस्तव कामान्वृणीष्व ॥ १९ ॥
तेनैवमुक्तस्तमहं प्रत्यवोचं प्राप्तोऽस्मि ते विषयं दुर्निवर्त्यम्।
इच्छाम्यहं पुण्यकृतां समृद्धाँल्लोकान्द्रष्टुं यदि तेऽहं वरार्हः ॥ २० ॥

नहीं है। सब विषयोंके प्रत्यक्षदर्शी उनका पुत्र पिताके पूछनेपर उन्हें अन्यान्य साधु महर्षियोंके बीच समस्त वृत्तान्त सुनाने लगा। (११—१४)

मैं आपका शासन प्रतिपालन करते हुए शीघ्र ही अत्यन्त विशाल रुचिर प्रभावयुक्त वैवस्वती सभामें गया; सहस्र योजन जाके उस सुवर्णकी भांति प्रभायुक्त सभाको देखा। यमराजने मुझे सन्मुख पहुंचा हुआ देखके आसन देनेके लिये आज्ञा देकर आपके लिये पाद्य अर्घ्यसे मेरी पूजा की। अनन्तर मैंने सभासदोंसे घिरके तथा पूजित होकर मृदुस्वरसे कहा, हे धर्मराज! मैं आपके अधिकारमें आया हूं, इसलिये मैं जिन लोकोंके योग्य होऊं उनका विधान करिये। (१५—१७)

यम मुझसे बोले, हे प्रियदर्शन! तुम मेरे नहीं हो तुम्हारे उस जलती हुई अग्निके समान तेजस्वी पिताने तुम्हें केवल इतना ही कहा है, कि "यमका दर्शन करो" इसलिये उसे मैं मिथ्या न कर सकूंगा। हे तात! तुमने मुझे देखा, इसलिये अब लौट जाओ; यह तुम्हारा देहकर्ता पिता शोक करता है। मैं तुम्हें अभिलषित विषय दान करता हूं, तुम मेरे प्रिय अतिथि हो, इसलिये जो इच्छा हो, वह वर मांगो। धर्मराजका ऐसा वचन सुनके मैंने उनसे कहा, कि जिस स्थानमें आनेसे फिर कोई लौटके नहीं जासकता, मैं आपके उस ही अधिकारमें आया हूं, यदि आप

यानं समारोप्य तु मां स देवो वाहैर्युक्तं सुप्रभं भानुमत्तत्।
सन्दर्शयामास तदात्मलोकान्सर्वांस्तथा पुण्यकृतां द्विजेन्द्र ॥ २१ ॥

अपश्यं तत्र वेश्मानि तैजसानि महात्मनाम्।
नानासंस्थानरूपाणि सर्वरत्नमयानि च ॥ २२ ॥

चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किङ्किणीजालवन्ति च।
अनेकशतभौमानि सान्तर्जलवनानि च ॥ २३ ॥

वैदूर्यार्कप्रकाशानि रूप्यरुक्ममयानि च।
तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च ॥ २४ ॥

भक्ष्यभोज्यमयान्शैलान्वासांसि शयनानि च।
सर्वकामफलांश्चैव वृक्षान्भवनसंस्थितान् ॥ २५ ॥

नद्यो वीथ्यः सभा वाप्यो दीर्घिकाश्चैव सर्वशः।
घोषवन्ति च यानानि युक्तान्यथ सहस्रशः ॥ २६ ॥

क्षीरस्रवा वै सरितो गिरींश्च सर्पिस्तथा विमलं चापि तोयम्।
वैवस्वतस्यानुमतांश्च देशानदृष्टपूर्वान्सुबहूनपश्यम् ॥ २७ ॥

सर्वान्दृष्ट्वा तदहं धर्मराजमवोचं वै प्रभविष्णुं पुराणम्।
क्षीरस्यैताः सर्पिषश्चैव नद्यः शश्वत्स्रोताः कस्य भोज्याः प्रदिष्टाः ॥२८॥

मुझे वरप्रदानके योग्य समझते हैं, तो मैं पुण्यात्मा पुरुषोंके समृद्ध लोकोंको देखनेकी इच्छा करता हूं। (१८-२०)

हे द्विजेन्द्र! अनन्तर उस देवने मुझे प्रकाशमान वाहनयुक्त, उत्तम प्रभावाले यान पर चढाके उस समय स्वकीय और पुण्यात्माओंके लोकोंको दिखाया। मैंने वहां महात्माओंके प्रकाशमय गृहोंको देखा, उन गृहोंकी बनावट अनेक प्रकारकी थी और वे सब रत्नमय चन्द्रमण्डलकी भांति सफेद थे; किङ्किणीजालसे युक्त ऊपर ऊपर विशिष्ट कई सौ प्रासादमय जल और वन उनके बीचमें स्थित थे, वह वैदूर्य तथा सूर्यकी भांति प्रकाशमान थे, रौप्य और स्वर्णमय, तरुण सूर्यकी भांति वर्णविशिष्ट स्थावर और गमनशील भक्ष्य, भोज्यमय पर्वत, वस्त्र, शय्या और सर्वकामफलप्रद उन गृहोंमें स्थित थे। नदी, वीथी, सभा, वापी, खांई, शब्दयुक्त सवारियें, सहस्रों मोती, दूध बहनेवाली नदियें, पर्वत, सर्पिपुञ्ज, निर्मलजल और वैवस्वतके बहुतेरे अदृष्टपूर्व स्थानोंको मैंने देखा। मैंने वह सब देखके पुराण प्रभु धर्मराजसे कहा, ये सब प्रवाही दूध

यमोऽब्रवीद्विद्धि भोज्यास्त्वमेता ये दातारः साधवो गोरसानाम् ।
अन्ये लोकाः शाश्वता वीतशोकैः समाकीर्णा गोप्रदाने रतानाम् ॥२९॥
न त्वेतासां दानमात्रं प्रशस्तं पात्रं कालो गोविशेषो विधिश्च ।
ज्ञात्वा देयं विप्र गवान्तरं हि दुःखं ज्ञातुं पावकादित्यभूतम् ॥ ३० ॥
स्वाध्यायवान् योऽतिमात्रं तपस्वी वैतानस्थो ब्राह्मणः पात्रमासाम् ।
कृच्छ्रोत्सृष्टाः पोषणाभ्यागताश्च द्वारैरेतैर्गोविशेषाः प्रशस्ताः ॥३१॥
तिस्रो रात्र्यस्त्वद्भिरुपोष्य भूमौ तृप्ता गावस्तर्पितेभ्यः प्रदेयाः ।
वत्सैः प्रीताः सुप्रजाः सोपचारास्त्र्यहं दत्त्वा गोरसैर्वर्तितव्यम् ॥३२॥
दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च ।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावद्वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम् ॥३३॥
तथाऽनड्वाहं ब्राह्मणेभ्यः प्रदाय दान्तं धुर्यं बलवन्तं युवानम् ।

और घृतकी नदियें किनकी भोज्यरूपी निर्दिष्ट हुई हैं ? (२१-२८)

यम बोले, ये जिनकी भोज्य हैं, वह तुम सुनो । जो साधु पुरुष गोरस दान करते हैं, ये उनके ही भोज्य हैं, जो लोग गऊ प्रदान करनेमें रत रहते हैं, उन सब शाश्वत, शोकरहित लोगोंसे दूसरे स्थान परिपूरित हैं। इन गौवोंका केवल दानही श्रेष्ठ नहीं है, वैसी गौवोंका पालन करना भी अत्यन्त श्रेष्ठ है, पात्र, काल, विधि और गऊ इन सबोंमें ही विशेष है । हे विप्र ! विशेष रीतिसे जानके गोरस दान करना योग्य है, क्यों कि अग्नि और सूर्य स्वरूप गऊका विशेष ज्ञान होना अत्यन्त दुःखकर है, जो ब्राह्मण निज शाखा-युक्त वेदपाठ किया करते हैं, जो अत्यन्त तपस्वी और यज्ञ करनेवाले हैं, वेही गोदानके पात्र होते हैं; कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रत निबन्धन तथा पोषण करनेसे अभ्यागत गौवें विशेष कर इन समस्त व्रत आदिके कारण होनेसे प्रशंसनीय हुआ करती हैं। (२९-३१)

केवल जल पीके तथा भूमिपर सोकर त्रिरात्रव्रत करके प्रतिदिन एक एक गऊ दान करे और गोरसके द्वारा जीविका निबाहे, इस ही प्रकार व्रत करके तीन गऊ दान करना उचित है। जिन गौवोंको दान करे, वे बछडेके सहित अत्यन्त प्रसन्न और उत्तम सन्तति-वाली हों और उन्हें, अलंकृत करके दान करना चाहिये। कांसेकी दोहनीसे युक्त उत्तम स्वभाववाली कल्याणयुक्त सवत्सा और जो भागती न हों, वैसी गऊ दान करनेसे उसके शरीरमें जितने परिमाणसे रोएं रहते हैं, दाता उतने

कुलानुजीव्यं वीर्यवन्तं बृहन्तं भुङ्क्ते लोकान्सम्मितान्धेनुदस्य ॥३४॥
गोषु क्षान्तं गोशरण्यं कृतज्ञं वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः।
वृद्धे ग्लाने संभ्रमे वा महार्थे कृष्यर्थं वा होम्यहेतोः प्रसूत्याम् ॥ ३५ ॥
गुर्वर्थे वा बालपुष्ट्याभिषङ्गां गां वै दातुं देशकालोऽविशिष्टः।
अन्तर्ज्ञाताः सक्रयज्ञानलब्धाः प्राणक्रीता निर्जिता यौतकाश्च ॥ ३६ ॥
नाचिकेत उवाच-श्रुत्वा वैवस्वतवचस्तमहं पुनरब्रुवम्।
अभावे गोप्रदातॄणां कथं लोकान् हि गच्छति ॥ ३७ ॥
ततोऽब्रवीद्यमो धीमान् गोप्रदानपरां गतिम्।
गोप्रदानानुकल्पं तु गामृते सन्ति गोप्रदाः ॥ ३८ ॥
अलाभे यो गवां दद्यात् घृतधेनुं यतव्रतः।
तस्यैता घृतवाहिन्यः क्षरन्ते वत्सला इव ॥ ३९ ॥
घृतालाभे तु यो दद्यात्तिलधेनुं यतव्रतः।

वर्षतक स्वर्गलोकमें सुख भोगता है। और ब्राह्मणको बोझा ढोनेवाला उत्तम बलवान, युवा, वीर्यवान, कुलानुजीवी वृषभ दान करनेसे दान करनेवाला गोदाताके समान लोकोंको भोग किया करता है। (३२-३४)

पण्डित लोग कहा करते हैं, कि जो लोग गौवोंके विषयमें क्षमा करते, गऊ ही जिनके लिये अवलम्ब हैं, वैसे कृतज्ञ, वृत्तिहीन ब्राह्मण गोदानके पात्र हैं। वृद्ध पुरुषोंके रोगयुक्त होनेपर उनके पथ्यके लिये, दुर्भिक्षके समय यज्ञके निमित्त, कृषि, होम और पुत्र जन्मनेपर गुरुके लिये तथा बालककी पुष्टिके निमित्त गऊ दान करनेसे देश और कालके अनुसार विशिष्ट दान होता है। जो गौवें दुग्धवती मालूम हों, जो मोल लेने वा ज्ञानसे प्राप्त हुई हों, जो प्राणव्यत्ययके द्वारा ली गई तथा निर्जित हों और विवाहके समयमें जो श्वशुर प्रभृतिके निकट यौतकमें प्राप्त होती हैं, उन गौवोंके दान करनेमें देश और कालके विशिष्टताकी आवश्यकता होती है। (३५-३६)

नाचिकेत बोले, मैंने वैवस्वतका वचन सुनके फिर उनसे कहा, गोदानके अभावमें लोग किस प्रकार गोदाताओं-के लोकमें जावेंगे? अनन्तर बुद्धिमान यम गोप्रदानकी परम गति कहने लगे। गोदानके विना गोप्रदानका अनुकल्प है, इसलिये अनुकल्प दान करनेसे भी गोदानका फल प्राप्त होता है। गऊके अभावमें जो लोग यतव्रती होकर घृत रूपी गऊ प्रदान करते हैं, उनके लिये

स दुर्गोत्तारितो धेन्वा क्षीरनद्यां प्रमोदते ॥ ४० ॥
तिलालाभे तु यो दद्याज्जलधेनुं यतव्रतः ।
स कामप्रवहां शीतां नदीमेतामुपाश्नुते ॥ ४१ ॥
एवमेतानि मे तत्र धर्मराजो न्यदर्शयत् ।
दृष्ट्वा च परमं हर्षमवापमहमच्युत ॥ ४२ ॥
निवेदये चाहमिमं प्रियं ते क्रतुर्महानल्पधनप्रचारः ।
प्राप्तो मया तात स मत्प्रसूतः प्रपत्स्यते वेदविधिप्रवृत्तः ॥४३॥
शापो ह्ययं भवतोऽनुग्रहाय प्राप्तो मया तत्र दृष्टो यमो वै ।
दानव्युष्टिं तत्र दृष्ट्वा महात्मन्निःसंदिग्धान्दानधर्मांश्चरिष्ये ॥ ४४ ॥
इदं च मामब्रवीद्धर्मराजः पुनः पुनः संप्रहृष्टो महर्षे ।
दानेन यः प्रयतोऽभूत्सदैव विशेषतो गोप्रदानं च कुर्यात् ॥ ४५ ॥
शुद्धो ह्यर्थो नावमन्यस्व धर्मान्पात्रे देयं देशकालोपपन्ने ।
तस्माद्गावस्ते नित्यमेव प्रदेया मा भूच्च ते संशयः कश्चिदत्र ॥४६ ॥

ये घृतवाहिनी नदियें वत्सलाकी भांति वह रही हैं। घृतके अभावमें जो पुरुष यतव्रती होकर तिल और गऊ प्रदान करते हैं,वे गऊके द्वारा क्लेशोंसे छूटकर क्षीरनदीमें प्रमुदित होते हैं। (३७-४०)

जो मनुष्य यतव्रत होकर तिलके अभावमें जल-गऊ दान करता है, वह इस कामप्रवहा शीतल जलवाहिनी नदीमें सुख भोग किया करता है। धर्मराजने इस ही प्रकार वहां मुझे सब विषयोंको दिखाया। हे तात ! मैं वह सब देखके परम हर्षित हुआ, मैं आपके समीप यह प्रिय वृत्तान्त सुनाता हूं, गोदानरूपी यज्ञ अत्यन्त महान् है और इसमें थोडा ही धन लगता है। (४१-४३)

हे तात ! मुझे वही यज्ञलाभ हुआ है वह मेरे द्वारा प्रकट हुआ है, आप वेदविधिसे प्रवृत्त होकर उस यज्ञका फल पावेंगे। मेरे विषयमें आपका यह शाप अनुग्रहके निमित्त ही हुआ था, जिसके प्रभावसे मैंने धर्मराजका दर्शन किया। हे महात्मन् ! मैं वहांपर दानके फलको देखके शङ्कारहित होकर दान-धर्माचरण करूंगा। हे महर्षि ! धर्म-राजने अत्यन्त प्रसन्न होके यह भी मुझसे बार बार कहा है, कि जो लोग दान विषयमें सदा प्रयत्न करते हैं वे विशेष रीतिसे गोदान करें। शुद्ध अर्थ यही है, कि धर्मकी अवमानना मत करो, देश कालके अनुसार पात्रको दान देना उचित है, इसलिये तुम

एताः पुरा ह्यददन्नित्यमेव शान्तात्मानो दानपथे निविष्टाः।
तपांस्युग्राण्यप्रतिशङ्कमानास्ते वै दानं प्रददुश्चैव शक्त्या ॥ ४७ ॥
काले च शक्त्या मत्सरं वर्जयित्वा शुद्धात्मानः श्रद्धिनः पुण्यशीलाः।
दत्त्वा गा वै लोकममुं प्रपन्ना देदीप्यन्ते पुण्यशीलास्तु नाके ॥४८॥
एतद्दानं न्यायलब्धं द्विजेभ्यः पात्रे दत्तं प्रापणीयं परीक्ष्य।
काम्याष्टम्यां वर्तितव्यं दशाहं रसैर्गवां शकृता प्रस्नवैर्वा ॥ ४९ ॥
देवव्रती स्याद् वृषभप्रदाने वेदावाप्तिर्गोयुगस्य प्रदाने।
तीर्थावाप्तिर्गोप्रयुक्तप्रदाने पापोत्सर्गः कपिलायाः प्रदाने ॥ ५० ॥
गामप्येकां कपिलां संप्रदाय न्यायोपेतां कलुषाद्विप्रमुच्येत्।
गवां रसात्परमं नास्ति किंचिद्गवां प्रदानं सुमहद्वदन्ति ॥ ५१ ॥
गावो लोकांस्तारयन्ति क्षरन्त्यो गावश्चान्नं संजनयन्ति लोके।
यस्तं जानन्न गवां हार्दमेति स वै गन्ता निरयं पापचेताः ॥ ५२ ॥
यैस्तद्दत्तं गोसहस्रं शतं वा दशार्धं वा दश वा साधुवत्सम्।

कुछ संशय न करके सदा गोदान करो। (४३—४६)

पहले समयमें दानपथमें स्थित शान्तचित्तवाले मनुष्य सदा गोदान करते थे, वे लोग उग्र तपस्याविषयमें शङ्का करते हुए शक्तिके अनुसार दान करनेमें प्रवृत्त होते थे। यथासमय शक्तिके अनुसार मत्सरतारहित होके पवित्रचित्तवाले श्रद्धावान् पुण्यशील मनुष्य गोदान करनेसे परलोकमें जाके स्वर्गके बीच प्रकाशित होते हैं। गौवोंके आहार आदिकी परीक्षा करके न्यायसे प्राप्त हुई गौवें ब्राह्मणोंको दान करो और काम्याष्टमीमें दशाहके समय गोमय, गोमूत्र तथा गोरसके सहारे जीवन बिताओ। वृषभ दान करनेसे पुरुष देवव्रती होता है, युवा गऊ दान करनेसे वेद प्राप्त होते हैं, गोयुक्त रथ तथा शकट आदि दान करनेसे तीर्थका लाभ हुआ करता है और कपिला गऊ देनेसे पाप नष्ट होता है। (४७-५०)

न्यायसे प्राप्त हुई एक ही कपिला गऊ दान करनेसे मनुष्य पापोंसे मुक्त हुआ करता है। गोरससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, इस ही लिये पण्डित लोग गोदानको अत्यन्त महत् कहा करते हैं। गौवें दूध देती हुई लोगोंका उद्धार करती हैं, इस लोकमें गौवें ही अन्न उत्पन्न करती हैं, जो इसे जानके गौवोंके भक्ष्य जल वा तृण उन्हें नहीं देता, वह पापी मनुष्य नरकमें पडता है। जो लोग बछडे सहित सहस्र गऊ

अप्येका वै साधवे ब्राह्मणाय साऽस्यामुष्मिन्पुण्यतीर्था नदी वै ॥५३॥
प्राप्त्या पुष्ट्या लोकसंरक्षणेन गावस्तुल्याः सूर्यपादैः पृथिव्याम्।
शब्दश्चैकः संनतिश्चोपभोगास्तस्माद्गोदः सूर्य इवावभाति ॥ ५४ ॥
गुरुं शिष्यो वरयेद्गोप्रदाने स वै गन्ता नियतं स्वर्गमेव।
विधिज्ञानां सुमहान्धर्म एष विधिं ह्याद्यं विधयः संविशन्ति ॥५५॥
इदं दानं न्यायलब्धं द्विजेभ्यः पात्रे दत्त्वा प्रापयेथाः परीक्ष्य।
त्वय्याशंसन्त्यमरा मानवाश्च वयं चापि प्रसृते पुण्यशीले ॥५६॥
इत्युक्तोऽहं धर्मराजं द्विजर्षे धर्मात्मानं शिरसाऽभिप्रणम्य।
अनुज्ञातस्तेन वैवस्वतेन प्रत्यागमं भगवत्पादमूलम् ॥ ५७ ॥ [३४९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे यमवाक्यं नाम एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥७१॥

युधिष्ठिर उवाच— उक्तं ते गोप्रदानं वै नाचिकेतमृषिं प्रति।
माहात्म्यमपि चैवोक्तमुद्देशेन गवां प्रभो ॥ १ ॥

दान करते अथवा सौ, दश, पांच तथा एक गऊ साधु ब्राह्मणको देते हैं, तो वही दान की हुई गऊ परलोकमें दाताके पक्षमें पुण्यतीर्थवाली नदी स्वरूप हुआ करती है। (५१—५३)

प्राप्ति, पुष्टि और लोगोंकी रक्षाके हेतु इस पृथिवीमें गौवें सूर्यकिरणसदृश हैं, गोशब्दसे सूर्यकिरण और गऊ, इन दोनोंका ही बोध हुआ करता है। सन्नति और उपभोग प्राप्त होते हैं इस लिये गोदान करनेवाला सूर्यकी भांति विराजता है, शिष्य गुरुके समीप गो-दान विषयमें वर मांगे, तो वह अवश्य ही स्वर्गगामी होगा। जो लोग गुरुकी आराधना करना जानते हैं, उनके लिये यह उत्तम महान् धर्म है, योगज्ञान प्रभृति सब विधि गुरुसेवा स्वरूप आद्य-विधिके बीच प्रविष्ट होती हैं। न्यायसे प्राप्त हुआ गोधन द्विजातियोंको दान करके परीक्षाके लिये केवल पालने दो तुम प्रसिद्ध पुण्यशील हो, इसलिये देवता, मनुष्य तथा हम सब कोई तुम्हारी आशा किया करते हैं। हे द्विजर्षि! धर्मराजने जब मुझसे इतनी कथा कही, तब मैंने सिर झुकाके उन्हें प्रणाम किया और उनकी आज्ञासे लौटके आपके चरणमूलमें आगया हूं। (५४—५७)

अनुशासनपर्वमें ७१ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ७२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे महाप्राज्ञ पितामह! नाचिकेत ऋषिका प्रमाण देके आपने

नृगेण च महद्दुःखमनुभूतं महात्मना ।
एकापराधादज्ञानात्पितामह महामते ॥ २ ॥
द्वारवत्यां यथा चासौ निविशन्त्यां समुद्धृतः ।
मोक्षहेतुरभूत्कृष्णस्तदप्यवधृतं मया ॥ ३ ॥
किं त्वस्ति मम संदेहो गवां लोकं प्रति प्रभो ।
तत्त्वतः श्रोतुमिच्छामि गोदा यत्र वसन्त्युत ॥ ४ ॥
भीष्म उवाच– अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथाऽपृच्छत्पद्मयोनिमेतदेव शतक्रतुः ॥ ५ ॥
शक्र उवाच– स्वर्लोकवासिनां लक्ष्मीमभिभूय स्वयाऽर्चिषा ।
गोलोकवासिनः पश्ये व्रजतः संशयोऽत्र मे ॥ ६ ॥
कीदृशा भगवँल्लोका गवां तद् ब्रूहि मेऽनघ ।
यानावसन्ति दातार एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ७ ॥
कीदृशाः किंफलाः किंस्वित्परमस्तत्र को गुणः ।
कथं च पुरुषास्तत्र गच्छन्ति विगतज्वराः ॥ ८ ॥
कियत्कालं प्रदानस्य दाता च फलमश्नुते ।

जो गोदानका फल और माहात्म्य कहा, तथा महात्मा राजा नृगने विना जाने केवल एक ही अपराधसे महत् दुःख पाया था, उसे भी वर्णन किया। द्वारकापुरी बननेपर जिस प्रकार उनका उद्धार हुआ, तथा कृष्ण जिस प्रकार उनके मोक्षके हेतु हुए थे, वह भी मैंने निश्चय किया; परन्तु गोदान करनेसे जिन लोगोंकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें मुझे सन्देह है। हे प्रभु! इसलिये गोदान करनेवाले मनुष्य जिन लोकोंमें निवास करते हैं, उस वृत्तान्तको यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं। (१–४)

भीष्म बोले, इन्द्रने यही विषय ब्रह्मासे पूछा था, प्राचीन लोग ऐसे स्थलमें उसही पुरातन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। (५)

इन्द्र बोले, गोलोकवासियोंको स्वकर्मके सहारे स्वर्गवासियोंकी लक्ष्मी अभिभव करके गमन करते हुए देखके इस विषयमें मुझे सन्देह हुआ है। हे पापरहित भगवन्! कहिये गोलोक किस प्रकार है? किस स्थानमें दाता पुरुष निवास करते हैं, उसे जाननेकी अभिलाष करता हूं। गोलोक कैसा है, उसका फल क्या है और वहांपर उत्तम गुण कौनसा है? मनुष्य किस प्रकार

कथं बहुविधं दानं स्यादल्पमपि वा कथम् ॥ ९ ॥
बह्वीनां कीदृशं दानमल्पानां वापि कीदृशम् ।
अदत्त्वा गोप्रदाः सन्ति केन वा तच्च शंस मे ॥ १० ॥
कथं वा बहुदाता स्यादल्पदात्रा समः प्रभो ।
अल्पप्रदाता बहुदः कथं स्वित्स्यादिहेश्वर ॥ ११ ॥
कीदृशी दक्षिणा चैव गोप्रदाने विशिष्यते ।
एतत्तथ्येन भगवन्मम शंसितुमर्हसि ॥ १२ ॥ [३५११]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे गोप्रदानिके द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

पितामह उवाच- योऽयं प्रश्नस्त्वया पृष्टो गोप्रदानादिकारितः ।
नास्ति प्रष्टाऽस्ति लोकेऽस्मिंस्त्वत्तोऽन्यो हि शतक्रतो ॥ १ ॥
सन्ति नानाविधा लोका यांस्त्वं शक्र न पश्यसि ।
पश्यामि यानहं लोकानेकपत्न्यश्च याः स्त्रियः ॥ २ ॥
कर्मभिश्चापि सुशुभैः सुव्रता ऋषयस्तथा ।
सशरीरा हि तान्यान्ति ब्राह्मणाः शुभबुद्धयः ॥ ३ ॥
शरीरन्यासमोक्षेण मनसा निर्मलेन च ।

क्लेशरहित होके वहां जाते हैं; दाता कितने समयके अनन्तर दानका फल भोगता है ? किस भांति थोडे अथवा अनेक प्रकारके दान होते हैं; बहुतसी गौवोंके दानका कैसा फल है ? थोडे दानका फल किस प्रकारका है ? तथा विना गोदानके भी किस लिये पुरुष गोदाता हुआ करते हैं ? उसे भी मेरे समीप वर्णन करिये । हे प्रभु ! बहुतसा दान करनेवाले किस प्रकार अल्पदाताके समान होते हैं और थोडा दान करनेवाले किस भांति बहुप्रद हुआ करते हैं ? हे भगवन् ! इन सब विषयोंको मेरे समीप यथार्थ रीतिसे आपही वर्णन करनेके योग्य हैं । (६-१२)

अनुशासनपर्वमें ७२ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ७३ अध्याय ।

ब्रह्मा बोले, हे देवराज ! तुमने जो गोदान विषयमें प्रश्न किया है, लोकके बीच तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस विषयमें जिज्ञासु नहीं है । हे शक्र ! अनेक प्रकारके ऐसे लोक हैं, जो कि तुम्हारे नेत्र-गोचर नहीं हुए, केवल मैं ही उन लोकोंको देखता हूं, वहांपर पतिव्रता स्त्रियें, उत्तम व्रत करनेवाले ऋषि और शुभ बुद्धियुक्त ब्राह्मण लोग

स्वप्नभूतांश्च तांल्लोकान्पश्यन्तीहापि सुव्रताः ॥ ४ ॥
ते तु लोकाः सहस्राक्ष शृणु यादृग्गुणान्विताः ।
न तत्र क्रमते कालो न जरा न च पावकः ॥ ५ ॥
तथा नास्त्यशुभं किंचिन्न व्याधिस्तत्र न क्लमः ।
यद्यच्च गावो मनसा तस्मिन्वाञ्छन्ति वासव ॥ ६ ॥
तत्सर्वं प्राप्नुवन्ति स्म मम प्रत्यक्षदर्शनात् ।
कामगाः कामचारिण्यः कामात्कामांश्च भुञ्जते ॥ ७ ॥
वाप्यः सरांसि सरितो विविधानि वनानि च ।
गृहाणि पर्वताश्चैव यावद् द्रव्यं च किंचन ॥ ८ ॥
मनोज्ञं सर्वभूतेभ्यः सर्वं तत्र प्रदृश्यते ।
ईदृशाद्विपुलाल्लोकान्नास्ति लोकस्तथाविधः ॥ ९ ॥
तत्र सर्वसहाः क्षान्ता वत्सला गुरुवर्तिनः ।
अहंकारैर्विरहिता यान्ति शक्र नरोत्तमाः ॥ १० ॥
यः सर्वमांसानि न भक्षयीत पुमान्सदा भावितो धर्मयुक्तः ।
मातापित्रोरर्चिता सत्ययुक्तः शुश्रूषिता ब्राह्मणानामनिन्द्यः ॥ ११ ॥

अत्यन्त शुभ कर्मके सहारे निज शरीरसे गमन किया करते हैं। इस लोकमें उत्तम व्रत करनेवाले पुरुष शरीरन्यासरूपी मोक्ष और निर्मलचित्तके सहारे उन स्वप्नभूत लोकोंको देखते हैं। (१-४)

हे सहस्राक्ष! वे सब लोक जैसे गुणयुक्त हैं, उसे सुनो। वहां काल किसीको भी आक्रमण नहीं करता। जरा तथा अग्नि किसी पुरुषको आक्रमण करनेमें समर्थ नहीं होती, वहां किसी भांतिके पाप, व्याधि और क्लेश नहीं हैं। हे वासव! यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि गोसमूह उस स्थानमें मनहीमन जो कुछ अभिलाष करें, वह उन्हें मिलता है। वे कामगामिनी और कामचारिणी होकर इच्छानुसार काम्य विषयोंको भोग करती हैं, बावली, तालाब, नदी, विविध वन, गृह, पर्वत तथा जो कुछ वस्तु हैं, सब प्राणियोंके समस्त मनोहर विषय वहां दिखाई देते हैं, ऐसे विपुल लोकसे उत्तम तथा वैसा लोक दूसरा नहीं है। (५-९)

हे शक्र! वहां सबके विषयमें क्षमाशील, गुरुके वशवर्त्ती और अहङ्काररहित उत्तम पुरुष गमन किया करते हैं। जो पुरुष सदा धर्म और सत्यमें रत रहके माता और पिताकी पूजा तथा सेवा

अक्रोधनो गोषु तथा द्विजेषु धर्मे रतो गुरुशुश्रूषकश्च।
यावज्जीवं सत्यवृत्ते रतश्च दाने रतो यः क्षमी चापराधे ॥ १२ ॥
मृदुर्दान्तो देवपरायणश्च सर्वातिथिश्चापि तथा दयावान्।
ईदृग्गुणो मानवस्तं प्रयाति लोकं गवां शाश्वतं चाव्ययं च ॥ १३ ॥
न पारदारी पश्यति लोकमेतं न वै गुरुघ्नो न मृषा संप्रलापी।
सदा प्रवादी ब्राह्मणेष्वात्तवैरो दोषैरेतैर्यश्च युक्तो दुरात्मा ॥ १४ ॥
न मित्रध्रुङ् नैकृतिकः कृतघ्नः शठोऽनृजुर्धर्मविद्वेषकश्च।
न ब्रह्महा मनसाऽपि प्रपश्येद्गवां लोकं पुण्यकृतां निवासम् ॥ १५ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं निपुणेन सुरेश्वर।
गोप्रदानरतानां तु फलं शृणु शतक्रतो ॥ १६ ॥
दायाद्यलब्धैरर्थैर्यो गाः क्रीत्वा संप्रयच्छति।
धर्मार्जितान्धनैः क्रीतान्स लोकानाप्नुतेऽक्षयान् ॥ १७ ॥
यो वै द्यूते धनं जित्वा गाः क्रीत्वा संप्रयच्छति।
स दिव्यमयुतं शक्र वर्षाणां फलमश्नुते ॥ १८ ॥

करता है और किसी प्रकारका मांस भक्षण नहीं करता, वह ब्राह्मणोंके समीप निन्दनीय नहीं होता। जो गऊ और ब्राह्मणोंपर क्रोध नहीं करते तथा जो लोग धर्ममें रत, शुश्रुषायुक्त, जन्मसे ही सत्य आचार और दान करनेमें रत, अपराधमें क्षमावान, कोमलतायुक्त, दान्त, वेद जाननेवाले सर्वातिथि और दयावान हैं, ऐसे गुणोंसे युक्त मनुष्य उस शाश्वत अक्षय गोलोकमें गमन करते हैं। (१०-१३)

पराई स्त्रीमें रत रहनेवाले पुरुष इस गोलोकको देखनेमें भी समर्थ नहीं होते, गुरुद्रोही, मिथ्याप्रलापी सदा विदेशमें रहनेवाले और ब्राह्मणोंसे वैर करनेवाले जो दुष्टात्मा पुरुष इन दोषोंसे युक्त हैं, वे गोलोकमें नहीं जा सकते। मित्रद्रोही, वञ्चक, कृतघ्न, शठ, कोमलतारहित, धर्मद्वेषी और ब्रह्मघाती पुरुष पुण्यात्माओंके निवासस्थान गोलोकको मनसे भी देखनेमें समर्थ नहीं होते। हे सुरेश्वर! यह मैंने तुमसे निपुणभावसे गोलोकका सब विषय कहा। हे शतक्रतु! अब गोदानमें रत मनुष्योंके फल सुनो। (१४-१६)

जो पुरुष निज भागके धनसे गऊ मोल लेके दान करते हैं और जो लोग धर्मोपार्जित धनसे गऊ मोल लेके देते हैं, उन्हें अक्षय लोक प्राप्त होते हैं। हे शक्र! जो लोग द्यूतक्रीडामें धन

दायाद्याद्याः स्म दै गावो न्यायपूर्वैरुपार्जिताः ।
प्रदद्यात्ताः प्रदातॄणां संभवन्त्यपि च ध्रुवाः ॥ १९ ॥
प्रतिगृह्य तु यो दद्याद्गाः संशुद्धेन चेतसा ।
तस्यापीहाक्षयाँल्लोकान्ध्रुवान्विद्धि शचीपते ॥ २० ॥
जन्मप्रभृति सत्यं च यो ब्रूयान्नियतेन्द्रियः ।
गुरुद्विजसहः क्षान्तस्तस्य गोभिः समा गतिः ॥ २१ ॥
न जातु ब्राह्मणो वाच्यो यदवाच्यं शचीपते ।
मनसा गोषु न द्रुह्येद्गोवृत्तिर्गोऽनुकम्पकः ॥ २२ ॥
सत्ये धर्मे च निरतस्तस्य शक्र फलं शृणु ।
गोसहस्रेण समिता तस्य धेनुर्भवत्युत ॥ २३ ॥
क्षत्रियस्य गुणैरेतैरपि तुल्यफलं शृणु ।
तस्यापि द्विजतुल्या गौर्भवतीति विनिश्चयः ॥ २४ ॥
वैश्यस्यैते यदि गुणास्तस्य पञ्चशतं भवेत् ।
शूद्रस्यापि विनीतस्य चतुर्भागफलं स्मृतम् ॥ २५ ॥
एतच्चैनं योऽनुतिष्ठेत युक्तः सत्ये रतो गुरुशुश्रूषया च ।

जीतनेपर गऊ मोल लेके दान करते हैं, वे दश हजार वर्षतक दिव्य फल भोग किया करते हैं अथवा भागसे प्राप्त हुई गौको दान करनेसे अक्षय लोक मिलता है। हे शचीपति ! जो शुद्धचित्तवाले पुरुष गोप्रतिग्रह करके दान करते हैं, वे भी अक्षय लोकोंको इस लोकमें अवश्य प्राप्त होना समझते हैं। (१७-२०)

जो नियतेन्द्रिय और क्षमावान् होकर जन्मसे ही सत्य वचन कहते हैं गुरु और ब्राह्मणोंके अपराधको सहनेवाले उन पुरुषोंको गौवोंके सहित समान गति प्राप्त होती है। हे शचीनाथ ! ब्राह्मणोंको निन्दाके अकथनीय भाषण कदापि कहना उचित नहीं है। जो लोग गोवृत्ति तथा गौवोंके विषयमें दयावान होंगे, वे मनसे भी कभी गोद्रोह न करेंगे। हे शक्र ! जो पुरुष सत्य धर्ममें रत रहता है उसका फल सुनो। सत्य धर्मानुयायी मनुष्यकी एक ही गऊ सहस्र गऊके तुल्य होती है, क्षत्रियोंके भी इन गुणोंके द्वारा समान फल सुनो। यह विशेष रीतिसे निश्चित है, कि उनकी गऊ ब्राह्मणकी गऊके तुल्य होती है। (२१—२४)

वैश्यमें यदि ये सब गुण रहें, तो उसकी एक गऊ पांचसौ गऊके सदृश है। विनययुक्त शूद्रके लिये चौगुना

दक्षः क्षान्तो देवतार्थी प्रशान्तः शुचिर्बुद्धो धर्मशीलोऽनहंवाक् ॥२६॥
महत्फलं प्राप्यते स द्विजाय दत्त्वा दोग्ध्रीं विधिनाऽनेन धेनुम्।
नित्यं दद्यादेकभक्तः सदा च सत्ये स्थितो गुरुशुश्रूषिता च ॥२७॥
वेदाध्यायी गोषु यो भक्तिमांश्च नित्यं दत्त्वा योऽभिनन्देत गाश्च।
आजातितो यश्च गवां नमेत इदं फलं शक्र निबोध तस्य ॥ २८ ॥
यत्स्यादिष्ट्वा राजसूये फलं तु यत्स्यादिष्ट्वा बहुना काञ्चनेन।
एतत्तुल्यं फलमप्याहुरग्र्यं सर्वे सन्तस्त्वृषयो ये च सिद्धाः ॥२९॥
योऽग्रं भक्तं किंचिदप्राश्य दद्याद्गोभ्यो नित्यं गोव्रती सत्यवादी।
शान्तो लुब्धो गोसहस्रस्य पुण्यं संवत्सरेणाप्नुयात्सत्यशीलः ॥३०॥
यदेकभक्तमश्नीयाद्दद्यादेकं गवां च यत्।
दश वर्षाण्यनन्तानि गोव्रती गोऽनुकम्पकः ॥ ३१ ॥
एकेनैव च भक्तेन यः क्रीत्वा गां प्रयच्छति।
यावन्ति तस्या रोमाणि संभवन्ति शतक्रतो ॥ ३२ ॥

फल कहा गया है। सत्य और गुरु-सेवामें रत, दक्ष, क्षान्त, देवताओंके लिये प्रशान्त, पवित्र, शुद्ध, धर्मशील और अनहङ्कार होकर जो मनुष्य इस विषयका अनुष्ठान करता है, वह महत् फल पाता है; इस विधिके अनुसार दूध देनेवाली गऊ दान करनेसे महा फल हुआ करता है; इसलिये एकभक्त, सत्यमें रत और गुरुसेवामें नियुक्त रहके गोदान करे। हे शक्र! जो वेद-पाठी सदा गौवोंके विषयमें भक्ति करते और जो लोग गौवोंका दर्शन करके उन्हें अभिनन्दित करते हैं, जन्म प्रभृति गौवोंको नमस्कार करते हैं, उनका फल सुनो। राजसूय यज्ञ करनेसे जो फल मिलता है, बहुतसा सुवर्ण दान करनेसे जो फल प्राप्त होता है, समस्त साधु पुरुष तथा ऋषिलोग उनके लिये इन दोनोंके सदृश फल कहा करते हैं। (२५—२९)

जो लोग गोव्रती और सत्यवादी होके भोजनकी वस्तुओंका अग्रभाग भोजन न करके सदा गौवोंको देते हैं, वे लोभरहित शान्त पुरुष वर्षभरमें सहस्र गोदानका फल पाते हैं। जो एकबार भोजन करते, जो लोग एक गऊ दान करते, जो गोव्रती हैं तथा गौवोंके विषयमें कृपा करते हैं, वे दश वर्षतक अनन्त सुख भोग किया करते हैं (३०—३१)

हे देवराज! जो लोग एकबार भोजन करके धनसंग्रह करते और

तावत्प्रदानात्स गवां फलमाप्नोति शाश्वतम्।
ब्राह्मणस्य फलं हीदं क्षत्रियस्य तु वै शृणु ॥ ३३ ॥
पञ्चवार्षिकमेवं तु क्षत्रियस्य फलं स्मृतम्।
ततोऽर्धेन तु वैश्यस्य शूद्रो वैश्यार्धतः स्मृतः ॥ ३४ ॥
यश्चाऽऽत्मविक्रयं कृत्वा गाः क्रीत्वा संप्रयच्छति।
यावत्संदर्शयेद्गां वै स तावत्फलमश्नुते ॥ ३५ ॥
रोम्णि रोम्णि महाभाग लोकाश्चास्याऽक्षयाः स्मृताः।
संग्रामेष्वर्जयित्वा तु यो वै गाः संप्रयच्छति।
आत्मविक्रयतुल्यास्ताः शाश्वता विद्धि कौशिक ॥ ३६ ॥
अभावे यो गवां दद्यात्तिलधेनुं यतव्रतः।
दुर्गात्स तारितो धेन्वा क्षीरनद्यां प्रमोदते ॥ ३७ ॥
न त्वेवासां दानमात्रं प्रशस्तं पात्रं कालो गोविशेषो विधिश्च।
कालज्ञानं विप्रगवान्तरं हि दुःखं ज्ञातुं पावकादित्यभूतम् ॥ ३८ ॥
स्वाध्यायाढ्यं शुद्धयोनिं प्रशान्तं वैतानस्थं पापभीरुं बहुज्ञम्।
गोषु क्षान्तं नातितीक्ष्णं शरण्यं वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः ॥३९॥

उससे गऊ मोल लेके दान करते हैं, गऊके शरीरमें जितने रोम हैं, उन्हें उतने परिमाणसे नित्य-फल प्राप्त होता है। ब्राह्मणको गोदानविषयक येही सब फल मिलते हैं। अब क्षत्रियोंका फल सुनो; क्षत्रियके लिये गोदान निबन्धनसे पांच वर्षतक अनन्त सुख भोग कहा गया है, वैश्यके क्षत्रियोंसे आधा और शूद्रको वैश्योंका अर्द्ध भाग फल प्राप्त हुआ करता है, जो लोग आत्मविक्रयसे गऊ मोल लेके दान करते हैं, जबतक ब्रह्माण्डमें गौवें दीख पडती हैं, उतने समय तक वे गोलोकमें निवास किया करते हैं। (३१—३५)

हे महाभाग! जो लोग संग्राम जीतनेपर प्राप्त हुई गऊ दान करते हैं, गऊके प्रतिरोमके परिमाणसे उनके लोक अक्षय होते हैं; हे कौशिक! यह जान रखो, कि उन्हें आत्मविक्रयके तुल्य शाश्वत फल प्राप्त होता है। गऊके अभावमें जो लोग यतव्रती होकर तिल-गऊ प्रदान करते हैं, वे गऊके सहारे सब क्लेशोंसे मुक्त होकर क्षीरनदीमें प्रमुदित होते हैं। गौवोंका दानमात्रही श्रेष्ठ नहीं है; पात्र, काल, गोविशेष, विधि, कालज्ञान, अग्नि और सूर्यस्वरूप विप्र तथा गौवोंके अन्तरको मालूम करना दुःसाध्य है। स्वाध्याययुक्त,

वृत्तिग्लाने सीदति चातिमात्रं कृष्यर्थं वा होम्यहेतोः प्रसूतेः।
गुर्वर्थं वा बालसंवृद्धये वा धेनुं दद्याद्देशकाले विशिष्टे ॥ ४० ॥
अन्तर्ज्ञाताः सक्रयज्ञानलब्धाः प्राणैः क्रीतास्तेजसा यौतकाश्च।
कृच्छ्रोत्सृष्टाः पोषणाभ्यागताश्च द्वारैरेतैर्गोविशेषाः प्रशस्ताः ॥ ४१ ॥
बलान्विताः शीलवयोपपन्नाः सर्वाः प्रशंसन्ति सुगन्धवत्यः।
यथा हि गङ्गा सरितां वरिष्ठा तथार्जुनीनां कपिला वरिष्ठा ॥ ४२ ॥
तिस्रो रात्रीस्त्वद्भिरुपोष्य भूमौ तृप्ता गावस्तर्पितेभ्यः प्रदेयाः।
वत्सैः पुष्टैः क्षीरपैः सुप्रचारास्त्र्यहं दत्त्वा गोरसैर्वर्तितव्यम् ॥ ४३ ॥
दत्त्वा धेनुं सुव्रतां साधुदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावन्ति वर्षाणि भवन्त्यमुत्र ॥४४॥
तथाऽनड्वाहं ब्राह्मणाय प्रदाय धुर्यं युवानं बलिनं विनीतम्।
हलस्य वोढारमनन्तवीर्यं प्राप्नोति लोकान्दशधेनुदस्य ॥ ४५ ॥

शुद्धयोनि, प्रशान्त, वैतानस्थ, पाप-भीरु, बहुज्ञ, गौवोंके विषयमें क्षमावान्, अत्यन्त कठोरतारहित, शरण्य और वृत्तिग्लान पुरुषोंको पण्डित लोग गोदानके पात्र कहा करते हैं। (३६-३९)

वृत्तिहीन, अवसन्न, कृषिकार्य, होम के लिये, पुत्र उत्पन्न होनेपर तथा गुरु और बालककी वृद्धिके लिये देशकालके अनुसार गऊ दान करे। हे शक्र! जिन गौवोंके अन्तरमें दूध उत्पन्न हुआ हो, जो ज्ञानके सहारे प्राप्त हुई हों, प्राण देके ली गई हों, तेजसे उपार्जित तथा दहेजमें मिली हों, कृच्छ्रसाध्य चान्द्रायण आदि व्रतोंमें जो सब गौवें प्राप्त हों, जो पोषणके निमित्त आई हों, वे सब विशेष विशेष गऊ इन्हीं कारणोंसे श्रेष्ठ हुआ करती हैं। जो गौवें बलिष्ठ शील-बलसे युक्त और सुगन्धवती होती हैं, उनकी सब कोई प्रशंसा करते हैं, जैसे नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ है, वैसे ही गौवोंके बीच कपिला गऊ श्रेष्ठ है। (४०-४२)

तीन रात्रि केवल जल पीके ही प्राण धारण करके पृथ्वीपर सोनेवाले तृप्तियुक्त ब्राह्मणको अन्न आदिके सहारे परितृप्त गऊ दान करना योग्य है, दूध पीनेवाले पुष्ट बछडोंके सहित उत्तम गऊ दान करके तिरात गोरसके सहारे वृत्ति निर्वाह करनी उचित है। सहजमें दूध देनेवाली, कल्याणदायक,बछडे युक्त, न भागनेवाली उत्तम गऊ दान करनेसे उसके शरीरमें जितने रोएं रहती हैं, उतने वर्षपर्यन्त दाता परलोकमें सुख भोग करता है। इस ही भांति ब्राह्मण-को बोझा ढोनेवाले युवा बलवान विनी-

कान्तारे ब्राह्मणान्गाश्च यः परित्राति कौशिक।
क्षणेन विप्रमुच्येत तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ४६ ॥
अश्वमेधक्रतोस्तुल्यं फलं भवति शाश्वतम्।
मृत्युकाले सहस्राक्ष यां वृत्तिमनुकाङ्क्षते ॥ ४७ ॥
लोकान्बहुविधान्दिव्यान्यच्चास्य हृदि वर्तते।
तत्सर्वं समवाप्नोति कर्मणैतेन मानवः ॥ ४८ ॥
गोभिश्च समनुज्ञातः सर्वत्र च महीयते।
यस्त्वेतेनैव कल्पेन गां वनेष्वनुगच्छति ॥ ४९ ॥
तृणगोमयपर्णाशी निःस्पृहो नियतः शुचिः।
अकामं तेन वस्तव्यं मुदितेन शतक्रतो ॥ ५० ॥
मम लोके सुरैः सार्धं लोके यत्रापि चेच्छति ॥ ५१ ॥ [३५६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे पितामहेन्द्रसंवादे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इन्द्र उवाच– जानन्यो गामपहरेद्विक्रीयाद्वाऽर्थकारणात्।
एतद्विज्ञातुमिच्छामि क्व नु तस्य गतिर्भवेत् ॥ १ ॥
पितामह उवाच–भक्षार्थं विक्रयार्थं वा येऽपहारं हि कुर्वते।

त हल खींचनेवाले अनन्त वीर्यवान बैल दान करनेसे दाताको दश गौवोंके दाताके तुल्य लोक प्राप्त होते हैं। (४३–४५)

हे देवराज! दुर्गम मार्गमें ब्राह्मण और गऊका परित्राण करनेसे गऊ तथा ब्राह्मण कल्याणके सहित विमुक्त होते हैं, इसलिये जो लोग उन्हें ऐसे मार्गसे उबारते हैं, उनका फल सुनो। जो लोग सस्तीक ब्राह्मण और गोकुलका परित्राण करते हैं, वे अश्वमेध यज्ञके तुल्य नित्य फल पाते हैं। हे सहस्राक्ष! वे लोग मृत्यु कालमें जिस वृत्तिको अभिलाष करते हैं और उनके हृदयमें जो सब लोक वर्त्तमान रहते हैं, वे इस ही धर्मके सहारे उन सब लोकोंको पाते हैं और गौवोंके बीच भली भांति संमानित होकर सब ठौर निवास करनेमें समर्थ होते हैं। हे देवराज! जो लोग इस उद्देश्यसे गौवोंका अनुगमन करते तथा तृणगोमयपर्णाशी होके निस्पृह और सदा पवित्र रहते हैं, वे निष्काम तथा आनन्दित होके मेरे लोकमें देवताओंके सहित अथवा जिस लोकमें उनकी इच्छा हो वहां निवास करें। (४६—५१)

अनुशासनपर्वमें ७३ अध्याय समाप्त।

R.No.B.1819

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	१)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
10 सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	॥।) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।)	" ।)
१२ शान्तिपर्व ।					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)

कुल मूल्य ५२।) कुल डा. व्य. ९।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

REGISTERED NO.B. 1819

अङ्क १०२ ॥ ॐ ॥ [अनुशासनपर्व ६]

महाभारत ।

भाषा--भाष्य--समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

महाभारत ।

प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रसिद्ध होता है।

१२ अंकोंका अर्थात् १२०० पृष्ठोंका मूल्य म०आ०से ६) रु० और वी. पी. से ७) रु० है।

मंत्री- स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी. पी. से ७) विदेशके लिये-८)

दानार्थं ब्राह्मणार्थाय तत्रेदं श्रूयतां फलम् ॥ २ ॥
विक्रयार्थं हि यो हिंस्याद्भक्षयेद्वा निरङ्कुशः ।
घातयानं हि पुरुषं येऽनुमन्येयुरर्थिनः ॥ ३ ॥
घातकः खादको वापि तथा यश्चानुमन्यते ।
यावन्ति तस्या रोमाणि तावद्वर्षाणि मज्जति ॥ ४ ॥
ये दोषा यादृशाश्चैव द्विज यज्ञोपघातके ।
विक्रये चापहारे च ते दोषा वै स्मृताः प्रभो ॥ ५ ॥
अपहृत्य तु यो गां वै ब्राह्मणाय प्रयच्छति ।
यावद्दानफलं तस्यास्तावन्निरयमृच्छति ॥ ६ ॥
सुवर्णं दक्षिणामाहुर्गोप्रदाने महाद्युते ।
सुवर्णं परमित्युक्तं दक्षिणार्थमसंशयम् ॥ ७ ॥
गोप्रदानात्तारयते सप्त पूर्वांस्तथाऽपरान् ।
सुवर्णं दक्षिणां कृत्वा तावद् द्विगुणमुच्यते ॥ ८ ॥
सुवर्णं परमं दानं सुवर्णं दक्षिणा परा ।

अनुशासनपर्वमें ७४ अध्याय ।

इन्द्र बोले जो पुरुष जानके गऊ हरता अथवा धनके निमित्त बेचता है, उसकी कैसी गति होती है? मैं इसे यथार्थ रीतिसे जाननेकी इच्छा करता हूं। (१)

ब्रह्मा बोले, खाने अथवा बेचनेके लिये जो लोग गऊ हरते और ब्राह्मण को दान करने के लिये जो पुरुष गऊ मोल लेते हैं, उस विषयके फल सुनो। जो पुरुष निठुर होके बेचनेके लिये गऊको मारता वा भक्षण करता है, तथा जो अर्थी होकर घातक पुरुषों को अनुमति देता है, गऊके शरीरमें जितने रोम रहते हैं, उतने वर्ष पर्यन्त मारनेवाले, खानेवाले और अनुमति देनेवाले नरकमें डूबते हैं। हे प्रभु! ब्राह्मणके यज्ञको नष्ट करनेसे जैसा दोष होता है, गऊ बेचने और हरनेसे भी उतना ही दोष हुआ करता है। (२—५)

जो पुरुष गऊ हरके ब्राह्मणको दान करता है, गोदानका जितना फल है, उतने समयतक वह दाता नरकमें गमन करता है, हे महाद्युति! पण्डित लोग गोदानके समय सुवर्णको दक्षिणा कहा करते हैं, दक्षिणाके निमित्त निःसन्देह सुवर्ण ही श्रेष्ठ है। मनुष्य गोदान करनेसे सात ऊपरके और सात नीचेके पुरुषोंका उद्धार करता है, सुवर्णकी

सुवर्णं पावनं शक्र पावनानां परं स्मृतम् ॥ ९ ॥
कुलानां पावनं प्राहुर्जातरूपं शतक्रतो ।
एषा मे दक्षिणा प्रोक्ता समासेन महाद्युते ॥ १० ॥
भीष्म उवाच-एतत्पितामहेनोक्तमिन्द्राय भरतर्षभ ।
इन्द्रो दशरथायाऽऽह रामायाह पिता तथा ॥ ११ ॥
राघवोऽपि प्रियभ्रात्रे लक्ष्मणाय यशस्विने ।
ऋषिभ्यो लक्ष्मणेनोक्तमरण्ये वसता प्रभो ॥ १२ ॥
पारम्पर्यागतं चेदमृषयः संशितव्रताः ।
दुर्धरं धारयामासू राजानश्चैव धार्मिकाः ॥ १३ ॥
उपाध्यायेन गदितं मम चेदं युधिष्ठिर ।
य इदं ब्राह्मणो नित्यं वदेद्ब्राह्मणसंसदि ॥ १४ ॥
यज्ञेषु गोप्रदानेषु द्वयोरपि समागमे ।
तस्य लोकाः किलाऽक्षय्या दैवतैः सह नित्यदा॥ १५॥
इति ब्रह्मा स भगवानुवाच परमेश्वरः ॥ १६ ॥ [३५७८]

इति श्रीमहाभारते० अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ७४

दक्षिणा देनेसे उनका दुगुना फल कहा गया है, सुवर्ण ही परम दान और परम दक्षिणा है। हे शक्र! सुवर्ण ही समस्त पवित्र वस्तुओंके बीच पावन कहके वर्णित हुआ है। हे देवराज! सुवर्णको पण्डितोंने समस्त कुलके लिये पावन कहा है। हे महाद्युति! यह मैंने संक्षेपमें दक्षिणाकी कथा कही है। (९—१०)

भीष्म बोले, हे भरतश्रेष्ठ! पितामह ने यह विषय देवराजसे कहा था, इन्द्रने दशरथसे, दशरथने रामसे,रामने अपने प्रिय भाई यशस्वी लक्ष्मणसे कहा और लक्ष्मणने वनवासके समयमें यह विषय ऋषियोंके समीप वर्णन किया था। संशितव्रती और धार्मिक राजाओंने इस ही परम्पराक्रमसे आते हुए इस दुर्धर विषयको धारण किया था। हे युधिष्ठिर! इस विषयको मेरे उपाध्यायने मेरे निकट वर्णन किया था। जो ब्राह्मण इसे सदा ब्राह्मणोंकी सभामें कहता है, गोदान, यज्ञ अथवा दोनोंके समागममें उसके समस्त लोक सदा देवताओंके सहित अक्षय होते हैं, उस सर्व शक्तिमान भगवान परमेश्वर ब्रह्माने यह कथा कही थी। (११-१६)

अनुशासनपर्वमें ७४ अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच-विस्त्रम्भितोऽहं भवता धर्मान्प्रवदता विभो।
प्रवक्ष्यामि तु सन्देहं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १॥
व्रतानां किं फलं प्रोक्तं कीदृशं वा महाद्युते।
नियमानां फलं किं च स्वधीतस्य च किं फलम् ॥ २॥
दत्तस्येह फलं किं च वेदानां धारणे च किम्।
अध्यापने फलं किं च सर्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ ३॥
अप्रतिग्राहके किं च फलं लोके पितामह।
तस्य किं च फलं दृष्टं श्रुतं यस्तु प्रयच्छति ॥ ४॥
स्वकर्मनिरतानां च शूराणां चापि किं फलम्।
शौचे च किं फलं प्रोक्तं ब्रह्मचर्ये च किं फलम् ॥ ५॥
पितृशुश्रूषणे किं च मातृशुश्रूषणे तथा।
आचार्यगुरुशुश्रूषास्वनुक्रोशानुकम्पने ॥ ६॥
एतत्सर्वमशेषेण पितामह यथातथम्।
वेत्तुमिच्छामि धर्मज्ञ परं कौतूहलं हि मे ॥ ७॥

अनुशासनपर्वमें ७५ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे प्रभु पितामह! आपके सब धर्म वर्णन करनेसे मैं विश्वस्त हुआ, अब मैं कुछ सन्देहके विषय पूछता हूं, आप मुझे उसका उत्तर दीजिये। हे महातेजस्वी! व्रतोंका कैसा फल कहा गया है और वे कैसे हैं? नियमोंका क्या फल है? उत्तम रीतिसे अध्ययन करनेका कैसा फल होता है? इन्द्रियनिग्रहरूपी दमका क्या फल है; वेदोंको धारण करनेसे क्या फल होता है? पढानेसे कैसा फल हुआ करता है, यह सब जाननेकी इच्छा करता हूं। (१-३)

हे पितामह! जगत्में प्रतिग्रह न करनेसे क्या फल होता है? जो पुरुष दान करता है, उसके दानका कुछ भी फल देखा तथा सुना गया है, वा नहीं? निजकार्यमें रत रहनेवाले शूर पुरुषोंको क्या फल प्राप्त होता है? शौचाचारका क्या फल कहा गया है? ब्रह्मचर्यका क्या फल है? पिता माताकी सेवा करनेका क्या फल होता है? आचार्य और गुरुकी सेवा करनेका कैसा फल है? अनुक्रोश अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी होना और अनुकम्पा अर्थात् दूसरेके दुःखको दूर करनेका क्या फल है? हे पितामह! इन विषयोंको यथार्थ रीतिसे जाननेकी अभिलाषा करता हूं, इसमें मुझे अत्यन्त ही कौतू-

भीष्म उवाच— यो व्रतं वै यथोद्दिष्टं तथा संप्रतिपद्यते ।
अखण्डं सम्यगारभ्य तस्य लोकाः सनातनाः ॥ ८ ॥
नियमानां फलं राजन्प्रत्यक्षमिह दृश्यते ।
नियमानां क्रतूनां च त्वयाऽवाप्तमिदं फलम् ॥ ९ ॥
स्वधीतस्यापि च फलं दृश्यतेऽमुत्र चेह च ।
इह लोकेऽथवा नित्यं ब्रह्मलोके च मोदते ॥ १० ॥
दमस्य तु फलं राजञ्छृणु त्वं विस्तरेण मे ।
दान्ताः सर्वत्र सुखिनो दान्ताः सर्वत्र निर्वृताः ॥११॥
यत्रेच्छागामिनो दान्ताः सर्वशत्रुनिपूदनाः ।
प्रार्थयन्ति च यद्दान्ता लभन्ते तन्न संशयः ॥ १२ ॥
युज्यन्ते सर्वकामैर्हि दान्ताः सर्वत्र पाण्डव ।
स्वर्गे यथा प्रमोदन्ते तपसा विक्रमेण च ॥ १३ ॥
दानैर्यज्ञैश्च विविधैस्तथा दान्ताः क्षमान्विताः ।
दानाद्दमो विशिष्टो हि ददत्किंचिद् द्विजातये ॥ १४ ॥
दाता कुप्यति नो दान्तस्तस्माद्दानात्परं दमः ।

हल हुआ है । (४—७)

भीष्म बोले, जो लोग एकभक्त आदि यथा विहित व्रतको भली भांति आरम्भ करके पूर्ण रीतिसे समाप्त करते हैं, उन्हें सनातन लोक मिलता है। हे राजन् ! इस लोकमें यज्ञोंका और नियमोंका फल प्रत्यक्ष ही दिखाई देता और आपको मिला है। भली भांति पढनेका फल इस लोक और परलोकमें दीखता है। पढानेवाले मनुष्य इस लोकमें नियत सुख भोगके ब्रह्मलोकमें प्रमुदित होते हैं। हे महाराज ! तुम मेरे समीप विस्तारपूर्वक दमका फल सुनो ! दमयुक्त पुरुष सर्वत्र सुख भोगते हैं और सब स्थानोंमें ही निर्वृत हुआ करते हैं। उनकी जिस स्थानमें इच्छा हो, वहां जा सकते हैं और समस्त शत्रुओंको नष्ट करते हैं, दान्त पुरुष जिस वस्तुके निमित्त प्रार्थना करते हैं, उसे निःसन्देह पाते हैं। (८—१२)

हे पाण्डव ! दमयुक्त पुरुष सर्व-कामसम्पन्न हुआ करते हैं। जैसे पुरुष तपस्या और पराक्रमके सहारे स्वर्गमें प्रमोद करते हैं, वैसेही क्षमावान्, दम-युक्त मनुष्य विविध दान और यज्ञके सहारे आनन्दित हुआ करते हैं। दान-से दम श्रेष्ठ है; द्विजातियोंको जो दान

यस्तु दद्यादकुप्यन्हि तस्य लोकाः सनातनाः ॥ १५ ॥
क्रोधो हन्ति हि यद्दानं तस्माद्दानात्परं दमः।
अदृश्यानि महाराज स्थानान्ययुतशो दिवि ॥ १६ ॥
ऋषीणां सर्वलोकेषु यानीतो यान्ति देवताः।
दमेन यानि नृपते गच्छन्ति परमर्षयः ॥ १७ ॥
कामयाना महत्स्थानं तस्माद्दानात्परं दमः।
अध्यापकः परिक्लेशादक्षयं फलमश्नुते ॥ १८ ॥
विधिवत्पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप।
अधीत्यापि हि यो वेदान्न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति ॥ १९ ॥
गुरुकर्मप्रशंसी तु सोऽपि स्वर्गे महीयते।
क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि।
युद्धे यश्च परित्राता सोऽपि स्वर्गे महीयते ॥ २० ॥
वैश्यः स्वकर्मनिरतः प्रदानाल्लभते महत्।
शूद्रः स्वकर्मनिरतः स्वर्गं शुश्रूषयाऽच्छति ॥ २१ ॥

करता है, वह दाता कदाचित कुपित हो सकता है, परन्तु दमयुक्त पुरुष कभी क्रुद्ध नहीं होते, इसलिये दानसे दम ही श्रेष्ठ है। जो लोग क्रुद्ध न होके दान करते हैं, उन्हें सनातन लोक मिलता है, जब कि क्रोध दानको विनष्ट करता है, तब दानसे दम ही श्रेष्ठ है। (१३—१६)

हे महाराज! सुरपुरमें ऋषियोंके दश हजार अदृश्य स्थान हैं, जिन स्थानोंमें देववृन्द इस लोकसे गमन किया करते हैं, वेही सब लोकोंके बीच उत्तम हैं। हे महाराज! कामगामी परमर्षिवृन्द दमके सहारे जहां प्रस्थान करते हैं, वही महत् स्थान है, इसलिये दानसे दम ही श्रेष्ठ है। अध्यापक लोग अध्यापन कार्यसे अत्यन्त क्लेश सहनेके कारण अक्षय फल उपभोग करते हैं। हे नरनाथ! विधिपूर्वक अग्निमें आहुति देकर मनुष्य ब्रह्मलोकमें गमन किया करता है। जो लोग वेदको पढके न्यायपूर्वक लोगोंको पढाते हैं, वे उस ही गुरुकर्मके सहारे स्वर्ग लोकमें पूजित होते हैं। जो क्षत्रिय अध्ययन, यजन और दान कार्यमें नियुक्त रहके युद्धमें परित्राता बनता है, वह भी स्वर्गमें पूजित हुआ करता है। (१६-२०)

निज कर्ममें रत वैश्य दानसे महत्त्व पाता है और निज कर्ममें रत रहनेवाला

शूरा बहुविधाः प्रोक्तास्तेषामर्थांस्तु मे शृणु ।
शूरान्वयानां निर्दिष्टं फलं शूरस्य चैव हि ॥ २२ ॥
यज्ञशूरा दमे शूराः सत्यशूरास्तथाऽपरे ।
युद्धशूरास्तथैवोक्ता दानशूराश्च मानवाः ॥ २३ ॥
सांख्यशूराश्च बहवो योगशूरास्तथाऽपरे ।
अरण्ये गृहवासे च त्यागे शूरास्तथा परे ॥ २४ ॥
आर्जवे च तथा शूराः शमे वर्तन्ति मानवाः ।
तैस्तैश्च नियमैः शूरा बहवः सन्ति चाऽपरे ।
वेदाध्ययनशूराश्च शूराश्चाऽध्यापने रताः ॥ २५ ॥
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयाऽपरे ।
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथाऽपरे ॥ २६ ॥
अरण्ये गृहवासे च शूराश्चाऽतिथिपूजने ।
सर्वे यान्ति परान् लोकान्स्वकर्मफलनिर्जितान् ॥ २७ ॥
धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थाऽवगाहनम् ।
सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम् ॥ २८ ॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।

शूद्र भी सेवाके सहारे स्वर्गमें जाता है। अनेक प्रकारके शूर कहे जाते हैं; मेरे समीप उनका विषय सुनो । शूरवंशीय शूरोंका फल निर्दिष्ट है, यज्ञशूर, दम-शूर, सत्यशूर, युद्धशूर, दानशूर, ज्ञान-शूर, और योगशूर प्रभृति अनेक प्रकारके मनुष्य शूर कहे गये हैं, इसके अतिरिक्त वनवास, गृहवास और त्याग विषयमें बहुतेरे शूर हुआ करते हैं । कोई कोई बुद्धिशूर, कोई क्षमाशूर, और कोई सरलता विषयमें शूर हैं, कोई मनुष्य समता विषयमें शूर रूपसे वर्तमान है, पहले कहे हुए नियमके द्वारा दूसरे अनेक प्रकारके शूर हुआ करते हैं । कोई वेद पढनेमें शूर है, कोई विद्यामें रत रहनेसे शूर है, कोई गुरुसेवा, मातृसेवा और पितृसेवा विष-यमें शूर हैं, कोई मनुष्य भिक्षा विषयमें शूर हैं । (२१-२६)

वनवास, गृह-वास और अतिथि-पूजनमें कोई कोई मनुष्य शूर हुआ करते हैं, ये सभी पुरुष निजकर्म फलसे अर्जित लोकोंमें गमन करते हैं। वेदोंका पाठ करनेवाले तथा तीर्थोंमें स्नान करनेवाले सदा सत्यवादीके समान होते अथवा नहीं हो सकते । सहस्र

अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ २९ ॥
सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाऽग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥
सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा ।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात्सत्यं न लङ्घयेत् ॥ ३१ ॥
मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः ।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥ ३२ ॥
सत्यवन्तः स्वर्गलोके मोदन्ते भरतर्षभ ।
दमः सत्यफलाऽवाप्तिरुक्ता सर्वात्मना मया ॥ ३३ ॥
असंशयं विनीतात्मा स वै स्वर्गे महीयते ।
ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप ॥ ३४ ॥
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।
न तस्य किंचिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ॥ ३५ ॥
बह्व्यः कोट्यस्त्वृषीणां तु ब्रह्मलोके वसन्त्युत ।
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ३६ ॥
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ।

अश्वमेध यज्ञ और अकेला सत्य तराजू पर तौला गया था, परन्तु सहस्र अश्वमेधसे अकेला सत्य ही विशिष्ट हुआ। सत्यसे ही सूर्य तपता है, सत्यहीसे अग्नि जलती है, सत्यसे ही वायु बहती है, इसलिये सत्यसे ही सब प्रतिष्ठित है। सत्यसे देवता प्रसन्न होते और सत्यसे ही पितर तथा ब्राह्मणवृन्द प्रसन्न हुआ करते हैं। सत्यको ही ऋषिलोग परम धर्म कहते हैं, इसलिये सत्यको न मानना उचित नहीं है। मुनिवृन्द सत्यमें ही रत हैं, मुनियोंका सत्य ही विक्रम है, मुनियोंकी शपथ सत्य है, इसलिये सत्य ही सबसे विशिष्ट होता है। (२७—३२)

हे भरतश्रेष्ठ! सत्यवादी मनुष्य स्वर्गलोकमें आनन्दित हुआ करते हैं। दम ही सत्यफलकी प्राप्ति स्वरूप है, इसे पहले ही मैंने सब प्रकारसे कहा है, विनययुक्त मनुष्य निःसन्देह स्वर्गलोकमें पूजित होते हैं। हे पृथ्वीनाथ! अब ब्रह्मचर्यके गुण सुनो, जो पुरुष इस लोकमें जन्मसे मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी होता है, उसे कुछ भी अप्राप्त न जानना। ऋषियोंके बीच ब्रह्मचारी पुरुष कई करोड वर्षतक ब्रह्मलोकमें

ब्राह्मणेन विशेषेण ब्राह्मणो ह्यग्निरुच्यते ॥ ३७ ॥
प्रत्यक्षं हि तथा ह्येतद्ब्राह्मणेषु तपस्विषु ।
बिभेति हि यथा शक्रो ब्रह्मचारिप्रधर्षितः ॥ ३८ ॥
तद्ब्रह्मचर्यस्य फलमृषीणामिह दृश्यते ।
मातापित्रोः पूजने यो धर्मस्तमपि मे शृणु ॥ ३९ ॥
शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत्कदाचन ।
मातरं भ्रातरं वाऽपि गुरुमाचार्यमेव च ॥ ४० ॥
तस्य राजन्फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम् ।
न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयाऽऽत्मवान् ॥ ४१ ॥ [३६१९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर उवाच– विधिं गवां परं श्रोतुमिच्छामि नृप तत्त्वतः ।
येन तान् शाश्वताँल्लोकानर्थिनां प्राप्नुयादिह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच– न गोदानात्परं किंचिद्विद्यते वसुधाधिप ।
गौर्हि न्यायागता दत्ता सद्यस्तारयते कुलम् ॥ २ ॥

निवास करते हैं। हे महाराज! सदा सत्यमें रत, दान्त, ऊर्ध्वरेता विशेष करके ब्रह्मचर्यव्रतनिष्ठ ब्राह्मणके सब पापोंको जला देता है, क्यों कि ब्राह्मण अग्निरूपी कहे गये हैं, ब्राह्मणोंको तपस्वी होनेपर यह प्रत्यक्ष दीख पडता है, कि जिसके प्रभावसे ब्रह्मचारीसे धर्षित होनेपर इन्द्र डरते हैं, ऋषियोंके उस ब्रह्मचर्यका फल इस लोकमें दिखाई देता है। माता पिताकी पूजा करनेसे जो धर्म होता है, वह मुझसे सुनो। हे महाराज! जो लोग पिताकी सेवा करते हैं और कभी उनके विषयमें असूया नहीं करते, तथा माता, भ्राता, गुरु और आचार्यके विषयमें पितृवत् व्यवहार करते हैं, स्वर्गलोकमें उन्हें पूजित स्थान मिलता है, इसे ही फल जानो। आत्मवान् पुरुष गुरुसेवाके सहारे कदापि नरक नहीं देखता। (३३—४१)

अनुशासनपर्वमें ७५ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ७६ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! जिसके द्वारा शाश्वत लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है, आपके समीप उस गोदानकी विधिको यथार्थ रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं। (१)

भीष्म बोले, हे पृथ्वीनाथ! गोदान

सतामर्थे सम्यगुत्पादितो यः स वै क्लृप्तः सम्यगाभ्यः प्रजाभ्यः।
तस्मात्पूर्वं ह्यादिकालप्रवृत्तं गोदानार्थं शृणु राजन्विधिं मे ॥ ३ ॥
पुरा गोषूपनीतासु गोषु संदिग्धदर्शिना।
मान्धात्रा प्रकृतं प्रश्नं बृहस्पतिरभाषत ॥ ४ ॥
द्विजातिमतिसत्कृत्य श्वःकालमभिवेद्य च।
गोदानार्थे प्रयुञ्जीत रोहिणीं नियतव्रतः ॥ ५ ॥
आह्वानं च प्रयुञ्जीत समङ्गे बहुलेति च।
प्रविश्य च गवां मध्यमिमां श्रुतिमुदाहरेत् ॥ ६ ॥
गौर्मे माता वृषभः पिता मे दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा।
प्रपद्यैवं शर्वरीमुष्य गोषु पुनर्वाणीमुत्सृजेद्गोप्रदाने ॥ ७ ॥
स तामेकां निशां गोभिः समसख्यः समव्रतः।
ऐकात्म्यगमनात्सद्यः कलुषाद्विप्रमुच्यते ॥ ८ ॥
उत्सृष्टवृषवत्सा हि प्रदेया सूर्यदर्शने।

से श्रेष्ठ दूसरे कोई भी विषय विद्यमान नहीं हैं, क्यों कि न्यायसे प्राप्त हुई गऊ दान करनेसे दाता शीघ्र ही अपने कुलका उद्धार करता है। हे महाराज! जो विधि साधुओंके निमित्त पूरी रीतिसे प्रकट है, इन प्रजाओंके लिये भी वही ज्योंकी त्यों रचित है; इसलिये पहले समयसे प्रसिद्ध उस गोदानकी विधिको मेरे समीप सुनो। (२-३)

पहले समयमें गौवोंके उपस्थित होनेपर उनके विषयमें मान्धाताके शङ्कायुक्त होके प्रश्न करनेपर बृहस्पतिने उत्तर दिया था। अपनी आकस्मिक मृत्यु उपस्थित हुई जानके नियतव्रती मनुष्य ब्राह्मण का सत्कार करके लाल रङ्गवाली गऊ दान करे। गौवोंको "समङ्गे बहुले" इन नामोंके द्वारा आह्वान करे और गौवोंके बीच प्रवेश करके इस वक्ष्यमाण श्रुतिका पाठ करना होगा। "गऊ हमारी माता और वृषभ पिता,मुझे स्वर्ग तथा ऐहिक सुख प्रदान करें; गौवोंसे हमारी प्रतिष्ठा हो," ऐसा मन्त्र उच्चारण करके गोसमूहमें प्रवेश करे और मौनावलम्बन करके वहां एक रात्रि वास करे, गोदानके समय फिर वचन कहे, यही गोदान का पूर्वाङ्ग व्रत है। (४-७)

साधुओंके बीच जो पुरुष एक रात्रि गौवोंके सहित समसख्य और समव्रती अर्थात् पृथ्वीपर सोके दंश मशकादिके अनिवारण प्रभृति गुणोंसे युक्त हुआ करते हैं, वे गौवोंके सहित ऐकात्म्य

त्रिदिवं प्रतिपत्तव्यमर्थवादाशिषस्तव ॥ ९ ॥
ऊर्जस्विन्य ऊर्जमेधाश्च यज्ञे गर्भोऽमृतस्य जगतोऽस्य प्रतिष्ठा।
क्षितेरोहः प्रवहः शश्वदेव प्राजापत्याः सर्वमित्यर्थवादाः ॥ १० ॥
गावो ममैनः प्रणुदन्तु सौर्यास्तथा सौम्याः स्वर्गयानाय सन्तु।
आत्मानं मे मातृवच्चाश्रयं तु तथाऽनुक्ताः सन्तु सर्वाशिषो मे ॥११॥
शेषोत्सर्गे कर्मभिर्देहमोक्षे सरस्वत्यः श्रेयसे संप्रवृत्ताः।
यूयं नित्यं सर्वपुण्योपवाह्यां दिशध्वं मे गतिमिष्टां प्रसन्नाः ॥१२॥
या वै यूयं सोऽहमद्यैव भावो युष्मान्दत्त्वा चाहमात्मप्रदाता।
मनश्च्युता मन एवोपपन्नाः संधुक्षध्वं सौम्यरूपोग्ररूपाः ॥ १३ ॥
एवं तस्याग्रे पूर्वमर्धं वदेत गवां दाता विधिवत्पूर्वदृष्टः।
प्रतिब्रूयाच्छेषमर्धं द्विजातिः प्रतिगृह्णन्वै गोप्रदाने विधिज्ञः ॥ १४ ॥

गमन निबन्धनसे ही समस्त पापोंसे छूट जाते हैं। सूर्योदयके समय बछड़े युक्त गऊ दान करनेसे तुम स्वर्गलोक पाओगे और तुम्हें अर्थवादरूपी आशीर्वाद प्राप्त होंगे। गौवें उर्जस्विनी अर्थात् उत्साह बलविधायिनी, प्रज्ञावर्द्धिनी, यज्ञकर्ममें अमृत अर्थात् यज्ञसाधन हविकी गर्भभूत, इस जगतकी प्रतिष्ठास्वरूप और सदा पृथ्वीका प्रवाहरूप प्राजापत्य, ये सब अर्थवाद गौवोंमें प्रतिष्ठित हैं। (८—१०)

गौवें मेरा पाप दूर करें, सूर्य और सोमदैवत गौवें मेरे स्वर्ग गमनमें कारण होवें, मेरे चित्तमें माताके समान अवलम्ब हों, दोनों मन्त्रोंमें कहा हुआ तथा अनुक्त आशीर्वाद मेरे निमित्त सफल होवे। रोग-उपतापके दूर करने और देहमोक्षके समय पंचगव्यादि सेवन करनेपर गौवें सरस्वती नदीकी भांति कल्याणके हेतु हुआ करती हैं। हे गोवृन्द ! तुम लोग सदा पुण्य ढोया करती हो; इसलिये तुम प्रसन्न होके मुझे अभिलषित गति प्रदान करो। (११—१२)

इस समय जो तुम हो, मैं वही हूं, आज हम लोगोंकी एकता होती है, मैं तुम्हें दान करके आत्मप्रदाता बनता हूं, तुम लोग दाताके ममत्व अभिमानसे रहित होके मेरे ममताकी आस्पद हुई हो, तुम लोग सौम्य और उग्ररूपसे युक्त होकर दाताको अभीष्ट भोगके सहारे प्रकाशित करो। विधिपूर्वक गोदान करनेवाला ग्रहीताके अगाडी पहले कहे हुए श्लोकका अर्द्धभाग पढ़े और प्रतिग्रहीता द्विजाति गोदान लेनेके समय पहले कहे हुए श्लोकका शेष

गोप्रदानीति वक्तव्यमर्घ्यवस्त्रवसुप्रदः ।
उर्ध्वास्या भवितव्या च वैष्णवीति च चोदयेत्॥१५॥
नाम संकीर्तयेत्तस्या यथासङ्ख्योत्तरं स वै ।
फलं षट्त्रिंशदष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ॥ १६ ॥
एवमेतान् गुणान्विद्याद्गवादीनां यथाक्रमम् ।
गोप्रदाता समाप्नोति समस्तानष्टमे क्रमे ॥ १७ ॥
गोदः शीली निर्भयश्चार्घदाता न स्याद्दुःखी वसुदाता च कामम् ।
उषस्योढा भारते यश्च विद्वान्विख्यातास्ते वैष्णवाश्चन्द्रलोकाः ॥ १८ ॥
गा वै दत्त्वा गोव्रती स्यात्त्रिरात्रं निशां चैकां संवसेतेह ताभिः ।
कामाष्टम्यां वर्तितव्यं त्रिरात्रं रसैर्वा गोः शकृता प्रस्नवैर्वा ॥ १९ ॥

आधा हिस्सा पाठ करे, गोदानके समय जो लोग ऐसा आचरण करते हैं, वे ही विधि जाननेवाले हैं। (१३—१४)

जो लोग गोदानकी प्रतिनिधि स्वरूप व्यावहारिक गऊका मूल्य वस्त्र वा वित्त दान करते हैं, उन्हें भी गोदाता कहना योग्य है। गऊका मूल्य दान करनेके समय ऐसा वचन कहे, कि तुम्हें ऊर्ध्वास्या गऊ प्रदान करता हूं, तुम ग्रहण करो। वस्त्र दान करनेके समय भवितव्या और वसुधेनु दानके समय 'वैष्णवी' इस वाक्यका प्रयोग करे; संख्याके अनुसार गौवोंके ऊर्ध्वास्या प्रभृति नाम कहना चाहिये। यथाक्रमसे प्रतिनिधि दान प्रभृतिका ऐसा ही फल जानो; गऊका मूल्य देनेसे छत्तीस हजारगुण फल होता है, वस्त्रधेनु देनेसे आठ हजारगुण और वसुधेनु दान करनेसे बीस हजारगुण फल हुआ करता है। (१५—१६)

साक्षात् गोदान करनेवालेको आठपग गमन करते ही समस्त फल प्राप्त होते हैं, अर्थात् ग्रहीताके पहुंचते ही उसके बालक, अतिथि और अग्निहोत्र आदिका प्रतिदिन निर्वाह होता है। गोदाता शीलवान् होता, मूल्य देनेवाला निर्भय हुआ करता है और वस्त्रदाता कभी दुःखी नहीं होता। जो लोग उषःकालमें प्रातःस्नान आदि किया करते हैं और जिन्हें विशेष रीतिसे महाभारत विदित है, वे चन्द्रमाकी भांति प्रकाशयुक्त लोक वैष्णवरूपसे विख्यात होते हैं, इसलिये वैसे ब्राह्मणोंको गोदान करना उचित है। (१७—१८)

गोदान करके मनुष्य त्रिरात्र गोव्रती होवे और एक रात्रि इस लोकमें गौवोंके सहित निवास करे तथा काम्याष्टमीमें

देवव्रती स्याद्वृषभप्रदाने वेदावाप्तिर्गोयुगस्य प्रदाने।
तथा गवां विधिमासाद्य यज्वा लोकानग्र्यान्विन्दते नाविधिज्ञः॥ २०॥
कामान्सर्वान्पार्थिवानेकसंस्थान्यो वै दद्यात्कामदुघां च धेनुम्।
सम्यक्ताः स्युर्हव्यकव्यौघवत्यस्तासामुक्ष्णां ज्यायसां सम्प्रदानम्॥२१॥
न चाऽशिष्यायाव्रतायोपकुर्यान्नाऽश्रद्दधानाय न वक्रबुद्धये।
गुह्यो ह्ययं सर्वलोकस्य धर्मो नेमं धर्मं यत्र तत्र प्रजल्पेत्॥ २२॥
सन्ति लोके श्रद्दधाना मनुष्याः सन्ति क्षुद्रा राक्षसा मानुषेषु।
एषामेतद्दीयमानं ह्यनिष्टं ये नास्तिक्यं चाश्रयन्तेऽल्पपुण्याः॥ २३॥
बार्हस्पत्यं वाक्यमेतन्निशम्य ये राजानो गोप्रदानानि दत्त्वा।
लोकान्प्राप्ताः पुण्यशीलाः प्रवृत्तास्तान्मे राजन्कीर्त्यमानान्निबोध॥२४॥
उशीनरो विष्वगश्वो नृगश्च भगीरथो विश्रुतो यौवनाश्वः।
मान्धाता वै मुचुकुन्दश्च राजा भूरिद्युम्नो नैषधः सोमकश्च॥ २५॥

त्रिरात्रके समय गोरस, गोमय और गोमूत्रके द्वारा जीवन बितावे। वृषभ दान करनेपर मनुष्य देवव्रती अर्थात् सूर्यमण्डलभेत्ता ब्रह्मचारी हुआ करता है, दो गऊ दान करनेसे वेदप्राप्ति होती है और यज्ञ करनेवाला पुरुष विधिपूर्वक गोदान करनेसे उत्तम लोक पाता है। जो लोग विधि जाननेवाले नहीं हैं, उन्हें उन लोकोंकी प्राप्ति नहीं होती। जो लोग कामदुघा गऊ दान करते हैं और जो लोग एकसंस्थ समस्त पार्थिव काम्यविषय दान देते हैं, उनमेंसे हव्यकव्यवती गौवें ही श्रेष्ठ होती हैं और गऊकी अपेक्षा वृषभ दान करनेसे अधिक फल प्राप्त होता है। (१९-२१)

जो पुरुष शिष्य नहीं है, जो व्रत नहीं करते, जो लोग श्रद्धावान् नहीं हैं, उनके समीप यह धर्मविषय न कहे, यह धर्म सब लोगोंको ही गोपनीय है, इसलिये जहां तहां इस धर्मकी जल्पना करनी उचित नहीं है। इस लोकमें बहुतसे श्रद्धावान् मनुष्य हैं और मनुष्योंके बीच बहुतेरे क्षुद्रबुद्धि तथा राक्षस हैं, जिनसे कहनेसे बुराई हो और जो सब अल्प पुण्यवाले मनुष्य नास्तिकता अवलम्बन किये हों, उनके निकट यह विषय न कहे। (२२-२३)

हे महाराज! यह सब बृहस्पतिसम्बन्धीय वचन सुनके जिन राजाओंने गोदान करके पवित्र लोकोंको पाया है, उन पुण्यशील राजाओंका विषय सुनो। उशीनर, विष्वगश्व, नृग, विख्यात भगीरथ, यौवनाश्व, मान्धाता,

पुरूरवा भरतश्चक्रवर्ती यस्यान्ववाये भरताः सर्व एव।
तथा वीरो दाशरथिश्च रामो ये चाप्यऽन्ये विश्रुताः कीर्तिमन्तः ॥ २६ ॥
तथा राजा पृथुकर्मा दिलीपो दिवं प्राप्तो गोप्रदानैर्विधिज्ञः।
यज्ञैर्दानैस्तपसा राजधर्मैर्मान्धाताऽभूद्गोप्रदानैश्च युक्तः ॥ २७ ॥
तस्मात्पार्थ त्वमपीमां मयोक्तां बार्हस्पतीं भारतीं धारयस्व।
द्विजाग्र्येभ्यः संप्रयच्छस्व प्रीतो गाः पुण्या वै प्राप्य राज्यं कुरूणाम् ॥ २८ ॥
वैशम्पायन उवाच-तथा सर्वं कृतवान्धर्मराजो भीष्मेणोक्तो विधिवद्गोप्रदाने।
स मान्धातुर्देवदेवोपदिष्टं सम्यग्धर्मं धारयामास राजा ॥ २९ ॥
इति नृप सततं गवां प्रदाने यवशकलान्सह गोमयैः पिबानः।
क्षितितलशयनः शिखी यतात्मा वृष इव राजवृषस्तदा बभूव ॥ ३० ॥
नरपतिरभवत्सदैव ताभ्यः प्रयतमनास्त्वभिसंस्तुवंश्च ताः स्म।
नृपतिधुरि च गामयुक्त भूपस्तुरगवरैरगमच्च यत्र तत्र ॥ ३१ ॥ [३६५०]

इति श्रीमहाभारते० अनु० आनुशा० पर्वणि दानधर्मे गोदानकथने षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥७६॥

राजा मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, नैषध, सोमक, पुरूरवा, चक्रवर्त्ती भरत, "जिसके वंशमें जन्म लेके सब राजा भारत नामसे विख्यात हुए हैं," वीरश्रेष्ठ दाशरथि राम, इनके अतिरिक्त दूसरे जो सब राजा कीर्त्तिमान रूपसे विख्यात हैं और पृथुकर्मा दिलीपने विधिज्ञ होके गोदानके सहारे स्वर्गलोक पाया है। महाराज मान्धाता यज्ञ, दान, तपस्या, राजधर्म और गोदान विषयमें सदा नियुक्त थे। हे पार्थ! इसलिये तुम भी मेरी कही हुई इस बार्हस्पती वाणीको धारण करो। तुमने कौरवोंका राज्य पाया है, इसलिये प्रसन्न होकर ब्राह्मणोंको पवित्र गऊ दान करो। (२४-२८)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर जिस प्रकार भीष्मने गोदानका विषय कहा, धर्मराजने उसे उसही भांति किया, मान्धाताके समीप जो विषय बृहस्पतिके द्वारा वर्णित हुआ था, राजाओंने उस ही धर्मको पूर्ण रीतिसे धारण किया। हे महाराज! इस ही भांति गोदानके समय गोमयके साथ यवस भक्षण और पृथ्वीपर शयन करते हुए शिखावान होकर वृषभकी भांति वह नृपश्रेष्ठ संयतचित्त हुए थे। राजा लोग सदा गौवोंके विषयमें प्रसन्नचित्त होकर उनकी स्तुति करते हुए राजाओंमें अग्रणी होके उत्तम अश्वश्रेष्ठसे जिस स्थानमें इच्छा होती, वहां जाते थे। (२९-३१)

अनुशासनपर्वमें ७६ अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच-ततो युधिष्ठिरो राजा भूयः शान्तनवं नृपम्।
गोदानविस्तरं धीमान्पप्रच्छ विनयान्वितः ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच— गोप्रदानगुणान्सम्यक् पुनर्मे ब्रूहि भारत।
न हि तृप्याम्यहं वीर शृण्वानोऽमृतमीदृशम् ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच-इत्युक्तो धर्मराजेन तदा शान्तनवो नृपः।
सम्यगाह गुणांस्तस्मै गोप्रदानस्य केवलान् ॥ ३ ॥
भीष्म उवाच- वत्सलां गुणसम्पन्नां तरुणीं वस्त्रसंयुताम्।
दत्त्वेदृशीं गां विप्राय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४ ॥
असुर्या नाम ते लोका गां दत्त्वा तान्न गच्छति।
पीतोदकां जग्धतृणां नष्टक्षीरां निरिन्द्रियाम् ॥ ५ ॥
जरारोगोपसम्पन्नां जीर्णां वापीमिवाजलाम्।
दत्त्वा तमः प्रविशति द्विजं क्लेशेन योजयेत् ॥ ६ ॥
रुष्टा दुष्टा व्याधिता दुर्बला वा नो दातव्या याश्च मूल्यैरदत्तैः।

अनुशासनपर्वमें ७७ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर बुद्धिशक्तिसे युक्त राजा युधिष्ठिरने विनयपूर्वक फिर शन्तनुनन्दन भीष्मसे गोदानका विषय पूछा। (१)

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! गोदानका समस्त फल फिर मेरे समीप पूरी रीतिसे वर्णन करिये। हे वीर! मैं ऐसे अमृतको कानसे पीते हुए किसी प्रकार तृप्त नहीं होता हूं। (२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पुरुषश्रेष्ठ भीष्म धर्मराजका ऐसा वचन सुनके उनसे केवल गोदानका फल पूरी रीतिसे कहने लगे। (३)

भीष्म बोले, ब्राह्मणोंको गुणयुक्त सवत्सा तरुणी गऊ वस्त्र उढाके दान करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है। जिन लोकोंमें सूर्य नहीं हैं, गऊ दान करनेसे मनुष्य उन लोकोंमें नहीं जाता। जिस गऊने जल पीया है। और न पीवेगी, जिसने तृण खाई हो, फिर न खायगी, जिसका दूध हुआ है, फिर न होगा, और जिसकी इन्द्रियें निःशेष हुई हों वैसी जरारोगसे युक्त जलरहित वापीकी भांति जीर्ण गऊ दान करनेसे घोर अन्धकारके बीच प्रवेश करना होता है, जो पुरुष ऐसी गऊ दान करता है, वह ब्राह्मणको क्लेशयुक्त किया करता है। (४-६)

रुष्ट, दुष्ट, व्याधियुक्त, दुबली और जिस गऊको मूल्य देके कोई न ले, वैसी गऊ दान करना उचित नहीं है।

क्लेशैर्विप्रं योऽफलैः संयुनक्ति तस्यावीर्याश्चाफलाश्चैव लोकाः ॥ ७ ॥
बलान्विताः शीलवयोपपन्नाः सर्वे प्रशंसन्ति सुगन्धवत्यः ।
यथा हि गङ्गा सरितां वरिष्ठा तथाऽर्जुनीनां कपिला वरिष्ठा ॥ ८ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कस्मात्समाने बहुलाप्रदाने सद्भिः प्रशस्तं कपिलाप्रदानम् ।
विशेषमिच्छामि महाप्रभावं श्रोतुं समर्थोऽस्मि भवान्प्रवक्तुम् ॥ ९ ॥
भीष्म उवाच— वृद्धानां ब्रुवतां तात श्रुतं मे यत्पुरातनम् ।
वक्ष्यामि तदशेषेण रोहिण्यो निर्मिता यथा ॥ १० ॥
प्रजाः सृजेति चादिष्टः पूर्वं दक्षः स्वयंभुवा ।
असृजद्वृत्तिमेवाग्रे प्रजानां हितकाम्यया ॥ ११ ॥
यथा ह्यमृतमाश्रित्य वर्तयन्ति दिवौकसः ।
तथा वृत्तिं समाश्रित्य वर्तयन्ति प्रजा विभो ॥ १२ ॥
अचरेभ्यश्च भूतेभ्यश्चराः श्रेष्ठाः सदा नराः ।
ब्राह्मणाश्च ततः श्रेष्ठास्तेषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ १३ ॥
यज्ञैरवाप्यते सोमः स च गोषु प्रतिष्ठितः ।
ततो देवाः प्रमोदन्ते पूर्वं वृत्तिस्ततः प्रजाः ॥ १४ ॥

जो पुरुष ब्राह्मणोंको निरर्थक क्लेशयुक्त करता है, उसके सब लोक निष्फल तथा निर्वीर्य होते हैं । बल, शील और अवस्थायुक्त सुगन्धवती गऊकी सब कोई प्रशंसा किया करते हैं । जैसे नदियोंमें गङ्गा श्रेष्ठ हैं, वैसे ही गौवोंके बीच कपिला गऊ श्रेष्ठ है । (७-८)

युधिष्ठिर बोले, हे महाप्राज्ञ पितामह ! गोदान समान होनेपर भी साधु लोग किसलिये कपिलादानको श्रेष्ठ कहते हैं ? इस वृत्तान्तको मैं विशेष रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं, आप भी कहनेमें समर्थ हैं । (९)

भीष्म बोले; हे तात ! मैंने प्राचीन पण्डितोंसे जो कथा सुनी है और रोहिणीवृन्द जिस प्रकार उत्पन्न हुई हैं, वह सब पूरी रीतिसे कहता हूं । पहले स्वयम्भूने दक्षको प्रजा उत्पन्न करनेके लिये आज्ञा दी, तब उन्होंने प्रजासमूहके हितकामनासे पहले वृत्ति उत्पन्न की । हे विभु ! जैसे देववृन्द अमृतके आसरे विद्यमान हैं, वैसे ही सब प्रजा वृत्तिको अवलम्बन करके वर्त्तमान है । स्थावर जीवोंसे जङ्गम मनुष्य ही सदा श्रेष्ठ हैं, मनुष्योंके बीच ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, क्यों कि ब्राह्मणोंमें ही सब वेद प्रतिष्ठित हैं । यज्ञोंके सहारे सोमरस प्राप्त हो सकता है, परन्तु वे यज्ञ

प्रजातान्येव भूतानि प्राक्रोशन्वृत्तिकाङ्क्षया।
वृत्तिदं चान्वपद्यन्त तृषिताः पितृमातृवत् ॥ १५ ॥
इतीदं मनसा गत्वा प्रजासर्गार्थमात्मनः।
प्रजापतिस्तु भगवानमृतं प्रापिबत्तदा ॥ १६ ॥
स गतस्तस्य तृप्तिं तु गन्धं सुरभिमुद्गिरन्।
ददर्शोद्गारसंवृत्तां सुरभिं मुखजां सुताम् ॥ १७ ॥
साऽसृजत्सौरभेयीस्तु सुरभिर्लोकमातृकाः।
सुवर्णवर्णाः कपिलाः प्रजानां वृत्तिधेनवः ॥ १८ ॥
तासाममृतवर्णानां क्षरन्तीनां समन्ततः।
बभूवामृतजः फेनः स्रवन्तीनामिवोर्मिजः ॥ १९ ॥
स वत्समुखविभ्रष्टो भवस्य भुवि तिष्ठतः।
शिरस्यवापतत्क्रुद्धः स तदैक्षत च प्रभुः ॥ २० ॥
ललाटप्रभवेणाक्ष्णा रोहिणीं प्रदहन्निव।
तत्तेजस्तु ततो रौद्रं कपिलास्ता विशांपते ॥ २१ ॥

गौवोंसे प्रतिष्ठित हैं, यज्ञसे ही देववृन्द प्रमुदित होते हैं, इसलिये पहले वृत्ति और क्षेममें प्रजासमूहकी उत्पत्ति हुई है। (१०—१४)

जीवगणने उत्पन्न होके जीविकाके निमित्त चीत्कार किया था, प्रजापतिने पिता माताकी भांति उन तृषित प्रजासमूहको वृत्तिदान करके कृपा की थी! भगवान् प्रजापतिने इसही प्रकार अपनी प्रजा उत्पन्न करनेके लिये मन-ही मन आलोचना करके उस समय उन्हें अमृत पिलाया था। प्रजावृन्द तृप्त होवें, ऐसा विचार करके सुरभि-गन्ध उद्गिरण करते हुए वहां जाके उसके उद्गारसे उत्पन्न तथा मुखसे प्रकट हुई सुरभीको देखा। उस सुरभीने प्रजाओंकी वृत्तिविधायिनी, सुवर्ण रङ्गवाली कपिला सर्वलोकमातृका सौरभेयी गौवों को उत्पन्न किया था। (१५—१८)

जैसे नदीके तरङ्गसे फेन उत्पन्न होता है, वैसे ही सब प्रकारसे दूध देनेवाली अमृतवर्ण सौरभेयी गौके अमृतसे फेन उत्पन्न हुआ; वह फेन बछडेके मुखसे पृथ्वीपर स्थित महादेवके मस्तकपर गिरा। सर्व शक्तिमान महादेवने क्रुद्ध होकर माथेके नेत्रसे रोहिणीको मानो जलानेके लिये उसकी ओर देखा। हे नरनाथ! अनन्तर जैसे सूर्य मेघमालाको अनेक वर्णका करता

नानावर्णत्वमनयन्मेघानिव दिवाकरः।
यास्तु तस्मादपक्रम्य सोममेवाभिसंश्रिताः ॥ २१ ॥
यथोत्पन्नाः स्ववर्णस्थास्ता नीताश्चाऽन्यवर्णताम्।
अथ क्रुद्धं महादेवं प्रजापतिरभाषत ॥ २३ ॥
अमृतेनावसिक्तस्त्वं नोच्छिष्टं विद्यते गवाम्।
यथा ह्यमृतमादाय सोमो विस्यन्दते पुनः ॥ २४ ॥
तथा क्षीरं क्षरन्त्येता रोहिण्योऽमृतसंभवम्।
न दुष्यत्यनिलो नाग्निर्न सुवर्णं न चोदधिः ॥ २५ ॥
नामृतेनामृतं पीतं वत्सपीता न वत्सला।
इमाँल्लोकान्भरिष्यन्ति हविषा प्रस्नवेण च ॥ २६ ॥
आसामैश्वर्यमिच्छन्ति सर्वेऽमृतमयं शुभम्।
वृषभं च ददौ तस्मै सह गोभिः प्रजापतिः ॥ २७ ॥
प्रसादयामास मनस्तेन रुद्रस्य भारत।
प्रीतश्चापि महादेवश्चकार वृषभं तदा ॥ २८ ॥
ध्वजं च वाहनं चैव तस्मात्स वृषभध्वजः।

है, वैसे ही उस रौद्रतेजने कपिला गौवोंको विविध वर्ण किया। जो कपिला गौवें उस रुद्रतेजसे अपक्रान्त होकर चन्द्रमण्डलमें जाके स्थित हुई थीं, वे जिस प्रकार स्ववर्ण होके उत्पन्न हुई थीं, वैसी ही रहीं, उनका दूसरा रङ्ग नहीं हुआ। (१९-२१)

अनन्तर महादेवके क्रुद्ध रहनेपर प्रजापतिने उनसे कहा, तुम अमृतसे अभिषिक्त हुए हो, गौवोंके फेन प्रभृति कुछ भी जूठे नहीं हैं। जैसे चन्द्रमा अमृत ग्रहण करके फिर उदित होता है, वैसे ही रोहिणीगण अमृतसे उत्पन्न दूध दिया करती हैं; अग्नि, वायु, सुवर्ण और समुद्र दूषित नहीं होते, अमृतको यदि कोई पीवे, तौभी दूसरे लोग उसे पीनेसे दूषित नहीं होते और बछडेके पीनेपर सवत्सा गौवें भी दूषित नहीं हैं। ये घृत और दूधके सहारे इन सब लोकोंका भरण करेंगी, सब कोई इनके अमृतमय शुभ ऐश्वर्यकी इच्छा किया करते हैं। प्रजापतिने महादेवको प्रसन्न करनेके लिये गौवोंके सहित एक वृषभ दिया। (२२-२७)

हे भारत! उन्होंने वृषभ देके रुद्रका मन प्रसन्न किया, महादेवने प्रसन्न होकर उस बैलको अपनी ध्वजा तथा अपना वाहन किया था, इस ही

ततो देवैर्महादेवस्तदा पशुपतिः कृतः ।
ईश्वरः स गवां मध्ये वृषभाङ्कः प्रकीर्तितः ॥ २९ ॥
एवमव्यग्रवर्णानां कापिलानां महौजसाम् ।
प्रदाने प्रथमः कल्पः सर्वासामेव कीर्तितः ॥ ३० ॥
लोकज्येष्ठा लोकवृत्तिप्रवृत्ता रुद्रोपेताः सोमविष्यन्दभूताः ।
सौम्याः पुण्याः कामदाः प्राणदाश्च गा वै दत्त्वा सर्वकामप्रदः स्यात् ॥३१॥
इदं गवां प्रभवविधानमुत्तमं पठन्सदाऽशुचिरपि मङ्गलप्रियः ।
विमुच्यते कलिकलुषेण मानवः श्रियं सुतान्धनपशुमाप्नुयात्सदा ॥३२॥
हव्यं कव्यं तर्पणं शान्तिकर्म यानं वासो वृद्धबालस्य तुष्टिः ।
एतान्सर्वान्गोप्रदाने गुणान्वै दाता राजन्नाप्नुयाद्वै सदैव ॥ ३३ ॥
वैशम्पायन उवाच-पितामहस्याथ निशम्य वाक्यं राजा सह भ्रातृभिराजमीढः ।
सुवर्णवर्णानडुहस्तथा गाः पार्थो ददौ ब्राह्मणसत्तमेभ्यः ॥ ३४ ॥
तथैव तेभ्योऽपि ददौ द्विजेभ्यो गवां सहस्राणि शतानि चैव ।
यज्ञान्समुद्दिश्य च दक्षिणार्थे लोकान्विजेतुं परमां च कीर्तिम् ॥३५॥ [३६८५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे गोप्रभवकथने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

निमित्त वे वृषभध्वज नामसे विख्यात हुए हैं। अनन्तर देवताओंने उस समय महादेवको पशुपति किया, वे गौवोंके बीच रहनेसे वृषभाङ्क नामसे वर्णित हुए। इस ही भांति अव्यग्र वर्ण महा-तेजस्विनी कपिला गौवोंका दान प्रथम कल्प कहा गया है। (२८-३०)

लोकमें जेठी, लोगोंकी वृत्तिके लिये प्रवृत्ता, रुद्रोपेता, सोमविष्यन्दभूत, सौम्य, पुण्यकामदा और प्राणदा गौवों-को दान करनेसे मनुष्य सर्वकामप्रद होता है। सदा मङ्गलाभिलाषी पुरुष गौवोंके इस उत्तम उत्पत्ति-विषयकी पाठ करनेसे पापोंसे छूट जाते और सदा श्री, पुत्र, धेनु और पशु पाते हैं। हे महाराज! दाता गोदान करके हव्य, कव्य, तर्पण, शान्तिकर्म, यान, वसन, बालक और बूढोंकी तुष्टि, ये समस्त फल पाते हैं। (३१-३३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अजमीढ-वंशावतंस पृथापुत्र महाराज युधिष्ठिरने भाइयोंके सहित पितामहका वचन सुनके ब्राह्मणोंको सुवर्ण रङ्गके वृषभ और गऊ दान किया, तथा उन्होंने श्रेष्ठ लोकोंको जय करने अथवा कीर्त्तिके निमित्त यज्ञके उद्देश्यसे दक्षिणामें सौ

भीष्म उवाच– एतस्मिन्नेव काले तु वसिष्ठमृषिसत्तमम्।
इक्ष्वाकुवंशजो राजा सौदासो वदतां वरः ॥ १ ॥
सर्वलोकचरं सिद्धं ब्रह्मकोशं सनातनम्।
पुरोहितमभिप्रष्टुमभिवाद्योपचक्रमे ॥ २ ॥
सौदास उवाच–त्रैलोक्ये भगवन्किंस्वित्पवित्रं कथ्यतेऽनघ।
यत्कीर्तयन्सदा मर्त्यः प्राप्नुयात्पुण्यमुत्तमम् ॥ ३ ॥
भीष्म उवाच–तस्मै प्रोवाच वचनं प्रणताय हि तं तदा।
गवामुपनिषद्विद्वान्नमस्कृत्य गवां शुचिः ॥ ४ ॥
गावः सुरभिगन्धिन्यस्तथा गुग्गुलुगन्धयः।
गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं महत् ॥ ५ ॥
गावो भूतं च भव्यं च गावः पुष्टिः सनातनी।
गावो लक्ष्म्यास्तथा मूलं गोषु दत्तं न नश्यति ॥ ६ ॥
अन्नं हि परमं गावो देवानां परमं हविः।
स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ ॥ ७ ॥
गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः।

हजार गऊ दान किया था। (२४-२५)

अनुशासनपर्वमें ७७ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ७८ अध्याय।

भीष्म बोले, इसके अनन्तर इक्ष्वाकु-वंशीय वक्तृवर राजा सौदास सर्वलोक-चारी सिद्ध, वेदनिधि, नित्य, पुरोहित ऋषिसत्तम वसिष्ठको प्रणाम करके प्रश्न करना आरम्भ किया। (१-२)

सौदास बोले, हे अनघ भगवन्! तीनों लोकोंके बीच मनुष्य जिसका सदा नाद लेते हुए पुण्यसञ्चय करता ऐसा पवित्र क्या है? (३)

भीष्म बोले, विद्वान् वशिष्ठ पवित्र होकर गौवोंको प्रणाम करके उस समय प्रणत राजासे गौवोंके विषयमें उपनिषद् वचन कहने लगे। (४)

वशिष्ठ मुनि बोले, गौवें सुरभिगन्ध और गुग्गुलगन्धविशिष्ट हैं, गौवें सर्व भूतोंकी प्रतिष्ठा और सबहीके लिये महत् स्वस्त्ययनस्वरूप हैं; गऊ ही भूत और भविष्य हैं, गोवृन्द ही सनातनी सृष्टि स्वरूप हैं। गौवें ही लक्ष्मीके मूल हैं और जो कुछ गौवोंको दिया जाता है, वह विनष्ट नहीं होता। गऊ ही देवताओंके परम हवि और अन्न-स्वरूप हैं; स्वाहाकार, वषट्कार सदा गौवोंमें प्रतिष्ठित हैं। गऊ ही यज्ञके फल हैं, गौवेंही भूत और भविष्य हैं,

गावो भविष्यं भूतं च गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ ८ ॥
सायं प्रातश्च सततं होमकाले महाद्युते ।
गावो ददति वै हौम्यमृषिभ्यः पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥
यानि कानि च दुर्गाणि दुष्कृतानि कृतानि च ।
तरन्ति चैव पाप्मानं धेनुं ये ददति प्रभो ॥ १० ॥
एकां च दशगुर्दद्याद्दश दद्याच्च गोशती ।
शतं सहस्रगुर्दद्यात्सर्वे तुल्यफला हि ते ॥ ११ ॥
अनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
समृद्धो यश्च कीनाशो नार्घमर्हन्ति ते त्रयः ॥ १२ ॥
कपिलां ये प्रयच्छन्ति सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतामुभौ लोकौ जयन्ति ते ॥ १३ ॥
युवानमिन्द्रियोपेतं शतेन शतयूथपम् ।
गवेन्द्रं ब्राह्मणेन्द्राय भूरिश्रृङ्गमलंकृतम् ॥ १४ ॥
वृषभं ये प्रयच्छन्ति श्रोत्रियाय परन्तप ।
ऐश्वर्यं तेऽधिगच्छन्ति जायमानाः पुनः पुनः ॥ १५ ॥

गौवें ही यज्ञोंमें प्रतिष्ठित होरही हैं। (५—८)

हे महातेजस्वी पुरुषश्रेष्ठ! सन्ध्या और भोरके समय सदा गौवें ऋषियोंके होम साधन घृत आदि प्रदान किया करती हैं। हे महाराज! चाहे कोई कैसाही पापी क्यों न हो, गोदान करनेसे उसके सब पाप नष्ट हुआ करते हैं, जिसके दश गऊ हों, वह एक गऊ दान करे, जो लोग एक सौ गऊवाले हों, वे दश गऊ दान कर सकेंगे और जो लोग सहस्र गोयुक्त हैं, वे एक सौ गऊ दान करें, परन्तु ये सब कोई तुल्य फल भोग करेंगे। सौ गऊवाला पुरुष यदि आहिताग्नि न हो और सहस्र गऊवाला पुरुष यदि विधिपूर्वक यज्ञ न करे, तथा जो पुरुष समृद्ध होके भी कृपण हो, वे तीनों ही अर्घलाभके योग्य नहीं हैं। जो लोग सवत्सा, कांस्यदोहना, उत्तम व्रत और वस्त्रसे युक्त कपिला गऊ दान करते हैं, वे इस लोक तथा परलोकको जय किया करते हैं। (९—१३)

हे शत्रुतापन! जो लोग श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको सैकडों यूथपति युवा सर्वेन्द्रियपुष्ट, बडे शींगोंसे अलंकृत गवेन्द्र वृषभ दान करते हैं, वे बार बार जन्म लेके ऐश्वर्यलाभ किया करते हैं। गौवोंके

नाकीर्तयित्वा गाः सुप्यात्तासां संस्मृत्य चोत्पतेत् ।
सायं प्रातर्नमस्येच्च गास्ततः पुष्टिमाप्नुयात् ॥ १६ ॥
गवां मूत्रपुरीषस्य नोद्विजेत कथंचन ।
न चासां मांसमश्नीयाद्गवां पुष्टिं तथाप्नुयात् ॥ १७ ॥
गाश्च सङ्कीर्तयन्नित्यं नावमन्येत तास्तथा ।
अनिष्टं स्वप्नमालक्ष्य गां नरः संप्रकीर्तयेत् ॥ १८ ॥
गोमयेन सदा स्नायात्करीषे चापि संविशेत् ।
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि प्रतिघातं च वर्जयेत् ॥ १९ ॥
सार्द्रे चर्मणि भुञ्जीत निरीक्षेद्वारुणीं दिशम् ।
वाग्यतः सर्पिषा भूमौ गवां पुष्टिं सदाऽश्नुते ॥ २० ॥
घृतेन जुहुयादग्निं घृतेन स्वस्ति वाचयेत् ।
घृतं दद्याद् घृतं प्राशेद्गवां पुष्टिं सदाऽश्नुते ॥ २१ ॥
गोमत्या विद्यया धेनुं तिलानामभिमन्त्र्य यः ।
सर्वरत्नमयीं दद्यान्न स शोचेत्कृताकृते ॥ २२ ॥
गावो मामुपतिष्ठन्तु हेमशृङ्ग्यः पयोमुचः ।

बिना नाम लिये सोना न चाहिये, उन्हें बिना स्मरण किये चलना अनुचित है, सन्ध्या और सबेरे गौवोंको प्रणाम करनेसे पुष्टि प्राप्त होगी । गौवोंके मूत्र और पुरीषके विषयमें किसी प्रकार घबडाना न चाहिये और कदाचित भी इनका मांस भक्षण न करे, तो पुष्टि प्राप्त होगी । गौवोंका सदा नाम ले, उनकी कभी अवज्ञा न करे, मनुष्य बुरे स्वप्न देखनेपर गौवोंका नाम लेवे । सदा गोमयसे स्नान करे, करीषके बीच सोवे, श्लेष्म मूत्र पुरीष और प्रतिघातको त्याग देवे । प्रोक्षणके द्वारा गोचर्मके आँगनेपर बैठके भोजन करे, वरुणसे पालित पश्चिम दिशाकी ओर देखे । जो लोग वाग्यत होके पृथ्वीपर बैठते हैं, वे गौवोंके दुग्धघृतके सहारे सदा पुष्टि लाभ किया करते हैं । (१४—२०)

घृतसे होम करे, घृतके द्वारा स्वस्तिवाचन करावे, घृत दान करे और घृत प्राशन करे, तो गौवोंकी पुष्टि भोग कर सकेगा । जो लोग गोमती विद्याके द्वारा मन्त्र पढके तिलधेनु दान करते हैं, उन्हें कृत और अकृत विषयों के लिये शोक नहीं करना पडता । जैसे सब नदियां समुद्रके निकट उपस्थित होती हैं, वैसे ही सुवर्णके सींगसे

सुरभ्यः सौरभेयश्च सरितः सागरं यथा ॥ २३ ॥
गा वै पश्याम्यहं नित्यं गावः पश्यन्तु मां सदा ।
गावोऽस्माकं वयं तासां यतो गावस्ततो वयम् ॥२४॥
एवं रात्रौ दिवा चाऽपि समेषु विषमेषु च ।
महाभयेषु च नरः कीर्तयन्मुच्यते भयात् ॥ २५ ॥ [३७१०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे गोप्रदानिके अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

वसिष्ठ उवाच– शतं वर्षसहस्राणां तपस्तप्तं सुदुष्करम् ।
गोभिः पूर्वं विसृष्टाभिर्गच्छेम श्रेष्ठतामिति ॥ १ ॥
लोकेऽस्मिन्दक्षिणानां च सर्वासां वयमुत्तमाः ।
भवेम न च लिप्येम दोषेणेति परन्तप ॥ २ ॥
अस्मत्पुरीषस्नानेन जनः पूयेत सर्वदा ।
शकृता च पवित्रार्थं कुर्वीरन्देवमानुषाः ॥ ३ ॥
तथा सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
प्रदातारश्च लोकान्नो गच्छेयुरिति मानद ॥ ४ ॥
ताभ्यो वरं ददौ ब्रह्मा तपसोऽन्ते स्वयं प्रभुः ।

युक्त दूध देनेवाली सुरभि सौरभेयी गौवें मेरे समीप उपस्थित होवें। हम सदा गौवोंका दर्शन करें, गौवें मुझे सदा अवलोकन करें। गोवृन्द हमारी हैं और हम उनके हैं, जहांपर गऊ हैं हम भी उस ही स्थानमें हैं। मनुष्य रात दिन, सम वा विषम स्थलमें महाभय उपस्थित होनेपर इस ही प्रकार गौवोंका यश गाके भयसे मुक्त होता है। (२१—२५)

अनुशासनपर्वमें ७८ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ७९ अध्याय।

वसिष्ठ बोले, हे परन्तप ! पहले उत्पन्न हुई गौवोंने सबसे अधिक श्रेष्ठता प्राप्त करनेकी इच्छासे सौहजार वर्षतक अत्यन्त दुष्कर तपस्या की थी। इस लोकमें समस्त दक्षिणाके बीच हम श्रेष्ठ होंगी तथा हम किसी दोषमें लिप्त न होंगी। लोग हमारे पुरीषके द्वारा स्नान करनेसे सदा पवित्र होंगे, देवता और मनुष्य हमारे गोमयके सहारे पवित्रताका विधान करेंगे। और स्थावर जङ्गम समस्त जीवोंके बीच जो लोग हमें प्रदान करेंगे, वेही हमारे लोकोंमें गमन कर सकेंगे। गौवोंने इसी प्रकार कामना करके तपस्या की थी, उनकी

एवं भवत्विति प्रभुर्लोकांस्तारयतेति च ॥ ५ ॥
उत्तस्थुः सिद्धकामास्ता भूतभव्यस्य मातरः।
प्रातर्नमस्यास्ता गावस्ततः पुष्टिमवाप्नुयात् ॥ ६ ॥
तपसोऽन्ते महाराज गावो लोकपरायणाः।
तस्माद्गावो महाभागाः पवित्रं परमुच्यते ॥ ७ ॥
तथैव सर्वभूतानां समतिष्ठन्त मूर्धनि।
समानवत्सां कपिलां धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां ब्रह्मलोके महीयते ॥ ८ ॥
लोहितां तुल्यवत्सां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां सूर्यलोके महीयते ॥ ९ ॥
समानवत्सां शबलां धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां सोमलोके महीयते ॥ १० ॥
समानवत्सां श्वेतां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतामिन्द्रलोके महीयते ॥ ११ ॥
समानवत्सां कृष्णां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम्।

तपस्या पूरी होनेपर सर्व शक्तिमान ब्रह्माने स्वयं उनसे कहा, कि ऐसा ही होवें, तुम लोग सबका उद्धार करो, ऐसा वचन कहके उन्हें यही वर दिया था। भूत-भविष्यकी माता वे सब गौवें मनोरथ पूरा होनेपर उठीं। प्रातःकालमें उन्हें नमस्कार करनेसे पुष्टि प्राप्त होती है। (१—६)

हे महाराज! तपस्या शेष होनेपर गौवें लोकपरायण हुई थीं, इस लिये महाभागा गौवें परम पवित्र रूपसे वर्णित हुआ करती हैं और इस ही निमित्त वे सब लोगोंके ऊर्ध्वमें निवास करती हैं। मनुष्य सवत्सा उत्तम व्रत और वस्त्रसे युक्त दूधवाली कपिला गऊ दान करनेसे ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। लाल वर्णवाली तुल्यवत्सा, उत्तम व्रतवाली दुग्धवती गऊको वस्त्र उढाके दान करनेसे मनुष्य सूर्यलोकमें पूजित हुआ करता है। समानवत्सा, बलयुक्त, उत्तम व्रतवाली वस्त्रपूरित पयस्विनी गऊ दान करनेसे मनुष्य चन्द्रलोकमें पूजित होता है। वस्त्र उढाके उत्तम व्रतयुक्त समानवत्सा सफेद गऊ दान करनेसे मनुष्यको इन्द्रलोकमें संमान प्राप्त होता है। (७-११)

समानवत्सा उत्तमव्रतवाली कृष्णवर्णवाली पयस्विनी गऊ वस्त्र उढाके दान

सुव्रतां वस्त्रसंवीतामग्निलोके महीयते ॥ १२ ॥
समानवत्सां धूम्रां तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां याम्यलोके महीयते ॥ १३ ॥
अपां फेनसवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां वारुणं लोकमाप्नुते ॥ १४ ॥
वातरेणुसवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां वायुलोके महीयते ॥ १५ ॥
हिरण्यवर्णां पिङ्गाक्षीं सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां कौबेरं लोकमश्नुते ॥ १६ ॥
पलालधूम्रवर्णां तु सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।
प्रदाय वस्त्रसंवीतां पितृलोके महीयते ॥ १७ ॥
सवत्सां पीवरीं दत्त्वा द्युतिकण्ठामलंकृताम् ।
वैश्वदेवमसम्बाधं स्थानं श्रेष्ठं प्रपद्यते ॥ १८ ॥
समानवत्सां गौरीं तु धेनुं दत्त्वा पयस्विनीम् ।
सुव्रतां वस्त्रसंवीतां वसूनां लोकमाप्नुयात् ॥ १९ ॥
पाण्डुकम्बलवर्णाभां सवत्सां कांस्यदोहनाम् ।

करनेसे मनुष्य अग्निलोकमें पूजित होता है। उत्तम व्रतवाली समानवत्सा धूम्रवर्णकी दुग्धवती गऊ दान करनेसे मनुष्य यमलोकमें पूजनीय होता है। जलके फेनके रङ्ग समान और बछडा, वस्त्र और कांस्य दोहनपात्रसे युक्त गऊ दान करनेसे मनुष्य वरुणलोकमें सुख भोग करता है। वातरेणुके समान रङ्गवाली कांसेके दोहनपात्र तथा वस्त्रपूरित सवत्सा गऊ दान करनेसे पुरुष वायुलोकमें अभिनन्दित हुआ करता है। सुवर्णरङ्गवाली पिङ्गाक्षी सवत्सा कांसेकी दोहनीके सहित वस्त्र उढाके गऊ दान करनेसे मनुष्य कुबेरलोकमें सुख भोगता है, धूम्रवर्णवाली गऊ कांसेके दोहनीके सहित वस्त्र उढाके दान करनेसे मनुष्य पितृलोकमें पूजित होता है। (१२—१७)

गर्दनमें कम्बलकी झूलसे अलंकृत करके सवत्सा गऊ दान करनेसे मनुष्यको वैश्वदेव नामक बाधारहित उत्तम लोक प्राप्त होता है, दूध देनेवाली सवत्सा उत्तम गऊको वस्त्र उढाके दान करनेसे मनुष्य वसुलोक पाता है। पाण्डुरकम्बलके रङ्ग समान; दूध देनेवाली सवत्सा गऊको कांसेकी दोहनीके

प्रदाय वस्त्रसंवीतां साध्यानां लोकमाप्नुते ॥ २० ॥
वैराटपृष्ठमुक्षाणं सर्वरत्नैरलंकृतम्।
प्रदद्न्मरुतां लोकान्स राजन्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥
वयोपपन्नं लीलाङ्गं सर्वरत्नसमन्वितम्।
गन्धर्वाप्सरसां लोकान्दत्त्वा प्राप्नोति मानवः ॥ २२ ॥
दातिकण्ठमनड्वाहं सर्वरत्नैरलंकृतम्।
दत्त्वा प्रजापतेर्लोकान्विशोकः प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥
गोप्रदानरतो याति भित्त्वा जलदसंचयान्।
विमानेनार्कवर्णेन दिवि राजन्विराजते ॥ २४ ॥
तं चोरुवेषाः सुश्रोण्यः सहस्रं सुरयोषितः।
रमयन्ति नरश्रेष्ठं गोप्रदानरतं नरम् ॥ २५ ॥
वीणानां वल्लकीनां च नूपुराणां च शिञ्जितैः।
हासैश्च हरिणाक्षीणां सुप्तः सुप्रतिबोध्यते ॥ २६ ॥
यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वास्तावन्ति वर्षाणि महीयते सः।
स्वर्गच्युतश्चापि ततो नृलोके प्रसूयते वै विपुले गृहे सः ॥ २७ ॥ [३७३७]

इति श्रीमहाभारते० अनु० आनुशा० दानधर्मे गोप्रदानिके एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

साथ वस्त्र उढाके दान करनेसे साध्योंके समस्त लोक प्राप्त होते हैं। जो लोग सब रत्नोंसे अलंकृत करके दृढ पीठवाले वृषभ दान करते हैं, वे मरुद्गणके लोक में गमन किया करते हैं। (१८-२१)

मनुष्य सब रत्नोंसे युक्त काला वृषभ दान करनेसे गन्धर्व और अप्सराओंके लोकको पाता है। गर्दनमें कम्बलकी झूल और कण्ठको सब रत्नोंसे अलंकृत करके दान करनेसे पुरुष शोकरहित होकर प्रजापतिके लोकको पाता है। हे महाराज! गोदान करनेवाला मनुष्य मेघजालको भेदता हुआ अर्कवर्ण विमानके द्वारा सुरपुरमें जाके विराजमान होता है। मनोहर वेषवाली, सुश्रोणी सहस्र सुन्दरी उस गोदानमें रत पुरुषश्रेष्ठके सङ्ग क्रीडा करती हैं, वह सोनेपर उन हरिणाक्षियोंकी वीणा, वल्लकी, नूपुरकी झंकार तथा हंसीसे जाग्रत होता है। गऊके शरीरमें जितने परिमाणसे रोम रहते हैं, गोदान करनेवाला उतने वर्षतक सुरपुरमें पूजित होता है, अन्तमें वह स्वर्गसे च्युत होके मर्त्य लोकमें महद्वंशमें जन्म लेता है। २२-२७

अनुशासनपर्वमें ७९ अध्याय समाप्त।

वसिष्ठ उवाच– घृतक्षीरप्रदा गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवाः।
घृतनद्यो घृतावर्तास्ता मे सन्तु सदा गृहे ॥ १ ॥
घृतं मे हृदये नित्यं घृतं नाभ्यां प्रतिष्ठितम्।
घृतं सर्वेषु गात्रेषु घृतं मे मनसि स्थितम् ॥ २ ॥
गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥ ३ ॥
इत्याचम्य जपेत्सायं प्रातश्च पुरुषः सदा।
यदह्ना कुरुते पापं तस्मात्स परिमुच्यते ॥ ४ ॥
प्रासादा यत्र सौवर्णा वसोर्धारा च यत्र सा।
गन्धर्वाप्सरसो यत्र तत्र यान्ति सहस्रदाः ॥ ५ ॥
नवनीतपङ्काः क्षीरोदा दधिशैवलसंकुलाः।
वहन्ति यत्र वै नद्यस्तत्र यान्ति सहस्रदाः ॥ ६ ॥
गवां शतसहस्रं तु यः प्रयच्छेद्यथाविधि।
परां वृद्धिमवाप्याथ स्वर्गलोके महीयते ॥ ७ ॥
दश चोभयतः पुत्रो मातापित्रोः पितामहान्।

अनुशासनपर्वमें ८० अध्याय।

वसिष्ठ बोले, घृत और दूध देनेवाली गौवें घृतयोनि हैं और उन्हींसे घृत उत्पन्न होता है, इसीसे घृतोद्भव कहाती हैं; गौवें घृतकी नदी तथा घृतकी आवर्त्त हैं, इसलिये हमारे गृहमें सदा वे गौवें निवास करें। घृत ही हमारा हृदय है, घृत ही हमारी नाभिमें सदा प्रतिष्ठित होरहा है, घृत हमारे सारे शरीर और मनमें निवास करता है। गौवें हमारे आगे, पीछे और सब ओर हैं, मैं गौवोंके बीच वास करता हूं, जो पुरुष संध्या और सवेरेके समय आचमन करके सदा इसका जप करता है, वह दिन भरके किये हुए पापोंसे मुक्त होगा। जिस स्थानमें सुवर्णमय प्रासाद विद्यमान हैं, वसुधारारूपी मन्दाकिनी विराज रही है और गन्धर्व अप्सरा वर्त्तमान हैं, सहस्र गऊ दान करनेवाला मनुष्य वहां ही जाता है। (१—५)

मक्खनरूपी पङ्क, क्षीररूपी जल और दधिरूपी शैवालयुक्त नदियें जिस स्थानमें वह रही हैं, हजार गऊ दान करनेवाला पुरुष उस ही स्थानमें गमन करता है। जो लोग विधिपूर्वक एक सौ तथा सहस्र गऊ दान करते हैं, वे इस लोकमें परम समृद्धिवान होके स्वर्गलोकमें पूजित

दधाति सुकृतान् लोकान्पुनाति च कुलं नरः ॥ ८ ॥
धेन्वाः प्रमाणेन समप्रमाणां धेनुं तिलानामपि च प्रदाय ।
पानीयदाता च यमस्य लोके न यातनां कांचिदुपैति तत्र ॥ ९ ॥
पवित्रमग्र्यं जगतः प्रतिष्ठा दिवौकसां मातरोऽथाप्रमेयाः ।
अन्वालभेद्दक्षिणतो व्रजेच्च दद्याच्च पात्रे प्रसमीक्ष्य कालम् ॥ १० ॥
धेनुं सवत्सां कपिलां भूरिशृङ्गीं कांस्योपदोहां वसनोत्तरीयाम् ।
प्रदाय तां गाहति दुर्विगाह्यां याम्यां सभां वीतभयो मनुष्यः ॥ ११ ॥
सुरूपा बहुरूपाश्च विश्वरूपाश्च मातरः ।
गावो मामुपतिष्ठन्तामिति नित्यं प्रकीर्तयेत् ॥ १२ ॥
नातः पुण्यतरं दानं नातः पुण्यतरं फलम् ।
नातो विशिष्टं लोकेषु भूतं भवितुमर्हति ॥ १३ ॥
त्वचा लोम्नाऽथ शृङ्गैर्वा वालैः क्षीरेण मेदसा ।
यज्ञं वहति संभूय किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥
यया सर्वमिदं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तां धेनुं शिरसा वन्दे भूतभव्यस्य मातरम् ॥ १५ ॥

होते हैं, पुत्र गोदान करनेसे माता-पिता दोनों कुलोंके दश पुरुषोंको पितामहके सुकृत लोकमें भेजके कुल पवित्र करता है। गऊके प्रमाणके अनुसार तुल्य परिमाणसे तिलगऊ दान करने तथा जल देनेसे मनुष्यको यमलोकमें कोई पीडा नहीं प्राप्त होती। (६-९)

परम पवित्र जगत्की प्रतिष्ठा देवताओंकी माता अप्रमेय गौवोंकी स्तुति और प्रदक्षिणा करे और समय विचारके उपयुक्त पात्रको दान दे, कांसेके दोहनीपात्रसे युक्त, विशाल सींगवाली कपिला गऊ वस्त्र उढाके दान करनेसे मनुष्य भयरहित होके दुर्विगाह्य यमसभामें प्रवेश करता है। मनुष्य सदा ऐसा वचन कहे, कि उत्तम रूपवाली बहुरूपा विश्वरूपिणी मातृस्वरूपी गौवें मेरे निकट उपस्थित होवें। (१०-१२)

गोदानसे बढके पुण्यजनक दान दूसरा कुछ भी नहीं है; इससे बढके पुण्यका फल भी और कुछ नहीं है, लोकमें इससे श्रेष्ठ न कुछ हुआ और न होगा; गौवें त्वचा, रोम, सींग, पुच्छ-लोम, क्षीर और मेदसे युक्त होकर यज्ञको पूर्ण करती हैं, इसलिये उनसे बढके और कौन श्रेष्ठ है? यह स्थावरजङ्गममय सारा जगत् जिससे व्याप्त होरहा है, उस भूतभविष्यकी जननी गऊको

गुणवचनसमुच्चयैकदेशो नृवर मयैष गवां प्रकीर्तितस्ते।
न च परमिह दानमस्ति गोभ्यो भवति न चापि परायणं तथाऽन्यत् १६
भीष्म उवाच-वरमिदमिति भूमिदो विचिन्त्य प्रवरमृषेर्वचनं ततो महात्मा।
व्यसृजत नियतात्मवान्द्विजेभ्यः सुबहु च गोधनमाप्तवांश्च लोकान् ॥१७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे गोप्रदानिकेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥ [३७५४]

युधिष्ठिर उवाच- पवित्राणां पवित्रं यच्छिष्टं लोके च यद्भवेत्।
पावनं परमं चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- गावो महार्थाः पुण्याश्च तारयन्ति च मानवान्।
धारयन्ति प्रजाश्चेमा हविषा पयसा तथा ॥ २ ॥
न हि पुण्यतमं किंचिद्गोभ्यो भरतसत्तम।
एताः पुण्याः पवित्राश्च त्रिषु लोकेषु सत्तमाः ॥ ३ ॥
देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै।
दत्त्वा चैतास्तारयते यान्ति स्वर्गं मनीषिणः ॥ ४ ॥
मान्धाता यौवनाश्वश्च ययातिर्नहुषस्तथा।

सिर झुकाके प्रणाम करता हूं। यह मैंने तुम्हारे समीप गौवोंके अत्युत्तम प्रशंसा-वादका केवल एकही अंश वर्णन किया है। इस लोकमें गोदानसे श्रेष्ठ दान और कुछ भी नहीं है, और गौवोंके अतिरिक्त अन्य कोई परम अवलम्ब नहीं हैं। (१३—१६)

भीष्म बोले, अनन्तर महानुभाव सौदास राजाने वसिष्ठ ऋषिके इस श्रेष्ठ वचनको वर समझके संयतचित्तसे द्विजोंको बहुतसी गऊ दान किया और अन्तकालमें गोलोक पाया। (१७)

अनुशासनपर्वमें ८० अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ८१ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! लोकमें पूर्वोक्त विषयोंके अतिरिक्त जो समस्त पवित्रोंके बीच पवित्र तथा परम पावन है, वह मेरे निकट वर्णन करिये (१)

भीष्म बोले, हे भरतसत्तम ! महार्थ, पवित्र गौवें मनुष्योंका उद्धार करती हैं, वे घृत और दूधके सहारे समस्त प्रजाको धारण कर रही हैं। गौवोंसे पवित्र और कुछ भी नहीं है, येही त्रिभुवनके बीच पुण्यदा, पवित्र और सत्तम हैं। गौवें देवताओंके भी ऊर्ध्वभागमें निवास करती हैं, मनीषिवृन्द गोदान करके कुल का उद्धार करते हुए स्वर्गमें गमन किया करते हैं। मान्धाता, यौवनाश्व, ययाति

गा वै ददन्तः सततं सहस्रशतसंमिताः ॥ ५ ॥
गताः परमकं स्थानं देवैरपि सुदुर्लभम् ।
अपि चात्र पुरा गीतां कथयिष्यामि तेऽनघ ॥ ६ ॥
ऋषीणामुत्तमं धीमान्कृष्णद्वैपायनं शुकः ।
अभिवाद्याह्निककृतः शुचिः प्रयतमानसः ॥ ७ ॥
पितरं परिपप्रच्छ दृष्टलोकपरावरम् ।
को यज्ञः सर्वयज्ञानां वरिष्ठोऽभ्युपलक्ष्यते ॥ ८ ॥
किं च कृत्वा परं स्थानं प्राप्नुवन्ति मनीषिणः ।
केन देवाः पवित्रेण स्वर्गमश्नन्ति वा विभो ॥ ९ ॥
किं च यज्ञस्य यज्ञत्वं क च यज्ञः प्रतिष्ठितः ।
देवानामुत्तमं किं च किं च सत्रमितः परम् ॥ १० ॥
पवित्राणां पवित्रं च यत्तद् ब्रूहि पितर्मम ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं व्यासः परमधर्मवित् ।
पुत्रायाकथयत्सर्वं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ ११ ॥
व्यास उवाच– गावः प्रतिष्ठा भूतानां तथा गावः परायणम् ।
गावः पुण्याः पवित्राश्च गोधनं पावनं तथा ॥ १२ ॥
पूर्वमासन्नशृङ्गा वै गाव इत्यनुशुश्रुम ।

और नहुष राजाने सैकडों, सहस्रों गऊ दान करके देवताओंसे भी दुर्लभ परम स्थानमें गमन किया था। हे अनघ ! इस विषयमें मैं तुमसे पौराणिकी कथा कहता हूं। (२–६)

पवित्रतायुक्त सावधानचित्तवाले बुद्धिमान शुकदेवने नित्य कर्मसे निवृत्त होकर ऋषियोंमें श्रेष्ठ परावरलोकदर्शी पिता कृष्णद्वैपायनको प्रणाम करके प्रश्न किया, हे विभु ! सब यज्ञोंके बीच किस यज्ञको आप श्रेष्ठ जानते हैं ? मनीषिगण कौन कर्म करनेसे परम स्थान पाते हैं ? देववृन्द किस पवित्र वस्तुके द्वारा स्वर्गलोकमें सुखभोग करते हैं ? यज्ञका यज्ञत्व क्या है ? यज्ञ किससे प्रतिष्ठित होरहा है ? देवताओंके निमित्त उत्तम क्या है ? हे पिता ! इस लोकमें परम सत्त्व क्या है और जो पवित्रोंके बीच पवित्र हो, वह मेरे निकट प्रकट करिये। हे भरतश्रेष्ठ ! परम धर्मज्ञ व्यासदेव इतनी बात सुनके पुत्रके निकट यथार्थ रीतिसे सारी कथा कहने लगे। (७—११)

व्यासदेव बोले, गौवें ही प्राणियों·

शृङ्गार्थे समुपासन्त ताः किल प्रभुमव्ययम् ॥ १३ ॥
ततो ब्रह्मा तु गाः प्रायमुपविष्टाः समीक्ष्य ह ।
ईप्सितं प्रददौ ताभ्यो गोभ्यः प्रत्येकशः प्रभुः ॥ १४॥
तासां शृङ्गाण्यजायन्त यस्या यादृङ् मनोगतम् ।
नानावर्णाः शृङ्गवन्त्यस्ता व्यरोचन्त पुत्रक ॥ १५ ॥
ब्रह्मणा वरदत्तास्ता हव्यकव्यप्रदाः शुभाः ।
पुण्याः पवित्राः सुभगादिव्यसंस्थानलक्षणाः ॥ १६ ॥
गावस्तेजो महद्दिव्यं गवां दानं प्रशस्यते ।
ये चैताः संप्रयच्छन्ति साधवो वीतमत्सराः ॥ १७ ॥
ते वै सुकृतिनः प्रोक्ताः सर्वदानप्रदाश्च ते ।
गवां लोकं तथा पुण्यमाप्नुवन्ति च तेऽनघ ॥ १८ ॥
यत्र वृक्षा मधुफला दिव्यपुष्पफलोपगाः ।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि दिव्यानि द्विजसत्तम ॥ १९ ॥
सर्वा मणिमयी भूमिः सर्वकाञ्चनवालुकाः ।
सर्वर्तुसुखसंस्पर्शा निष्पङ्का निरजाः शुभाः ॥ २० ॥

की प्रतिष्ठा स्थान, परम अवलम्ब, पुण्य, पवित्र और परम पावन हैं। हमने ऐसा सुना है, कि पहले गौवोंके शींग नहीं थे, अनन्तर उन्होंने शींगके लिये अव्यय प्रभु प्रजापतिकी उपासना की थी। तब सर्वशक्तिमान् ब्रह्माने गौवों-को योगयुक्त देखके उन हरएकको ही अभिलषित वर दिया। हे पुत्र! उनके बीच जिसकी जैसी अभिलाषा थी, उनके वैसी ही शींग उत्पन्न हुईं, वे अनेक वर्णवाले शींगोंसे युक्त होकर सुशोभित हुईं। (१३-१५)

जब ब्रह्माने उन्हें वर दान किया, तब वे कल्याणदायिनी गौवें, हव्यकव्य-प्रदान करने लगीं और पुण्य, पवित्र, सुभगा, दिव्य अवयव लक्षण युक्त हुईं। गौवें उत्तम, महत्, दिव्य तेजस्वरूप हैं, जो मत्सररहित साधु पुरुष इन्हें दान करते हैं, वेही सुकृती तथा सर्वदान-प्रदाता हैं। हे पापरहित! उन्हें ही पवित्र गोलोक मिलता है। हे द्विजसत्तम! जिस स्थानमें वृक्षोंमें मधुर फल लगते और दिव्य पुष्प तथा फलसम्पन्न होते हैं, सब पुष्प भी दिव्य और सुगन्धियुक्त हुआ करते हैं; जिस स्थानमें सारी भूमि मणिमयी, सुवर्णवालुकासे युक्त, सब ऋतुओंमें सुखस्पर्श, पङ्करहित, रजोगुण-वर्जित और शुभदायिनी रहती है;

रक्तोत्पलवनैश्चैव मणिखण्डैर्हिरण्मयैः।
तरुणादित्यसङ्काशैर्भान्ति तत्र जलाशयाः ॥ २१ ॥
महार्हमणिपत्रैश्च काञ्चनप्रभकेसरैः।
नीलोत्पलविमिश्रैश्च सरोभिर्बहुपङ्कजैः ॥ २२ ॥
करवीरवनैः फुल्लैः सहस्रावर्तसंवृतैः।
सन्तानकवनैः फुल्लैर्वृक्षैश्च समलंकृताः ॥ २३ ॥
निर्मलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च महाप्रभैः।
उद्भूतपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निम्नगाः ॥ २४ ॥
सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा द्रुमोत्तमैः।
जातरूपमयैश्चान्यैर्हुताशनसमप्रभैः ॥ २५ ॥
सौवर्णा गिरयस्तत्र मणिरत्नशिलोच्चयाः।
सर्वरत्नमयैर्भान्ति शृङ्गैश्चारुभिरुच्छ्रितैः ॥ २६ ॥
नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः।
दिव्यगन्धरसैः पुष्पैः फलैश्च भरतर्षभ ॥ २७ ॥
रमन्ते पुण्यकर्माणस्तत्र नित्यं युधिष्ठिर।
सर्वकामसमृद्धार्था निःशोका गतमन्यवः ॥ २८ ॥
विमानेषु विचित्रेषु रमणीयेषु भारत।

वहांपर समस्त तालाव सूर्यसदृश लाल पत्थरसे युक्त, कमलवन और हिरण्मय मणिखण्डोंसे शोभित हैं। (१६-२१)

महार्ह मणिकी भांति पत्र, सुवर्ण प्रभायुक्त केशर, नीलोत्पलयुक्त विविध भांतिके कमल शोभित तालावोंसे अलंकृत करवीरवन, सहस्र आवर्त्तसे परिपूरित सन्तानवन, फूले हुए वृक्षोंसे शोभित निर्मल मुक्ताजाल और महाप्रभ मणियों तथा सुवर्णसे सहारेकी वहां नदियोंकी तटभूमि प्रकट हुई है। कोई वृक्ष सुवर्णमय और कोई वृक्ष अग्निसदृश प्रभायुक्त हैं, वैसे सर्वरत्नमय विचित्र वृक्षोंसे परिपूरित उस स्थानमें सुवर्णमय सब पर्वत मणिरत्न शिला तथा सर्वरत्नमय ऊंचे मनोहर शृङ्गोंसे शोभित होरहे हैं। (२१-२६)

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! उस नित्यफल पुष्पोंसे युक्त वृक्षों और पक्षियोंसे परिपूरित स्थानमें पुण्यकर्मवाले मनुष्य सर्वकामसमृद्धार्थ और शोकरहित तथा मन्युहीन होकर सदा दिव्य गन्धवाले फूलों और दिव्य रसयुक्त फलोंसे प्रमु-

मोदन्ते पुण्यकर्माणो विहरन्तो यशस्विनः ॥ २९ ॥
उपक्रीडन्ति तान् राजन् शुभाश्चाप्सरसां गणाः ।
एतान्लोकानवाप्नोति गां दत्त्वा वै युधिष्ठिर ॥ ३० ॥
येषामधिपतिः पूषा मारुतो बलवान्बली ।
ऐश्वर्यं वरुणो राजा नाममात्रं युगन्धराः ॥ ३१ ॥
सुरूपा बहुरूपाश्च विश्वरूपाश्च मातरः ।
प्राजापत्यमिति ब्रह्मन् जपेन्नित्यं यतव्रतः ॥ ३२ ॥
गाश्च शुश्रूषते यश्च समन्वेति च सर्वशः ।
तस्मै तुष्टाः प्रयच्छन्ति वरानपि सुदुर्लभान् ॥ ३३ ॥
द्रुह्येन्न मनसा वाऽपि गोषु नित्यं सुखप्रदः ।
अर्चयेत सदा चैव नमस्कारैश्च पूजयेत् ॥ ३४ ॥
दान्तः प्रीतमना नित्यं गवां व्युष्टिं तथाऽश्नुते ।
त्र्यहमुष्णं पिबेन्मूत्रं त्र्यहमुष्णं पिबेत्पयः ॥ ३५ ॥
गवामुष्णं पयः पीत्वा त्र्यहमुष्णं घृतं पिबेत् ।
त्र्यहमुष्णं घृतं पीत्वा वायुभक्षो भवेत्त्र्यहम् ॥ ३६ ॥

दित होते हैं। हे भारत! पुण्यकर्मा यशस्वी मनुष्य वहांपर विचित्र, रमणीय विमानोंमें विहार करते हुए प्रसन्न हुआ करते हैं। हे महाराज! उत्तम रूपवाली अप्सरायें उनके निकट क्रीडा करती हैं। हे युधिष्ठिर! गोदान करनेसे मनुष्य इन्हीं लोकोंको पाता है। (२७-३०)

सूर्य और बलवान वायु जिनके प्रभु हैं, ऐश्वर्यविषयमें जिनके राजा वरुण हैं, सत्य प्रभृति युगोंको धारण करनेसे जिनका युगन्धर नाम हुआ है, उन उत्तम रूपवाली बहुरूपिणी विश्वरूपा मातृगणके नामोंका यतव्रती होकर सदा जप करे, ब्रह्माके द्वारा यही तपस्या कही गई है। जो लोग गौवों-की सेवा करते हैं और सब भांतिसे उनके अनुगत होते हैं, उनपर वह प्रसन्न होके दुर्लभ वर दिया करते हैं। मनुष्य मनसे भी कभी गौवोंसे द्रोहा-चरण न करे, सदा उनके लिये सुख-दाता होवे, गौवोंकी सदा अर्चना करे तथा नमस्कार करके उनकी पूजा करे। (३१-३४)

दमयुक्त और दयावान मनुष्य सदा गौवोंकी समृद्धि भोग किया करते हैं। तीन दिन उष्ण गोमूत्र पीवे, फिर तीन दिन गर्म दूध पीवे; अनन्तर गऊका दूध पीके तीन दिन उष्ण घृत पीवे;

येन देवाः पवित्रेण भुञ्जते लोकमुत्तमम् ।
यत्पवित्रं पवित्राणां तद् घृतं शिरसा वहेत् ॥ ३७ ॥
घृतेन जुहुयादग्निं घृतेन स्वस्ति वाचयेत् ।
घृतं प्राशेद् घृतं दद्याद्गवां पुष्टिं तथाऽश्नुते ॥ ३८ ॥
निर्हृतैश्च यवैर्गोभिर्मासं प्रश्रितयावकः ।
ब्रह्महत्यासमं पापं सर्वमेतेन शुध्यते ॥ ३९ ॥
पराभवाच्च दैत्यानां देवैः शौचमिदं कृतम् ।
ते देवत्वमपि प्राप्ताः संसिद्धाश्च महाबलाः ॥ ४० ॥
गावः पवित्राः पुण्याश्च पावनं परमं महत् ।
ताश्च दत्त्वा द्विजातिभ्यो नरः स्वर्गमुपाश्नुते ॥ ४१ ॥
गवां मध्ये शुचिर्भूत्वा गोमतीं मनसा जपेत् ।
पूताभिरद्भिराचम्य शुचिर्भवति निर्मलः ॥ ४२ ॥
अग्निमध्ये गवां मध्ये ब्राह्मणानां च संसदि ।
विद्यावेदव्रतस्नाता ब्राह्मणाः पुण्यकर्मिणः ॥ ४३ ॥
अध्यापयेरन् शिष्यान्वै गोमतीं यज्ञसंमिताम् ।

तीन दिनतक गर्म घृत पीकर त्रिरात्र वायु पीके रहे । देववृन्द जिस पवित्र वस्तुके सहारे उत्तम लोकोंको भोगते हैं, जो कि पवित्र वस्तुओंके बीच पवित्र है, उस घृतको माथेपर रखे । घृतसे अग्निमें होम करे, घृतसे स्वस्तिवाचन करे, घृतप्राशन करे और घृत दान करे तो गौवोंकी पुष्टिभोग प्राप्त होगा । गौवोंके द्वारा गोमयके सहित परित्यक्त यवको यावक कहते हैं, जो लोग एक महीने तक यावक भोजन करते हैं, उनके ब्रह्महत्यासदृश पाप इसहीके सहारे छूट जाते हैं। (३५–३९)

दैत्योंके पराभवके हेतु देवताओंने इसे पवित्र किया है, इसीसे वे देवत्व पाके सम्यक् सिद्ध और महाबलसे युक्त हुए हैं । गौवें परम पवित्र, महत् पावन और पुण्यप्रद हैं, मनुष्य द्विजातियोंको गऊ दान करनेसे स्वर्ग भोग करता है । गौवोंके बीच पवित्र, होकर मनही मन गोमती ऋक्के सहारे प्रकाशित अर्थ जपे, मनुष्य पवित्र जलसे आचमन करके मन्त्र जपनेसे पवित्र और निर्मल होता है । (४०—४२)

अग्नि तथा गौवोंके बीच और ब्राह्मणोंके समाजमें विद्या वेदव्रतस्नात, पुण्य कर्मवाले ब्राह्मणोंको उचित है, कि शिष्योंको यज्ञसंमित गोमती ऋक् पढावें ।

त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा गोमतीं लभते वरम् ॥ ४४ ॥
पुत्रकामश्च लभते पुत्रं धनमथापि वा ।
पतिकामा च भर्तारं सर्वकामांश्च मानवः ।
गावस्तुष्टाः प्रयच्छन्ति सेविता वै न संशयः॥ ४५ ॥
एवमेता महाभागा यज्ञियाः सर्वकामदाः ।
रोहिण्य इति जानीहि नैताभ्यो विद्यते परम् ॥ ४६ ॥
इत्युक्तः स महातेजाः शुकः पित्रा महात्मना ।
पूजयामास गां नित्यं तस्मात्त्वमपि पूजय ॥ ४७ ॥ [३८०१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे गोप्रदानिके एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

युधिष्ठिर उवाच- मया गवां पुरीषं वै श्रिया जुष्टमिति श्रुतम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं संशयोऽत्र पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गोभिर्नृपेह संवादं श्रिया भरतसत्तम ॥ २ ॥
श्रीः कृत्वेह वपुः कान्तं गोमध्येषु विवेश ह ।
गावोऽथ विस्मितास्तस्या दृष्ट्वा रूपस्य संपदम् ॥ ३ ॥

त्रिरात्र उपवासयुक्त होनेसे गोमती ऋक्के प्रभावसे वर प्राप्त होता है। पुत्र कामनावाले मनुष्य पुत्र पाते हैं, धनके अभिलाषी मनुष्योंको धन मिलता है। पतिकी इच्छा करनेवाली स्त्री पति पाती है, मनुष्योंका इसके सहारे सब प्रयोजन सिद्ध होता है। इस ही प्रकार ये महाभाग यज्ञहितकारी सर्वकामद गौ सन्तुष्ट होकर निःसन्देह वर दान करती हैं, इन गौवोंको रोहिणी जानो, इनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। महातेजस्वी शुकदेवने महानुभाव पिताका ऐसा वचन सुनके प्रतिदिन गौवोंकी पूजा की थी; इसलिये तुम भी उनकी पूजा करो (४३-४७)

अनुशासनपर्वमें ८१ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ८२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! मैंने सुना है, कि गौवोंका पुरीष श्रीयुक्त है, इसलिये इस विषयमें मुझे सन्देह है, इसीसे मैं इसे सुननेकी इच्छा करता हूं। (१)

भीष्म बोले, हे भरतसत्तम महाराज! प्राचीन लोग इस विषयमें लक्ष्मीके सहित इस लोकमें गौवोंके संवादयुक्त यह पुरातन इतिहास कहा करते हैं। लक्ष्मीने मनोहर शरीर धारण करके इस

गाव ऊचुः— काऽसि देवि कुतो वा त्वं रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
विस्मिताः स्म महाभागे तव रूपस्य संपदा ॥ ४ ॥
इच्छाम त्वां वयं ज्ञातुं का त्वं क्व च गमिष्यसि ।
तत्त्वेन वरवर्णाभे सर्वमेतद्ब्रवीहि नः ॥ ५ ॥
श्रीरुवाच— लोककान्तास्मि भद्रं वः श्रीर्नामाऽहं परिश्रुता ।
मया दैत्याः परित्यक्ता विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥६॥
मयाऽभिपन्ना देवाश्च मोदन्ते शाश्वतीः समाः ।
इन्द्रो विवस्वान्सोमश्च विष्णुरापोऽग्निरेव च ॥ ७ ॥
मयाभिपन्नाः सिध्यन्ते ऋषयो देवतास्तथा ।
यान्नाविशाम्यहं गावस्ते विनश्यन्ति सर्वशः ॥ ८ ॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च मया जुष्टाः सुखान्विताः ।
एवंप्रभावां मां गावो विजानीत सुखप्रदाः ॥ ९ ॥
इच्छामि चापि युष्मासु वस्तुं सर्वासु नित्यदा ।
आगत्य प्रार्थये युष्माञ्छ्रीजुष्टा भवताऽथ वै ॥ १० ॥
गाव ऊचुः— अध्रुवा चपला च त्वं सामान्या बहुभिः सह ।

लोकमें गौवोंके बीच प्रवेश किया, गौवें उनकी सुन्दरताई-सम्पत्ति देखके विस्मित हुईं। (२-३)

गौवोंने कहा, हे देवि! तुम कौन हो? किस स्थानसे आई हो? भूलोकमें तुम्हारे रूपकी उपमा नहीं है। हे महाभागे! तुम्हारे रूपसम्पत्तिसे हम विस्मययुक्त हुई हैं। तुम कौन हो, कहां जाओगी, हमें इसे जाननेकी इच्छा है। हे वरवर्णाभे! इसलिये तुम यथार्थ रीतिसे मेरे निकट यह सब यथार्थ वृत्तान्त कहो। (४-५)

लक्ष्मी बोली, तुम लोगोंका मङ्गल होवे, मैं लोककान्ता श्रीनामसे विख्यात हूं; दैत्य लोग मुझसे परित्यक्त होकर बहुत समयसे नष्ट हुए हैं और देववृन्द मुझे पाके सदा प्रमुदित होरहे हैं। इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, विष्णु, वरुण और अग्नि प्रभृति देवगण तथा ऋषिवृन्द मुझसे युक्त होकर सिद्ध होते हैं। हे गोवृन्द! मैं जिसमें आविष्ट नहीं होती, वह सब प्रकारसे विनष्ट होता है। धर्म, अर्थ और काम मुझसे संयुक्त होनेपर ही सुखदायक हुआ करता है। हे सुखप्रद गोगण! मुझे ऐसे ही प्रभावयुक्त जानो, मैं सदा तुम्हारे निकट निवास करनेकी इच्छा करती हूं। मैं तुम्हारे निकट आके प्रार्थना करती हूं, कि तुम

न त्वामिच्छाम भद्रं ते गम्यतां यत्र रंस्यसे ॥ ११ ॥
वपुष्मन्त्यो वयं सर्वाः किमस्माकं त्वयाऽद्य वै।
यथेष्टं गम्यतां तत्र कृतकार्या वयं त्वया ॥ १२ ॥
श्रीरुवाच— किमेतद्वः क्षमं गावो यन्मां नेहाभिनन्दथ।
न मां संप्रतिगृह्णीध्वं कस्माद्वै दुर्लभां सतीम् ॥ १३ ॥
सत्यं च लोकवादोऽयं लोके चरति सुव्रताः।
स्वयं प्राप्ते परिभवो भवतीति विनिश्चयः ॥ १४ ॥
महदुग्रं तपः कृत्वा मां निषेवन्ति मानवाः।
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ॥ १५ ॥
प्रभाव एष वो गावः प्रतिगृह्णीत मामिह।
नावमान्या ह्यहं सौम्यास्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ १६ ॥
गाव ऊचुः— नावमन्यामहे देवि न त्वां परिभवामहे।
अध्रुवा चलचित्ताऽसि ततस्त्वां वर्जयामहे ॥ १७ ॥
बहुना च किमुक्तेन गम्यतां यत्र वाञ्छसि।

लोग श्रीयुक्त रहो। (६—१०)

गौवोंने कहा, तुम्हारा मङ्गल होवे, तुम अस्थिर और चपला हो, इसीसे अनेक पुरुषोंके संग समान भावसे रहती हो, इसलिये हम सब तुम्हें नहीं चाहती हैं, जिस स्थानमें तुम अनुरक्त रहो, वहां जाओ। हम सब कोई वपुष्मती हैं इस समय तुम हमारी कौनसी इष्टसिद्धि करोगी? तुम्हारी जहां इच्छा हो, वहां जाओ, हम सब कृतकार्य हुई हैं। (११-१२)

लक्ष्मी बोली, हे गोवृन्द! तुम लोग जो मुझे अभिनन्दित नहीं करती हो, क्या यह तुम्हें उचित है? मैं दूसरोंके लिये दुर्लभ सती साध्वी हूं, तब तुम लोग किस निमित्त मुझे नहीं ग्रहण करती हो? हे उत्तमव्रती गोगण! लोकमें जो यह लोकापवाद प्रचलित है, कि स्वयं उपस्थित होनेपर पराभव होती है, वह सत्य तथा निश्चित है। मनुष्य, देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसगण अत्यन्त उग्रतपस्या करते हुए मेरी सेवा किया करते हैं। हे गोवृन्द! तुम्हारा तो यही प्रभाव है, इसलिये मुझे ग्रहण करो। हे प्रियदर्शना! स्थावरजंगममय तीनों लोकोंके बीच मैं किसीके भी अवमानकी पात्री नहीं हूं। (१३-१६)

गौवोंने कहा, हे देवि! हम अवमान वा तुम्हारा पराभव नहीं करती हैं, तुम

वपुष्मन्त्यो वयं सर्वाः किमस्माकं त्वयाऽनघे ॥ १८ ॥

श्रीरुवाच— अवज्ञाता भविष्यामि सर्वलोकस्य मानदाः ।
प्रत्याख्यानेन युष्माकं प्रसादः क्रियतां मम ॥ १९ ॥
महाभागा भवत्यो वै शरण्याः शरणागताम् ।
परित्रायन्तु मां नित्यं भजमानामनिन्दिताम् ॥ २० ॥
माननामहमिच्छामि भवत्यः सततं शिवाः ।
अप्येकाङ्गेष्वधो वस्तुमिच्छामि च सुकुत्सिते ॥ २१ ॥
न वोऽस्ति कुत्सितं किंचिदङ्गेष्वालक्ष्यतेऽनघाः ।
पुण्याः पवित्राः सुभगा ममादेशं प्रयच्छथ ॥ २२ ॥
वसेयं यत्र वो देहे तन्मे व्याख्यातुमर्हथ ।
एवमुक्तास्ततो गावः शुभाः करुणवत्सलाः ।
संमन्त्र्य सहिताः सर्वाः श्रियमूचुर्नराधिप ॥ २३ ॥
अवश्यं मानना कार्या तवास्माभिर्यशस्विनि ।
शकृन्मूत्रे निवस त्वं पुण्यमेतद्धि नः शुभे ॥ २४ ॥

अस्थिर और चलचित्ता हो, इस ही लिये तुम्हें परित्याग करती हैं, बहुत वचन कहनेसे क्या फल है ? तुम्हारी जिस स्थानमें इच्छा हो, वहां जाओ; हम सब वपुष्मती हैं। हे पापरहिते ! तुमसे हमारा क्या होगा ? (१७-१८)

लक्ष्मी बोली, हे मानदात्रीगण ! तुम लोग यदि मुझे प्रत्याख्यान करोगी, तो मैं सब लोगोंके निकट अवज्ञात होऊंगी, इसलिये तुम्हें मुझपर प्रसन्न होना चाहिये। तुम सबकी शरण्य माहाभागा हो, इसलिये मुझ सदा भजमान अनिन्द-नीय शरणागताका परित्राण करो। हे कल्याणीगण ! मैं तुम्हारे समीप सम्मा-नकी अभिलाष करती हूं, मुझे तुम्हारे अधोवर्ती अत्यन्त निकृष्ट एक अङ्गमें वास करनेकी इच्छा है। हे पापरहित गोवृन्द ! तुम्हारे शरीरके बीच कोई स्थान भी कुत्सित नहीं दीखता है, तुम लोग पुण्यदा, पवित्र और सुभगा हो, इसलिये मुझे आज्ञा दो; मैं तुम्हारे देहके जिस स्थानमें वास करूंगी, उसे तुम्हें कहना उचित है। (१९—२२)

हे नरनाथ ! करुणावत्सला कल्याण-दायिनी गौवोंने लक्ष्मीका ऐसा वचन सुनके इकट्ठी होकर विचारके उनसे कहा, हे कल्याणदायिनि यशस्विनि ! हम लोगोंको तुम्हारा अवश्य सम्मान करना योग्य है, इसलिये तुम हमारे गोमयमूत्रमें निवास करो, क्यों कि

श्रीरुवाच— दिष्ट्या प्रसादो युष्माभिः कृतो मेऽनुग्रहात्मकः।
एवं भवतु भद्रं वः पूजितास्मि सुखप्रदाः ॥ २५ ॥
एवं कृत्वा तु समयं श्रीर्गोभिः सह भारत।
पश्यन्तीनां ततस्तासां तत्रैवान्तरधीयत ॥ २६ ॥
एवं गोशकृतः पुत्र माहात्म्यं तेऽनुवर्णितम्।
माहात्म्यं च गवां भूयः श्रूयतां गदतो मम ॥ २७ ॥ [३८२८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे श्रीगोसंवादो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

भीष्म उवाच- ये च गां संप्रयच्छन्ति हुतशिष्टाशिनश्च ये।
तेषां सत्राणि यज्ञाश्च नित्यमेव युधिष्ठिर ॥ १ ॥
ऋते दधिघृतेनेह न यज्ञः संप्रवर्तते।
तेन यज्ञस्य यज्ञत्वमतो मूलं च कथ्यते ॥ २ ॥
दानानामपि सर्वेषां गवां दानं प्रशस्यते।
गावः श्रेष्ठाः पवित्राश्च पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥
पुष्ट्यर्थमेताः सेवेत शान्त्यर्थमपि चैव ह।
पयो दधि घृतं चासां सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ४ ॥
गावस्तेजः परं प्रोक्तमिह लोके परत्र च।

हमारा यही पवित्र है। लक्ष्मी बोली, प्रारम्भसे ही तुमने मुझपर प्रसन्न होके कृपा की है, इसलिये ऐसा ही होगा। हे सुखप्रद गोवृन्द! तुम्हारा मङ्गल हो, मैं पूजित हुई हूं। हे भारत! श्रीदेवीने गौवोंके सङ्ग इसी भांति नियमबद्ध होकर उन लोगोंके सम्मुखमें वहां ही अन्तर्हित होगई। हे तात! यह मैंने तुम्हारे निकट गोमयका माहात्म्य वर्णन किया, अब फिर गौवोंका माहात्म्य कहता हूं। (२३—२७)

अनुशासनपर्वमें ८२ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ८३ अध्याय।

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! जो लोग गोदान करते तथा जो होमके शेषमें भोजन किया करते हैं, उनके यज्ञ वा सत्र सदा सिद्ध होते हैं। इस लोकमें दही और घृतके विना यज्ञ पूर्ण नहीं होता, इसही निमित्त यज्ञका यज्ञत्व और मूल कहा जाता है। सब दानोंके बीच गोदान श्रेष्ठ है, गौवें सबसे उत्तम तथा पवित्र हैं और येही अत्यन्त पावन हैं। पुष्टि और शान्तिके निमित्त इनकी सेवा करे; इनके दूध, दही और घृत समस्त

न गोभ्यः परमं किंचित्पवित्रं भरतर्षभ ॥ ५ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितामहस्य संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ६ ॥
पराभूतेषु दैत्येषु शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः ।
प्रजाः समुदिताः सर्वाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ७ ॥
अथर्षयः सगन्धर्वाः किंनरोरगराक्षसाः ।
देवासुरसुपर्णाश्च प्रजानां पतयस्तथा ॥ ८ ॥
पर्युपासन्त कौन्तेय कदाचिद्वै पितामहम् ।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥ ९ ॥
दिव्यतानेषु गायन्तः पर्युपासन्त तं प्रभुम् ।
तत्र दिव्यानि पुष्पाणि प्रावहत्पवनस्तदा ॥ १० ॥
आजह्रुर्ऋतवश्चापि सुगन्धीनि पृथक् पृथक् ।
तस्मिन्देवसमावाये सर्वभूतसमागमे ॥ ११ ॥
दिव्यवादित्रसंघुष्टे दिव्यस्त्रीचारणावृते ।
इन्द्रः पप्रच्छ देवेशमभिवाद्य प्रणम्य च ॥ १२ ॥
देवानां भगवन्कस्माल्लोकेशानां पितामह ।

पाप नष्ट करते हैं। इस लोक तथा परलोकमें गौवें परम तेज स्वरूप कही गई हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! गौवोंसे बढके परम पवित्र वस्तु और कुछ भी नहीं है। (१—५)

हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें प्राचीन लोग ब्रह्मा और इन्द्रके संवादयुक्त पुरातन इतिहास कहा करते हैं। हे युधिष्ठिर ! किसी समयमें दैत्यदलके पराजित होनेपर त्रिलोकीनाथ इन्द्र, सत्य धर्ममें रत समस्त प्रजा, ऋषि, गन्धर्व, किन्नर, सर्प, राक्षस, देव, असुर और सुपर्ण, प्रजापति, नारद, पर्वत, विश्वावसु और हाहा, हूहू प्रभृति दिव्य तानसे गान करते हुए सब भांतिसे ब्रह्माकी उपासना कर रहे थे। उस समय वायु दिव्य पुष्पोंसे युक्त होकर बह रहा था, छहों ऋतु पृथक् पृथक् सुगन्धि लाने लगीं। उस सुरसभामें सब प्राणियोंके समागमके समय दिव्य बाजोंके सहित दिव्यांगनाओं और चारणोंसे सभास्थान परिपूरित होनेपर देवराजने ब्रह्माको प्रणाम करके विनयपूर्वक प्रश्न किया। (६-१२)

हे भगवन् पितामह ! गोलोक किस निमित्त लोकेश्वर देवताओंके ऊर्ध्वमें

उपरिष्टाद्गवां लोक एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ १३ ॥
किं तपो ब्रह्मचर्यं वा गोभिः कृतमिहेश्वर।
देवानामुपरिष्टाद्यद्वसन्त्यरजसः सुखम् ॥ १४ ॥
ततः प्रोवाच ब्रह्मा तं शक्रं बलनिषूदनम्।
अवज्ञातास्त्वया नित्यं गावो बलनिषूदन ॥ १५ ॥
तेन त्वमासां माहात्म्यं न वेत्सि शृणु यत्प्रभो।
गवां प्रभावं परमं माहात्म्यं च सुरर्षभ ॥ १६ ॥
यज्ञाङ्गं कथिता गावो यज्ञ एव च वासव।
एताभिश्च विना यज्ञो न वर्तेत कथंचन ॥ १७ ॥
धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा।
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते ॥ १८ ॥
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च।
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः ॥ १९ ॥
पयो दधि घृतं चैव पुण्याश्चैताः सुराधिप।
वहन्ति विविधान् भारान् क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः॥२०॥
मुनींश्च धारयन्तीह प्रजाश्चैवापि कर्मणा।
वासवाकूटवाहिन्यः कर्मणा सुकृतेन च ॥ २१ ॥

स्थापित हुआ है ? मैं इसे जाननेकी इच्छा करता हूं, हे ईश्वर ! इस लोकमें गौवोंने कौनसी तपस्या वा ब्रह्मचर्य किया था, कि जिसके प्रभावसे रजोगुण से रहित होकर सहजमें ही देवताओंके ऊर्ध्वमें निवास करती हैं। अनन्तर ब्रह्मा उस बल-निषूदन इन्द्रसे बोले, हे पाक-शासन ! गौवोंकी तुम सदा अवज्ञा किया करते हो, इस ही निमित्त तुम इनके माहात्म्यको नहीं जानते। हे सुरेश्वर ! इसलिये तुम गौवोंका परम प्रभाव और माहात्म्य सुनो। हे इन्द्र ! गौवें यज्ञके अङ्ग तथा यज्ञरूपी कही जाती हैं; गौवोंके विना किसी प्रकारसे यज्ञ पूरा नहीं होता। (१३—१७)

गौवें घृत और दूधसे सारी प्रजाको धारण कर रही हैं; इनके पुत्र कृषिकार्योंको निबाहते हुए विविध धान्य तथा बीज उत्पन्न किया करते हैं। उसहीसे यज्ञ और हव्य कव्य आरम्भ होते हैं। हे देवराज ! ये गौवें तथा इनके दूध, दही और घृत अत्यन्त पवित्र है। ये भूख प्याससे अधिक पीडित होके भी विविध भार ढोया करती हैं। ये कार्यसे

उपरिष्टात्ततोऽस्माकं वसन्त्येताः सदैव हि।
एवं ते कारणं शक्र निवासकृतमद्य वै ॥ २२ ॥
गवां देवोपरिष्टाद्धि समाख्यातं शतक्रतो।
एता हि वरदत्ताश्च वरदाश्चापि वासव ॥ २३ ॥
सुरभ्यः पुण्यकर्मिण्यः पावनाः शुभलक्षणाः।
यदर्थं गां गताश्चैव सुरभ्यः सुरसत्तम ॥ २४ ॥
तच्च मे शृणु कार्त्स्न्येन वदतो बलसूदन।
पुरा देवयुगे तात दैत्येन्द्रेषु महात्मसु ॥ २५ ॥
त्रीँल्लोकाननुशासत्सु विष्णौ गर्भत्वमागते।
अदित्यास्तप्यमानायास्तपो घोरं सुदुश्चरम् ॥ २६ ॥
पुत्रार्थममरश्रेष्ठ पादेनैकेन नित्यदा।
तां तु दृष्ट्वा महादेवीं तप्यमानां महत्तपः ॥ २७ ॥
दक्षस्य दुहिता देवी सुरभी नाम नामतः।
अतप्यत तपो घोरं हृष्टा धर्मपरायणा ॥ २८ ॥
कैलासशिखरे रम्ये देवगन्धर्वसेविते।
व्यतिष्ठदेकपादेन परमं योगमास्थिता ॥ २९ ॥
दश वर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।

मुनियों तथा समस्त प्रजाको धारण कर रही हैं। हे इन्द्र! ये निष्कपट व्यवहार करती हैं, इसीसे कर्म और सुकृतके सहारे सदा हम लोगोंके ऊर्ध्वमें निवास किया करती हैं। हे देवराज! यह मैंने तुमसे देवताओंके ऊर्ध्वमें गौओंके निवासका कारण कहा है। हे इन्द्र! इन्होंने वर पाया है और वर देनेमें भी समर्थ हैं। हे सुरसत्तम बलसूदन! पुण्यकर्मशालिनी शुभलक्षणवाली पावन गौवें जिस निमित्त पृथ्वी पर गई हैं, वह भी मैं विस्तारपूर्वक कहता हूं, सुनो। (१८—२५)

हे तात! पहले समय सत्ययुगमें महानुभाव देवेन्द्र त्रिभुवनका शासन कर रहे थे, उस समय अदितिके सदा एक पदसे स्थित होकर घोर दुश्चर तपस्या करनेसे भगवान विष्णु उसके गर्भस्थ हुए; उसी समय दक्षपुत्री सुरभि नाम्नी देवीने महादेवी अदितिको उत्तम महत् तपस्या करते देखकर हर्षपूर्वक धर्मपरायण होके घोर तपस्या की थी। वह परम योग अवलम्बन करके देव गन्धर्वोंसे सेवित रमणीय

संतप्तास्तपसा तस्या देवाः सर्षिमहोरगाः ॥ ३० ॥
तत्र गत्वा मया सार्धं पर्युपासन्त तां शुभाम्।
अथाहमब्रुवं तत्र देवीं तां तपसान्विताम् ॥ ३१ ॥
किमर्थं तप्यसे देवि तपो घोरमनिन्दिते।
प्रीतस्तेऽहं महाभागे तपसाऽनेन शोभने ॥ ३२ ॥
वरयस्व वरं देवि दाताऽस्मीति पुरन्दर ॥ ३३ ॥
सुरभ्युवाच— वरेण भगवन्मह्यं कृतं लोकपितामह।
एष एव वरो मेऽद्य यत्प्रीतोऽसि ममानघ ॥ ३४ ॥
ब्रह्मोवाच— तामेवं ब्रुवतीं देवीं सुरभिं त्रिदशेश्वर।
प्रत्यब्रुवं यद्देवेन्द्र तन्निबोध शचीपते ॥ ३५ ॥
अलोभकाम्यया देवि तपसा च शुभानने।
प्रसन्नोऽहं वरं तस्माद्मरत्वं ददामि ते ॥ ३६ ॥
त्रयाणामपि लोकानामुपरिष्टान्निवत्स्यसि।
मत्प्रसादाच्च विख्यातो गोलोकः सम्भविष्यति ॥३७॥
मानुषेषु च कुर्वाणाः प्रजाः कर्मशुभास्तव।
निवत्स्यन्ति महाभागे सर्वा दुहितरश्च ते ॥ ३८ ॥

कैलास पर्वतकी शिखरपर दश हजार दश सौ वर्षतक एक चरणसे निवास करने लगी। देवता, महर्षि और महोरग गण उस देवीकी तपस्यासे सन्तप्त होकर मेरे सहित वहां जाके उस कल्याणीकी उपासना करनेमें प्रवृत्त हुए। अनन्तर मैंने उस तपस्या करनेवाली देवीसे कहा, हे अनिन्दिते देवि! तुम किस निमित्त घोर तपस्या करती हो? हे महाभागे शोभने! मैं तुम्हारी इस तपस्यासे प्रसन्न हुआ हूं। हे देवि! जो इच्छा हो, वर मांगो, मैं तुम्हें वर देता हूं। (२५—३३)

सुरभि बोली, हे लोकपितामह भगवन्! मुझे वरसे क्या प्रयोजन है? हे अनघ! आप जो मुझपर प्रसन्न हुए, यही मेरे लिये वर है। (३४)

ब्रह्मा बोले, हे त्रिदशेश्वर शचीपति देवेन्द्र! उस सुरभि देवीके ऐसा कहनेपर मैंने उसे जो उत्तर दिया, वह सुनो। हे शुभानने देवि! तुम्हारी अलोभकामना और तपस्यासे मैं प्रसन्न होकर तुम्हें अमरत्वका वर देता हूं और तुम तीनों लोकोंके ऊर्ध्वमें निवास करोगी; मेरे प्रसादसे वह स्थान गोलोक नामसे विख्यात होगा, हे महाभागे!

मनसा चिन्तिता भोगास्त्वया वै दिव्यमानुषाः।
यच्च सर्वं सुखं देवि तत्ते सम्पत्स्यते शुभे ॥ ३९ ॥
तस्या लोकाः सहस्राक्ष सर्वकामसमन्विताः।
न तत्र क्रमते मृत्युर्न जरा न च पावकः ॥ ४० ॥
न दैवं नाशुभं किंचिद्विद्यते तत्र वासव।
तत्र दिव्यान्यरण्यानि दिव्यानि भवनानि च ॥ ४१ ॥
विमानानि सुयुक्तानि कामगानि च वासव।
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन च दमेन च ॥ ४२ ॥
दानैश्च विविधैः पुण्यैस्तथा तीर्थानुसेवनात्।
तपसा महता चैव सुकृतेन च कर्मणा ॥ ४३ ॥
शक्यः समासादयितुं गोलोकः पुष्करेक्षण।
एतत्ते सर्वमाख्यातं मया शक्रानुपृच्छते ॥ ४४ ॥
न ते परिभवः कार्यो गवामसुरसूदन ॥ ४५ ॥
भीष्म उवाच-एतच्छ्रुत्वा सहस्राक्षः पूजयामास नित्यदा।
गाश्चक्रे बहुमानं च तासु नित्यं युधिष्ठिर ॥ ४६ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं पावनं च महाद्युते।

तुम्हारी सन्तान वा दुहितावृन्द मनुष्य-लोकमें शुभ कर्म करके गोलोकमें आकर निवास करेंगी। तुम मनही मन ध्यान करनेसे ही दिव्य मानुष भोग पाओगी। हे शुभे! हे देवि! स्वर्गमें जो कुछ सुख है, उसे तुम वहांपर उपभोग करोगी। (३५—३९)

हे सहस्राक्ष! सुरभिके समस्त लोक सर्वकामसंयुक्त हैं, वहांपर जरामृत्यु अथवा अग्नि संक्रमण करनेमें समर्थ नहीं है। हे इन्द्र! वहां कुछ भी दैव अशुभ नहीं है, उस स्थानमें दिव्यवन, गृह, समस्त आभरण, कामगामी उत्तम वाहनोंसे युक्त विमान विद्यमान हैं। हे कमलनेत्र! ब्रह्मचर्य, तपस्या, सत्य, दम, विविध दान, बहुतसे पुण्य, तीर्थसेवन, उत्तम महत् तपस्या और सुकृत कर्मके सहारे गोलोक प्राप्त होसकता है। हे असुरसूदन शक्र! तुमने जो प्रश्न किया था, तुम्हारे समीप वह सब कहा गया, इसलिये तुम्हें गौवोंका परिभव करना योग्य नहीं है। (४०—४५)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! इन्द्र ऐसा सुनके सदा गौवोंकी पूजा और उनका बहुमान करने लगे। हे पुरुष-श्रेष्ठ! यह तुम्हारे समीप परम पवित्र

पवित्रं परमं चापि गवां माहात्म्यमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
कीर्तितं पुरुषव्याघ्र सर्वपापविमोचनम्।
य इदं कथयेन्नित्यं ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ ४८ ॥
हव्यकव्येषु यज्ञेषु पितृकार्येषु चैव ह।
सार्वकामिकमक्षय्यं पितृंस्तस्योपतिष्ठते ॥ ४९ ॥
गोषु भक्तश्च लभते यद्यदिच्छति मानवः।
स्त्रियोऽपि भक्ता या गोषु ताश्च काममवाप्नुयुः ॥ ५० ॥
पुत्रार्थी लभते पुत्रं कन्यार्थी तामवाप्नुयात्।
धनार्थी लभते वित्तं धर्मार्थी धर्ममाप्नुयात् ॥ ५१ ॥
विद्यार्थी चाप्नुयाद्विद्यां सुखार्थी प्राप्नुयात्सुखम्।
न किंचिद्दुर्लभं चैव गवां भक्तस्य भारत ॥ ५२ ॥ [३८८०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे गोलोकवर्णने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—उक्तं पितामहेनेदं गवां दानमनुत्तमम्।
विशेषेण नरेन्द्राणामिह धर्ममवेक्षताम् ॥ १ ॥
राज्यं हि सततं दुःखं दुर्धरं चाकृतात्मभिः।

पावन और सर्वपापनाशक गौवोंका अत्यन्त उत्तम माहात्म्य कहा गया। जो लोग समाहित होके हव्य, कव्य, यज्ञ और पितृकार्यमें ब्राह्मणोंको सदा यह विषय सुनाते हैं। उनका सार्वकामिक अक्षय फल पितरोंके निकट उपस्थित होता है। मनुष्य गौवोंके भक्त होनेपर इच्छानुसार फल पाते हैं और जो स्त्रियें गौवोंमें भक्ति करती हैं, उन्हें भी सब काम्यविषय प्राप्त होते हैं। पुत्रार्थी मनुष्य पुत्र पाते, कन्याकी इच्छा करनेवालोंको कन्या प्राप्त होती है; धनकी इच्छावाले धन पाते और धर्मार्थी मनुष्योंको धर्म प्राप्त होता है, विद्यार्थीको विद्या मिलती है, सुख चाहनेवाले सुख उपभोग किया करते हैं। हे भारत! जो लोग गौवोंमें भक्ति करते हैं, उन्हें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। (४६—५२)

अनुशासनपर्वमें ८३ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ८४ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, इस लोकमें अत्युत्तम गोदानका विषय पितामहके द्वारा वर्णित हुआ, धर्मदर्शी राजाओंके लिये यह विशेष हितकर है। अपवित्र चित्तवाले राजाओंके पक्षमें राज्य सदा दुःखकर

भूयिष्ठं च नरेन्द्राणां विद्यते न शुभा गतिः ॥ २ ॥
पूयन्ते तत्र नियतं प्रयच्छन्तो वसुन्धराम्।
सर्वे च कथिता धर्मास्त्वया मे कुरुनन्दन ॥ ३ ॥
एवमेव गवामुक्तं प्रदानं ते नृगेण ह।
ऋषिणा नाचिकेतेन पूर्वमेव निदर्शितम् ॥ ४ ॥
वेदोपनिषदश्चैव सर्वकर्मसु दक्षिणाः।
सर्वक्रतुषु चोद्दिष्टं भूमिर्गावोऽथ काञ्चनम् ॥ ५ ॥
तत्र श्रुतिस्तु परमा सुवर्णं दक्षिणेति वै।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पितामह यथातथम् ॥ ६ ॥
किं सुवर्णं कथं जातं कस्मिन्काले किमात्मकम्।
किं दैवं किं फलं चैव कस्माच्च परमुच्यते ॥ ७ ॥
कस्माद्दानं सुवर्णस्य पूजयन्ति मनीषिणः।
कस्माच्च दक्षिणार्थं तद्यज्ञकर्मसु शस्यते ॥ ८ ॥
कस्माच्च पावनं श्रेष्ठं भूमेर्गोभ्यश्च काञ्चनम्।
परमं दक्षिणार्थे च तद्ब्रवीहि पितामह ॥ ९ ॥

और दुर्धर है, प्रायः राजाओंकी शुभ गति नहीं होती, इसलिये वे लोग सदा भूमि दान करके पवित्र होते हैं। हे कुरुनन्दन! आपने मेरे समीप सब धर्मोंका वर्णन किया और राजा नृगके द्वारा गोदानका विषय तथा नाचिकेत ऋषिने जो कहा था, वह पहले ही प्रमाणित हुआ है। (१-४)

वेद और उपनिषदके सहारे सब कार्यों तथा यज्ञोंमें भूमि, गऊ और सुवर्ण दक्षिणारूपसे निर्दिष्ट हैं, ऐसी जनश्रुति है, कि उनके बीच सुवर्ण ही सब भांतिसे श्रेष्ठ दक्षिणा है। हे पितामह! इसलिये इस विषयका यथार्थ वृत्तान्त सुननेकी इच्छा करता हूं। सुवर्ण क्या है? किस समयमें किस प्रकार उत्पन्न हुआ? इसका स्वरूप क्या है? क्या यह दैवी है? इसका फल क्या है? किस निमित्त श्रेष्ठ कहके वर्णित हुआ? मनीषिगण किस निमित्त सुवर्णदानकी प्रशंसा किया करते हैं? यज्ञकर्ममें दक्षिणाके लिये किस हेतुसे सुवर्ण श्रेष्ठ है? हे पितामह! भूमि और गऊसे सुवर्ण किस निमित्त पावन और श्रेष्ठ है तथा दक्षिणाके लिये किस कारणसे वह परम श्रेष्ठ है? यह सब मेरे निकट वर्णन करिये। (५—९)

भीष्म उवाच- शृणु राजन्नवहितो बहुकारणविस्तरम्।
जातरूपसमुत्पत्तिमनुभूतं च यन्मया ॥ १० ॥
पिता मम महातेजाः शान्तनुर्निधनं गतः।
तस्य दित्सुरहं श्राद्धं गङ्गाद्वारमुपागमम् ॥ ११ ॥
तत्राऽऽगम्य पितुः पुत्र श्राद्धकर्म समारभम्।
माता मे जाह्नवी चात्र साहाय्यमकरोत्तदा ॥ १२ ॥
ततोऽग्रतस्ततः सिद्धानुपवेश्य बहूनृषीन्।
तोयप्रदानात्प्रभृति कार्याण्यहमथारभम् ॥ १३ ॥
तत्समाप्य यथोद्दिष्टं पूर्वकर्मसमाहितः।
दातुं निर्वपणं सम्यग्यथावदहमारभम् ॥ १४ ॥
ततस्तं दर्भविन्यासं भित्त्वा सुरुचिराङ्गदः।
प्रलम्बाभरणो बाहुरुदतिष्ठद्विशाम्पते ॥ १५ ॥
तमुत्थितमहं दृष्ट्वा परं विस्मयमागमम्।
प्रतिग्रहीता साक्षान्मे पितेति भरतर्षभ ॥ १६ ॥
ततो मे पुनरेवासीत्संज्ञा संचिन्त्य शास्त्रतः।
नाऽयं वेदेषु विहितो विधिर्हस्त इति प्रभो ॥ १७ ॥
पिण्डो देयो नरेणेह ततो मतिरभून्मम।

भीष्म बोले, हे महाराज! सुवर्णकी उत्पत्तिके विषयमें बहुत बडा कारण जो मुझे मालूम हुआ है, तुम सावधान होकर उसे सुनो, मेरे पितामह तेजस्वी शान्तनुके मरनेपर मैं उनका श्राद्ध करनेके लिये गङ्गाद्वारमें गया था। हे तात! मैंने वहां जाके श्राद्धकर्म आरम्भ किया, उस समय मेरी माता जाह्नवीने इस विषयमें सहायता की थी। अनन्तर अग्रभागमें ऋषियोंको बैठाके जल दान प्रभृति कार्य आरम्भ किया। मैं सावधान होकर यथारीतिसे पूर्वकर्म समाप्त करके विधिपूर्वक पूरी रीतिसे श्राद्ध करनेमें प्रवृत्त हुआ। (१०-१४)

हे नरनाथ! अनन्तर उस दाभको भेदकर मनोहर अङ्गद तथा आभूषणोंसे युक्त एक लम्बी भुजा समुत्थित हुई। हे भरतश्रेष्ठ! मैं अपने पिताको स्वयं प्रतिग्रहीता होते तथा उनकी भुजाको निकली हुई देखके अत्यन्त विस्मित हुआ। अनन्तर शास्त्रके अनुसार विचार करके मैं फिर सावधान हुआ, वेदके बीच हाथमें पिण्ड देनेकी विधि नहीं है, इसलिये मैंने विचारा कि पितर

साक्षान्नेह मनुष्यस्य पिण्डं हि पितरः क्वचित् ॥ १८ ॥
गृह्णन्ति विहितं चेत्थं पिण्डो देयः कुशेष्विति ।
ततोऽहं तदनादृत्य पितुर्हस्तनिदर्शनम् ॥ १९ ॥
शास्त्रप्रामाण्यसूक्ष्मं तु विधिं पिण्डस्य संस्मरन् ।
ततो दर्भेषु तत्सर्वमददं भरतर्षभ ॥ २० ॥
शास्त्रमार्गानुसारेण तद्विद्धि मनुजर्षभ ।
ततः सोऽन्तर्हितो बाहुः पितुर्मम जनाधिप ॥ २१ ॥
ततो मां दर्शयामासुः स्वप्नान्ते पितरस्तथा ।
प्रीयमाणास्तु मामूचुः प्रीताः स्म भरतर्षभ ॥ २२ ॥
विज्ञानेन तवानेन यन्न मुह्यसि धर्मतः ।
त्वया हि कुर्वता शास्त्रं प्रमाणमिह पार्थिव ॥ २३ ॥
आत्मा धर्मः श्रुतं वेदाः पितरश्चर्षिभिः सह ।
साक्षात्पितामहो ब्रह्मा गुरवोऽथ प्रजापतिः ॥ २४ ॥
प्रमाणमुपनीता वै स्थिताश्च न विचालिताः ।
तदिदं सम्यगारब्धं त्वयाऽद्य भरतर्षभ ॥ २५ ॥
किं तु भूमेर्गवां चार्थे सुवर्णं दीयतामिति ।
एवं वयं च धर्मज्ञ सर्वे चास्मत्पितामहाः ॥ २६ ॥

लोग साक्षात् सम्बन्धसे इस लोकमें कदापि मनुष्योंका पिण्ड ग्रहण नहीं करते, ऐसा ही विहित है, इस हेतु कुशके बीच पिण्डदान करना चाहिये । हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर मैंने पिताके उस हस्तनिदर्शनका अनादर करके शास्त्रप्रमाणके अनुसार पिण्डदानकी सूक्ष्म विधि स्मरण करते हुए वह सब पिण्ड कुशके बीच ही प्रदान किया; जान रक्खो, कि यह शास्त्रके अनुसार ही हुआ। (१५—२१)

हे नरनाथ ! अनन्तर मेरे पिताकी बाहु अन्तर्हित हुई। हे भरतश्रेष्ठ ! मृत पिता स्वप्नमें मुझे दर्शन देके बोले, तुम जो शास्त्र प्रमाणके अनुसार इस विज्ञानसे मुग्ध नहीं हुए, इसलिये मैं प्रसन्न हुआ हूं। आत्मा, धर्म, श्रुत, समस्त वेद, ऋषियोंके सहित पितृगण, साक्षात् पितामह ब्रह्मा और गुरुजन ये सब कोई प्रमाणमें स्थित हैं और मर्यादा भी विचलित नहीं हुई। हे भरतश्रेष्ठ नरनाथ ! इसलिये आज तुमने पूरा कार्य किया है, किन्तु भूमि और गौवोंके निमित्त सुवर्ण दान करो। हे धर्मज्ञ ! ऐसा करनेसे मैं

पाविता वै भविष्यन्ति पावनं हि परं हि तत्।
दश पूर्वान्दशैवान्यांस्तथा संतारयन्ति ते ॥ २७ ॥
सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति एवं मत्पितरोऽब्रुवन्।
ततोऽहं विस्मितो राजन्प्रतिबुद्धो विशाम्पते ॥ २८ ॥
सुवर्णदानेऽकरवं मतिं च भरतर्षभ।
इतिहासमिमं चापि शृणु राजन्पुरातनम् ॥ २९ ॥
जामदग्न्यं प्रति विभो धन्यमायुष्यमेव च।
जामदग्न्येन रामेण तीव्ररोषान्वितेन वै ॥ ३० ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा।
ततो जित्वा महीं कृत्स्नां रामो राजीवलोचनः ॥ ३१ ॥
आजहार क्रतुं वीरो ब्रह्मक्षत्रेण पूजितम्।
वाजिमेधं महाराज सर्वकामसमन्वितम् ॥ ३२ ॥
पावनं सर्वभूतानां तेजोद्युतिविवर्धनम्।
विपाप्मा च स तेजस्वी तेन क्रतुफलेन च ॥ ३३ ॥
नैवात्मनोऽथ लघुतां जामदग्न्योऽध्यगच्छत।
स तु क्रतुवरेणेष्ट्वा महात्मा दक्षिणावता ॥ ३४ ॥
पप्रच्छागमसंपन्नानृषीन्देवांश्च भार्गव।

और मेरे समस्त पितामहगण पवित्र होंगे; क्यों कि सुवर्ण परम पवित्र है। मेरे पिताने कहा था, कि जो लोग सुवर्ण दान करते हैं, वे दश ऊपरके और दश नीचेके पुरुषोंका उद्धार किया करते हैं। हे नरनाथ! अनन्तर मैं सावधान होनेपर विस्मित हुआ। हे भरतश्रेष्ठ! तब मैंने सुवर्ण दान करनेकी इच्छा की। हे महाराज! जामदग्न्यसम्बन्धीय धन तथा आयु देनेवाले इस पुराने इतिहासको सुनो। (२१—३०)

पहले समयमें तीव्ररोषयुक्त जामदग्न्य रामने इक्कीस वार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया था। हे महाराज! अनन्तर महावीर राजीवलोचन रामने अखण्ड पृथ्वीमण्डलको जीतके ब्राह्मणों और क्षत्रियोंसे पूजित सर्वकामयुक्त वाजिमेध यज्ञ आरम्भ किया। वह यज्ञ सर्वभूतोंके लिये पावन, तेज तथा द्युतिको बढानेवाला है। जमदग्निपुत्र तेजस्वी रामने उस यज्ञसे पापरहित होके भी अपने चित्तको पवित्र न पाया। महात्मा भृगुनन्दन रामने दक्षिणायुक्त यज्ञ करके वेद जाननेवाले ऋषियों और देवताओंसे

पावनं यत्परं नृणामुग्रे कर्माणि वर्त्तताम् ॥ ३५ ॥
तदुच्यतां महाभागा इति जातघृणोऽब्रवीत् ।
इत्युक्ता वेदशास्त्रज्ञास्तमूचुस्ते महर्षयः ॥ ३६ ॥
राम विप्राः सत्क्रियन्तां वेदप्रामाण्यदर्शनात् ।
भूयश्च विप्रर्षिगणाः प्रष्टव्याः पावनं प्रति ॥ ३७ ॥
ते यद् ब्रूयुर्महाप्राज्ञास्तच्चैव समुदाचर ।
ततो वसिष्ठं देवर्षिमगस्त्यमथ काश्यपम् ॥ ३८ ॥
तमेवार्थं महातेजाः पप्रच्छ भृगुनन्दनः ।
जाता मतिर्मे विप्रेन्द्राः कथं पूयेयमित्युत ॥ ३९ ॥
केन वा कर्मयोगेन प्रदानेनेह केन वा ।
यदि वोऽनुग्रहकृता बुद्धिर्मां प्रति सत्तमाः ।
प्रब्रूत पावनं किं मे भवेदिति तपोधनाः ॥ ४० ॥
ऋषय ऊचुः—गाश्च भूमिं च वित्तं च दत्त्वेह भृगुनन्दन ।
पापकृत्पूयते मर्त्य इति भार्गव शुश्रुम ॥ ४१ ॥
अन्यद्दानं तु विप्रर्षे श्रूयतां पावनं महत् ।
दिव्यमत्यद्भुताकारमपत्यं जातवेदसः ॥ ४२ ॥
दग्ध्वा लोकान्पुरा वीर्यात्संभूतमिह शुश्रुम ।

पूछा। हे महाभागगण! उग्र कर्ममें रत रहनेवाले मनुष्योंके लिये जो परम पावन हो, उसेही वर्णन करिये, जब रामने करुणायुक्त होकर ऐसा कहा, तब वेदशास्त्र जाननेवाले महर्षिवृन्द उनका वचन सुनके बोले, हे राम! वेदप्रमाण के अनुसार ब्राह्मणोंका सम्मान करो। पावनके सम्बन्धमें फिर विप्रर्षियोंसे प्रश्न करो, वे महाप्राज्ञ महर्षिवृन्द जैसा कहें, वैसाही करो। (३०—३८)

अनन्तर महातेजस्वी भृगुनन्दनने देवर्षि वसिष्ठ, अगस्त्य और कश्यपसे यही विषय पूछा। उन्होंने कहा, हे विप्रेन्द्र! मेरी ऐसी मति हुई है, कि मैं कैसे कर्म तथा कौनसी वस्तु प्रदान करनेसे पवित्र हूंगा? हे सत्तम! यदि मुझपर आप लोगोंकी कृपा है, तो जिस प्रकार मेरी पवित्रता हो, उसे वर्णन करिये। (३८—४०)

ऋषिवृन्द बोले, हे भृगुनन्दन! मैंने सुना है, कि पापी मनुष्य गऊ, भूमि और धन दान करके पवित्र होते हैं। हे विप्रर्षि! अन्य एक महत्, पवित्र, दिव्य, अद्भुत रूपवाले, अग्निके पुत्र सुवर्णका

सुवर्णमिति विख्यातं तद्ददत्सिद्धिमेष्यसि ॥ ४३ ॥
ततोऽब्रवीद्वसिष्ठस्तं भगवान्संशितव्रतः।
शृणु राम यथोत्पन्नं सुवर्णमनलप्रभम् ॥ ४४ ॥
फलं दास्यति ते यत्तु दाने परमिहोच्यते।
सुवर्णं यच्च यस्माच्च यथा च गुणवत्तमम् ॥ ४५ ॥
तन्निबोध महाबाहो सर्वं निगदतो मम।
अग्नीषोमात्मकमिदं सुवर्णं विद्धि निश्चये ॥ ४६ ॥
अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्व इति दर्शनम्।
कुञ्जराश्च मृगा नागा महिषाश्चासुरा इति ॥ ४७ ॥
कुक्कुटाश्च वराहाश्च राक्षसा भृगुनन्दन।
इडा गावः पयः सोमो भूमिरित्येव च स्मृतिः ॥ ४८ ॥
जगत्सर्वं च निर्मथ्य तेजोराशिः समुत्थितः।
सुवर्णमेभ्यो विप्रर्षे रत्नं परममुत्तमम् ॥ ४९ ॥
एतस्मात्कारणाद्देवा गन्धर्वोरगराक्षसाः।
मनुष्याश्च पिशाचाश्च प्रयता धारयन्ति तत् ॥ ५० ॥
मुकुटैरङ्गदयुतैरलङ्कारैः पृथग्विधैः।

दान विषय सुनो। मैंने सुना है, कि पहले समयमें वीर्यके प्रभावसे सब लोकोंको जलाके सुवर्ण उत्पन्न हुआ था। ऐसे विख्यात सुवर्णको दान करनेसे मनुष्य सिद्धिलाभ करता है। अनन्तर संशितव्रती वसिष्ठ मुनि बोले, हे राम! अग्निसे जिस प्रकार सुवर्ण उत्पन्न हुआ, उसे सुनो। जिसके दान करनेसे तुम्हें परम फल प्राप्त होगा, इस समय उसही का वर्णन होता है। हे महाबाहो! सुवर्णका जो स्वरूप है, और वह जैसा गुणवत्तर है, वह सब मैं कहता हूं सुनो, इस सुवर्णको निश्चय ही अग्नि और चन्द्रस्वरूप जानो। (४१—४६)

हे भृगुनन्दन! ऐसा देखा तथा सुना गया है, कि अज, अग्नि, वरुण, मेघ, सूर्य, अश्व, कुञ्जर, नाग, महिष, असुरगण और कुक्कुट, वराह, राक्षस, यज्ञ, भूमि, गऊ, पय, चन्द्रमा तथा पृथ्वी, इस समस्त जगत्को मथके तेजपुञ्ज उत्पन्न हुआ था। हे विप्रर्षि! इन सबसे अत्यन्त उत्तम रत्न सुवर्ण उत्पन्न हुआ। इस ही निमित्त देवता, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, मनुष्य और पिशाचगण सावधान होके उसे धारण किया करते हैं। (४७—५०)

सुवर्णविकृतैस्तत्र विराजन्ते भृगूत्तम ॥ ५१ ॥
तस्मात्सर्वपवित्रेभ्यः पवित्रं परमं स्मृतम् ।
भूमेर्गोभ्योऽथ रत्नेभ्यस्तद्विद्धि मनुजर्षभ ॥ ५२ ॥
पृथिवीं गाश्च दत्त्वेह यच्चान्यदपि किंचन ।
विशिष्यते सुवर्णस्य दानं परमकं विभो ॥ ५३ ॥
अक्षयं पावनं चैव सुवर्णममरद्युते ।
प्रयच्छ द्विजमुख्येभ्यः पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥ ५४ ॥
सुवर्णमेव सर्वासु दक्षिणासु विधीयते ।
सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति सर्वदास्ते भवन्त्युत ॥ ५५ ॥
देवतास्ते प्रयच्छन्ति ये सुवर्णं ददत्यथ ।
अग्निर्हि देवताः सर्वाः सुवर्णं च तदात्मकम् ॥ ५६ ॥
तस्मात्सुवर्णं ददता दत्ताः सर्वाः स्म देवताः ।
भवन्ति पुरुषव्याघ्र न ह्यतः परमं विदुः ॥ ५७ ॥
भूय एव च माहात्म्यं सुवर्णस्य निबोध मे ।
गदतो मम विप्रर्षे सर्वशास्त्रभृतां वर ॥ ५८ ॥
मया श्रुतमिदं पूर्वं पुराणे भृगुनन्दन ।

हे भृगुवंशधुरन्धर ! ये सुवर्णके बने हुए मुकुट कवच आदि अनेक भांतिके अलंकारोंसे शोभित होते हैं। हे मनुजश्रेष्ठ ! इन्हीं कारणोंसे भूमि, गऊ तथा रत्न प्रभृति सब पवित्र वस्तुओंके बीच सुवर्ण परम पवित्र कहा गया है। इस लोकमें भूमि और गऊ दान करके अन्य जो कुछ श्रेष्ठ दान किया जाता है, उन सबके बीच सुवर्ण दान ही श्रेष्ठ हुआ करता है। हे देवद्युति ! सुवर्ण अक्षय और पवित्र है, इसलिये इसे ब्राह्मणोंको दान करो, क्यों कि यह उत्तम तथा पावन है। (५१-५४)

समस्त दक्षिणा विषयमें सुवर्णही विहित हुआ है। जो लोग सुवर्ण दान करते हैं, वे सर्वप्रदाता होते हैं। जो लोग सुवर्णदान देते हैं, वे देवता दान किया करते हैं, क्यों कि अग्नि ही समस्त देवतात्मक है और सोना अग्निस्वरूप है, इसलिये सुवर्णदाता समस्त देवता दान करता है। हे पुरुषश्रेष्ठ ! पण्डित लोग सुवर्ण दानसे श्रेष्ठ और किसीको भी नहीं जानते। हे सर्वशास्त्रविशारद विप्रर्षि ! मैं फिर कहता हूं, मेरे समीप सुवर्णका माहात्म्य

प्रजापतेः कथयतो यथान्यायं तु तस्य वै ॥ ५९ ॥
शूलपाणेर्भगवतो रुद्रस्य च महात्मनः ।
गिरौ हिमवति श्रेष्ठे तदा भृगुकुलोद्वह ॥ ६० ॥
देव्या विवाहे निर्वृत्ते रुद्राण्या भृगुनन्दन ।
समागमे भगवतो देव्या सह महात्मनः ॥ ६१ ॥
ततः सर्वे समुद्विग्ना देवा रुद्रमुपागमन् ।
ते महादेवमासीनं देवीं च वरदामुमाम् ॥ ६२ ॥
प्रसाद्य शिरसा सर्वे रुद्रमूचुर्भृगूद्वह ।
अयं समागमो देवो देव्या सह तवानघ ॥ ६३ ॥
तपस्विनस्तपस्विन्या तेजस्विन्याऽतितेजसः ।
अमोघतेजास्त्वं देव देवी चेयमुमा तथा ॥ ६४ ॥
अपत्यं युवयोर्देव बलवद्भविता विभो ।
तन्नूनं त्रिषु लोकेषु न किंचिच्छेषयिष्यति ॥ ६५ ॥
तदेभ्यः प्रणतेभ्यस्त्वं देवेभ्यः पृथुलोचन ।
वरं प्रयच्छ लोकेश त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥ ६६ ॥
अपत्यार्थं निगृह्णीष्व तेजः परमकं विभो ।

विस्तारपूर्वक सुनो। (५५-५८)

हे भृगुनन्दन! पहले प्रजापतिने न्यायपूर्वक जो कहा है, उसे मैंने पुराणमें सुना है। हे भृगुकुलधुरन्धर! सर्वश्रेष्ठ हिमालय पर्वतपर महानुभाव भगवान शूलधारी रुद्रके सहित रुद्राणी देवीका विवाह होनेपर महानुभाव भगवान शिवका देवीके सङ्ग समागम होनेके समय समस्त देववृन्द घबडाकर महादेवके निकट उपस्थित हुए। हे भृगुनन्दन! वे सब लोग बैठे हुए महादेव और उमादेवीको सिर झुकाकर प्रणाम करके उनसे बोले, हे देव! देवीके संग आपका यह समागम होता है, आप अत्यन्त तेजस्वी तपस्वी हैं और ये भी अति तेजस्विनी तपस्विनी हैं। हे देव! आपका तेज अव्यर्थ है, उमादेवीका तेज भी वैसा ही है; हे देव! हे विभु! आपको अत्यन्त बलवान पुत्र होगा, वह पुत्र तीनों लोकोंके बीच किसीको भी अवशिष्ट न रक्खेगा, यह निश्चय ही बोध हो रहा है। (५९-६५)

हे विशालनेत्र लोकेश! इसलिये आप इन प्रणत देवताओंके हितके लिये वर दान करिये। हे विभु! आप

त्रैलोक्यसारौ हि युवां लोकं संतापयिष्यथः ॥ ६७ ॥
तदपत्यं हि युवयोर्देवानभिभवेद् ध्रुवम् ।
न हि ते पृथिवी देवी न च द्यौर्न दिवं विभो ॥ ६८ ॥
नेदं धारयितुं शक्ता समस्ता इति मे मतिः ।
तेजःप्रभावनिर्दग्धं तस्मात्सर्वमिदं जगत् ॥ ६९ ॥
तस्मात्प्रसादं भगवन्कर्तुमर्हसि नः प्रभो ।
न देव्यां संभवेत्पुत्रो भवतः सुरसत्तम ।
धैर्यादेव निगृह्णीष्व तेजो ज्वलितमुत्तमम् ॥ ७० ॥
इति तेषां कथयतां भगवान्वृषभध्वजः ।
एवमस्त्विति देवांस्तान्विप्रर्षे प्रत्यभाषत ॥ ७१ ॥
इत्युक्त्वा चोर्ध्वमनयद्रेतो वृषभवाहनः ।
ऊर्ध्वरेताः समभवत्ततः प्रभृति चापि सः ॥ ७२ ॥
रुद्राणीति ततः क्रुद्धा प्रजोच्छेदे तदा कृते ।
देवानथाब्रवीत्तत्र स्त्रीभावात्परुषं वचः ॥ ७३ ॥
यस्मादपत्यकामो वै भर्ता मे विनिवर्तितः ।
तस्मात्सर्वे सुरा यूयमनपत्या भविष्यथ ॥ ७४ ॥

पुत्रके निमित्त परम तेजको रोकिये । आप त्रिभुवनके सारस्वरूप हैं, इसलिये सब लोकोंको सन्तापित न करिये, आपका वह पुत्र निश्चय ही देवताओंको अभिभव करेगा। हमारे विचारमें देवी पृथ्वी, स्वर्ग और आकाश, ये सब आपके तेजको धारण करनेमें समर्थ न होंगे। तब यह समस्त जगत् आपके तेजप्रभावसे एकबारही भस्म होगा। हे प्रभु भगवन्! इसलिये आपको हमपर प्रसन्न होना उचित है। हे सुरसत्तम! इस देवीमें आपका पुत्र होना सम्भव नहीं है, इसलिये धीरजके सहारे अत्युत्तम जलते हुए तेजको निग्रह करिये। (६६–७०)

हे विप्रर्षि! देवताओंके ऐसे वचन सुनकर भगवान् वृषभध्वजने उन्हें 'एवमस्तु' कहके उत्तर दिया। वृषभवाहन शिवने उनका वचन स्वीकार करके निज वीर्यको ऊर्ध्वमें धारण किया; तभीसे उनका नाम ऊर्ध्वरेता हुआ। अनन्तर इस प्रकारसे पुत्र न होनेपर रुद्राणीने क्रुद्ध होकर स्त्रीस्वभावके अनुसार सहजहींमें क्रोधवशसे देवताओंको यह कठोर वचन बोली, कि जिस कारणसे पुत्रकी इच्छा करनेवाले मेरे

प्रजोच्छेदो मम कृतो यस्माद्युष्माभिरद्य वै।
तस्मात्प्रजा वः खगमाः सर्वेषां न भविष्यति ॥७५॥
पावकस्तु न तत्रासीच्छापकाले भृगूद्वह।
देवा देव्यास्तथा शापादनपत्यास्ततोऽभवन् ॥ ७६ ॥
रुद्रस्तु तेजोऽप्रतिमं धारयामास वै तदा।
प्रस्कन्नं तु ततस्तस्मात्किंचित्तत्रापतद्भुवि ॥ ७७ ॥
उत्पपात तदा वह्नौ ववृधे चाद्भुतोपमम्।
तेजस्तेजसि संयुक्तमात्मयोनित्वमागतम् ॥ ७८ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु देवाः शक्रपुरोगमाः।
असुरस्तारको नाम तेन संतापिता भृशम् ॥ ७९ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा मरुतोऽथाश्विनावपि।
साध्याश्च सर्वे संत्रस्ता दैतेयस्य पराक्रमात् ॥ ८० ॥
स्थानानि देवतानां हि विमानानि पुराणि च।
ऋषीणां चाश्रमाश्चैव बभूवुरसुरैर्हृताः ॥ ८१ ॥
ते दीनमनसः सर्वे देवता ऋषयश्च ये।
प्रजग्मुः शरणं देवं ब्रह्माणमजरं विभुम् ॥ ८२ ॥ [३९६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे सुवर्णोत्पत्तिर्नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

स्वामी तुम लोगोंके द्वारा पुत्रलाभसे निवृत्त हुए, उस ही निमित्त तुम लोगोंको पुत्र नहीं होगा। हे देववृन्द! तुम लोगोंने जिस प्रकार मेरे पुत्र नहीं होने दिये, उसी भांति तुम्हारे भी सन्तान न होंगी। (७१-७५)

हे भृगुनन्दन! उस शाप देनेके समय अग्निदेव वहांपर उपस्थित नहीं थे। देवीके ऐसे शापसे देववृन्द उसी समयसे अनपत्य हुए, उस समय रुद्रदेवने अप्रतिम तेज धारण किया। अनन्तर उनसे कुछ तेज स्खलित होके पृथ्वीपर गिरा। वह अद्भुत तेज पृथ्वीपर गिरते ही अग्निमें मिलकर बढने लगा। वह तेज अग्निमें मिलकर आत्मयोनित्वको प्राप्त हुआ, उस ही समयमें इन्द्रादि देववृन्द तारक नाम असुरके द्वारा अत्यन्त सन्तापित हुए। आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, मरुद्गण, दोनों अश्विनीकुमार और साध्यगण दैत्यके पराक्रमसे भयभीत हुए थे। देवताओंके स्थान, पुरी, विमान और ऋषियोंके आश्रमोंको असुरोंने हर

देवा ऊचुः— असुरस्तारको नाम त्वया दत्तवरः प्रभो।
सुरान्नृषींश्च क्लिश्नाति वधस्तस्य विधीयताम् ॥ १ ॥
तस्माद्भयं समुत्पन्नमस्माकं वै पितामह।
परित्रायस्व नो देव न ह्यन्या गतिरस्ति नः ॥ २ ॥
ब्रह्मोवाच— समोऽहं सर्वभूतानामधर्मं नेह रोचये।
हन्यतां तारकः क्षिप्रं सुरर्षिगणबाधिता ॥ ३ ॥
वेदा धर्माश्च नोच्छेदं गच्छेयुः सुरसत्तमाः।
विहितं पूर्वमेवाऽत्र मया वै व्येतु वो ज्वरः ॥ ४ ॥
देवा ऊचुः— वरदानाद्भगवतो दैतेयो बलगर्वितः।
देवैर्न शक्यते हन्तुं स कथं प्रशमं व्रजेत् ॥ ५ ॥
स हि नैव स्म देवानां नासुराणां न रक्षसाम्।
वध्यः स्यामिति जग्राह वरं त्वत्तः पितामह ॥ ६ ॥
देवाश्च शप्ता रुद्राण्या प्रजोच्छेदे पुरा कृते।
न भविष्यति वोऽपत्यमिति सर्वे जगत्पते ॥ ७ ॥

लिया था। देवता और ऋषि लोग दीनचित्त होकर अजर अमर विभु ब्रह्मा के शरणागत हुए। (७६-८२)

अनुशासनपर्वमें ८४ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ८५ अध्याय।

देववृन्द बोले, हे प्रभु! आपने जिसे वरदान किया है, वह तारक नाम महा-असुर देवताओं और ऋषियोंको क्लेश दे रहा है। इसलिये उसको मारनेकी युक्ति करिये। हे पितामह! उससे हम लोगों-को भय हुआ है, इसलिये आप हमें उबारिये, हम लोगोंको और दूसरा उपाय नहीं है। (१—२)

ब्रह्मा बोले, इस लोकमें सब प्राणी मुझे समान हैं। मैं अधर्मकी अभिलाष नहीं करता, इसलिये देवताओं और ऋषियोंको पीडा देनेवाले तारकासुरको शस्त्रसे मारो। हे सुरसत्तम! वेद और धर्म नष्ट न होजावे, उस विषयमें मैंने पहले ही उपाय रचा है, इसलिये तुम्हारा दुःख दूर होवे। (३—४)

देववृन्द बोले, आपके वरप्रभावसे वह दैत्य बलसे गर्वित हुआ है, इसलिये देवतावृन्द उसे मारनेमें समर्थ नहीं हैं, तब वह किस प्रकार नष्ट होगा? पिता-मह! तारकासुरने "मैं देव, दानव और राक्षसोंके द्वारा न मरूं" ऐसा ही कहके आपके समीप वर लिया है। पहले रुद्राणीकी पुत्र कामना नष्ट होनेसे उन्होंने देवताओंको यह शाप दिया है, कि तुम

ब्रह्मोवाच— हुताशनो न तत्रासीच्छापकाले सुरोत्तमाः ।
स उत्पादयिताऽपत्यं वधाय त्रिदशद्विषाम् ॥ ८ ॥
तद्वै सर्वानतिक्रम्य देवदानवराक्षसान् ।
मानुषानथ गन्धर्वान्नागानथ च पक्षिणः ॥ ९ ॥
अस्त्रेणामोघपातेन शक्त्या तं घातयिष्यति ।
यतो वो भयमुत्पन्नं ये चान्ये सुरशत्रवः ॥ १० ॥
सनातनो हि सङ्कल्पः काम इत्यभिधीयते ।
रुद्रस्य तेजः प्रस्कन्नमग्नौ निपतितं च यत ॥ ११ ॥
तत्तेजोऽग्निर्महद्भूतं द्वितीयमिति पावकम् ।
वधार्थं देवशत्रूणां गङ्गायां जनयिष्यति ॥ १२ ॥
स तु नावाप तं शापं नष्टः स हुतभुक् तदा ।
तस्माद्वो भयहृद्देवाः समुत्पत्स्यति पावकिः ॥ १३ ॥
अन्विष्यतां वै ज्वलनस्तथा चाद्य नियुज्यताम् ।
तारकस्य वधोपायः कथितो वै मयाऽनघाः ॥ १४ ॥
न हि तेजस्विनां शापास्तेजःसु प्रभवन्ति वै ।
बलान्यतिबलं प्राप्य दुर्बलानि भवन्ति वै ॥ १५ ॥

लोगोंको सन्तान न होगी। (५-७)

ब्रह्मा बोले, हे सुरोत्तमगण! उस शाप देनेके समय वहांपर अग्निदेव नहीं थे, वे देवद्वेषियोंको मारनेके लिये पुत्र उत्पन्न करेंगे। वह पुत्र देव, दानव, राक्षस, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और पक्षियोंको अतिक्रम करके जिस तारकासुरसे तुम लोगोंको भय हुआ है, उसे अव्यर्थ पात शक्ति अस्त्रसे तथा देवशत्रु अन्य असुरोंको मारकर 'सनातन सङ्कल्प काम' इस नामसे विख्यात होगा। रुद्रका वीर्य स्खलित होके जो अग्निमें प्रविष्ट हुआ है, उसही तेजसे अग्निदेव द्वितीय अग्निकी भांति गङ्गाके गर्भसे देवशत्रुओंको मारनेवाला एक महत् पुत्र उत्पन्न करेंगे। अग्निदेव शापके समयमें छिपे हुए थे इस ही निमित्त वे शापग्रस्त नहीं हुए। हे देवगण! इसलिये उसहीसे तुम लोगोंके भयको छुडानेवाला पावकनन्दन उत्पन्न होगा। (८—१३)

अब तुम लोग अग्निदेवको खोजके इस कार्यमें नियुक्त करो। हे अनघगण यह मैंने तारकासुरके वधका उपाय कहा है। तेजस्वियोंका शाप तेजस्वी पुरुषको अभिभव नहीं कर सकता, बल प्रबल पुरुषोंके समीप अबल हुआ करता है।

हन्यादवध्यान्वरदानपि चैव तपस्विनः ।
सङ्कल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमोऽभवत् ॥ १६ ॥
जगत्पतिरनिर्देश्यः सर्वगः सर्वभावनः ।
हृच्छयः सर्वभूतानां ज्येष्ठो रुद्रादपि प्रभुः ॥ १७ ॥
अन्विष्यतां स तु क्षिप्रं तेजोराशिर्हुताशनः ।
स वो मनोगतं कामं देवः संपादयिष्यति ॥ १८ ॥
एतद्वाक्यमुपश्रुत्य ततो देवा महात्मनः ।
जग्मुः संसिद्धसङ्कल्पाः पर्येषन्तो विभावसुम् ॥ १९ ॥
ततस्त्रैलोक्यमृषयो व्यचिन्वन्त सुरैः सह ।
काङ्क्षन्तो दर्शनं वन्हेः सर्वे तद्गतमानसाः ॥ २० ॥
परेण तपसा युक्ताः श्रीमन्तो लोकविश्रुताः ।
लोकानन्वचरन्सिद्धाः सर्व एव भृगूत्तम ॥ २१ ॥
नष्टमात्मनि संलीनं नाभिजग्मुर्हुताशनम् ।
ततः संजातसंत्रासानग्निदर्शनलालसान् ॥ २२ ॥
जलेचरः क्लान्तमनास्तेजसाऽग्नेः प्रदीपितः ।
उवाच देवान्मण्डूको रसातलतलोत्थितः ॥ २३ ॥
रसातलतले देवा वसत्यग्निरिति प्रभो ।

तपस्विगण अवध्य वरयुक्त पुरुषोंका भी नाश करनेमें समर्थ हैं। सनातन, जगत्-पति, अनिर्देश्य, सर्वग, सर्वभावन, सब प्राणियोंके हृदयमें शयन करनेवाले, काम्यमान अग्निदेव पुत्रविषयमें कामना-युक्त होवे। ये रुद्रदेवसे भी जेठे और सर्वशक्तिमान् हैं; अब तेजःपुञ्ज अग्नि-की शीघ्र खोज करो, वही अग्निदेव तुम लोगोंकी इच्छा पूरी करेंगे। तिसके अनन्तर देवताओंने महानुभाव ब्रह्माका ऐसा वचन सुनके सङ्कल्प सिद्ध होनेसे अग्निको खोजनेके लिये प्रस्थान किया। (१४-१९)

ऋषियों और देवताओंने अग्निके दर्शनकी इच्छा करके उन्हें तीनों लोकोंमें खोजने लगे। हे भृगुश्रेष्ठ! परम तपस्यायुक्त लोकविख्यात सिद्ध-गण अग्निको खोजते हुए सब लोकोंमें घूमने लगे। किन्तु जलमें लीन रहनेसे अग्निदेव नहीं दीख पडते थे, इसीसे उन्हें न जान सके। अनन्तर अग्निके तेजसे प्रदीप्त और दुःखितचित्त होके एक जलचर मेंडक रसातलसे निकलके अग्निके दर्शनकी इच्छा करनेवाले, डरे

संतापादिह संप्राप्तः पावकप्रभवादहम् ॥ २४ ॥
स संसुप्तो जले देवा भगवान्हव्यवाहनः।
अपः संसृज्य तेजोभिस्तेन संतापिता वयम् ॥ २५ ॥
तस्य दर्शनमिष्टं वो यदि देवा विभावसोः।
तत्रैनमधिगच्छध्वं कार्यं वो यदि वह्निना ॥ २६ ॥
गम्यतां साधयिष्यामो वयं ह्यग्निभयात्सुराः।
एतावदुक्त्वा मण्डूकस्त्वरितो जलमाविशत् ॥ २७ ॥
हुताशनस्तु बुबुधे मण्डूकस्य च पैशुनम्।
शशाप स तमासाद्य न रसान्वेत्स्यसीति वै ॥ २८ ॥
तं वै संयुज्य शापेन मण्डूकं त्वरितो ययौ।
अन्यत्र वासाय विभुर्न चात्मानमदर्शयत् ॥ २९ ॥
देवास्त्वनुग्रहं चक्रुर्मण्डूकानां भृगूत्तम।
यत्तच्छृणु महाबाहो गदतो मम सर्वशः ॥ ३० ॥
देवा ऊचुः— अग्निशापादजिह्वापि रसज्ञानबहिष्कृताः।
सरस्वतीं बहुविधां यूयमुच्चारयिष्यथ ॥ ३१ ॥

हुए देवताओंसे बोला। हे देवगण! अग्निदेव रसातलके तले निवास करते हैं, मैं उनके उत्तापसे दुःखी होके इस स्थानमें आया हूं। (२०—२४)

हे देवगण! वह हव्यवाहन भगवान अपने तेजके सहारे जलका संसर्ग करके उसके बीच सोरहे हैं। हम उनके प्रभावसे सन्तापित हुए हैं। हे देवगण! यदि तुम लोगोंकी इच्छा अग्निदेवका दर्शन करनेकी हो और उनके सहारे तुम्हारा किसी कार्यको सिद्धकरनेका प्रयोजन हो, तो जाओ, उस ही स्थानमें उन्हें पाओगे। हे देववृन्द! मैं अग्निके भयसे दुःखित हुआ हूं, इसलिये जाता हूं। मेडक ऐसा कहके शीघ्रही जलमें प्रविष्ट हुआ। हुताशनने उस समय मेडककी खलता जान ली और उन्होंने उसे यह कहके शाप दिया, कि तुम्हें 'रसका ज्ञान न होगा।' सर्वशक्तिमान अग्निदेव मेडकको ऐसा शाप देके शीघ्रही वहांसे दूसरे स्थानमें निवास करनेके लिये चले गये; देवताओंको दर्शन नहीं दिया। हे महाबाहो भृगुश्रेष्ठ! देवताओंने मेडकोंपर जिस भांति कृपा की, मैं वह सब कहता हूं सुनो। (२५-३०)

देवगण बोले, अग्निके शापसे यद्यपि तुम जिह्वारहित तथा रसज्ञानसे हीन हुए हो, तौ भी तुम लोग अनेक प्रकारके

बिलवासं गतांश्चैव निराहारानचेतसः ।
गतासूनपि संशुष्कान् भूमिः संतारयिष्यति ॥ ३२॥
तमोघनायामपि वै निशायां विचरिष्यथ ।
इत्युक्त्वा तांस्ततो देवाः पुनरेव महीमिमाम् ॥३३ ॥
परीयुर्ज्वलनस्यार्थे न चाविन्दन् हुताशनम् ।
अथ तान्द्विरदः कश्चित्सुरेन्द्रद्विरदोपमः ॥ ३४ ॥
अश्वत्थस्थोऽग्निरित्येवमाह देवान् भृगूद्वह ।
शशाप ज्वलनः सर्वान् द्विरदान् क्रोधमूर्छितः ॥ ३५॥
प्रतीपा भवतां जिह्वा भवित्रीति भृगूद्वह ।
इत्युक्त्वा निःसृतोऽश्वत्थादग्निर्वारणसूचितः ।
प्रविवेश शमीगर्भमथ वह्निः सुषुप्सया ॥ ३६ ॥
अनुग्रहं तु नागानां यं चक्रुः शृणु तं प्रभो ।
देवा भृगुकुलश्रेष्ठ प्रीत्या सत्यपराक्रमाः ॥ ३७ ॥

देवा ऊचुः　प्रतीपया जिह्वयाऽपि सर्वाहारं करिष्यथ ।
वाचं चोच्चारयिष्यध्वमुच्चैरव्यञ्जिताक्षराम् ॥ ३८ ॥
इत्युक्त्वा पुनरेवाग्निमनुसस्रुर्दिवौकसः

वाक्य बोलोगे । बिलवासी, निराहारी, अचेतन, गतप्राण और सूख जानेपर भी पृथ्वी तुम लोगोंको धारण करेगी, तुम लोग घोर अन्धकारसे युक्त रात्रिके समयमें भी विचरोगे । देववृन्द मेढकसे ऐसा वचन कहके अग्निको खोजनेके निमित्त फिर इस पृथ्वीपर घूमने लगे, किन्तु हुताशनको न देख सके । हे भृगुनन्दन अनन्तर देवेन्द्रके ऐरावत सदृश किसी हाथीने देवताओंसे कहा, कि अग्निदेव अश्वत्थवृक्षमें निवास करते हैं । तब अग्निने क्रुद्ध होके सब हाथियोंको शाप दिया । (३१—३५)

हे भृगुवंशधुरन्धर ! हाथीके द्वारा सूचित होनेपर अग्निदेवने उसे शाप दिया, कि तुम्हारी जिह्वा उलटी होगी। हाथियोंको ऐसा शाप देकर अश्वत्थवृक्षसे निकलकर शयन करनेकी इच्छासे शमीवृक्षमें प्रविष्ट हुए। हे भृगुकुलश्रेष्ठ! सत्यपराक्रमी देवताओंने प्रीतिपूर्वक जिस प्रकार हाथियोंपर कृपा की थी, उसे सुनो। (३६-३७)

देववृन्द बोले, तुम लोग उलटी जीभसे भी सब वस्तु खाओगे और ऊंचे स्वरसे अव्यक्त वाक्य उच्चारण करोगे । देवताओंने ऐसा कहके फिर अग्निका

अश्वत्थान्निःसृतश्चाग्निः शमीगर्भमुपाविशत् ॥ ३९ ॥
शुकेन ख्यापितो विप्र तं देवाः समुपाद्रवन् ।
शशाप शुकमग्निस्तु वाग्विहीनो भविष्यसि ॥ ४० ॥
जिह्वामावर्तयामास तस्यापि हुतभुक्तथा ।
दृष्ट्वा तु ज्वलनं देवाः शुकमूचुर्दयान्विताः ॥ ४१ ॥
भविता न त्वमत्यन्तं शुकत्वे नष्टवागिति ।
आवृत्तजिह्वस्य सतो वाक्यं कान्तं भविष्यति ॥ ४२ ॥
बालस्येव प्रवृद्धस्य कलमव्यक्तमद्भुतम् ।
इत्युक्त्वा तं शमीगर्भे वह्निमालक्ष्य देवताः ॥ ४३ ॥
तदेवायतनं चक्रुः पुण्यं सर्वक्रियास्वपि ।
ततः प्रभृति चाप्यग्निः शमीगर्भेषु दृश्यते ॥ ४४ ॥
उत्पादने तथोपायमभिजग्मुश्च मानवाः ।
आपो रसातले यास्तु संस्पृष्टाश्चित्रभानुना ॥ ४५ ॥
ताः पर्वतप्रस्रवणैरूष्मां मुञ्चन्ति भार्गव ।
पावकेनाधिशयता संतप्तास्तस्य तेजसा ॥ ४६ ॥
अथाग्निर्देवता दृष्ट्वा बभूव व्यथितस्तदा ।

अनुसरण किया । अग्नि भी अश्वत्थ-वृक्षसे निकलकर शमीगर्भमें आकर बैठे रहे । हे विप्र ! अनन्तर सुग्गेके मुखसे अग्निके निवासका विषय सुनके देव-वृन्द उस ही ओर दौडे । तब अग्नि-देवने सुग्गाको शाप दिया कि तुम वाक्यरहित होगे और उसकी जिह्वा ऐंठ दी । देवताओंने अग्निको देखके दयायुक्त होकर सुगासे कहा, हे शुक ! तुम्हारा वचन एक-बारगी नष्ट न होगा, जिह्वा ऐंठी रहनेपर भी तुम्हारा वचन बालकी भांति अव्यक्तमधुर, अद्भुत और अत्यन्त मनोहर होगा । शुक पक्षीको ऐसा कहके देवताओंने शमी-गर्भमें अग्निदेवको देखके उस शमी-वृक्षको ही सब कार्योंके लिये पवित्र स्थान किया । तभीसे अग्नि शमीगर्भसे उत्पन्न हुआ करती है । (३८-४४)

उस ही समयसे मनुष्योंको शमीकी शाखासे अग्नि उत्पन्न करनेका उपाय मालूम हुआ । हे भार्गव ! रसातलमें जो सब जल अग्निके द्वारा स्पर्शयुक्त हुआ था, जिसमें अग्निदेव सोये थे और जो अग्निके तेजसे उत्तप्त हुआ था, वही पर्वतके झरनेके सहारे उष्णता परि-त्याग किया करता है । जो हो, उस

किमागमनमित्येवं तानपृच्छत पावकः ॥ ४७ ॥
तमूचुर्विबुधाः सर्वे ते चैव परमर्षयः।
त्वां नियोक्ष्यामहे कार्ये तद्भवान्कर्तुमर्हति ॥ ४८ ॥
कृते च तस्मिन् भविता तवाऽपि सुमहान्गुणः ॥४९॥
अग्निरुवाच- ब्रूत यद्भवतां कार्यं कर्ताऽस्मि तदहं सुराः।
भवतां तु नियोज्योऽस्मि मा वोऽत्रास्तु विचारणा ॥५०॥
देवा ऊचुः- असुरस्तारको नाम ब्रह्मणो वरदर्पितः।
अस्मान्प्रबाधते वीर्याद्वधस्तस्य विधीयताम् ॥ ५१ ॥
इमान्देवगणांस्तात प्रजापतिगणांस्तथा।
ऋषींश्चापि महाभाग परित्रायस्व पावक ॥ ५२ ॥
अपत्यं तेजसा युक्तं प्रवीरं जनय प्रभो।
यद्भयं नोऽसुरात्तस्मान्नाशयेद्धव्यवाहन ॥ ५३ ॥
शप्तानां नो महादेव्या नान्यदस्ति परायणम्।
अन्यत्र भवतो वीर्यं तस्मात्त्रायस्व नः प्रभो ॥ ५४ ॥
इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा भगवान्हव्यवाहनः।

समय अग्निदेव देवताओंको देखके दुःखित हुए और उनसे पूछा कि तुम लोग किस निमित्त आये हो? उन देवताओं और परमर्षियोंने अग्निसे कहा, कि हम लोग तुम्हें किसी कार्यमें नियुक्त करेंगे, वह तुम्हें करना होगा, उसे करनेसे तुम्हारा भी उत्तम महान् गुण प्रकट होगा। (४७-४९)

अग्निदेव बोले, हे देववृन्द! कहो तुम्हारा कौनसा कार्य है? मैं उसे करूंगा मुझे तुम लोगोंके नियोज्य विषयमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। (५०)

देववृन्द बोले, तारक नाम असुर ब्रह्माके वरसे दर्पित होकर बलपूर्वक हम लोगोंको पीडित करता है, इसलिये उसके वधका विधान करो। हे महाभाग पावक! इन देवताओं, ऋषियों और प्रजापतिका परित्राण करो। हे प्रभु! तेजसे युक्त वीरपुत्र उत्पन्न करो। हे हव्यवाहन! उस असुरसे हम लोगोंको भय हुआ है, उसे नष्ट करो। हम लोग महादेवके द्वारा शापयुक्त हुए हैं, इस समय तुम्हारे पराक्रमके अतिरिक्त हमारे लिये और कुछ भी सहारा नहीं है। हे प्रभु! इसलिये हमारा परित्राण करो। (५१-५४)

अनन्तर दुर्द्धर्ष भगवान हव्यवाहनने

जगामाथ दुराधर्षो गङ्गां भागीरथीं प्रति ॥ ५५ ॥
तया चाप्यभवन्मिश्रो गर्भं चास्यादधे तदा।
ववृधे स तदा गर्भः कक्षे कृष्णगतिर्यथा ॥ ५६ ॥
तेजसा तस्य देवस्य गङ्गा विह्वलचेतना।
संतापमगमत्तीव्रं सोढुं सा न शशाक ह ॥ ५७ ॥
आहिते ज्वलनेनाथ गर्भे तेजःसमन्विते।
गङ्गायामसुरः कश्चिद्भैरवं नादमानदत् ॥ ५८ ॥
अबुद्धिपतितेनाथ नादेन विपुलेन सा।
वित्रस्तोद्भ्रान्तनयना गङ्गा विप्लुतलोचना ॥ ५९ ॥
विसंज्ञा नाशकद्गर्भं वोढुमात्मानमेव च।
सा तु तेजःपरीताङ्गी कम्पयन्तीव जाह्नवी ॥ ६० ॥
उवाच ज्वलनं विप्र तदा गर्भबलोद्धुता।
ते न शक्तास्मि भगवंस्तेजसोऽस्य विधारणे ॥ ६१ ॥
विमूढास्मि कृताऽनेन न मे स्वास्थ्यं यथा पुरा।
विह्वला चास्मि भगवंश्चेतो नष्टं च मेऽनघ ॥ ६२ ॥
धारणे नास्य शक्ताऽहं गर्भस्य तपतां वर।
उत्स्रक्ष्येऽहमिमं दुःखान्न तु कामात्कथंचन ॥ ६३ ॥

कहा, "ऐसा ही होगा"। इतना कहके वह भागीरथी गङ्गाके समीप गये, गङ्गाके निकट जाके उनके सङ्ग सहवास किया और उसी समय गङ्गाको गर्भ रह गया। तब वनमें कृष्णवर्त्माकी भांति वह गर्भ बढने लगा, अग्निके तेजसे गङ्गा विह्वल तथा अचेत होकर बहुत ही सन्तापित हुई, वह उसे सह न सकी। अग्निके द्वारा तेजयुक्त गर्भके स्थित होनेपर किसी असुरने भयङ्कर शब्द किया। अकस्मात् उत्पन्न हुए उस महाशब्दसे गङ्गा डरके सम्भ्रान्त-नयन, विह्वल, चेतनाहीन तथा संज्ञारहित होकर देहके सहित गर्भको ले चलनेमें असमर्थ हुई। (५५–६०)

हे विप्र! तब गङ्गा तेजसे परिपूरित होके कांपती तथा गर्भबलसे आक्रान्त होकर अग्निदेवसे बोली, हे भगवन्! मैं आपके इस तेजको धारण करनेमें समर्थ नहीं हूं। मैं इस तेजसे विमूढ हुई हूं; पहलेकी भांति मेरा स्वास्थ्य नहीं है। हे अनघ भगवन्! मैं विह्वल हुई हूं, मेरी चेतनाशक्ति नष्ट होरही है। हे तपतांवर! मैं इस तेजको धारण

ते तेजसाऽस्ति संस्पर्शो मम देव विभावसो।
आपदर्थे हि सम्बन्धः सुसूक्ष्मोऽपि महाद्युते ॥ ६४ ॥
यदत्र गुणसंपन्नमितरद्वा हुताशन।
त्वय्येव तदहं मन्ये धर्माधर्मौ च केवलौ ॥ ६५ ॥
तामुवाच ततो वह्निर्धार्यतां धार्यतामिति।
गर्भो मत्तेजसा युक्तो महागुणफलोदयः ॥ ६६ ॥
शक्ता ह्यसि महीं कृत्स्नां वोढुं धारयितुं तथा।
न हि ते किंचिदप्राप्यमन्यतो धारणादृते ॥ ६७ ॥
सा वह्निना वार्यमाणा देवैरपि सरिद्वरा।
समुत्ससर्ज तं गर्भं मेरौ गिरिवरे तदा ॥ ६८ ॥
समर्था धारणे चापि रुद्रतेजःप्रधर्षिता।
नाशकत्तं तदा गर्भं संधारयितुमोजसा ॥ ६९ ॥
सा समुत्सृज्य तं दुःखाद्दीप्तवैश्वानरप्रभम्।
दर्शयामास चाग्निस्तं तदा गङ्गां भृगूद्वह ॥ ७० ॥
पप्रच्छ सरितां श्रेष्ठां कच्चिद्गर्भः सुखोदयः।

नहीं कर सकती, इसलिये मैं दुःखपूर्वक इसे त्यागती हूं और स्वेच्छानुसार त्यागना नहीं चाहती। हे देव विभावसु! मेरा कभी किसी तेजके साथ संस्पर्श नहीं है। हे महाद्युति! आपद के हेतु यह आपके संग अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध हुआ। हे हुताशन! इस विषयमें जो कुछ दोष, गुण अथवा धर्माधर्म होगा, उसे मैं तुम्हारा ही मानती हूं। (६०-६५)

अनन्तर हुताशनने उनसे कहा, मेरे तेजसे युक्त इस गर्भको धारण करो, इससे महागुण तथा फल प्राप्त होगा। तुम निज शक्तिबलसे इस अखण्ड भूमण्डलको धारण करने तथा उठानेमें समर्थ हो, गर्भ धारणके अतिरिक्त तुम्हें और कुछ भी अप्राप्य नहीं है। अग्नि और देवताओंसे निवारित होके भी गर्भ धारण करनेमें असमर्थ होनेसे सरिद्वरा गङ्गाने उस समय पर्वतश्रेष्ठ सुमेरुके ऊपर उस गर्भको परित्याग किया, वह गर्भ धारण करनेमें समर्थ होनेपर भी रुद्ररूपी अग्निके तेजसे प्रधर्षित होके निज तेजके सहारे गर्भ धारण न कर सकी। हे भृगुकुलधुरन्धर! जब गङ्गाने उस अग्निसदृश प्रभायुक्त प्रदीप्त गर्भको परित्याग करके निवास किया, तब अग्निदेव उस सरिद्वराको

कीदृग्वर्णोऽपि वा देवि कीदृग्रूपश्च दृश्यते।
तेजसा केन वा युक्तः सर्वमेतद्ब्रवीहि मे ॥ ७१ ॥
गङ्गोवाच— जातरूपः स गर्भो वै तेजसा त्वमिवानघ।
सुवर्णो विमलो दीप्तः पर्वतं चावभासयत् ॥ ७२ ॥
पद्मोत्पलविमिश्राणां ह्रदानामिव शीतलः।
गन्धोऽस्य सकदम्बानां तुल्यो वै तपतां वर ॥ ७३ ॥
तेजसा तस्य गर्भस्य भास्करस्येव रश्मिभिः।
यद् द्रव्यं परिसंसृष्टं पृथिव्यां पर्वतेषु च ॥ ७४ ॥
तत्सर्वं काञ्चनीभूतं समन्तात्प्रत्यदृश्यत।
पर्यधावत शैलांश्च नदीः प्रस्रवणानि च ॥ ७५ ॥
व्यादीपयंस्तेजसा च त्रैलोक्यं सचराचरम्।
एवंरूपः स भगवान्पुत्रस्ते हव्यवाहन।
सूर्यवैश्वानरसमः कान्त्या सोम इवापरः ॥ ७६ ॥
एवमुक्त्वा तु सा देवी तत्रैवान्तरधीयत।
पावकश्चापि तेजस्वी कृत्वा कार्यं दिवौकसाम् ॥७७॥
जगामेष्टं ततो देशं तदा भार्गवनन्दन।

दर्शन देके बोले, हे देवि! गर्भ सुखसे उदित हुआ है? उसका कैसा वर्ण है? कैसा दीखता है और वह कैसे तेजसे संयुक्त है? यह सब वृत्तान्त मुझसे कहो। (६३-७१)

गङ्गा बोली, हे अनघ! वह गर्भ सुवर्णवर्ण और तेजमें तुम्हारे सदृश है, विमल सुवर्ण समान उस प्रदीप्त गर्भने पर्वतको प्रकाशित किया है। हे तपतां-वर! वह गर्भ पद्मोत्पलयुक्त ह्रदकी भांति शीतल है, उसकी सुगन्धि कदंब-पुष्पकी भांति है, सूर्यके समान तेज-युक्त उस गर्भकी किरणोंके सहारे पृथ्वी और पर्वतकी जो कुछ वस्तु स्पर्शित हुई हैं, वे सब काञ्चनरूपी दिखाई देती हैं। वह गर्भ तेजके सहारे स्थावरजङ्गमा-त्मक त्रिभुवनको प्रदीप्त करते हुए पर्वत, नदी और झरनोंमें दौड रहा है। हे हव्यवाहन! आपका पुत्र ऐसे ऐश्वर्यसे युक्त है, कि तेजमें सूर्य तथा वैश्वानरके समान और कान्तिमें द्वितीय चन्द्रमा हुआ है। (७२—७६)

हे भृगुनन्दन! भागीरथी देवी इतना कहके वहीं अन्तर्हित हुई, तेजस्वी पावकभी उस समय देवताओंके कार्यको सिद्ध करके अभिलषित स्थानमें चले

एतैः कर्मगुणैर्लोके नामाग्नेः परिगीयते ॥ ७८ ॥
हिरण्यरेता इति वै ऋषिभिर्विबुधैस्तथा ।
पृथिवी च तदा देवी ख्याता वसुमतीति वै ॥ ७९ ॥
स तु गर्भो महातेजा गाङ्गेयः पावकोद्भवः ।
दिव्यं शरवणं प्राप्य ववृधेऽद्भुतदर्शनः ॥ ८० ॥
ददृशुः कृत्तिकास्तं तु बालार्कसदृशद्युतिम् ।
पुत्रं वै ताश्च तं बालं पुपुषुः स्तन्यविस्रवैः ॥ ८१ ॥
ततः स कार्त्तिकेयत्वमवाप परमद्युतिः ।
स्कन्नत्वात्स्कन्दतां चापि गुहावासाद्गुहोऽभवत् ॥ ८२ ॥
एवं सुवर्णमुत्पन्नमपत्यं जातवेदसः ।
तत्र जाम्बूनदं श्रेष्ठं देवानामपि भूषणम् ॥ ८३ ॥
ततः प्रभृति चाप्येतज्जातरूपमुदाहृतम् ।
रत्नानामुत्तमं रत्नं भूषणानां तथैव च ॥ ८४ ॥
पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
यत्सुवर्णं स भगवानग्निरीशः प्रजापतिः ॥ ८५ ॥
पवित्राणां पवित्रं हि कनकं द्विजसत्तमाः ।

गये । इन्हीं सब कर्मों तथा गुणोंसे लोकमें देवताओं और ऋषियोंके द्वारा अग्निका 'हिरण्यरेता' नाम वर्णित हुआ करता है । पृथिवीदेवी भी उसी समयसे वसुमती नामसे विख्यात हुई हैं । गङ्गाके गर्भसे गिरके वह अग्निसे उत्पन्न, अद्भुतदर्शन, तेजयुक्त गर्भ दिव्य शरवनको प्राप्त होके वहां बढने लगा । कृत्तिकागणोंने उस बालार्कसदृश तेजःसम्पन्न सन्तानको देखा, वे लोग उस बालक पुत्रको स्तनका दूध पिलाके पालने लगीं । (७१-८१)

इसही निमित्त उस परम तेजस्वी बालकका नाम कार्त्तिकेय हुआ । गङ्गाके गर्भसे स्खलित होनेसे उनका नाम स्कन्द और गुहामें वास करनेसे गुह नाम हुआ था । इस ही भांति अग्निका पुत्र सुवर्ण उत्पन्न हुआ । सुवर्ण अनेक भांतिका होनेपर भी उसके बीच जाम्बूनद नाम स्वर्ण ही सबसे श्रेष्ठ है, वह देवताओंका भूषण होनेसे जातरूप नामसे विख्यात हुआ है; यह सब रत्नोंके बीच उत्तम रत्न तथा समस्त भूषणोंके बीच उत्तम भूषण, सारी पवित्र वस्तुओंसे पवित्र और सब मङ्गलोंका मङ्गल स्वरूप है । सुवर्ण ही भगवान् अग्नि,

अग्नीषोमात्मकं चैव जातरूपमुदाहृतम् ॥ ८६ ॥
वसिष्ठ उवाच-अपि चेदं पुरा राम श्रुतं मे ब्रह्मदर्शनम् ।
पितामहस्य यद्वृत्तं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ ८७ ॥
देवस्य महतस्तात वारुणीं बिभ्रतस्तनुम् ।
ऐश्वर्ये वारुणे राम रुद्रस्येशस्य वै प्रभो ॥ ८८ ॥
आजग्मुर्मुनयः सर्वे देवाश्चाऽग्निपुरोगमाः ।
यज्ञाङ्गानि च सर्वाणि वषट्कारश्च मूर्तिमान् ॥ ८९ ॥
मूर्तिमन्ति च सामानि यजूंषि च सहस्रशः ।
ऋग्वेदश्चागमत्तत्र पदक्रमविभूषितः ॥ ९० ॥
लक्षणानि स्वरास्तोभा निरुक्तं सुरपङ्क्तयः ।
ओङ्कारश्चावसन्नेत्रे निग्रहप्रग्रहौ तथा ॥ ९१ ॥
वेदाश्च सोपनिषदो विद्या सावित्र्यथापि च ।
भूतं भव्यं भविष्यं च दधार भगवान् शिवः ॥९२ ॥
संजुहावात्मनाऽऽत्मानं स्वयमेव तदा प्रभो ।
यज्ञं च शोभयामास बहुरूपं पिनाकधृक् ॥ ९३ ॥
द्यौर्नभः पृथिवी खं च तथा चैवैष भूपतिः ।

इन्द्र और प्रजापति स्वरूप है । हे द्विजसत्तम! सोना सब पवित्र वस्तुओंके बीच अत्यन्त पवित्र है, जातरूप अग्नीषोमात्मक रूपसे वर्णित हुआ करता है। (८२—८६)

वसिष्ठ बोले, हे राम! पहले समयमें जो परमात्मा पितामह ब्रह्माको ब्रह्मदर्शन हुआ था; मैंने वह कथा सुनी है। हे तात! वारुणीमूर्त्तिधारी महादेवके वारुण ऐश्वर्यके समय अग्नि आदि देवताओं और मुनियोंने ईश्वर रुद्रदेवके निकट आगमन किया था। यज्ञके सब अङ्ग, मूर्त्तिमान वषट्कार, सशरीर समस्त साम, सहस्रों यजुर्मन्त्र और पद तथा क्रम विभूषित ऋग्वेदने वहांपर आगमन किया। समस्त लक्षण, देवताओंकी स्तुति, निरुक्त, सुरपंक्ति, ओंकार और निग्रह प्रग्रह नाम यज्ञके दो नेत्र, ये सब वहांपर स्थित हुए। (८७—९१)

उपनिषदोंके सहित सब वेद, सावित्री विद्या, वर्त्तमान, भूत और भविष्य आदिको भगवान महादेवने धारण किया था। उस समय उन्होंने स्वयं ही अपनेको आहुति प्रदान की। पिनाकधारी महादेवने बहुरूप यज्ञको शोभित किया। सर्वभूतपति ये भग-

सर्वविघ्नेश्वरः श्रीमानेष चापि विभावसुः ॥ ९४ ॥
एष ब्रह्मा शिवो रुद्रो वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।
कीर्त्यते भगवान्देवः सर्वभूतपतिः शिवः ॥ ९५ ॥
तस्य यज्ञः पशुपतेस्तपः क्रतव एव च ।
दीक्षादीप्तव्रता देवी दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ ९६ ॥
देवपत्न्यश्च कन्याश्च देवानां चैव मातरः ।
आजग्मुः सहितास्तत्र तदा भृगुकुलोद्वह ॥ ९७ ॥
यज्ञं पशुपतेः प्रीता वरुणस्य महात्मनः ।
स्वयंभुवस्तु ता दृष्ट्वा रेतः समपतद्भुवि ॥ ९८ ॥
तस्य शुक्रस्य विस्पन्दात्पांसून्संगृह्य भूमितः ।
प्रास्यत्पूषा कराभ्यां वै तस्मिन्नेव हुताशने ॥ ९९ ॥
ततस्तस्मिन्संप्रवृत्ते सत्त्रे ज्वलितपावके ।
ब्रह्मणो जुह्वतस्तत्र प्रादुर्भावो बभूव ह ॥ १०० ॥
स्कन्नमात्रं च तच्छुक्रं स्रुवेण परिगृह्य सः ।
आज्यवन्मन्त्रतश्चापि सोऽजुहोद् भृगुनन्दन ॥ १०१ ॥
ततः स जनयामास भूतग्रामं च वीर्यवान् ।
तस्य तत्तेजसस्तस्माज्जज्ञे लोकेषु तैजसम् ॥ १०२ ॥

वान महादेवही स्वर्ग, आकाश पृथिवी, भूपति, सर्वविघ्नेश्वर श्रीमान् विभावसु, ब्रह्मा, शिव, रुद्र, वरुण और अग्नि हैं तथा येही प्रजापतिरूपसे वर्णित होते हैं। हे भृगुकुलधुरन्धर! उस पशुपतिके यज्ञ, तपस्या तथा सब क्रिया निर्वाहित होती रहनेपर दीप्तव्रता दीक्षा देवी, दिगीश्वरके सहित सब दिशा, देवपत्नी, देवकन्या और देवमातृगण महात्मा वरुणके ऊपर प्रसन्न होके सब कोई मिलकर महादेवके यज्ञमें आयीं। देव-कन्या प्रभृतिको देखके स्वयम्भूका वीर्य पृथ्वीपर गिरा। (९२—९८)

पूषाने उनके शुक्रके निस्पन्दवशसे पृथ्वीपरसे दोनों हाथोंसे वीर्यके सहित पांशु संग्रह करके उसी अग्निमें डाल दिया। उस प्रज्वलित अग्निसे युक्त उस यज्ञके पूर्ण होनेपर होमकर्त्ता प्रजापतिके द्वारा परम श्रेष्ठ धातुकी उत्पत्ति हुई, हे भृगुनन्दन! धातु स्खलित होते ही उन्होंने उसे स्रुवामें लेकर मन्त्र पढके घृतकी भांति होम किया। (९९-१०१)

अनन्तर वीर्यवान भगवान् ब्रह्माने उस तेजसे चार प्रकारके प्राणियोंको

तमसस्तामसा भावा व्यापि सत्त्वं तथोभयम् ।
स गुणस्तेजसो नित्यस्तस्य चाकाशमेव च ॥ १०३ ॥
सर्वभूतेषु च तथा सत्त्वं तेजस्तथोत्तमम् ।
शुक्रे हुतेऽग्नौ तस्मिंस्तु प्रादुरासंस्त्रयः प्रभो ॥१०४॥
पुरुषा वपुषा युक्ताः स्वैः स्वैः प्रसवजैर्गुणैः ।
भृगित्येव भृगुः पूर्वमङ्गारेभ्योऽङ्गिराभवत् ॥ १०५ ॥
अङ्गारसंश्रयाच्चैव कविरित्यपरोऽभवत् ।
सह ज्वालाभिरुत्पन्नो भृगुस्तस्माद्भृगुः स्मृतः ॥१०६॥
मरीचिभ्यो मरीचिस्तु मारीचः कश्यपो ह्यभूत ।
अङ्गारेभ्योऽङ्गिरास्तात वालखिल्याः कुशोच्चयात् ॥१०७॥
अत्रैवात्रेति च विभो जातमत्रिं वदन्त्यपि ।
तथा भस्मव्यपोहेभ्यो ब्रह्मर्षिगणसंमताः ॥ १०८ ॥
वैखानसाः समुत्पन्नास्तपःश्रुतगुणेप्सवः ।
अश्रुतोऽस्य समुत्पन्नावश्विनौ रूपसंमतौ ॥ १०९ ॥

उत्पन्न किया । उस हीसे इस लोकमें प्रवृत्तिप्रधान समस्त जङ्गम प्राणी उत्पन्न हुए, उस वीर्यके तम अंशसे स्थावरोंकी उत्पत्ति हुई; स्थावर और जंगम दोनों ही सत्त्वांशमें सन्निविष्ट रहे । वह सत्त्वही प्रकाशरूपी बुद्धिका नित्यगुण है, सत्त्व ही बुद्धिस्वरूप है, उस बुद्धिसत्त्वसे आकाश आदि सारा जगत् उत्पन्न हुआ । तमोमय जड शरीरमें सत्त्व अर्थात् प्रकाश वा उत्तम तेज तथा धर्मप्रवृत्ति स्थित रही । अग्निके बीच प्रजापतिका वीर्य होम किये जानेपर उससे निज निज कारणज गुणोंके सहित तीन मूर्त्तिमान पुरुष उत्पन्न हुए । अग्निज्वाला भृगसे पहले भृगु उत्पन्न हुए, अंगारसे अंगिरा जन्मे । (१०२-१०५)

अङ्गारकी अल्पज्वालासे कवि नाम पुरुष उत्पन्न हुआ । भृगु ज्वालमालाके सहित उत्पन्न हुए थे, इस ही निमित्त भृगु अर्थात् ज्वालाके नामके सहारे उनका भृगु नाम हुआ है । मरीचि अर्थात् किरणोंसे मरीचि उत्पन्न हुए, मरीचिसे कश्यपकी उत्पत्ति हुई । हे तात ! अंगारसे अंगिरा और कुशोंसे वालखिल्य मुनि उत्पन्न हुए । अत्र अर्थात् इन कुशोंसे ही अत्रि जन्मे थे, इसलिये पण्डित लोग उन्हें अत्रि कहा करते हैं । भस्मसे ब्रह्मर्षियोंसे संमत, तपस्या, शास्त्रजाल और गुणलिप्सु

शेषाः प्रजानां पतयः स्रोतोभ्यस्तस्य जज्ञिरे।
ऋषयो रोमकूपेभ्यः स्वेदाच्छन्दो बलान्मनः ॥ ११० ॥
एतस्मात्कारणादाहुरग्निः सर्वास्तु देवताः।
ऋषयः श्रुतसंपन्ना वेदप्रामाण्यदर्शनात ॥ १११ ॥
यानि दारुणि निर्यासास्ते मासाः पक्षसंज्ञिताः।
अहोरात्रा मुहूर्ताश्च पित्तं ज्योतिश्च दारुणम् ॥ ११२ ॥
रौद्रं लोहितमित्याहुर्लोहितात्कनकं स्मृतम्।
तन्मैत्रमिति विज्ञेयं धूमाच्च वसवः स्मृताः ॥ ११३ ॥
अर्चिषो याश्च ते रुद्रास्तथाऽऽदित्या महाप्रभाः।
उद्दिष्टास्ते तथाङ्गारा ये धिष्ण्येषु दिवि स्थिताः ॥ ११४ ॥
आदिकर्ता च लोकस्य तत्परं ब्रह्म तद् ध्रुवम्।
सर्वकामदमित्याहुस्तद्रहस्यमुवाच ह ॥ ११५ ॥
ततोऽब्रवीन्महादेवो वरुणः पवनात्मकः।
मम सत्रमिदं दिव्यमहं गृहपतिस्त्विह ॥ ११६ ॥

वैखानस मुनिवृन्द उत्पन्न हुए। उनके आंसूसे सुन्दरतायुक्त दोनों अश्विनीकुमार जन्मे। अवशिष्ट प्रजापतिवृन्द उनकी इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए। रोम कूपसे ऋषि, स्वेदसे छन्द और वीर्यसे मनकी उत्पत्ति हुई। (१०६—११०)

शास्त्रज्ञानसे युक्त ऋषि लोग वेद प्रमाण देखके इस ही निमित्त अग्निको सर्वदेवमय कहा करते हैं। यज्ञस्थानमें जो सब दारु थीं, वे मास और दारुगत जो लाक्षादि वृक्ष थे, वे पक्ष, मुहूर्त्त तथा अहोरात्र नामसे विख्यात हुए। वरुणकी ज्योतिको पित्त और रुद्रकी ज्योतिको पण्डित लोग लोहित कहते हैं। ऐसा वर्णित है, कि लोहितसे स्वर्ण उत्पन्न हुआ है। सुवर्णकी अधिष्ठात्री देवता मित्र है, इसलिये इसे मैत्र जानो। यह स्मरण है, कि धूमसे वसुगण उत्पन्न हुए हैं। ज्वालासे रुद्र और महातेजस्वी आदित्य उत्पन्न हुए, यज्ञस्थलमें जो सब अंगार थे, वेही आकाशस्थित ग्रह नक्षत्र रूपसे वर्णित हुए हैं। जो जगत्के आदिकर्त्ता हैं, वेही परब्रह्म, वेही ध्रुव तथा सर्वकामप्रदाता हैं। प्राचीन लोग ऐसा कहा करते हैं, कि उन्होंने अपना निज रहस्य कहा था। (१११—११५)

अनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर पवनात्मक महादेव वरुण बोले, हमारा ही दिव्य सत्र है, इस समय मैं ही गृहपति

त्रीणि पूर्वाण्यपत्यानि मम तानि न संशयः ।
इति जानीत खगमा मम यज्ञफलं हि तत् ॥ ११७ ॥
अग्निरुवाच— मदङ्गेभ्यः प्रसूतानि मदाश्रयकृतानि च ।
ममैव तान्यपत्यानि वरुणो ह्यवशात्मकः ॥ ११८ ॥
अथाब्रवील्लोकगुरुर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
ममैव तान्यपत्यानि मम शुक्रं हुतं हि तत् ॥ ११९ ॥
अहं कर्ता हि सत्रस्य होता शुक्रस्य चैव ह ।
यस्य बीजं फलं तस्य शुक्रं चेत्कारणं मतम् ॥ १२० ॥
ततोऽब्रुवन्देवगणाः पितामहमुपेत्य वै ।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वे शिरोभिरभिवन्द्य च ॥ १२१ ॥
वयं च भगवन्सर्वे जगच्च सचराचरम् ।
तवैव प्रसवाः सर्वे तस्मादग्निर्विभावसुः ॥ १२२ ॥
वरुणश्चेश्वरो देवो लभतां काममीप्सितम् ।
निसर्गाद्ब्रह्मणश्चापि वरुणो यादसां पतिः ॥ १२३ ॥
जग्राह वै भृगुं पूर्वमपत्यं सूर्यवर्चसम् ।

हूं, पहले जो भृगु, अंगिरा और कवि नाम तीन अपत्य उत्पन्न हुए हैं, वे निःसन्देह हमारे ही पुत्र हैं। हे देवगण! वह हमारे ही यज्ञका फल जानो। (११६—११७)

अग्निदेव बोले, पूर्वोक्त तीनों पुत्र मेरे अंगसे उत्पन्न हुए हैं और मेरा ही आसरा किये हैं, इस लिये वे मेरे ही पुत्र हैं, वरुणका चित्त अवश हुआ है, इसीसे ये भ्रममें पडे हैं। (११८)

अनन्तर लोकगुरु, सर्वलोकपितामह ब्रह्मा बोले, हमारे उस वीर्यके होम करनेपर जो तीन अपत्य उत्पन्न हुए हैं, वे मेरे ही पुत्र है, मैं ही यज्ञकर्त्ता और वीर्यहोम करनेवाला हूं, इसलिये यदि वीर्य कारण हो, तो जिसका बीज है, उसहीका फल होसकता है। (११९—१२०)

अनन्तर देववृन्द पितामहके समीप आके हाथ जोड सिर झुकाके उन्हें प्रणाम करके बोले, हे भगवन् हम सब कोई स्थावरजंगमात्मक समस्त जगत् के सहित तुमसे ही उत्पन्न हुए हैं; इस लिये आप ही हम लोगोंके उत्पत्ति विषय में कारण हैं, किन्तु विभावसु अग्नि, वरुण और देवेश्वर अपना अभिलषित विषय प्राप्त करें। ब्रह्माके स्वभाव तथा आज्ञाके अनुसार यादोगणके स्वामी

ईश्वरोऽङ्गिरसं चाग्नेरपत्यार्थमकल्पयत् ॥ १२४ ॥
पितामहस्त्वपत्यं वै कविं जग्राह तत्त्ववित्।
तदा स वारुणः ख्यातो भृगुः प्रसवकर्मकृत् ॥१२५॥
आग्नेयस्त्वङ्गिराः श्रीमान्कविर्ब्राह्मो महायशाः।
भार्गवाङ्गिरसौ लोके लोकसंतानलक्षणौ ॥ १२६ ॥
एते हि प्रसवाः सर्वे प्रजानां पतयस्त्रयः।
सर्वं संतानमेतेषामिदमित्युपधारय ॥ १२७ ॥
भृगोस्तु पुत्राः सप्तासन्सर्वे तुल्या भृगोर्गुणैः।
च्यवनो वज्रशीर्षश्च शुचिरौर्वस्तथैव च ॥ १२८ ॥
शुक्रो वरेण्यश्च विभुः सवनश्चेति सप्त ते।
भार्गवा वारुणाः सर्वे येषां वंशे भवानपि ॥ १२९ ॥
अष्टौ चाङ्गिरसः पुत्रा वारुणास्तेऽप्युदाहृताः।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च पयस्यः शान्तिरेव च ॥ १३० ॥
घोरो विरूपः संवर्तः सुधन्वा चाष्टमः स्मृतः।
एतेऽष्टौ वह्निजाः सर्वे ज्ञाननिष्ठा निरामयाः ॥ १३१॥
ब्रह्मणस्तु कवेः पुत्रा वारुणास्तेऽप्युदाहृताः।

वरुणने सूर्यके समान तेजस्वी जेठे पुत्र भृगुको ग्रहण किया। ईश्वरने अंगिराको अग्निका पुत्र कर दिया और तत्त्ववित् पितामह ब्रह्माने कविको निजपुत्र कहके ग्रहण किया। तभीसे प्रसवकर्मकारी भृगु वारुण नामसे विख्यात हुए। (१२१—१२५)

श्रीमान् अंगिरा आग्नेय नामसे प्रसिद्ध हुए और महायशस्वी कवि ब्राह्म नामसे विख्यात हुए। भार्गव और आंगिरस इस लोकमें लोकविस्तारके कारण हुए। ये तीनों प्रजापति समस्त पुत्रोंको उत्पन्न करने लगे। यह निश्चय जानो कि सब कोई इन्हींके सन्तान हैं। च्यवन, वज्रशीर्ष, शुचि, और्व, वरणीय शुक्र, विभु और सवन, ये सातों भृगुके पुत्र हैं, ये सब कोई भृगुके सदृश गुणयुक्त हैं। तुम जिनके वंशमें उत्पन्न हुए हो, वे भार्गवगण भी वारुण हैं। और बृहस्पति, उतथ्य, पयस्य, शान्ति, घोर, विरूप, संवर्त्त और सुधन्वा ये आठों अंगिराके पुत्र हैं, ये सभी ज्ञाननिष्ठ, निरामय और वन्हिज होनेपर भी वारुण कहा है। (१२६–१३१)

ब्रह्माके पुत्र कवि हैं, कविके आठ

अष्टौ प्रसवजैर्युक्ता गुणैर्ब्रह्मविदः शुभाः ॥ १३२ ॥
कविः काव्यश्च धृष्णुश्च बुद्धिमानुशनास्तथा ।
भृगुश्च विरजाश्चैव काशी चोग्रश्च धर्मवित् ॥ १३३ ॥
अष्टौ कविसुता ह्येते सर्वमेभिर्जगत्ततम् ।
प्रजापतय एते हि प्रजाभागैरिह प्रजाः ॥ १३४ ॥
एवमङ्गिरसश्चैव कवेश्च प्रसवान्वयैः ।
भृगोश्च भृगुशार्दूल वंशजैः सततं जगत् ॥ १३५ ॥
वरुणश्चादितो विप्र जग्राह प्रभुरीश्वरः ।
कविं तात भृगुं चापि तस्मात्तौ वारुणौ स्मृतौ ॥१३६॥
जग्राहाङ्गिरसं देवः शिखी तस्माद् घृताशनः ।
तस्मादाङ्गिरसा ज्ञेयाः सर्व एव तदन्वयाः ॥ १३७ ॥
ब्रह्मा पितामहः पूर्वं देवताभिः प्रसादितः ।
इमे नः संतरिष्यन्ति प्रजाभिर्जगतीश्वराः ॥ १३८ ॥
सर्वे प्रजानां पतयः सर्वे चातितपस्विनः ।
त्वत्प्रसादादिमं लोकं तारयिष्यन्ति साम्प्रतम् ॥१३९॥
तथैव वंशकर्तारस्तव तेजोविवर्धनाः ।

पुत्र हुए, वेभी वारुण नामसे वर्णित हुआ करते हैं, ये सब गुणयुक्त, ब्रह्मज्ञ और कल्याणकारी हैं, इनके ये नाम हैं, कवि, काव्य, धृष्णु, बुद्धिमान् उशना, भृगु, विरजा, काशी और धर्मज्ञ उग्र, ये आठों कविके पुत्र हैं, इनसे सारा जगत् व्याप्त है। इन्हींके सहारे प्रजासमूहकी उत्पत्ति हुई है, इस ही निमित्त ये प्रजापति हैं। हे भृगुश्रेष्ठ! इस ही प्रकार अंगिरा, कवि और भृगुके वंशीय सन्तानसे परम्पराक्रमसे जगत् व्याप्त हुआ है। हे तात! सर्वशक्तिमान् सर्वनियन्ता वरुणने पहले कवि और भृगुको ग्रहण किया था, इस ही निमित्त वे दोनों वारुण नामसे विख्यात हुए हैं। (१३२—१३६)

और शिखावान् अग्निदेवने अंगिराको ग्रहण किया था, इसीसे उनके वंशमें उत्पन्न हुए सन्तानोंको आंगिरस जानो। पितामह ब्रह्मा पहले देवताओंके द्वारा इस ही भांति प्रसन्न हुए थे, कि ये नियन्तृगण जगत्में प्रजापुञ्जके सहारे हम लोगोंको पूरी रीतिसे तारेंगे। इसलिये ये सब कोई प्रजापति तथा तपस्वी होकर आपकी कृपासे सब लोकोंका उद्धार करेंगे और आपके

भवेयुर्वेदविदुषः सर्वे च कृतिनस्तथा ॥ १४० ॥
देवपक्षचराः सौम्याः प्राजापत्या महर्षयः ।
आप्नुवन्ति तपश्चैव ब्रह्मचर्यं परं तथा ॥ १४१ ॥
सर्वे हि वयमेते च तवैव प्रसवः प्रभो ।
देवानां ब्राह्मणानां च त्वं हि कर्ता पितामह ॥ १४२ ॥
मारीचमादितः कृत्वा सर्वे चैवाऽथ भार्गवाः ।
अपत्यानीति संप्रेक्ष्य क्षमयाम पितामह ॥ १४३ ॥
ते त्वनेनैव रूपेण प्रजनिष्यन्ति वै प्रजाः ।
स्थापयिष्यन्ति चात्मानं युगादिनिधने तथा ॥ १४४ ॥
इत्युक्तः स तदा तैस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
तथेत्येवाऽब्रवीत्प्रीतस्तेऽपि जग्मुर्यथागतम् ॥ १४५ ॥
एवमेतत्पुरावृत्तं तस्य यज्ञे महात्मनः ।
देवश्रेष्ठस्य लोकादौ वारुणीं बिभ्रतस्तनुम् ॥ १४६ ॥
अग्निर्ब्रह्मा पशुपतिः शर्वो रुद्रः प्रजापतिः ।
अग्नेरपत्यमेतद्वै सुवर्णमिति धारणा ॥ १४७ ॥
अग्न्यभावे च कुरुते वह्निस्थानेषु काञ्चनम् ।
जामदग्न्यः प्रमाणज्ञो वेदश्रुतिनिदर्शनात् ॥ १४८ ॥

तेजकी वृद्धि करते हुए वेदज्ञ और कृतकार्य वंशकर्त्ता होंगे। ये प्राजापत्य महर्षिगण प्रियदर्शन और देवपक्षमें श्रेष्ठ होकर परम तपस्या तथा ब्रह्मचर्य लाभ करेंगे। (१३७—१४१)

हे प्रभु पितामह! हम और ये लोग सब कोई तुमसे ही उत्पन्न हुए हैं, आप देवताओं और ब्राह्मणोंके विधाता हैं, मरीचि प्रभृति समस्त भार्गवगण आपके अपत्य हैं, यह देखके हम लोग आपके उत्कर्षके लिये परस्परके अभिभव करनेमें यत्नवान् न होंगे। वे लोग क्षमाशील होके प्रजा उत्पन्न करेंगे और इस ही प्रकार उत्पत्ति और प्रलयके अन्तरालमें आपको स्थापित करेंगे। लोकपितामह ब्रह्माने उस समय देवताओंका वचन सुनके 'तथास्तु' कहा; तब देववृन्द अपने अपने स्थानपर गये। आदिकालमें वारुणी मूर्त्तिधारी देवश्रेष्ठके उस यज्ञमें ऐसी ही घटना हुई थी, अग्नि ही ब्रह्मा, महादेव, शर्व, रुद्र और प्रजापतिस्वरूप है। ऐसा निश्चय है, कि यह सुवर्ण अग्निका पुत्र है। (१४२—१४७)

कुशस्तम्बे जुहोत्यग्निं सुवर्णे तत्र च स्थिते।
वल्मीकस्य वपायां च कर्णे वाऽजस्य दक्षिणे ॥१४९॥
शकटोर्व्यां परस्याप्सु ब्राह्मणस्य करे तथा।
हुते प्रीतिकरीमृद्धिं भगवांस्तत्र मन्यते ॥ १५० ॥
तस्मादग्निपराः सर्वे देवता इति शुश्रुम।
ब्रह्मणो हि प्रभूतोऽग्निरग्नेरपि च काञ्चनम् ॥ १५१ ॥
तस्माद्ये वै प्रयच्छन्ति सुवर्णं धर्मदर्शिनः।
देवतास्ते प्रयच्छन्ति समस्ता इति नः श्रुतम् ॥१५२॥
तस्य चातमसो लोका गच्छतः परमां गतिम्।
स्वर्लोके राजराज्येन सोऽभिषिच्येत भार्गव ॥१५३ ॥
आदित्योदयसंप्राप्ते विधिमन्त्रपुरस्कृतम्।
ददाति काञ्चनं यो वै दुःस्वप्नं प्रतिहन्ति सः ॥१५४ ॥
ददात्युदितमात्रे यस्तस्य पाप्मा विधूयते।
मध्याह्ने ददतो रुक्मं हन्ति पापमनागतम् ॥ १५५॥
ददाति पश्चिमां संध्यां यः सुवर्णं यतव्रतः।
ब्रह्मवाय्वग्निसोमानां सालोक्यमुपयाति सः ॥१५६॥

प्रमाणज्ञ जामदग्न्य वेदश्रुतिके निदर्शन निबन्धनसे अग्निके अभावमें उसके स्थानमें सुवर्ण स्थापित किया करते हैं। ऐसी जनश्रुति है, कि कुशस्तम्बमें अग्निमें होम करे; वहांपर स्थित सुवर्णमें तथा वल्मीक, वपा, बकरेके दहिने कान, शकट, भूमि, तीर्थके जल और ब्राह्मणके हाथमें होम करनेसे भगवान् हुताशन प्रसन्न होते हैं। हमने सुना है, कि समस्त देववृन्द अग्निनिष्ठ हैं। ब्रह्मासे अग्निदेव प्रकट हुए और अग्निसे सुवर्ण उत्पन्न हुआ है; ऐसा सुना गया है, कि जो धर्मदर्शी मनुष्य सुवर्ण दान करते हैं, वे समस्त देवता प्रदान करते हैं। (१४८—१५२)

हे भार्गव! वे परम गति पानेवाले मनुष्य तमरहित लोकोंमें जाकर कुबेरराज्यमें अभिषिक्त होते हैं। सूर्य उदय होनेके समय जो लोग विधिपूर्वक मन्त्र पढके सोना दान करते हैं, उनके दुःस्वप्न नष्ट हुआ करते हैं। जो लोग भोरके समय सुवर्ण दान करते हैं, उनके सब पाप नष्ट होते हैं, मध्याह्न कालमें सुवर्ण दान करनेसे दाताके अनागत पाप नष्ट हुआ करते हैं। जो लोग यतव्रती होकर सायं-

सेन्द्रेषु चैव लोकेषु प्रतिष्ठां विन्दते शुभाम्।
इह लोके यशः प्राप्य शान्तपाप्मा च मोदते ॥१५७॥
ततः संपद्यतेऽन्येषु लोकेष्वप्रतिमः सदा।
अनावृतगतिश्चैव कामचारो भवत्युत ॥ १५८ ॥
न च क्षरति तेभ्यश्च यशश्चैवाप्नुते महत्।
सुवर्णमक्षयं दत्त्वा लोकांश्चाप्नोति पुष्कलान् ॥ १५९॥
यस्तु संजनयित्वाग्निमादित्योदयनं प्रति।
दद्याद्वै व्रतमुद्दिश्य सर्वकामान्समश्नुते ॥ १६० ॥
अग्निमित्येव तत्प्राहुः प्रदानं च सुखावहम्।
यथेष्टगुणसंवृत्तं प्रवर्तकमिति स्मृतम् ॥ १६१ ॥
एषा सुवर्णस्योत्पत्तिः कथिता ते मयाऽनघ।
कार्त्तिकेयस्य च विभो तद्विद्धि भृगुनन्दन ॥ १६२ ॥
कार्त्तिकेयस्तु संवृद्धः कालेन महता तदा।
देवैः सेनापतित्वेन वृतः सेन्द्रैर्भृगूद्वह ॥ १६३ ॥
जघान तारकं चापि दैत्यमन्यांस्तथाऽसुरान्।

सन्ध्याके समय सुवर्ण प्रदान करते हैं, उन्हें ब्रह्मा, वायु, अग्नि और चन्द्रमाके सदृश लोक प्राप्त होते हैं और इन्द्र लोकोंमें शुभ प्रतिष्ठा मिलती है, इस लोकमें यश पाके पापरहित होकर प्रमुदित होते हैं। (१५३—१५७)

अनन्तर वे परलोकमें सदा अप्रतिम, अनावृत गतिसे युक्त और कामचारी होते हैं, उनका यश कभी क्षीण नहीं होता, बल्कि सर्वत्र महत् यश व्याप्त होता है। अक्षय सुवर्ण दान करनेसे मनुष्य पुष्कल लोकोंको पाता है। जो लोग सूर्य उदय होनेके समय अग्नि जलाके व्रतके उद्देश्यसे सुवर्ण दान करते हैं, उन्हें समस्त काम्य भोग प्राप्त होता है। ऐसा प्राचीन लोग कहा करते हैं, कि सूर्योदयके समय सुवर्णदान पूर्ण गुणयुक्त, ज्ञानप्रवर्त्तक और दान-रोचक होनेसे सुखावह है। (१५८-१६१)

हे पापरहित भृगुनन्दन! यह मैंने तुमसे सुवर्ण और कार्त्तिकेयकी उत्पत्ति का विषय कहा है, इसलिये इसे मालूम करो। हे भृगुकुलधुरन्धर! उस समय कार्त्तिकेय बहुतसा समय बीतनेके अनन्तर वर्द्धित होके इन्द्रादि देवताओंके सेनापति पदपर अभिषिक्त हुए। अभिषिक्त होके इन्द्रकी आज्ञासे सब लोकोंकी रक्षाके लिये तारक नाम दैत्य

त्रिदशेन्द्राज्ञया ब्रह्मँल्लोकानां हितकाम्यया ॥ १६४ ॥
सुवर्णदाने च मया कथितास्ते गुणा विभो।
तस्मात्सुवर्णं विप्रेभ्यः प्रयच्छ ददतां वर ॥ १६५ ॥

भीष्म उवाच- इत्युक्तः स वसिष्ठेन जामदग्न्यः प्रतापवान्।
ददौ सुवर्णं विप्रेभ्यो व्यमुच्यत च किल्बिषात् ॥ १६६ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं सुवर्णस्य महीपते।
प्रदानस्य फलं चैव जन्म चास्य युधिष्ठिर ॥ १६७ ॥
तस्मात्त्वमपि विप्रेभ्यः प्रयच्छ कनकं बहु।
ददत्सुवर्णं नृपते किल्बिषाद्विप्रमोक्ष्यसि ॥ १६८ ॥ [४१३०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे सुवर्णोत्पत्तिर्नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच- उक्ताः पितामहेनेह सुवर्णस्य विधानतः।
विस्तरेण प्रदानस्य ये गुणाः श्रुतिलक्षणाः ॥ १ ॥
यत्तु कारणमुत्पत्तेः सुवर्णस्य प्रकीर्तितम्।
स कथं तारकः प्राप्तो निधनं तद्ब्रवीहि मे ॥ २ ॥
उक्तः स दैवतानां हि अवध्य इति पार्थिव।

तथा दूसरे बहुतेरे असुरोंको मारा। हे विभु! सुवर्ण दानके जो सब फल हैं, वह मैंने तुमसे कहा। हे दातृवर! इसलिये तुम ब्राह्मणोंको सुवर्ण दान करो। (१६२-१६५)

भीष्म बोले, प्रतापवान् जामदग्न्य रामने वसिष्ठका ऐसा वचन सुनके ब्राह्मणोंको सुवर्ण दान किया, और उस ही कारणसे पापरहित हुए। हे महाराज युधिष्ठिर! यह मैंने सुवर्ण दानका फल और सुवर्णकी उत्पत्तिका विषय तुम्हारे समीप वर्णन किया, इसलिये तुम भी ब्राह्मणोंको बहुतसा सोना दान करो। हे महाराज! तुम सुवर्ण दान करनेसे पापरहित होगे। (१६६—१६८)

अनुशासनपर्वमें ८५ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ८६ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! आपने विधानके अनुसार सुवर्णदानके गुण और श्रुतिसिद्ध लक्षण तथा सुवर्णकी उत्पत्तिका कारण विस्तारपूर्वक वर्णन किया; परन्तु वह तारकासुर किस प्रकारसे मारा गया? मेरे समीप यह विषय वर्णन करिये। हे राजन्! पहले आपने कहा, कि वह देवताओंसे अवध्य

कथं तस्याभवन्मृत्युर्विस्तरेण प्रकीर्तय ॥ ३ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वतः कुरुकुलोद्वह ।
कार्त्स्न्येन तारकवधं परं कौतूहलं हि मे ॥ ४ ॥
भीष्म उवाच- विपन्नकृत्या राजेन्द्र देवता ऋषयस्तथा ।
कृत्तिकाश्चोदयामासुरपत्यभरणाय वै ॥ ५ ॥
न देवतानां काचिद्धि समर्था जातवेदसः ।
एता हि शक्तास्तं गर्भं संधारयितुमोजसा ॥ ६ ॥
षण्णां तासां ततः प्रीतः पावको गर्भधारणात् ।
स्वेन तेजोविसर्गेण वीर्येण परमेण च ॥ ७ ॥
तास्तु षट् कृत्तिका गर्भं पुपुषुर्जातवेदसः ।
षट्सु वर्त्मसु तेजोऽग्नेः सकलं निहितं प्रभो ॥ ८ ॥
ततस्ता वर्धमानस्य कुमारस्य महात्मनः ।
तेजसाऽभिपरीताङ्ग्यो न क्वचिच्छर्म लेभिरे ॥ ९ ॥
ततस्तेजःपरीताङ्ग्यः सर्वाः काल उपस्थिते ।

था, तब किस प्रकार उसकी मृत्यु हुई? उसे विस्तारपूर्वक कहिये । हे कुरुकुल-धुरन्धर! मैं तुम्हारे समीप उस तारकासुरके वधका विषय विस्तारके सहित सुननेकी इच्छा करता हूं, इस विषयमें मुझे बहुत ही कौतूहल हुआ है । (१-४)

भीष्म बोले, हे राजेन्द्र ! देवताओं और ऋषियोंके सब कार्य विनष्ट होनेसे उन्होंने सन्तानको पालनेके लिये कृत्तिकागणको भेजा । देवताओंके बीच कोई देवीभी अग्निके द्वारा अर्पित गर्भको धारण करमें समर्थ नहीं हैं, कृत्तिकागण ही निज तेजके प्रभावसे उस गर्भको धारण कर सकेंगी, ऐसा विचारके देवताओंने उन्हें अनुमति दी थी । अग्निने उन कृत्तिकागणको अपना परमसुन्दर वीर्ययुक्त तेज अर्पण किया, उनके गरुडरूपसे उस वीर्यको पीकर छः प्रकारसे गर्भधारण करनेसे अग्निदेव अत्यन्त ही प्रसन्न हुए । छहों कृत्तिका जातवेदाके अर्पित गर्भको धारण करने लगीं । हुताशनका समस्त तेज छः कृत्तिकाओंके गर्भमें जानेसे छः स्थानमें स्थित हुआ था । अनन्तर वृद्धिशील महानुभाव कुमारका तेज उनके सब अवयवोंमें व्याप्त हुआ, उन्हें किसी स्थानमें भी सुख प्राप्त न हुआ । (५—९)

हे पुरुषश्रेष्ठ ! अनन्तर प्रसवका

समं गर्भं सुषुविरे कृत्तिकास्तं नरर्षभ ॥ १० ॥
ततस्तं षडधिष्ठानं गर्भमेकत्वमागतम् ।
पृथिवी प्रतिजग्राह कार्तस्वरसमीपतः ॥ ११ ॥
स गर्भो दिव्यसंस्थानो दीप्तिमान्पावकप्रभः ।
दिव्यं शरवणं प्राप्य ववृधे प्रियदर्शनः ॥ १२ ॥
ददृशुः कृत्तिकास्तं तु बालमर्कसमद्युतिम् ।
जातस्नेहाश्च सौहार्दात्पुपुषुः स्तन्यविस्रवैः ॥ १३ ॥
अभवत्कार्त्तिकेयः स त्रैलोक्ये सचराचरे ।
स्कन्नत्वात्स्कन्दतां प्राप्तो गुहावासाद्गुहोऽभवत् ॥१४ ॥
ततो देवास्त्रयस्त्रिंशद्दिशश्च सदिगीश्वराः ।
रुद्रो धाता च विष्णुश्च यमः पूषाऽर्यमा भगः ॥ १५ ॥
अंशो मित्रश्च साध्याश्च वासवो वसवोऽश्विनौ ।
आपो वायुर्नभश्चन्द्रो नक्षत्राणि ग्रहा रविः ॥ १६ ॥
पृथग्भूतानि चान्यानि यानि देवार्पणानि वै ।
आजग्मुस्तेऽद्भुतं द्रष्टुं कुमारं ज्वलनात्मजम् ॥ १७ ॥

समय उपस्थित होनेपर तेजःपरीतांगी कृत्तिकागणने एक ही समयमें गर्भको परित्याग किया, प्रसवके अनन्तर वह षडधिष्ठान गर्भ एकत्र हो गया। वसुमतीने सुवर्णके समीपसे उस गर्भको ग्रहण किया। दीप्यमान अग्निसे उत्पन्न हुआ वह दिव्यावयव प्रियदर्शन गर्भ दिव्य शरवणमें वर्द्धित होने लगा। कृत्तिकागणने उस सूर्यसदृश तेजसे युक्त सन्तानको देखा, देखते ही पुत्रस्नेह और सुहृदताके वशमें होकर उसे स्तनका दूध पिलाके पालने लगीं। वह बालक कृत्तिकाओंके द्वारा प्रतिपालित होनेपर चराचर तीनों लोकोंके बीच कार्त्तिकेय नामसे विख्यात हुआ। (१०—१४)

गंगाके गर्भसे स्खलित होनेसे स्कन्द और गुहामें वास करनेसे उसका गुह नाम हुआ था। अनन्तर तैंतीस देववृन्द, दिगीश्वरके सहित दशों दिशा, रुद्र, धाता, विष्णु, यम, पूषा, अर्यमा, भग, अंश, साध्यगण, वसुगण, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार, जल, वायु, आकाश, चन्द्रमा, नक्षत्रगण, सारे ग्रह, सूर्य और मूर्त्तिमान ऋक्, यजु, साम प्रभृति वेदोंने उस अद्भुत ज्वलनात्मज कुमारको देखनेके निमित्त आगमन किया। ऋषि लोग उस षडानन, बारह

ऋषयस्तुष्टुवुश्चैव गन्धर्वाश्च जगुस्तथा ।
षडाननं कुमारं तु द्विषडक्षं द्विजप्रियम् ॥ १८ ॥
पीनांसं द्वादशभुजं पावकादित्यवर्चसम् ।
शयानं शरगुल्मस्थं दृष्ट्वा देवाः सहर्षिभिः ॥ १९ ॥
लेभिरे परमं हर्षं मेनिरे चासुरं हतम् ।
ततो देवाः प्रियाण्यस्य सर्व एव समाहरन् ॥ २० ॥
क्रीडतः क्रीडनीयानि ददुः पक्षिगणाश्च ह ।
सुपर्णोऽस्य ददौ पुत्रं मयूरं चित्रबर्हिणम् ॥ २१ ॥
राक्षसाश्च ददुस्तस्मै वराहमहिषावुभौ ।
कुक्कुटं चाग्निसङ्काशं प्रददावरुणः स्वयम् ॥ २२ ॥
चन्द्रमाः प्रददौ मेषमादित्यो रुचिरां प्रभाम् ।
गवां माता च गा देवी ददौ शतसहस्रशः ॥ २३ ॥
छागमग्निर्गुणोपेतमिला पुष्पफलं बहु ।
सुधन्वा शकटं चैव रथं चामितकूबरम् ॥ २४ ॥
वरुणो वारुणान्दिव्यान्स गजान्प्रददौ शुभान् ।
सिंहान्सुरेन्द्रो व्याघ्रांश्च द्विपानन्यांश्च पक्षिणः ॥२५॥

नेत्रवाले द्विजप्रिय कुमारकी स्तुति करने लगे और गन्धर्वोंने गीत गाना आरम्भ किया। (१४-१८)

पीनस्कन्ध, बारह भुजा, अग्नि और सूर्यसदृश तेजस्वी शरस्तम्भमें सोये हुए कुमारको देखकर महातेजस्वी ऋषियोंके सहित देवता लोग परम हर्षित हुए और तारकासुरको मरा समझा। अनन्तर देवताओंने सब ठौरसे कुमारके लिये समस्त प्रियवस्तु ला दिया। जब वह खेलने लगे, तब देवताओंने उन्हें खेलने योग्य अनेक प्रकारके पक्षी दिये और उनके चढनेके लिये गरुडके पुत्र विचित्र वर्णयुक्त मयूरको ला दिया, राक्षसोंने वराह और भैंसे दिये, अरुणने स्वयं उन्हें अग्निसङ्काश कुक्कुट दिया। (१९-२२)

चन्द्रमाने मेढा दिया और सूर्यने उन्हें रुचिर प्रभा दी, गौवोंकी माता सुरभिने उन्हें सौ हजार गो दान किया, अग्निने बकरे दिये और इलाने बहुत सुन्दर फूल तथा फल दिया। सुधन्वाने उन्हें शकट तथा अनेक कूबरयुक्त रथ दिया। वरुणने दिव्य सुन्दर वारुण हाथी दिये, देवराजने सिंह, शार्दूल, हाथी तथा अनेक भांतिके

श्वापदांश्च बहून् घोरांश्छत्राणि विविधानि च ।
राक्षसासुरसङ्घाश्च अनुजग्मुस्तमीश्वरम् ॥ २६ ॥
वर्धमानं तु तं दृष्ट्वा प्रार्थयामास तारकः ।
उपायैर्बहुभिर्हन्तुं नाशकच्चापि तं विभुम् ॥ २७ ॥
सैनापत्येन तं देवाः पूजयित्वा गुहालयम् ।
शशंसुर्विप्रकारं तं तस्मै तारककारितम् ॥ २८ ॥
स विवृद्धो महावीर्यो देवसेनापतिः प्रभुः ।
जघानामोघया शक्त्या दानवं तारकं गुहः ॥ २९ ॥
तेन तस्मिन्कुमारेण क्रीडता निहतेऽसुरे ।
सुरेन्द्रः स्थापितो राज्ये देवानां पुनरीश्वरः ॥ ३० ॥
स सेनापतिरेवाथ बभौ स्कन्दः प्रतापवान् ।
ईशो गोप्ता च देवानां प्रियकृच्छङ्करस्य च ॥ ३१ ॥
हिरण्यमूर्तिर्भगवानेष एव च पावकिः ।
सदा कुमारो देवानां सैनापत्यमवाप्तवान् ॥ ३२ ॥
तस्मात्सुवर्णं मङ्गल्यं रत्नमक्षय्यमुत्तमम् ।
सहजं कार्त्तिकेयस्य वह्नेस्तेजः परं मतम् ॥ ३३ ॥
एवं रामाय कौरव्य वसिष्ठोऽकथयत्पुरा ।

पक्षी, अनेक प्रकारके घोर श्वापद और विविध छत्र प्रदान किये । राक्षस तथा असुरगण उस कुमारके अनुगत हुए । (२३—२६)

तारकासुरने उसे बढते हुए देखके अनेक प्रकारके उपायोंसे मारनेकी चेष्टा की, परन्तु वह उस सर्वशक्तिमान् कुमार को मारनेमें समर्थ न हुआ, देवताओंने उन्हें सेनापतिका पद देके पूजा करके तारकासुरके उपद्रवके विषय कहे, देव-सेनापति प्रभु कार्त्तिकेयने विशेष रूपसे वर्द्धित होकर तारकासुरको अमोघ शक्तिसे मार डाला । जब कुमारने खेल करते हुए उस असुरको मार दिया, तब इन्द्र फिर देवराज्यपर स्थापित हुए। अनन्तर प्रतापशाली देवसेनापति स्कन्द देवताओंके नियन्ता तथा रक्षक और शङ्करके प्रियकारी होकर सुशोभित हुए। (२७-३१)

हिरण्यमूर्ति भगवान अग्निपुत्र कुमारने इस ही भांति देवसेनापतिका पद पाया था, अग्निके परम तेज तथा कार्त्तिकेयके संग उत्पन्न होनेसे सुवर्ण मंगलकर श्रेष्ठ और अक्षय रत्न है । हे

तस्मात्सुवर्णदानाय प्रयतस्व नराधिप ॥ ३४ ॥
रामः सुवर्णं दत्त्वा हि विमुक्तः सर्वकिल्बिषैः ।
त्रिविष्टपे महत्स्थानमवापासुलभं नरैः ॥ ३५ ॥ [४११६५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे तारकवधोपाख्यानं नाम षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६॥

युधिष्ठिर उवाच- चातुर्वर्ण्यस्य धर्मात्मन्धर्माः प्रोक्ता यथा त्वया ।
तथैवेमे श्राद्धविधिं कृत्स्नं प्रब्रूहि पार्थिव ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच- युधिष्ठिरेणैवमुक्तो भीष्मः शान्तनवस्तदा ।
इमं श्राद्धविधिं कृत्स्नं वक्तुं समुपचक्रमे ॥ २ ॥
भीष्म उवाच- शृणुष्वावहितो राजञ्छ्राद्धकर्मविधिं शुभम् ।
धन्यं यशस्यं पुत्रीयं पितृयज्ञं परंतप ॥ ३ ॥
देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
पिशाचकिन्नराणां च पूज्या वै पितरः सदा ॥ ४ ॥
पितॄन्पूज्यादितः पश्चाद्देवतास्तर्पयन्ति वै ।
तस्मात्तान्सर्वयत्नेन पुरुषः पूजयेत्सदा ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! पहले समयमें वसिष्ठ मुनिने रामसे यह कथा कही थी । हे नरनाथ ! इसलिये तुम सुवर्ण दानके लिये सदा यत्नवान रहो । रामने सुवर्ण दान करनेसे पापरहित होके सुरपुरमें मनुष्योंके लिये असुलभ स्थान पाया था । (३२—३५)

अनुशासनपर्वमें ८६ अध्याय समाप्त ।

अनुशासनपर्वमें ८७ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे धर्मात्मन् राजन् ! आपने जिस प्रकार चारों वर्णोंके धर्म कहे वैसे ही मेरे निकट श्राद्धकी समस्त विधि वर्णन करिये । (१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, शन्तनु-पुत्र भीष्म उस समय युधिष्ठिरका ऐसा प्रश्न सुनके श्राद्धकी सब विधि कहने लगे । (२)

भीष्म बोले, हे परन्तप पृथ्वीनाथ ! तुम सावधान होके इस धन, यश और पुत्रदायक शुभ पितृयज्ञ श्राद्धकर्मकी विधि सुनो । देव, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, पिशाच और किन्नर प्रभृति सबके ही लिये पितृगण सदा पूजनीय हैं । पहले पितरोंकी पूजा करके पीछे सब कोई देवताओंको तृप्त किया करते हैं; इसलिये पुरुषोंको सदा सब प्रकार यत्नपूर्वक पितरोंकी पूजा करनी योग्य है । (३-५)

अन्वाहार्यं महाराज पितॄणां श्राद्धमुच्यते ।
तस्माद्विशेषविधिना विधिः प्रथमकल्पितः ॥ ६ ॥
सर्वेष्वहःसु प्रीयन्ते कृते श्राद्धे पितामहाः ।
प्रवक्ष्यामि तु ते सर्वांस्तिथ्यातिथ्यगुणागुणान् ॥ ७ ॥
येष्वहःसु कृतैः श्राद्धैर्यत्फलं प्राप्यतेऽनघ ।
तत्सर्वं कीर्तयिष्यामि यथावत्तन्निबोध मे ॥ ८ ॥
पितॄनर्च्य प्रतिपदि प्राप्नुयात्स्वगृहे स्त्रियः ।
अभिरूपप्रजायिन्यो दर्शनीया बहुप्रजाः ॥ ९ ॥
स्त्रियो द्वितीयां जायन्ते तृतीयायां तु वाजिनः ।
चतुर्थ्यां क्षुद्रपशवो भवन्ति बहवो गृहे ॥ १० ॥
पञ्चम्यां बहवः पुत्रा जायन्ते कुर्वतां नृप ।
कुर्वाणास्तु नराः षष्ठ्यां भवन्ति द्युतिभागिनः ॥ ११ ॥
कृषिभागी भवेच्छ्राद्धं कुर्वाणः सप्तमीं नृप ।
अष्टम्यां तु प्रकुर्वाणो वाणिज्ये लाभमाप्नुयात् ॥ १२ ॥

हे महाराज! प्रति महीने में पितरों की तृप्तिके निमित्त जो श्राद्ध किया जाता है, उसे अन्वाहार्य कहते हैं, पितरोंकी तृप्तिके निमित्त श्राद्ध करना योग्य है, यह प्रथम कल्पित अर्थात् सामान्य विधि अमावस्या तिथिमें जिस दिन चन्द्रमा नहीं दीखता, उस दिन अपराह्णमें पिण्डदानरूपी पितृयज्ञ करे, इस विशेष विधिके द्वारा बाधित होवें। जिस किसी दिन होसके, श्राद्ध करनेसे ही पितामहगण प्रसन्न होते हैं, इस हेतु तुमसे तिथि और आतिथ्यके गुण दोष तथा समय कहता हूं। हे पापरहित! जिन दिनोंमें श्राद्ध करनेसे जो जो सब फल प्राप्त होते हैं, वह तुम्हारे समीप पूरी रीतिसे कहता हूं सुनो। (६—८)

प्रतिपदामें पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्य निज गृहमें सुन्दरी तथा बहु-सन्तान उत्पन्न करनेवाली स्त्री पाता है। द्वितीयामें श्राद्ध करनेसे कन्या जन्मती है। तृतीया तिथिमें पितरोंको पिण्डदान करनेसे मनुष्यको बहुतसे घोडे मिलते हैं। चतुर्थीमें श्राद्ध करनेसे गृहमें अनेक प्रकारके क्षुद्र पशु होते हैं। हे राजन्! पञ्चमीमें श्राद्ध करने-वालोंके बहुतसे पुत्र जन्मते हैं, षष्ठीमें जो लोग श्राद्ध करते हैं, वे तेजस्वी होते हैं। (९-११)

हे महाराज! सप्तमी तिथिमें श्राद्ध

नवम्यां कुर्वतः श्राद्धं भवत्येकशफं बहु ।
विवर्धन्ते तु दशमीं गावः श्राद्धानि कुर्वतः ॥ १३ ॥
कुप्यभागी भवेन्मर्त्यः कुर्वन्नेकादशीं नृप ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते तस्य वेश्मनि ॥ १४ ॥
द्वादशीमीहमानस्य नित्यमेव प्रदृश्यते ।
रजतं बहु वित्तं च सुवर्णं च मनोरमम् ॥ १५ ॥
ज्ञातीनां तु भवेच्छ्रेष्ठः कुर्वञ्छ्राद्धं त्रयोदशीम् ।
अवश्यं तु युवानोऽस्य प्रमीयन्ते नरा गृहे ॥ १६ ॥
युद्धभागी भवेन्मर्त्यः कुर्वञ्छ्राद्धं चतुर्दशीम् ।
अमावास्यां तु निर्वापात् सर्वकामानवाप्नुयात् ॥१७॥
कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धकर्मणि तिथयस्तु प्रशस्ता न तथेतराः ॥ १८ ॥
यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ १९ ॥ [४१८४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे श्राद्धकल्पे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

करनेवाले कृषिभागी हुआ करते हैं। अष्टमीमें जो लोग श्राद्ध करते हैं, उन्हें वाणिज्यमें लाभ होता है। नवमीमें श्राद्ध करनेवालोंको कई भांतिके एक सौ पशु प्राप्त होते हैं। दशमीमें श्राद्ध करनेवालेकी गौवें विशेष रूपसे वर्द्धित होती हैं। हे राजन्! एकादशी तिथिमें श्राद्ध करनेसे मनुष्य वस्त्रपात्र आदि धनसे युक्त होता और उसके गृहमें ब्रह्मवर्चस्वी पुत्र जन्मते हैं। द्वादशीमें श्राद्ध करनेवालोंके घरमें सदा बहुत सा धन, रूपा वा मनोहर सुवर्ण दीखता है। (१२-१५)

जो लोग त्रयोदशी तिथिमें श्राद्ध करते हैं, वे स्वजनोंके बीच श्रेष्ठ हुआ करते हैं। चतुर्दशीमें श्राद्ध करनेसे मनुष्य युद्धभागी होता है और उसके गृहमें अवश्यही सब युवा पुरुष पञ्चत्वको प्राप्त होते हैं। अमावस्या तिथिमें पिण्डदान करनेसे मनुष्यके सर्वकाम अक्षय प्राप्त होते हैं। कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीको त्यागके दशमीके पहले जो सब तिथि पडती हैं, वेही श्राद्धकर्ममें श्रेष्ठ हैं, अन्य तिथि वैसी श्रेष्ठ नहीं हैं। जैसे पहले पक्षसे दूसरा पक्ष श्रेष्ठ है। वैसे ही श्राद्धकर्मके विषयमें

*

युधिष्ठिर उवाच- किंस्विद्दत्तं पितृभ्यो वै भवत्यक्षयमीश्वर।
किं हविश्चिररात्राय किमानन्त्याय कल्पते ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- हवींषि श्राद्धकल्पे तु यानि श्राद्धविदो विदुः।
तानि मे शृणु काम्यानि फलं चैव युधिष्ठिर ॥ २ ॥
तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलैस्तथा।
दत्तेन मासं प्रीयन्ते श्राद्धेन पितरो नृप ॥ ३ ॥
वर्धमानतिलं श्राद्धमक्षयं मनुरब्रवीत्।
सर्वेष्वेव तु भोज्येषु तिलाः प्राधान्यतः स्मृताः ॥ ४ ॥
द्वौ मासौ तु भवेत्तृप्तिर्मत्स्यैः पितृगणस्य ह।
त्रीन्मासानाविकेनाहुश्चतुर्मासं शशेन ह ॥ ५ ॥
आजेन मासान्प्रीयन्ते पञ्चैव पितरो नृप।
वाराहेण तु षण्मासान् सप्त वै शाकुलेन तु ॥ ६ ॥
मासानष्टौ पार्षतेन रौरवेण नव प्रभो।

पूर्वाह्णसे अपराह्ण विशेषरूपसे श्रेष्ठ है। (१६-१९)

अनुशासनपर्वमें ८७ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ८८ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! पितरोंके उद्देश्यसे कौन वस्तु दान करनेपर अक्षय होती है? कैसी हवि सदाके लिये तथा आनन्त्यकी निमित्त कल्पित हुआ करती है? (१)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! श्राद्धवित् पण्डित लोग श्राद्धकल्पमें जिसे हविरूपी जानते हैं, उन काम्यविषयों तथा उनके फल मेरे समीप सुनो। हे राजन्! तिल, व्रीहि, यव, मांस, जल और फलमूलके द्वारा श्राद्ध करनेसे पितरगण एक महीनेतक प्रसन्न हुआ करते हैं। मनुने कहा है, कि वर्द्धमान तिल श्राद्ध अक्षय होता है। समस्त भोजनकी वस्तुओंके बीच तिल सबसे मुख्य कहा गया है। मत्स्यके द्वारा श्राद्ध करनेसे पितरगण दो महीनेतक तृप्त रहते हैं। मेढके मांससे श्राद्ध करनेपर पितरगण चार महीनेतक प्रसन्न हुआ करते हैं। (२-५)

हे राजन्! बकरेके मांससे श्राद्ध करनेसे पितर लोग पांच महीनेतक प्रसन्न रहते हैं। वराहके मांससे श्राद्ध करनेपर पितरगण छः महीनेतक और शकुलमांससे श्राद्ध करनेसे सात महीनेतक तृप्त रहते हैं। चित्रमृगके मांससे श्राद्ध करनेपर आठ महीने और कृष्णसार मृगके मांससे श्राद्ध करे तो

गवयस्य तु मांसेन तृप्तिः स्याद्दशमासिकी ॥ ७ ॥
मांसेनैकादश प्रीतिः पितृणां माहिषेण तु ।
गव्येन दत्ते श्राद्धे तु संवत्सरमिहोच्यते ॥ ८ ॥
यथा गव्यं तथा युक्तं पायसं सर्पिषा सह ।
वाध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ ९ ॥
आनन्त्याय भवेद्दत्तं खड्गमांसं पितृक्षये ।
कालशाकं च लौहं चाप्यानन्त्यं छाग उच्यते ॥ १० ॥
गाथाश्चाप्यत्र गायन्ति पितृगीता युधिष्ठिर ।
सनत्कुमारो भगवान्पुरा मय्यभ्यभाषत ॥ ११ ॥
अपि नः स्वकुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम् ।
मघासु सर्पिःसंयुक्तं पायसं दक्षिणायने ॥ १२ ॥
आजेन वाऽपि लौहेन मघास्वेव यतव्रतः ।
हस्तिच्छायासु विधिवत् कर्णव्यजनवीजितम् ॥ १३ ॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।

पितरगण प्रसन्न होके नव महीनेतक निवास करते हैं, गवय मांससे श्राद्ध करनेपर पितरोंको दश महीनेकी तृप्ति होती है । भैंसेके मांससे श्राद्ध करनेपर पितरोंको ग्यारह महीनेकी तृप्ति हुआ करती है । ऐसा वर्णित है, कि गव्यके द्वारा श्राद्ध करनेसे पितरोंकी एक वर्षतक तृप्ति होती है । जैसा गव्य है, घृतके सहित पायस भी वैसा ही उपयोगी है । महोक्ष, पक्षिविशेष, वा बकरा विशेषके, मांसके द्वारा पितरोंको बारह वर्षकी तृप्ति होती है। (६-९)

पितृयज्ञमें खड्गमांस दिये जानेपर आनन्त्यकी हेतु हुआ करता है । कालशाक, काञ्चनवृक्षके पुष्प आदि और बकरे आनन्त्य रूपसे वर्णित होते हैं । हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें जो लोग पितृगीत गाथा गाया करते हैं, पहले समयमें भगवान सनत्कुमारने मेरे समीप समस्त गाथा कही थी । हमारे निज वंशमें जो पुरुष जन्मेंगे, वे त्रयोदशीमें हम लोगोंका श्राद्ध करेंगे और दक्षिणायनके मघा नक्षत्रमें सर्पियुक्त पायस दान करेंगे । (१०-१२)

मघा नक्षत्रमें यतव्रती होकर अज, काञ्चन वृक्षज पुष्प आदिसे हमें तृप्त करेंगे । हस्तिच्छायामें विधिपूर्वक कर्णव्यजनवीजित पायस आदि प्रदान करेंगे । बहुतसे पुत्रोंके लिये कामना करनी योग्य है, क्यों कि क्या जाने

यत्रासौ प्रथितो लोकेष्वक्षय्यकरणो वटः ॥ १४ ॥
आपो मूलं फलं मांसमन्नं वाऽपि पितृक्षये ।
यत्किंचिन्मधुसंमिश्रं तदानन्त्याय कल्पते ॥ १५ ॥ [४१९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे श्राद्धकल्पेऽष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

भीष्म उवाच— यमस्तु यानि श्राद्धानि प्रोवाच शशबिन्दवे ।
तानि मे श्रृणु काम्यानि नक्षत्रेषु पृथक् पृथक् ॥ १ ॥
श्राद्धं यः कृत्तिकायोगे कुर्वीत सततं नरः ।
अग्नीनाधाय सापत्यो यजेत विगतज्वरः ॥ २ ॥
अपत्यकामो रोहिण्यां तेजस्कामो मृगोत्तमे ।
क्रूरकर्मा ददच्छ्राद्धमार्द्रायां मानवो भवेत ॥ ३ ॥
धनकामो भवेन्मर्त्यः कुर्वञ्छ्राद्धं पुनर्वसौ ।
पुष्टिकामोऽथ पुष्येण श्राद्धमीहेत मानवः ॥ ४ ॥
आश्लेषायां ददच्छ्राद्धं धीरान्पुत्रान्प्रजायते ।
ज्ञातीनां तु भवेच्छ्रेष्ठो मघासु श्राद्धमावपन् ॥ ५ ॥

उनमेंसे एक पुत्र भी गयाधाममें जाय, जहांपर अक्षयवट लोकके बीच विख्यात है। पितृयज्ञमें जल, मूल, फल, मांस और अन्न प्रभृति मधुमिश्रित जो कुछ वस्तु दी जाती है, वही अनन्त-फल-जनक रूपसे कल्पित हुआ करती है। (१३—१६)

अनुशासनपर्वमें ८८ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ८९ अध्याय।

भीष्म बोले, यमने शशबिन्दुसे जो सब श्राद्ध विषय कहा था, उस पृथक् पृथक् नक्षत्रोंमें विहित काम्य श्राद्धका विषय मेरे समीप सुनो। जो मनुष्य कृत्तिका नक्षत्रमें सदा श्राद्ध करता है और अग्नि जलाके यज्ञ किया करता है, वह अपत्योंके सहित शोकरहित होता है। पुत्रकामनावाले मनुष्य रोहिणी नक्षत्रमें और तेजके अभिलाषी मनुष्य मृगशिरा नक्षत्रमें श्राद्ध करें। आर्द्रा नक्षत्रमें श्राद्ध दान करनेसे मनुष्य क्रूरकर्मा होता है। पुनर्वसु नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे मनुष्य कृषि-भागी हुआ करता है। पुष्टिकी इच्छा-वाले मनुष्य पुष्य नक्षत्रमें श्राद्ध करें, जो मनुष्य आश्लेषा नक्षत्रमें श्राद्ध करते हैं, उनके वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं। मघा नक्षत्रमें श्राद्ध करनेवालोंको स्वजनोंके बीच श्रेष्ठता प्राप्त होती है। (१-५)

फल्गुनीषु ददच्छ्राद्धं सुभगः श्राद्धदो भवेत्।
अपत्यभागुत्तरासु हस्तेन फलभाग्भवेत् ॥ ६ ॥
चित्रायां तु ददच्छ्राद्धं लभेद्रूपवतः सुतान्।
स्वातियोगे पितॄनर्च्य वाणिज्यमुपजीवति ॥ ७ ॥
बहुपुत्रो विशाखासु पुत्रमीहन्भवेन्नरः।
अनुराधासु कुर्वाणो राजचक्रं प्रवर्तयेत् ॥ ८ ॥
आधिपत्यं व्रजेन्मर्त्यो ज्येष्ठायामपवर्जयन्।
नरः कुरुकुलश्रेष्ठ ऋद्धो दमपुरःसरः ॥ ९ ॥
मूले त्वारोग्यमृच्छेत यशोऽऽषाढासु चोत्तमम्।
उत्तरासु त्वषाढासु वीतशोकश्चरेन्महीम् ॥ १० ॥
श्राद्धं त्वभिजिता कुर्वन् भिषक् सिद्धिमवाप्नुयात्।
श्रवणेषु ददच्छ्राद्धं प्रेत्य गच्छेत्स तद्गतिम् ॥ ११ ॥
राज्यभागी धनिष्ठायां भवेत नियतं नरः।
नक्षत्रे वारुणे कुर्वन् भिषक्सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

पूर्वाफल्गुनी नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे श्राद्धकर्ता सौभाग्यशाली होता है। उत्तराफल्गुनी नक्षत्रमें श्राद्ध करनेवाले पुत्रवान् हुआ करते हैं। हस्त नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे मनुष्य फलभागी होता है। चित्रा नक्षत्रमें श्राद्ध करनेवाले रूपवान् पुत्र पाते हैं। स्वाती नक्षत्रमें पितरोंकी अर्चना करनेसे पुरुष वाणिज्य उपजीवी होता है। पुत्रकामनावाले मनुष्य विशाखा नक्षत्रमें पितृयज्ञ करनेसे बहुतसे पुत्र पाते हैं। अनुराधा नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे मनुष्य राजचक्रका प्रवर्त्तक होता है। (६—८)

ज्येष्ठा नक्षत्रमें पितृतर्पण करनेसे मनुष्यको आधिपत्य प्राप्त होता है। मूल नक्षत्रमें पितरोंकी पूजा करनेसे आरोग्यता प्राप्त होती है। हे कुरुकुल-श्रेष्ठ! श्रद्धा-दमसे युक्त पूर्वाषाढा नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे मनुष्यको उत्तम यश मिलता है। उत्तराषाढा नक्षत्रमें पितरोंकी पूजा करनेवाले मनुष्य शोक-रहित होके पृथ्वीमण्डलपर विचरते हैं। उत्तराषाढाके शेषपाद और श्रवणके प्रथम चारों दण्ड, अभिजित् नक्षत्र में श्राद्ध करनेवालोंको श्रेष्ठ विद्या प्राप्त होती है। श्रवण नक्षत्रमें श्राद्ध दान करनेवालोंको परलोकमें सद्गति मिलती है। (९—११)

धनिष्ठा नक्षत्रमें पितृयज्ञ करनेवाले मनुष्य सदा राज्यभागी होते हैं। शत-

पूर्वप्रोष्ठपदाः कुर्वन् बहून्विन्दत्यजाविकान् ।
उत्तरासु प्रकुर्वाणो विन्दते गाः सहस्रशः ॥ १३ ॥
बहु कुप्यकृतं वित्तं विन्दते रेवतीं श्रितः ।
अश्विनीष्वश्वान्विन्देत भरणीष्वायुरुत्तमम् ॥ १४ ॥
इमं श्राद्धविधिं श्रुत्वा शशबिन्दुस्तथाऽकरोत् ।
अक्लेशेनाजयच्चापि महीं सोऽनुशशास ह ॥ १५ ॥ [४२१४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां अनुशासनपर्वणि आनुशासनिके पर्वणि दानधर्मे श्राद्धकल्पे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

युधिष्ठिर उवाच– कीदृशेभ्यः प्रदातव्यं भवेच्छ्राद्धं पितामह ।
द्विजेभ्यः कुरुशार्दूल तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥
भीष्म उवाच– ब्राह्मणान्न परीक्षेत क्षत्रियो दानधर्मवित् ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये तु न्यायमाहुः परीक्षणम् ॥ २ ॥
देवताः पूजयन्तीह दैवेनैवेह तेजसा ।
उपेत्य तस्माद्देवेभ्यः सर्वेभ्यो दापयेन्नरः ॥ ३ ॥

भिषा नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे भिषक्सिद्धि प्राप्त होती है। पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्रमें पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्य बहुतसे बकरे और मेषादि धन पाता है। उत्तराभाद्रपदामें श्राद्ध करनेसे मनुष्यको बहुतसी गऊ मिलती हैं, रेवती नक्षत्र में श्राद्ध करनेसे मनुष्य सोना रूपाके अतिरिक्त बहुतसा धन पाता है। अश्विनी नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे उत्तम घोडे और भरणी नक्षत्रमें पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको उत्तम आयु प्राप्त होती है। शशबिन्दुने इस श्राद्धविधिको सुनके वैसा ही अनुष्ठान किया और उन्होंने बिना क्लेशके ही पृथ्वीमण्डलको जीतके उसे शासन किया था। (१२-१५)

अनुशासनपर्वमें ८९ अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ९० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे कुरुकुलश्रेष्ठ पितामह! कैसे द्विजोंको दान करनेसे श्राद्ध सिद्ध होता है, उसकी आप मेरे समीप व्याख्या करिये। (१)

भीष्म बोले, हे महाराज! दानधर्मके जाननेवाले क्षत्रियोंको देवकार्यमें ब्राह्मणोंकी परीक्षा करनी योग्य नहीं है, किन्तु ऋषियोंने ऐसा कहा है, कि पितृकार्यमें न्यायपूर्वक ब्राह्मणोंकी परीक्षा करनी योग्य है। मनुष्य देवकार्यमें केवल देवताओंकी पूजा किया करते हैं, इसलिये उसमें देवताओंके उद्देश्यसे

श्राद्धे त्वथ महाराज परीक्षेद्ब्राह्मणान्बुधः ।
कुलशीलवयोरूपैर्विद्ययाऽभिजनेन च ॥ ४ ॥
तेषामन्ये पङ्क्तिदूषास्तथाऽन्ये पङ्क्तिपावनाः ।
अपाङ्क्तेयास्तु ये राजन् कीर्तयिष्यामि तान् शृणु ॥ ५ ॥
कितवो भ्रूणहा यक्ष्मी पशुपालो निराकृतिः ।
ग्रामप्रेष्यो वार्धुषिको गायनः सर्वविक्रयी ॥ ६ ॥
अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
सामुद्रिको राजभृत्यस्तैलिकः कूटकारकः ॥ ७ ॥
पित्रा विवदमानश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ।
अभिशस्तस्तथा स्तेनः शिल्पं यश्चोपजीवति ॥ ८ ॥
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक् पारदारिकः ।
अव्रतानामुपाध्यायः काण्डपृष्ठस्तथैव च ॥ ९ ॥
श्वभिश्च यः परिक्रामेद्यः शुना दष्ट एव च ।
परिवित्तिश्च यश्च स्याद् दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥ १० ॥
कुशीलवो देवलको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।

ब्राह्मणमात्रको ही दान देना उचित है, परन्तु विद्वान् मनुष्य श्राद्धके समय कुल, शील, अवस्था, विद्या, रूप और मर्यादाके सहारे ब्राह्मणोंकी परीक्षा करे। हे महाराज! ब्राह्मणोंके बीच कोई कोई पंक्तिदूषक और कोई पंक्तिपावन हैं, उनमेंसे दुष्कर्म आदिसे जो लोग पंक्तिबाहर हैं, उनका विषय कहता हूं, सुनो। (२—५)

धूर्त्त, भ्रूणहत्यारे, यक्ष्मरोगग्रस्त, पशुपालक, अध्ययनादिवर्जित, ग्रामप्रेष्य, वार्द्धुषिक अर्थात् वृद्धिके निमित्त धन प्रयोग करनेवाले, गायक, सर्वविक्रयी, स्थान जलानेवाले, गरद, कुण्डाशी, सोमविक्रयी, सामुद्रिक, राजसेवक, तेलीका कर्म करनेवाले, कूटकारक, पिताके संग विवाद करनेवाले, जिनके गृहमें उपपति हैं वैसे पुरुष। अभिशस्त, चोर, जो पुरुष शिल्पकार्यके सहारे जीवन धारण करते हैं, पर्वकार अर्थात् वेषान्तरधारी, चुगल, मित्रद्रोही, पारदारिक, शूद्रोंके उपाध्याय, अस्त्रजीवी, जो पुरुष कुत्तेके सहारे मृगया करता है, जिसे कुत्तेने काटा हो, जेठे भाईके क्वारे रहते यदि लहुरा ब्याह करे तो वह परिवेत्ता हुआ करता है। (६-१०)

दुश्चर्मा, गुरुशय्यागामी, कुशीलव,

ईदृशैर्ब्राह्मणैर्भुक्तमपाङ्क्तेयैर्युधिष्ठिर ॥ ११ ॥
रक्षांसि गच्छते हव्यमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ।
श्राद्धं भुक्त्वा त्वधीयीत वृषलीतल्पगश्च यः ॥ १२ ॥
पुरीषे तस्य ते मासं पितरस्तस्य शेरते ।
सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ॥ १३ ॥
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं च वार्धुषे ।
यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत् ॥ १४ ॥
भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ।
ये तु धर्मव्यपेतेषु चारित्रापगतेषु च ।
हव्यं कव्यं प्रयच्छन्ति तेषां तत्प्रेत्य नश्यति ॥ १५ ॥
ज्ञानपूर्वं तु ये तेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः ।
पुरीषं भुञ्जते तस्य पितरः प्रेत्य निश्चयः ॥ १६ ॥
एतानिमान्विजानीयादपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान् ।

कृषीवल, देवल और जो पुरुष नक्षत्र निरूपण करके जीविका निर्वाह करते हैं, येही पांतिसे बाहर हैं। हे युधिष्ठिर! ब्रह्मवादी लोग कहते हैं, कि ऐसे अपांक्तेय ब्राह्मण लोग जिस जिस श्राद्धमें भोजन करते हैं, उस श्राद्धके हविको राक्षस लोग भक्षण किया करते हैं। जो शूद्रास्त्रीगामी ब्राह्मण श्राद्धमें भोजन करके अध्ययन करता है, श्राद्ध करनेवालेके पितर उस ब्राह्मणके पुरीषमें एक महीनेतक शयन किया करते हैं। सोम बेचनेवालेको जो दान किया जाता है, वह विष्ठासदृश है। भिषक् वृत्तिवाले ब्राह्मणोंको जो दान किया जाता हैं, वह पूयशोणित समान है। (१०—१३)

देवलकको जो वस्तु दान की जाती है, वह नष्ट हुआ करती है, वार्धुषिक ब्राह्मणको दान करनेसे अप्रतिष्ठा होती है। वाणिज्य व्यवसायी ब्राह्मणको जो दान किया जाता है, वह इस लोक और परलोकमें कार्यकारी नहीं होता। पौनर्भव ब्राह्मणको दान देना राखमें घृतकी आहुति सदृश हुआ करता है। धर्मसे विचलित और दुश्चरित्र ब्राह्मणको जो लोग हव्यकव्य प्रदान करते हैं, उनका वह दान परलोकमें विनष्ट होता है। जो अल्पबुद्धि मनुष्य जानके ऐसे अपांक्तेय ब्राह्मणोंको श्राद्धसमयमें दान करते हैं, उनके पितृगण निश्चय ही परलोकमें पुरीष भक्षण करते हैं। १४-१६

जो अल्पबुद्धिवाले ब्राह्मण शूद्रोंको

शूद्राणामुपदेशं च ये कुर्वन्त्यल्पचेतसः ॥ १७ ॥
षष्टिं काणः शतं षण्ढः श्वित्री यावत्प्रपश्यति ।
पङ्क्त्यां समुपविष्टायां तावद् दूषयते नृप ॥ १८ ॥
यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः ।
सोपानत्कश्च यद्भुंक्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम् ॥ १९ ॥
असूयता च यद्दत्तं यच्च श्रद्धाविवर्जितम् ।
सर्वं तदसुरेन्द्राय ब्रह्मा भागमकल्पयत् ॥ २० ॥
श्वानश्च पंक्तिदूषाश्च नावेक्षेरन्कथंचन ।
तस्मात्परिस्रुते दद्यात्तिलांश्चान्ववकीरयेत् ॥ २१ ॥
तिलैर्विरहितं श्राद्धं कृतं क्रोधवशेन च ।
यातुधानाः पिशाचाश्च विप्रलुम्पन्ति तद्धविः ॥ २२ ॥
अपांक्तो यावतः पांक्तान्भुञ्जानाननुपश्यति ।
तावत्फलाद्भ्रंशयति दातारं तस्य बालिशम् ॥ २३ ॥
इमे तु भरतश्रेष्ठ विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः ।

उपदेश करते हैं, उन्हें और पहले कहे हुए अधम द्विजोंको पांतिबाहर जानो। हे महाराज ! यदि कोई पुरुष ब्राह्मणोंकी पांतिमें बैठे, तो वह साठ ब्राह्मणोंको दूषित करता है; क्लीब पुरुष एक सौ ब्राह्मणोंको दूषित करता और श्वित्रीरोगी जहांतक देखता है, उतनी दूरके ब्राह्मणोंको दूषित किया करता है। जो लोग सिर बांधके खाते, जो दक्षिणमुख होके भोजन करते तथा जो लोग जूता पहरके खाते हैं, उन्हें असुर जानो, जो असूयावशसे दिया जाय और जो श्रद्धाविवर्जित रूपसे दान किया जाता है, ब्रह्माने असुरेन्द्र बलिके निमित्त उस समस्त भागकी कल्पना की है। (१७-२०)

कुत्ते और पंक्तिदूषित ब्राह्मण किसी प्रकार श्राद्धको न देखने पावें इस ही निमित्त आवृत स्थानमें पितरोंके उद्देश्यसे दान करे और तिल छोटे। जो श्राद्ध विना तिलके किया जाता है, जो लोग क्रोधके वशमें होकर श्राद्ध करते हैं, राक्षस और पिशाचगण उस श्राद्धके हविको लुप्त किया करते हैं। अपांक्तेय ब्राह्मण पांतिके बीच जितने भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको देखता है, कर्त्तव्यविमूढ दाताका उतने परिमाणसे फल भ्रष्ट किया करता है। (२१-२३)

हे भरतश्रेष्ठ ! पहले अपांक्तेय ब्राह्मणोंका विषय कहा है, अब जो लोग

ये त्वतस्तान्प्रवक्ष्यामि परीक्षस्वेह तान्द्विजान् ॥२४॥
विद्यावेदव्रतस्नाता ब्राह्मणाः सर्व एव हि।
सदाचारपराश्चैव विज्ञेयाः सर्वपावनाः ॥ २५ ॥
पांक्तेयांस्तु प्रवक्ष्यामि ज्ञेयास्ते पंक्तिपावनाः।
त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ॥ २६ ॥
ब्रह्मदेयानुसन्तानश्छन्दोगो ज्येष्ठसामगः।
मातापित्रोर्यश्च वश्यः श्रोत्रियो दशपूरुषः ॥ २७ ॥
ऋतुकालाभिगामी च धर्मपत्नीषु यः सदा।
वेदविद्याव्रतस्नातो विप्रः पंक्तिं पुनात्युत ॥ २८ ॥
अथर्वशिरसोऽध्येता ब्रह्मचारी यतव्रतः।
सत्यवादी धर्मशीलः स्वकर्मनिरतश्च सः ॥ २९ ॥
ये च पुण्येषु तीर्थेषु अभिषेककृतश्रमाः।
मखेषु च समन्त्रेषु भवन्त्यवभृतप्लुताः ॥ ३० ॥
अक्रोधना ह्यचपलाः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः।
सर्वभूतहिता ये च श्राद्धेष्वेतान्निमन्त्रयेत् ॥ ३१ ॥

पंक्तिपावन हैं, उनका विषय कहता हूं, तुम वैसे ब्राह्मणोंकी परीक्षा करना। विद्यास्नात, व्रतस्नात, वेदस्नात, और सदाचारयुक्त सब ब्राह्मणोंको ही सर्व-पावन जानो। जो लोग पांक्तेय हैं, उनका विषय कहता हूं, तुम उन्हें पंक्तिपावन जानना। जिन्होंने त्रिणाचि-केत मन्त्र पढा है, जिन्होंने गार्हपत्य, दक्षिण, आवहनीय, सत्य और सर्वाग्नि इन पांच प्रकारके अग्निका अनुष्ठान जाना है, जिन्हें त्रिसुपर्ण नाम बहृच-गणके तीनों मन्त्र विदित हैं, जो लोग शिक्षा, कल्प, प्रभृति वेदके षडङ्गवेत्ता हैं, जो वंशपरम्परासे वेद पढाया करते हैं, उनके वंशमें जो लोग उत्पन्न हुए हों; जो लोग ज्येष्ठ सामगान करनेमें समर्थ हैं, तथा जो माता पिताके वशी-भूत हों, जिनके दश पुरुष श्रोत्रिय हों, जो सदा ऋतुकालमें धर्मपत्नी गमन करते हैं और जो लोग वेद, विद्या तथा व्रतस्नात हैं, वे ब्राह्मण ही पांतिको प-वित्र किया करते हैं। (२४—२८)

जो लोग अथर्ववेदके शिरोभागको पढते हैं, जो ब्रह्मचारी और यतव्रती हैं, जो लोग सत्यवादी, धर्मशील और निजकर्ममें रत हों; जो लोग पुण्यतीर्थों-में स्नान करनेके लिये श्रम करते हैं, जिन्होंने यज्ञोंमें अवभृत स्नान किया

एतेषु दत्तमक्षय्यमेते वै पंक्तिपावनाः ।
इमे परे महाभागा विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः ॥ ३२ ॥
यतयो मोक्षधर्मज्ञा योगाः सुचरितव्रताः ।
ये चेतिहासं प्रयताः श्रावयन्ति द्विजोत्तमान् ॥ ३३ ॥
ये च भाष्यविदः केचिद्ये च व्याकरणे रताः ।
अधीयते पुराणं ये धर्मशास्त्राण्यथापि च ॥ ३४ ॥
अधीत्य च यथान्यायं विधिवत्तस्य कारिणः ।
उपपन्नो गुरुकुले सत्यवादी सहस्रशः ॥ ३५ ॥
अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ।
यावदेते प्रपश्यन्ति पंक्त्यास्तावत्पुनन्त्युत ॥ ३६ ॥
ततो हि पावनात्पंक्त्याः पंक्तिपावन उच्यते ।
क्रोशादर्धतृतीयाच्च पावयेदेक एव हि ॥ ३७ ॥
ब्रह्मदेयानुसंतान इति ब्रह्मविदो विदुः ।
अनृत्विगनुपाध्यायः स चेदग्रासनं व्रजेत् ॥ ३८ ॥
ऋत्विग्भिरभ्यनुज्ञातः पंक्त्या हरति दुष्कृतम् ।

है, जो लोग क्रोधरहित, चपलताहीन, क्षमाशील, दान्त, जितेन्द्रिय और सब प्राणियोंके हितमें रत हों, उन्हें श्राद्धमें निमन्त्रण करे। इन लोगोंको दान करनेसे अक्षय फल होता है, इन्हें ही पंक्तिपावन जानो। (२९-३२)

जो लोग मोक्षधर्मके जाननेवाले, यति, योगाचारी और उत्तम रीतिसे व्रत करते हैं, तथा जो लोग सावधान होकर उत्तम द्विजोंके इतिहास सुनाया करते हैं, जो लोग भाष्यवेत्ता और व्याकरण-शास्त्रमें रत रहते हैं, जो लोग पुराण-शास्त्र अथवा धर्मशास्त्र पढा करते हैं, और पढके विधिपूर्वक उसका अनुष्ठान करते हैं, जिन्होंने गुरुकुलमें निवास किया है, जो सत्यवादी तथा सहस्र-दाता हैं, सब वेदशास्त्रोंमें जो लोग अग्र-गण्य हैं, वे पांतिमें जहांतक देखते हैं, उतने परिमाणसे लोगोंको पवित्र किया करते हैं; इसलिये पांक्तिको पवित्र कर-नेसे वे लोग पंक्तिपावन नामसे वर्णित हुए हैं। ब्रह्मवित् पुरुष ऐसा कहते हैं, कि जो लोग वंशपरम्परासे वेद पढाते हैं, वैसे वंशमें जो पुरुष उत्पन्न हुए हों, वे अकेले ही कोस आधकोस अथवा तिहाईकोससे पांतिको पवित्र किया करते हैं। (३३—३७)

ऋत्विक् अथवा उपाध्यायके गुण-

अथ चेद्वेदवित्सर्वैः पंक्तिदोषैर्विवर्जितः ॥ ३९ ॥
न च स्यात्पतितो राजन्पंक्तिपावन एव सः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन परीक्ष्यामन्त्रयेद् द्विजान् ॥ ४० ॥
स्वकर्मनिरतानन्यान्कुले जातान्बहुश्रुतान् ।
यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।
न प्रीणन्ति पितॄन्देवान्स्वर्गं च न स गच्छति ॥ ४१ ॥
यश्च श्राद्धे कुरुते संगतानि न देवयानेन पथा स याति ।
स वै मुक्तः पिप्पलं बन्धनाद्वा स्वर्गाल्लोकाच्च्यवते श्राद्धमित्रः ॥ ४२ ॥
तस्मान्मित्रं श्राद्धकृन्नाद्रियेत दद्यान्मित्रेभ्यः संग्रहार्थं धनानि ।
यन्मन्यते नैव शत्रुं न मित्रं तं मध्यस्थं भोजयेद्धव्यकव्ये ॥ ४३ ॥
यथोषरे बीजमुप्तं न रोहेन्न चावप्ता प्राप्नुयाद्बीजभागम् ।
एवं श्राद्धं भुक्तमनर्हमाणैर्न चेह नामुत्र फलं ददाति ॥ ४४ ॥
ब्राह्मणो ह्यनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै श्राद्धं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ ४५ ॥

हीन होनेपर भी यदि कोई उनकी अनुमतिके बिना पहले आसनपर बैठे, तो भी वे पंक्तिके दुष्कृतको हरण किया करते हैं। पंक्तिदोषसे रहित वेद जाननेवाले विप्र यदि पतित न हों, तो वे पंक्तिपावन हैं। इसलिये सब भाँतिसे यत्नपूर्वक परीक्षा करके निज कर्ममें रत, सत्कुलमें उत्पन्न तथा अन्य बहुश्रुत ब्राह्मणोंको आमन्त्रण करें। देव और पितृकार्यमें जिसका मित्रभोजन ही मुख्य उद्देश्य है, तथा जो पुरुष पितरों और देवताओंको परितृप्त नहीं करता, वह स्वर्गमें जानेमें समर्थ नहीं होता। (३८—४१)

जो श्राद्धके निमित्त बन्धुबान्धवोंके सङ्गमें मिलाता है, वह देवयानपथसे गमन नहीं कर सकता, वह श्राद्धमित्र मनुष्य फल बन्धनसे छुटनेके समान स्वर्गलोकसे च्युत होता है। इसलिये श्राद्ध करनेवाला मित्रपुरुषोंका आदर न करे, अन्य समयमें संग्रहके निमित्त मित्रोंको धन देवे। जिसे शत्रु वा मित्र नहीं जाना जाता, हव्यकव्य दानके समय उस मध्यम ब्राह्मणको भोजन करावे। जैसे ऊपरभूमिमें बीज बोनेसे अंकुर नहीं निकलता तथा बोनेवाला जैसे उस बीजका अंश नहीं पासकता, वैसे ही अयोग्य ब्राह्मणको श्राद्धमें भोजन करानेसे इस लोक तथा परलोकमें भी श्राद्धका फल नहीं मिलता। बिन पढा

संभोजनी नाम पिशाचदक्षिणा सा नैव देवान्न पितॄनुपैति ।
इहैव सा भ्राम्यति हीनपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा ॥४६॥
यथाऽग्नौ शान्ते घृतमाजुहोति तन्नैव देवान्न पितॄनुपैति ।
तथा दत्तं नर्तने गायने च यां चानृते दक्षिणामाप्नुणोति ॥ ४७ ॥
उभौ हिनस्ति न भुनक्ति चैषा या चानृते दक्षिणा दीयते वै ।
आघातिनी गर्हितैषा पतन्ती तेषां प्रेतान्पातयेद्देवयानात् ॥ ४८ ॥
ऋषीणां समये नित्यं ये चरन्ति युधिष्ठिर ।
निश्चिताः सर्वधर्मज्ञास्तान्देवा ब्राह्मणान्विदुः ॥४९ ॥
स्वाध्यायनिष्ठा ऋषयो ज्ञाननिष्ठास्तथैव च ।
तपोनिष्ठाश्च बोद्धव्याः कर्मनिष्ठाश्च भारत ॥ ५० ॥
कव्यानि ज्ञाननिष्ठेभ्यः प्रतिष्ठाप्यानि भारत ।
तत्र ये ब्राह्मणान्केचिन्न निन्दन्ति हि ते नराः ॥५१ ॥

हुआ ब्राह्मण तृणकी अग्निकी भांति शान्त होता है, इसलिये उसे श्राद्धीय दान न करे, क्यों कि भस्ममें कदापि होम नहीं होता । (४२—४५)

संभोजनी अर्थात् परस्पर दीयमान दक्षिणाको पिशाचदक्षिणा कहते हैं; जैसे पिशाचोंको जो पुरुष भोजन कराता है, वे भी उसे ही भोजन कराया करते हैं, यह भी उसीके तुल्य है; इसलिये ऐसे दानका फल पितृलोक अथवा देवलोकमें नहीं मिलता । जैसे नष्टवत्सा गऊ गृहके भीतर भ्रमण करती है, वैसे ही वह पुण्यहीन दक्षिणा इस लोकमें ही घूमा करती है । जैसे अग्नि बुझ जानेपर उसमें घृतकी आहुति देनेसे वह देवलोक अथवा पितृलोकमें नहीं पहुंचती, नाचने गानेवालों तथा मिथ्यावादियोंको जो दान किया जाता है, वह भी वैसा ही है । (४६—४७)

झूठ बोलनेवालोंको जो दक्षिणा दी जाती है, वह उसी दाताके दोनों कुलोंको नष्ट करती है, और उसे पालन नहीं करती, वह आघातिनी, निन्दनीय दक्षिणा स्वयं पतित होकर प्रदाताको प्रेतोंके देवयान पथसे च्युत करती है । हे युधिष्ठिर ! जो लोग सदा ऋषियोंके नियमाचरण करते हैं, वे निश्चितबुद्धि, सब धर्मोंके जाननेवाले पुरुषोंको देवता लोग भी ब्राह्मण जानते हैं । हे भारत ! ज्ञाननिष्ठ, स्वाध्यायनिष्ठ, तपोनिष्ठ और कर्मनिष्ठ ब्राह्मणोंको ऋषि जानो । हे भारत ! ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मणोंको कव्य प्रदान करना योग्य है । जो लोग ज्ञान-निष्ठ होते हैं, वे ब्राह्मणोंकी निन्दा

ये तु निन्दन्ति जल्पेषु न ताञ्छ्राद्धेषु भोजयेत् ।
ब्राह्मणा निन्दिता राजन्हन्युस्त्रैपुरुषं कुलम् ॥ ५२ ॥
वैखानसानां वचनमृषीणां श्रूयते नृप ।
दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणान्वेदपारगान् ॥ ५३ ॥
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यस्तेषां तु श्राद्धमावपेत् ।
यः सहस्रं सहस्राणां भोजयेदनृतान्नरः ।
एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति भारत ॥ ५४ ॥ [४२९८]

इति श्रीमहाभारते० अनु० आनुशा० पर्वणि दानधर्मे श्राद्धकल्पे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

युधिष्ठिर उवाच-केन संकल्पितं श्राद्धं कस्मिन्काले किमात्मकम् ।
भृग्वङ्गिरसिके काले मुनिना कतरेण वा ॥ १ ॥
कानि श्राद्धानि वर्ज्यानि कानि मूलफलानि च ।
धान्यजात्यश्च का वर्ज्यास्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

भीष्म उवाच- यथाश्राद्धं संप्रवृत्तं यस्मिन्काले यदात्मकम् ।
येन संकल्पितं चैव तन्मे शृणु जनाधिप ॥ ३ ॥

नहीं करते। (४८—५१)

जो जल्पनाके समय ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, श्राद्धमें उन्हें भोजन न करावे। हे महाराज ! ब्राह्मण लोग निन्दित होनेपर तीन पुरुषतक कुलको नष्ट किया करते हैं। हे महाराज ! वैखानस ऋषियोंका यह वचन सुना जाता है, कि वेदपारग ब्राह्मणोंकी दूरसे परीक्षा करे; वे प्रिय हों अथवा अप्रिय ही होवें, श्राद्धकालमें उन्हें दान करना योग्य है। हे भारत ! जो मनुष्य सहस्रों झूठे ब्राह्मणोंको भोजन कराते हैं, वे केवल मन्त्र जाननेवाले एक ही ब्राह्मणको भोजन कराके प्रसन्न करनेसे उन सबके फलको पाते हैं। (५२—५४)

अनुशासनपर्वमें ९० अध्याय समाप्त।

अनुशासनपर्वमें ९१ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! किन पुरुषोंके द्वारा श्राद्ध सङ्कल्पित हुआ है ? किस समय श्राद्ध करना उचित है ? श्राद्धका कैसा स्वरूप है ? जिस समय भृगु और अंगिराके वंशमें उत्पन्न ऋषियोंके अतिरिक्त और कोई न थे, उस समय किस मुनिके द्वारा श्राद्ध प्रवर्तित हुआ ? श्राद्धके समय कौन कौनसे कर्म वर्जित हैं ? कौन कौनसे फलमूल धान्य त्यागने योग्य हैं ? आप मेरे समीप इस विषयको वर्णन करिये। (१—२)

भीष्म बोले, हे प्रजानाथ ! जिस

R.No.B.1819

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२१	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	" ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	॥।) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ शान्तिपर्व ।					
१ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
२ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)
३ मोक्षधर्मपर्व	[८६—९६]	११	११००	६) छः	१)

कुल मूल्य ५२।) कुल डा. व्य. ९।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.